Centre for Distance & Online Education

Faculty of Arts

भारतीय दर्शन- ।

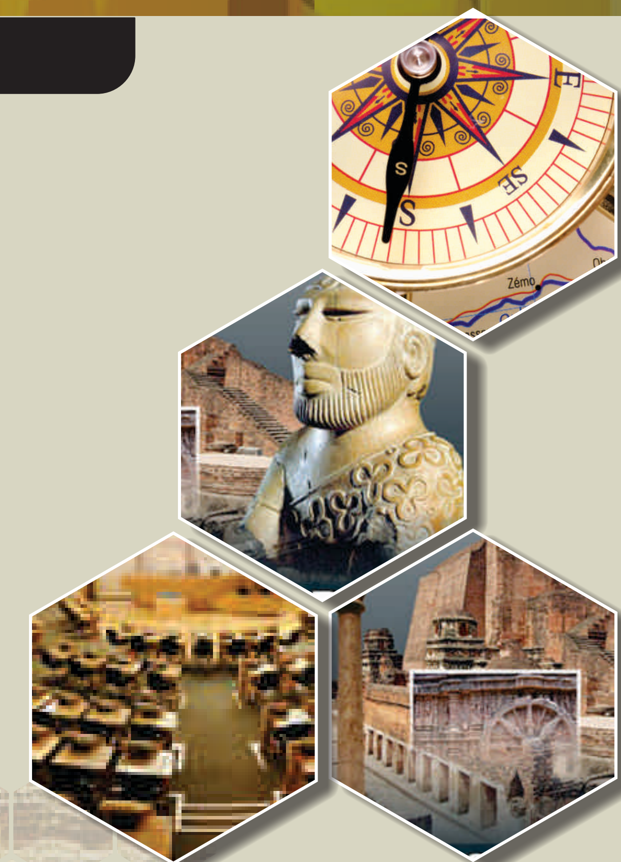

1MASANS3

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

Chhattisgarh, Bilaspur

A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

भारतीय दर्शन- ।

Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

1MASANS3

भारतीय दर्शन - I

1MASANS3
भारतीय दर्शन - I

Credit- 4

Subject Expert Team

Dr. V.P.Mishra, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr. Renu Shukla, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Shri Prakash Tiwari, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr. Krishna Kumar Bhaskar, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr. Vinod Pandey, Asso. Prof.& Head, Sanskrit Dept. D.A.V. Mahavidyalaya Civil Line kanpur (U.P.)
Dr. Raghvendra Sharma, Asso. Prof. & Head Dept. of Veda, Govt. Dudhadhari Sanskrit P.G. Collage, Raipur (C.G.)

Course Editor:

Dr. Vinod Pandey, Principle Head, DLIS, Department of library and information science, Kamlanehru College, Korba, Chhattishgarh.

Unit Written By:

1. Dr. V.P.Mishra

Professor, Dr. C. V. Raman University, Bilaspur (C.G.)

2. Dr. Renu Shukla

Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University, Bilaspur (C.G.)

Warning: All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.
Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.)

Edition : March 2024

Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.), Ph. +07753-253801,07753-253872 E-mail: info@cvru.ac.in, Website: www.cvru.ac.in

विषय-सूची

इकाई-1	**तर्कभाषा** ● तर्कभाषा (केशवमिश्रकृत)	1-84
इकाई-2	**सांख्यकारिका** ● सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्णकृत)	85-160
इकाई-3	**वेदान्तसार** ● वेदान्तसार (सदानन्दकृत)	161-216
इकाई-4	**दर्शनों की तुलनात्मक समीक्षा एवं नास्तिक दर्शन** ● दर्शन का उद्भव एवं विकास ● चार्वाक दर्शन ● बौद्ध दर्शन ● जैन दर्शन	217-348

NOTES

1 तर्कभाषा

इकाई में सम्मिलित है :

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तावना
- न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का संक्षिप्त परिचय
- 'तर्क भाषा' के अनुसार त्रिविध कारणों की व्याख्या
- 'तर्क भाषा' के अनुसार प्रमाण चतुष्टय की व्याख्या
- 'तर्क भाषा' के अनुसार हेत्वाभास की विवेचना
- 'तर्क भाषा' के अनुसार प्रामाण्यवाद की विवेचना
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य :

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् छात्र न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के सामान्य सिद्धान्तों से परिचित हो सकेंगे। छात्र पाठ्क्रम में निर्धारित न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के लोकप्रिय प्रकरण ग्रन्थ 'तर्क भाषा' के अध्ययन से त्रिविध कारणों (समवायि, असमवायि एवं निमित्त) से अवगत हो सकेंगे :

वे चारों प्रकार के प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द) के लक्षणों एवं उपभेदों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। छात्र तर्क भाषा के अध्ययन के अन्तर्गत हेत्वाभास के लक्षण एवं प्रकार तथा प्रामाण्यवाद से भी अवगत हो सकेंगे। वे समझ सकेंगे कि हेत्वाभास क्या है; असिद्ध, विरूद्ध, अनैकान्तिक एवं प्रकरण सम हेत्वाभास में क्या अन्तर है; स्वत: एवं परत: प्रामाण्यवाद की क्या विशेषताएँ हैं तथा प्रामाण्यवाद सम्बन्धी कौन-कौन से मत प्रचलित हैं।

NOTES

प्रस्तावना :

भारतीय दर्शनों को प्रमुखतया आस्तिक (वैदिक) एवं नास्तिक (अवैदिक) दर्शनों में विभाजित किया गया है। आस्तिक दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा अथात् वेदान्त-ये छः दर्शन सम्मिलित हैं। इन्हें षड् आस्तिक सम्प्रदाय भी कहा जाता है। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन इन सब में महत्वपूर्ण वस्तुवादी दर्शन हैं। नास्तिक दर्शनों में चार्वाक, जैन तथा बौद्ध- ये तीन नास्तिक अर्थात् अवैदिक दर्शन हैं।

न्याय दर्शन लगभग दो हजार वर्ष प्राचीन दर्शन है, इसमें प्राचीन एवं नव्य न्याय नामक दो धाराएँ प्रचलित हैं। प्राचीन न्याय के प्रवर्तक आचार्य गौतम गोत्रीय अक्षपाद हैं जिन्होंने 'न्याय सूय' की रचना की है। नव्यन्याय के जन्म दाता गंगेश उपाध्याय हैं जिन्होंने 'तत्व चिन्तामणि' की रचना की है। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद हैं। ऐसी मान्यता है कि भगवान शंकर ने 'उलूक' का रूप धारण करके कणाद को वैशेषिक दर्शन का उपदेश दिया था, अत: इसे 'औलूक्य दर्शन' भी कहा जाता है। न्यायशास्त्र में तर्कशास्त्र तथा वैशेषिक दर्शन में तत्व मीमांसा का विशद अध्ययन किया गया है। न्याय दर्शन चार प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) को स्वीकार करता है, किन्तु वैशेषिक दर्शन केवल दो प्रमाणों (प्रत्यक्ष, और अनुमान) को ही स्वीकार करता है। न्याय दर्शन सोलह पदार्थों को मान्यता देता है, किन्तु वैशेषिक दर्शन केवल सात पदार्थों को ही मानता है।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का संक्षिप्त परिचयः

न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही दर्शन ईश्वरवादी हैं। इस प्रकार ईश्वर विज्ञान के क्षेत्र में दोनों की विचारधारा में कोई अन्तर नहीं है। विश्व की उत्पत्ति के विषय में दोनों दर्शन 'परमाणुवादी' विचारधारा को मान्यता प्रदान करते हैं। ये दोनों ही दर्शन मोक्ष के स्वरूप पर भी समान विचार रखते हैं। इनकी दृष्टि में अज्ञान ही बंधन का मूल कारण है तथा ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है। न्याय दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन, दोनों ही कार्य-कारण सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्य दर्शन जहाँ द्विविध कारणों का निरूपण करते हैं, वहीं न्याय एवं वैशेषिक दर्शन त्रिविध कारणों को मान्यता देते हुए इनकी विवेचना प्रस्तुत करते हैं। कार्य-कारण सिद्धान्त की तर्कपूर्ण व्याख्या करते हुए न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने 'आरम्भवाद' का प्रतिपादन किया है। न्याय दर्शन में इसे असत्कार्यवाद के नाम से भी जाना जाता है। कारण के भेदों की दृष्टि से भी न्याय एवं वैशेषिक दर्शन अन्य दर्शनों से मतभेद रखते हैं। अन्य दर्शन कारण के दो ही भेद मानते हैं- उपादान कारण एवं निमित्त कारण। किन्तु न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के आचार्य कारण के तीन भेद मानते हैं- समवायि कारण, असमवायि कारण तथा निमित्त कारण।

न्याय दर्शन का मुख्य विषय प्रमाणों के स्वरूप विवेचन का है। इसीलिए न्याय दर्शन प्रमाण शास्त्र के नाम से विख्यात है। प्रमाण का सम्बन्ध प्रमा से है। प्रमा एक प्रकार का ज्ञान है। ज्ञान का अर्थ है विषयों की अभिव्यक्ति का प्रकाशन। जीव मात्र का समस्त कार्य-व्यवहार ज्ञान पर ही आश्रित है। ज्ञान के अनेक भेद एवं प्रभेद हैं। न्याय दर्शन-प्रमाण चतुष्टय को मान्यता प्रदान करता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के लौकिक एवं अलौकिक दो भेद हैं। लौकिक प्रत्यक्ष पुन: दो भेदों-निर्विकल्पक तथा सविकल्पक में विभाजित किया गया है। वैशेषिक दर्शन में केवल दो प्रमाणों को ही मान्यता दी गयी है। नैयायिक-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाणों की विस्तृत विवेचना करते हुए स्पष्ट करते हैं कि इन चारों प्रमाणों की सहायता से ही सभी पदार्थों का तत्व ज्ञान प्राप्त करके भारतीय दर्शन के मुख्य लक्ष्य मोक्ष (अपवर्ग) को प्राप्त किया जा सकता है।

अनुमान प्रमाण के ज्ञान हेतु 'हेतु' के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। और हेतु का ज्ञान हेत्वाभास के बिना संभव नहीं है। अत: तर्क भाषा में हेत्वाभास की पृष्ठभूमि सहित उसके लक्षण एवं भेदों का वर्णन भी किया गया है। ध्यान दें कि भारतीय दर्शनों के प्रमुख सिद्धान्तों के अध्ययन के क्रम में आप न्याय दर्शन के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करने हेतु केशव मिश्र प्रणीत 'तर्क भाषा' का अध्ययन कर रहे हैं। न्याय शास्त्र को प्रमाण शास्त्र कहा जाता है। न्याय सम्मत चार प्रमाणों के अध्ययन के क्रम में प्रामाण्यवाद का प्रश्न उपस्थित होता है। प्रामाण्यवाद के विषय में नैयामिक मीमांसकों के मत से सहमत नहीं हैं। 'तर्क भाषा' में केशव मिश्र ने भी इसी मत की पुष्टि की है। प्रामाण्यवाद क्या है, इसके कितने भेदोपभेद हैं, स्वत: एवं परत: प्रामाण्य का क्या आशय है तथा सांख्य, योग, न्याय आदि दर्शन किस मत को मानते हैं- यह सब इस इकाई में स्पष्ट किया गया है। इस सम्पूर्ण विषय को पाठ्यक्रम में निर्धारित ग्रंथ 'तर्क भाषा' के संदर्भ में ही समझाया गया है। 'तर्क भाषा' की सम्पूर्ण व्याख्या इस क्रम विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

तर्कभाषा (केशवमिश्रकृत)

उपोद्घातः

बालोऽपि यो न्यायनये प्रवेशम् अल्पेन वाञ्छत्यलसः श्रुतेन।

संक्षिप्तयुक्त्यन्विततर्कभाषा प्रकाश्यते तस्य कृते मयैषा।।

NOTES

सन्दर्भ—प्रयोजनम् अनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते—प्रयोजन के बिना मूढ़ व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है, अतः ग्रन्थ का प्रयोजन आदि केशवमिश्र इस पद्य द्वारा प्रस्तुत करते हैं।

अर्थ—**यः** = जो, **अलसः** = आलसी, **बालः अपि** = बालक भी, **अल्पेन** = थोड़े से, **श्रुतेन** = श्रवण से, **न्यायानये** = न्याय के सिद्धान्तों में, **प्रवेशम्** = प्रवेश, **वाञ्छति** = चाहता है, **तस्य** = उस बालक, **कृते** = के लिए, **मया** = मुझ केशव मिश्र द्वारा, **एषा** = यह, **संक्षिप्तयुक्त्यन्विततर्कभाषा** = संक्षिप्त-युक्तियों से युक्त तर्कभाषा नामक ग्रन्थ, **प्रकाश्यते** = प्रकाशित किया जा रहा है।

श्लोकार्थ—परिश्रम से बचने वाला जो आलसी बालक भी थोड़े से अध्ययन से न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों को जानने हेतु न्यायशास्त्र में प्रवेश चाहता है, उसके लिए संक्षिप्त-युक्तियों से अन्वित यह तर्कभाषा नामक ग्रन्थ मुझ केशव मिश्र के द्वारा प्रकाशित किया (रचा) जा रहा है।

प्रस्तुत पद्य में मुख्य वाक्य 'मया तर्कभाषा प्रकाश्यते' है, जो कर्मवाच्य में है। 'तर्कभाषा' ग्रन्थ का अन्वर्थ नाम है। तर्क्यन्ते = प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः प्रमाणादि षोडश पदार्थाः, तर्काः भाष्यन्ते अनया इति तर्कभाषा। प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त आदि न्याय के सोलह पदार्थ 'तर्क' कहलाते हैं। ये सोलह पदार्थ जिस ग्रन्थ में कहे जा रहे हैं, वह ग्रन्थ तर्कभाषा है। तर्क शब्द यहाँ पर पारिभाषिक नहीं है। **'तर्काः षोडश पदार्थाः'** यह कथन गोवर्धन मिश्र का है। अन्नं भट्ट भी तर्कसंग्रह में तर्क का यही अर्थ करते हैं। वस्तुतः तर्क शब्द न्याय-विद्या के लिए रूढ़ हो गया है।

तर्क-भाषा

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्ताऽवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रह स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेय-साधिगमः। (न्या. सू. 1.1.1) इतिह न्यायस्यादिमं सूत्रम्।

सन्दर्भ—न्यायशास्त्र के सिद्धान्त में प्रवेश हेतु गौतम के सूत्र के माध्यम से ग्रन्थकार प्रतिपाद्य विषय एवं प्रयोजन आदि का निरूपण करते हुए लिख रहे हैं—

अर्थ—"प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति और निग्रह स्थानों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति (अधिगम) होती है।"

यह गौतम के न्यायशास्त्र का प्रथम सूत्र है।

विवेचन—"प्रमाणं च प्रमेयञ्च संशयश्च प्रयोजनं च दृष्टान्तश्च सिद्धान्तश्च अवयवश्च तर्कश्च निर्णयश्च वादश्च जल्पश्च वितण्डा च हेत्वाभासश्च छलं च जातिश्च निग्रहस्थानं च" इस विग्रह में द्वन्द्व-समास कर षष्ठी-बहुवचन में प्रमाण....स्थनानाम्" यह पढ़ा गया है।

तर्क भाषा

अस्यार्थः—प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवतीति। न च प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तावद्भवति यावदेषाम् उद्देशलक्षणपरीक्षाः न क्रियन्ते। यदाह भाष्यकारः—

'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति' (न्या. सू. वा. भा. 1.1.2)

अर्थ—"प्रमाण आदि षोडश पदार्थों से तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।"

NOTES

प्रमाण आदि का तत्त्वज्ञान = सम्यक् ज्ञान तब तक सम्भव नहीं है जब तक इनके उद्देश्य लक्षण एवं परीक्षा न किये जायें। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—

इस न्यायशास्त्र की तीन प्रकार की प्रवृत्ति होती है—(1) उद्देश, (2) लक्षण, (3) परीक्षा।

विवेचन—तत्त्वज्ञान से सीधे मोक्ष प्राप्त नहीं होता अपितु तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश, मिथ्याज्ञान के नाश से दोषों का नाश, दोषों के नाश से प्रवृत्ति का, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश एवं जन्म के नाश से मोक्ष प्राप्त होता है। दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद् अपवर्ग: (न्या. सू. 1.1.2)।

तर्क भाषा

उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनम्। तच्चास्मिन्नेव सूत्रे कृतम्। लक्षणन्त्वसाधारण-धर्मवचनम्। यथा—गो सास्नादिमत्त्वम्। लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचार: परीक्षा। तेनैते लक्षणपरीक्षे प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानार्थं कर्त्तव्ये।

सन्दर्भ—ग्रन्थकार उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा की उपयोगिता प्रमाणादि पदार्थों के तत्त्वज्ञान के लिए मानते हुए लिख रहे हैं—

अर्थ—नाममात्र से वस्तुसङ्कीर्तनम् = पदार्थ का कथन उद्देश कहलाता है। जैसे कि प्रमाण प्रमेय इत्यादि सूत्र में नामकथन किया गया है।

असाधारण धर्म का वचन = कहना, लक्षण कहलाता है।

जैसे—गाय का लक्षण है—सास्नादिमत्त्व—सास्नादि वाली गाय है।

जिसका लक्षण किया जाता है (लक्षित का) उस पर वह लक्षण घटित हो रहा है या नहीं, यह विचार करना परीक्षा है। इस तरह एते = ये दोनों, लक्षण एवं परीक्षा प्रमाण आदि के, तत्त्वज्ञानार्थं = यथार्थज्ञान के लिए किये जायें।

विवेचन

उद्देश—उत् उपसर्ग, दिश्+घञ् प्रत्यय से निष्पन्न उद्देश का उपदेश अर्थ है। लक्षण है 'नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनम्।' यदि पदार्थों का उद्देश न किया जाये तब उसका लक्षण करना सम्भव नहीं होगा। इस लक्षण में यदि **मात्रेण** पद नहीं दिया जाये तब **प्रमाकरणं प्रमाणम्** इत्यादि लक्षणवाक्य में भी उद्देश का लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा। यदि 'नाममात्रेण' न कहकर वस्तुसङ्कीर्तनम् उद्देश: यह लक्षण करें तब लक्षण एवं परीक्षा में यह अतिव्याप्त हो जाएगा। क्योंकि लक्षण एवं परीक्षा में भी वस्तु का कथन होता ही है। अत: 'नाममात्रेण' पद इस लक्षण में साभिप्राय है। उद्देश का उदाहरण प्रमाण प्रमेय....इत्यादि सूत्र है।

तर्क-भाषा

प्रमाणम्

तत्रापि प्रथममुद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षणमुच्यते-प्रमाकरणं प्रमाणम्। अत्र च प्रमाणं लक्ष्यं प्रमाकरणं लक्षणम्। ननु प्रमाया: करणं चेत् प्रमाणं तर्हि तस्य फलं वक्तव्यं, करणस्य फलवत्त्वनियमात्। सत्यम्। प्रमैव फलं साध्यमित्यर्थ:। यथा छिदाकरणस्य परशोश्छिदैव फलम्।

सन्दर्भ—उद्देश लक्षण परीक्षा पद्धति से चलते हुए ग्रन्थकार प्रथम सूत्र में उद्दिष्ट प्रमाण का लक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं—

NOTES

अर्थ—**तत्रापि** = उन प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों में भी, **प्रथमम्** = प्रथम, **उद्दिष्टस्य** = कहे गये, **प्रमाणस्य्** = प्रमाण का, **तावत् लक्षणम्** = तो लक्षण, **उच्यते** = कहा जा रहा है। **प्रमाकरणम्** = प्रमा = यथार्थ-ज्ञान का, करण। (साधन), **प्रमाणम्** = प्रमाण है। **अत्र च** = और इस वाक्य में, प्रमाणं = प्रमाण, **लक्ष्यम्** = लक्ष्य है, **प्रमाकरणम्** = प्रमा का करण, **लक्षणम्** = लक्षण है।

(प्रश्न) **ननु** = अजी!, **प्रमाया: करणम्** = प्रमा का करण, **चेत्** = यदि, **प्रमाणं** = प्रमाण है, **तर्हि** = तो, **तस्य** = उस करण का, **फलम्** = फल, **वक्तव्यम्** = कहना चाहिए, (क्योंकि), **करणस्य** = साधन (करण) को, **फलवत्त्वनियमात्** = फलवाला होना चाहिए ऐसा नियम है।

(उत्तर) **सत्यम्** = सही है, ठीक है कि करण का फल होना चाहिए। यहाँ पर, **प्रमा एव** = प्रमा ही, **फलम्** = फल है, अर्थात् **साध्यमित्यर्थः** = साध्य है, यह अर्थ है (प्रमाण रूप करण का प्रमा ही फल है), **यथा** = जैसे कि, **छिदाकरणस्य** = छेदन के करण, **परशोः** = फरसे का (कुल्हाड़ी का), **छिदा एव** = छेदन ही, **फलम्** = फल होता है।

सङ्कलितार्थ—उन प्रमाणादि सोलह पदार्थों में भी प्रथम कहे गये प्रमाण का लक्षण कहा जा रहा है। प्रमाकरण प्रमाण है (लक्षण)। इस लक्षण में प्रमाण यह अंश लक्ष्य है और प्रमाकरण यह अंश लक्षण है।

प्रश्न होता है कि—यदि प्रमा का करण = साधन यदि प्रमाण है तब तो उसका फल भी होना चाहिए, क्योंकि करण फलवान् होता है, ऐसा नियम है।

उत्तर देते हुए कहा जा रहा है कि यह कथन सत्य है। इस लक्षण में करण का फल प्रमा ही है। जैसे कि छेदन का करण फरसे का फल छेदन ही होता है।

विवेचन

प्रमाणम्—प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम् = जिससे यथार्थज्ञान प्राप्त किया जाये, वह साधन प्रमाण है। प्र उपसर्ग + मा + ल्युट् = प्रमाणम्।

मूल में शंङ्का की गई है कि करण को फलवान् होना चाहिए। **क्योंकि**—फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम् = जिसका प्रयोग होने पर फल का अभाव न हो, फल अवश्य मिले उस कारण को करण कहते हैं। 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' लक्षण में प्रमाण करण है। तब उसका फल क्या है ? उत्तर दिया गया कि प्रमा = यथार्थज्ञान ही, प्रमाणरूप करण का फल है। अर्थात् प्रमाण के द्वारा यथार्थज्ञान (प्रमा) रूप फल प्राप्त होता है। जैसे कि काटने का साधन कुल्हाड़ी का फल छेदन होता है।

तर्क भाषा

का पुनः प्रमा, यस्याः करणं प्रमाणम्।

उच्यते—यथार्थानुभवः प्रमा। यथार्थ इत्ययथार्थानां संशयविपर्ययतर्कज्ञानानां निरासः। अनुभव इति स्मृतेर्निरासः।

ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः। अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम्।

सन्दर्भ—प्रमाणलक्षण में प्रयुक्त प्रमा क्या है जिसका करण प्रमाण है, का उत्तर देते हुए कहा जा रहा है—

NOTES

अर्थ—का = कौन सी, **पुनः** = फिर, **प्रमा** = प्रमा है, **यस्याः** = जिस प्रमा का, **करणम्** = साधन, **प्रमाण** = प्रमाण कहलाता है? **उच्यते** = कहा जा रहा है, **यथार्थानुभवः** = यथार्थ अनुभव (वास्तविक ज्ञान), **प्रमा** = प्रमा है। (इस लक्षण में) **यथार्थ इति** = यथार्थ ऐसा कहने से, **अयथार्थानाम्** = अयथार्थ (अवास्तविक), **संशय-विपर्ययतर्कज्ञानानाम्** = संशय-विपर्यय एवं तर्करूप ज्ञानों का, **निरासः** = निराकरण किया गया है और (लक्षण में), **अनुभवः इति** = अनुभव इस पद के द्वारा, **स्मृतेः** = स्मृति का (स्मृति में प्रमाण के लक्षण की अतिव्याप्ति का), **निरासः** = निराकरण किया गया है। **ज्ञातविषयं** = ज्ञात है विषय जिसका, ऐसा, **ज्ञानम्** = ज्ञान, **स्मृतिः** = स्मृति कहालाता है। और, **अनुभवो नाम** = अनुभव कहते हैं (नाम है), **स्मृतिव्यतिरिक्तम् ज्ञानम्** = स्मृति से, **व्यतिरिक्त** = भिन्न, ज्ञान को।

सङ्कलितार्थ—प्रमा क्या है, जिसका करण प्रमाण है? यह प्रश्न है।

उत्तर देते हैं कि—यथार्थ-ज्ञान प्रमा कहलाती है। इस लक्षण में यथार्थ पद को रख देने से संशय विपर्यय और तर्करूप अयथार्थ-ज्ञानों का निराकरण किया जाता है, अर्थात् ये प्रमा नहीं हैं। (ज्ञान के दो भेद हैं—अनुभव और स्मृति।) यथार्थानुभवः पद में अनुभव पद के रख देने से प्रमा कोटि से स्मृति का निराकरण किया जाता है।

स्मृति कहते हैं—ज्ञात विषय वाले ज्ञान को, और अनुभव है—स्मृति से भिन्न ज्ञान।

विवेचन

प्रमाकरणं प्रमाणम्—प्रमाण के लक्षण में दो पद हैं—(i) प्रमा, (ii) करण। करण का अर्थ है—साधन, प्रमा का अर्थ है—यथार्थ-ज्ञान, जिस साधन से यथार्थ-ज्ञान हो, वह प्रमाण है। जैसे—नेत्र, श्रोत, जिह्वा, त्वक्, नासिका। ये सभी अपने-अपने विषय का यथार्थ ज्ञान कराते हैं, अतः प्रमाण हैं। शब्द और अनुमान भी यथार्थ-ज्ञान कराते हैं, अतः वे भी प्रमाण हैं। सादृश्य भी गवय आदि का ज्ञान कराता है, अतः उपमान भी प्रमाण है।

यथार्थानुभवः प्रमा—जो अर्थ जैसा है, उसका वैसा ही ज्ञान यथार्थानुभव होता है। यथार्थाः अथीविसंवादी = अर्थ के अनुरूप यथार्थ होता है। इसके विपरीत अयथार्थ होता है। अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी। जैसे—रज्जु में सर्प का ज्ञान करना अयथार्थ है।

यथार्थ इति—प्रमा के लक्षण में यथार्थ और अनुभव दो पद हैं। यथार्थ पद अयथार्थ—संशयात्मक ज्ञान, विपरीत ज्ञान एवं तर्क में लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए है और अनुभव पद स्मृतिज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए है। अर्थात् स्मृतिज्ञान प्रमा नहीं हो सकता है।

अयथार्थानुभव—तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवः अयथार्थः = रज्जु में सर्प का ज्ञान अयथार्थ है। सर्प के अभाव वाले रज्जु में सर्पत्वप्रकारक जो अनुभव किसी को होता है, वह अयथार्थानुभव है, तथा शुक्ति में रजत का ज्ञान भी अयथार्थ है। अयथार्थानुभव के तीन भेद—(1) संशय, (2) विपर्यय, (3) तर्क।

तर्क-भाषा

करणम्

किं पुनः करणम्? साधकतमं करणम्। अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः।

सन्दर्भ—प्रमाकरणं प्रमाणम्—इस प्रमाणलक्षण के दूसरे पद करण के विषय में जिज्ञासा करते हुए ग्रन्थकार लिख रहे हैं—

अर्थ—(प्रश्न) **किं पुनः** = फिर (प्रमाणलक्षण में) क्या है, **करणम्** = करण पदार्थ (अर्थात् करण का क्या अर्थ है)?

(उत्तर) **साधकतमम्** = अतिशय साधक ही, **करणम्** = करण है (करण पद का अर्थ है)। **अतिशयितं साधकं** = अतिशय साधक ही साधकतमं = प्रकृष्ट, कारणम् करण है यह अर्थ है (किसी कार्य का प्रकृष्ट कारण ही साधकतम कहलाता है और वही साधकतम = प्रकृष्ट कारण करण कहलाता है)।

सङ्कलितार्थ—प्रश्न है कि—करण किसे कहते हैं ? उत्तर दिया जाता है कि—किसी कार्य का अतिशय साधक अर्थात् प्रकृष्ट कारण ही करण है।

NOTES

विवेचन

साधकतमं करणम्—यही पाणिनि का सूत्र भी है। अतिशयेन साधकम् = कारकम्, यहाँ पर कारणम् इस अर्थ में साधक शब्द से तमप् प्रत्यय कर साधकतम बना है। करण अतिशय साधक कारण है। अर्थात् किसी कार्य की उत्पत्ति में अत्यन्तोपयोगी कारण करण होता है। पाणिनि ने भी क्रिया की सिद्धि में प्रकृष्ट उपयोगी साधक को करण कहा है। अतएव **व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्** यह एक अन्य लक्षण करण का किया गया है। अर्थात् व्यापार = क्रिया से युक्त, असाधारण = विशेष, कारण को करण कहते हैं।

तर्क-भाषा

कारणम्

ननु साधकं कारणमिति पर्यायस्तदेव न ज्ञायते किन्तत् कारणमिति ?

उच्यते—यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्। यथा—तन्तुवेमादिकं पटस्य कारणम्।

सन्दर्भ—करण के लक्षण में साधक पद का प्रयोग हुआ है और साधक का अर्थ कारण बताया गया है। यह कारण क्या है? इसे प्रश्न मुख से उपस्थित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं।

अर्थ—(प्रश्न) **ननु** = अजी !, **साधकम्** = साधक, **और कारणम् इति** = कारण यह, **पर्यायः** = समानार्थक है, **तदेव** = वही, **न ज्ञायते** = समझ में नहीं आ रहा है कि, **किम् तत्** = वह क्या, **कारणम् इति** = कारण है ?

(उत्तर) **उच्यते** = कहते हैं, **यस्य** = जिसका, **कार्यात्** = कार्य से; **पूर्वभावः** = पहले होना (सत्ता), **नियतः** = निश्चित है, **अनन्यथासिद्धः च** = और जो अन्यथा सिद्ध (व्यर्थ) नहीं है, **तत्** = वह, **कारणम्** = कारण कहलाता है, **यथा** = जैसे कि, **तन्तुवेमादिकम्** = तन्तु (धागा) वेमा (वस्त्र बुनने का साधन, करघा) आदि, **पटस्य** = वस्त्र रूप (कार्य का), **कारणम्** = कारण होते हैं।

सङ्कलितार्थ—साधक और कारण (परस्पर) पर्यायवाची हैं, अतः यही ज्ञात नहीं होता कि वह कारण क्या है?

इसका उत्तर है कि जिसका कार्य से पूर्व में होना निश्चित हो तथा जो कार्य के प्रति अनावश्यक नहीं हो अर्थात् आवश्यक हो, वह कारण है। जैसे—तन्तु और वेमा (करघा) आदि पटरूपी कार्य का कारण है।

विवेचन

कृ+णिच्+ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न कारण का अर्थ हेतु भी होता है। ग्रन्थकार ने यस्य कार्यात् पूर्वभावः नियतः अनन्यथासिद्धश्च 'तत् कारणम्' यह लक्षण बताया है। इस लक्षण में कारण के लिए दो बातें प्रमुख रूप से कही गई हैं।

NOTES

यद्यपि पटोत्पत्तौ दैवादागतस्य रासभादेः पूर्वभावो विद्यते तथाऽपि नासौ नियतः।

तन्तुरूपस्य तु नियतः पूर्वभावोऽस्त्येव किन्त्वन्यथासिद्धः पटरूपजननो-पक्षीणत्वात्, पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरवप्रसङ्गात्।

तेनानन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्। अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद् भावित्वं कार्यत्वम्।

सन्दर्भ—कारण के लक्षण में प्रयुक्त नियत और अनन्यथासिद्ध शब्द की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए कहा जा रहा है।

अर्थ—यद्यपि = यद्यपि, **पटोत्पत्तौ** = पट की उत्पत्ति के समय में, **दैवात्** = संयोगवश, **आगतस्य** = आये हुए, **रासभादेः** = गर्दभ आदि का, **पूर्वभावः** = (कार्य से) पूर्व में सत्ता, **विद्यते** = है, **तथाऽपि** = फिर भी, **असौ** = वह, **न नियतः** = निश्चित नहीं है (अर्थात् वस्त्र निर्माण काल में गदहा रहे ही यह अनिवार्य नहीं है।), **तन्तुरूपस्य तु** = तन्तु के रूप का तो, **नियतः** = निश्चित, **पूर्वभावः** = पूर्व में सत्ता, **अस्ति एव** = है ही, किन्तु **अन्यथासिद्धः** = वह अन्यथासिद्ध = अनुपयोगी है। क्योंकि, **पटरूपजननो पक्षीणत्वात्** = पट के रूप की उत्पत्ति कर वह अपनी कारणत्व शक्ति पट के प्रति क्षीण कर चुका है, **पटं प्रति अपि** = यदि पट कार्य के प्रति भी, **कारणत्वे** = (पटरूप को) कारण मानें, तो, **कल्पनागौरवप्रसङ्गात्** = कल्पना में गौरव होने लगेगा, **तेन** = कारण के लक्षण में नियत एवं अनन्यथासिद्ध पदों के रहने से, **अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं** = अन्यथासिद्ध रहित एवं (कार्य के पूर्व) नियत रूप से रहना ही, **कारणत्वम्** = कारण का लक्षण है, **अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद् भावित्वम्** = अनन्यथासिद्ध से रहित और कारण से निश्चित बाद में रहना, **कार्यत्वम्** = कार्य का लक्षण (स्वरूप) है।

सङ्कलितार्थ—यद्यपि पट की उत्पत्ति में संयोग से उपस्थित हुए गर्दभ आदि का भी पूर्वभाव है तथापि वह निश्चित नहीं है, अर्थात् जब जब वस्त्र निर्माण होगा तब तब गर्दभ की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है।

पट की उत्पत्ति में तन्तु का रूप तो पूर्व से है और नियत है ही, किन्तु वह पट की उत्पत्ति में अन्यथासिद्ध है। क्योंकि तन्तु का रूप पट के रूप की उत्पत्ति कर अपनी कारणत्व शक्ति क्षीण कर चुका है। इसलिए पट कार्य के प्रति तन्तुरूप को भी कारण मानने पर कल्पना गौरव होगा।

इस तरह कारण के लक्षण में नियत और अनन्यथासिद्ध पद के आवश्यक होने से अन्यथासिद्धरहित नियम रूप से कार्य से पूर्व में रहना ही (कारणत्व) कारण का स्वरूप है और अनन्यथासिद्ध नियतरूप से कारण के पश्चात् होना ही कार्य का स्वरूप (कार्यत्व) है।

विवेचन

नियतः अनन्यथासिद्धः—कारण के लक्षण में ये दोनों पद बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। नियत का अर्थ है—निश्चित, अनिवार्य, कार्य के पूर्व कारण का रहना अनिवार्य है। पट की उत्पत्ति से पूर्वसंयोग से गदहा यदि उपस्थित हो जाता है तो उसे कारण नहीं माना जायेगा। क्योंकि पट कार्य की उत्पत्ति में तन्तु तन्तुवाय वेमा आदि की तरह उसकी उपस्थिति अनिवार्य या निश्चित नहीं है। उसकी उपस्थिति के बिना भी कार्य सम्पन्न होगा। अतः गर्दभ कारण नहीं हो सकता। उसका पूर्वभाव तो संयोग से उपस्थित होना मात्र है।

तन्तु में विद्यमान रूप पट की उत्पत्ति से पूर्व नियत है, किन्तु वह भी पट कार्य का कारण नहीं बने इसलिए कारण के लक्षण में अनन्यथासिद्ध पद दिया गया है।

तर्क-भाषा

यत्तु कश्चिदाह कार्यानुकृतान्वयतिरेकि कारणमिति, तदयुक्तम्। नित्यविभूनां व्योमादीनां कालतो देशतश्च व्यतिरेकासम्भवेनाकारणत्वप्रसङ्गात्।

सन्दर्भ—स्वमतानुसार केशवमिश्र कारण के लक्षण एवं उसकी युक्तियुक्तता को प्रदर्शित करने के बाद मीमांसक के कारण लक्षण को उपस्थित कर उसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं।

अर्थ—यत्तु कश्चित् = जो किसी ने (मीमांसक ने), **आह** = कहा, **कार्यानुकृतान्वययतिरेकि** = कार्य के द्वारा जिसके अन्वय एवं व्यतिरेक का अनुसरण (अनुकृत) किया जाये वह, **कारणम् इति** = कारण है, **तद् आयुक्तम्** = वह कथन अयुक्त (ठीक नहीं) है। (क्योंकि, तब), **नित्यविभूनाम्** = नित्य और व्यापक, **व्योमादीनाम्** = आकाश आदि का, **कालतः** = काल से, **देशतश्च** = और देश से, **व्यतिरेकासम्भवेन** = अभाव (व्यतिरेक) सम्भव न होने से (उनमें), **अकारणत्वप्रसङ्गात्** = अकारणता की प्राप्ति हो जाएगी (अर्थात् कार्यमात्र के प्रति कारण आकाशादि जिनका कभी अभाव नहीं होता है, उनकी कारणता नहीं हो सकेगी, अतः यह लक्षण अयुक्त है।)

सङ्कलितार्थ—जो कोई भी मीमांसक कहते हैं कि ''कार्य के द्वारा जिसके अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण किया जाता है, वह कारण है'' यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि (कार्यमात्र के प्रति कारण बनने वाले) नित्य एवं व्यापक आकाश आदि का काल और देश में अभाव (व्यतिरेक) होना असम्भव है, तब तो आकाशादि किसी का कारण नहीं बन सकेंगे (अतः उपर्युक्त मीमांसक का लक्षण सही नहीं है)।

विवेचन

कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्—यह कारण का लक्षण मीमांसक का है। कार्येण अनुकृतौ = अनुसृतौ, कार्यानुकृतौ (तृतीया तत्पुरुष समास)। अन्वयश्च व्यतिरेकश्चेति अन्वयव्यतिरेकौ (द्वन्द्वसमास), कार्यानुकृतौ च अमू अन्वयव्यतिरेकौ = कार्यानुकृतान्वव्यतिरेकौ (कर्मधारय)। कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकौ स्तः अस्य इस अर्थ में इनि प्रत्यय कर कार्यानकुकृतान्वयव्यतिरेकि बनता है। यह कारण का विशेषण है। वस्तुतः कर्मधारय से मत्वर्थीय नहीं होता है, यदि बहुव्रीहि समास से अर्थ निकल जाये। इस नियम के अनुसार कार्यानुकृतौ अन्वयव्यतिरेकौ यस्य तत् 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकं' यह बनना चाहिए। अस्तु।

कार्य जिसके अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करे वह कारण है, यह पंक्ति का अर्थ है।

तर्क-भाषा

तच्च कारणं त्रिविधिम्—समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य समवायिकारणम्। यतस्तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु।

सन्दर्भ—मीमांसक के कारण लक्षण का खण्डन कर कारण के त्रैविध्य को प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं।

अर्थ—तच्च = और वह (पूर्व में प्रतिपादित), **कारणम्** = कारण, **त्रिविधम्** = तीन प्रकार का है, **समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्** = समवायि असमवायि एवं निमित्त के भेद से, **यत्समवेतम्** = जिसमें समवेत (समवायसम्बन्ध से), **कार्यम्** = कार्य, **उत्पद्यते** = उत्पन्न होता है, **तत्** = वह, **समवायिकारणम्** = समवायिकारण है, **यथा** = जैसे, **तन्तवः** = तन्तुएँ, **पटस्य** = वस्त्र का, **समवायिकारणम्** = समवायिकारण हैं, **यतः** = क्योंकि, **तन्तुषु एव** = तन्तुओं में ही, **पटः** = पट (कार्य), **समवेतः** = समवायसम्बन्ध से, **जायते** = उत्पन्न होता है, **न** = न कि, **तुर्यादिषु** = तुरी आदि में (समवाय) सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है।

सङ्कलितार्थ—और पूर्व प्रदर्शित वह कारण (1) समवायि, (2) असमवायि, (3) निमित्त भेद से तीन प्रकार का है। जिसमें समवायसम्बन्ध से स्थित कार्य उत्पन्न होता है वह समवायिकारण है। जैसे कि तन्तुएँ पट कार्य का समवायिकारण है। क्योंकि तन्तुओं में ही पट-कार्य समवायसम्बन्ध से विद्यमान होकर उत्पन्न होता है, न कि तुरी आदि में।

NOTES

विवेचन

तच्च कारणम् त्रिविधम्—कारण के त्रैविध्य को प्रदर्शित कर नैयायिकों ने सांख्य एवं वेदान्त के कारणद्वैविध य को अमान्य कर दिया है। सांख्य एवं वेदान्त—(1) उपादान, (2) निमित्त को कारण मानते हैं। उपादान कारण मुख्य कारण है। अन्य सभी कारण उनके मत में निमित्तकारण में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। कारण और कार्य का तादात्म्य ही उपादन कारण है, जैसे—तन्तु एवं पट में तादात्म्य है। मृत्तिका और घट में तादात्म्य है। अत: तन्तु एवं मृत्तिका उपादान कारण हैं। परन्तु नैयायिक उपादान एवं समवायिकारण में थोड़ा भेद मानते हैं। नैयायिक समवायि से भिन्न कारण को दो भागों में रखते हैं—(1) एक समवायिकारण में प्रत्यासन्न या समवायिकारण के समवायिकारण में विद्यमान गुण असमवायिकारण हैं, (2) अन्य सभी निमित्तकारण में समाविष्ट हैं।

तर्क-भाषा

ननु तन्तुसम्बन्ध इव तुर्यादिसम्बन्धोऽपि पटस्य विद्यते, तत्कथं तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु।

सत्यम। द्विविधः सम्बन्धः—संयोगः समवायश्चेति। तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। अन्ययोस्तु संयोग एव।

सन्दर्भ—समवायसम्बन्ध है और उसका स्वरूप बतलाने के लिए ग्रन्थकार प्रश्न माध्यम से आश्रय लेते हुए कहते हैं।

अर्थ—(प्रश्न) **ननु, तन्तुसम्बन्ध इव** = तन्तुओं के साथ सम्बन्ध (पट का) जिस प्रकार से है, (उसी प्रकार से), **तुर्यादि** = तुरी, वेमा के साथ, **सम्बन्धोऽपि** = सम्बन्ध भी, **पटस्य** = वस्त्ररूपी कार्य का, **विद्यते** = है, **तत्कथम्** = तो किस प्रकार से, **तन्तुषु एव** = तन्तुओं में ही, **पटः** = पटकार्य, **समवेतो** = समवायसम्बन्ध से स्थित, **जायते** = उत्पन्न होता है, **न तुर्यादिषु** = तुरी आदि में क्यों नहीं।

(उत्तर) **सत्यम्** = सच है कि पट का तुरी आदि से भी सम्बन्ध है, **द्विविधः** = (किन्तु) दो प्रकार का, **सम्बन्धः** = सम्बन्ध होता है, **(1) संयोगः** = संयोग, **(2) समवायश्चेति** = और एक समवाय। **तत्रायुतसिद्धयोः** = उन दोनों सम्बन्धों में से अयुतसिद्ध पदार्थों का, **सम्बन्धः** = सम्बन्ध, **समवायः** = समवाय होता है। **अन्ययोस्तु** = और अन्य दो पदार्थों का, **संयोगः एव** = संयोग ही सम्बन्ध होता है।

सङ्कलितार्थ—प्रश्न होता है कि पट का जिस प्रकार तन्तुओं के साथ सम्बन्ध है, उसी प्रकार तुरी वेमा आदि के साथ भी है, तब क्यों तन्तुओं में ही समवाय से स्थिति पटकार्य उत्पन्न होता है, तुरी आदि में क्यों नहीं ?

उत्तर देते हुए कहते हैं कि—सत्य है कि पट का तुरी आदि के साथ भी सम्बन्ध है, किन्तु सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—(1) संयोग और (2) समवाय। उनमें जो दो अयुतसिद्ध (अपृथक् भूत) पदार्थ हैं, उनका सम्बन्ध समवाय होता है और जो दो अन्य पदार्थों का (पृथक् सिद्धों का) सम्बन्ध होता है, वह संयोग ही कहलाता है।

विवेचन

पट की उत्पत्ति में तन्तु तन्तुवाय तुरी इन तीनों कारणों का सम्बन्ध रहता है। जब तीनों का पट के साथ समान रूप से सम्बन्ध होता है, तब तन्तुओं में ही पट समवेत रहता है, यह कैसे माना जाये ?

इस प्रश्न के समाधान हेतु सम्बन्धों का प्रकार एवं भेद यहाँ पर बताया गया है। ग्रन्थकार **सत्यम्** कहकर अर्द्ध-स्वीकृति देते तो हैं, परन्तु कार्य का सभी कारणों के साथ समवायसम्बन्ध नहीं होता है, यह बतलाना चाह रहे हैं।

सम्बन्ध क्या है ? सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नः एकः द्विष्ठश्च = दो पदार्थों का सम्बन्ध होता है। वह दोनों सम्बन्धियों से भिन्न, किन्तु दोनों में स्थित होता है। जिन दो का सम्बन्ध होगा वे सम्बन्धी कहलायेंगे। संयोग और समवाय दोनों सम्बन्ध हैं, दोनों में यह लक्षण घटित होता है। संयोग में इसको घटाना आसान है। यथा—हाथ में कलम है। सम्बन्धी हाथ और कलम हैं। इन दोनों का एकत्रीकरण जो है, उसमें सम्बन्ध तत्त्व कार्य करता है। वह सम्बन्ध सम्बन्धियों—हाथ और कलम से भिन्न है, किन्तु दोनों में है और एक है।

समवाय में इसे घटाने हेतु कहा गया है कि 'अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः' अयुतसिद्ध का लक्षण आगे स्वयं तर्कभाषाकार कहेंगे। अयुतसिद्ध का अर्थ है—अपृथक्भूत किन्तु पृथक् पृथक् सिद्ध। दो अयुतसिद्धों का (पदार्थों का) समवायसम्बन्ध होता है।

तर्क-भाषा

कौ पुनरयुतसिद्धौ ? ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। यदुक्तम्—

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।

अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते।।

सन्दर्भ—समवाय के लक्षण में बताया गया था कि अयुतसिद्धयोस्तु समवायः। अब अयुतसिद्ध की व्याख्या करते हुए समवाय के स्वरूप को अधिक विस्तार से बताने का प्रयास किया जा रहा है।

अर्थ—(प्रश्न) **कौ** = कौन दो पदार्थ, **पुनः** = फिर, **अयुतसिद्धौ** = अयुतसिद्ध कहलाते हैं ?

(उत्तर) **ययोः** = जिन दो पदार्थों के, **मध्ये** = मध्य, **एकम्** = एक, **अविनश्यत्** = नष्ट नहीं होता हुआ, **अपराश्रितम्** = दूसरे पर आश्रित, **एव** = ही, **अवतिष्ठते** = रहता है, **तौ** = वे दोनों, **अयुतसिद्धौ** = अयुतसिद्ध पदार्थ हैं। **तद् उक्तम्** = अतः कहा गया है।

द्वौ तौ एव = वे दोनों ही (पदार्थ), **अयुतसिद्धौ** = अपृथक्भूत, **विज्ञातव्यौ** = समझे जाने चाहिए, **ययोः द्वयोः** = जिन दो पदार्थों में, **अनश्यत्** = नहीं नष्ट होता हुआ, **एकम्** = एक पदार्थ, **अपराश्रितम् एव** = दूसरे पर ही आश्रित, **अवतिष्ठते** = रहता है।

सङ्कलितार्थ—कौन दो पदार्थ अयुतसिद्ध हैं ? उत्तर—

जिन दो के बीच एक बिना नष्ट हुए दूसरे पर आश्रित रहता हो वे दोनों अयुतसिद्ध हैं। इसलिए कहा गया है—"उन्हीं दो को अयुतसिद्ध समझना चाहिए जिन दो के मध्य एक अनष्ट दशा में रहता हुआ दूसरे पर ही आश्रित हो।"

विवेचन

अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः कहा जा चुका है। अयुतसिद्ध पदार्थ अप्रसिद्ध है, अतएव ग्रन्थकार अयुतसिद्ध का अर्थ कहते हैं।

अयुतसिद्ध—यु मिश्रणामिश्रणयोः से अमिश्रण अर्थ में क्त प्रत्यय कर युत बनता है। न युतः अयुतः अयुतश्चासौ सिद्धश्चेति अयुतसिद्धः (कर्मधारय) युत = अमिश्रित = पृथक्। युतसिद्ध = पृथक्-पृथक् सिद्ध। जब दो पदार्थ अलग सिद्ध हैं तो वे युतसिद्ध होते हैं। युतसिद्धों का सम्बन्ध संयोग होता है। अयुतसिद्ध = अपृथक्सिद्ध =

जो दो पदार्थ कभी पृथक्-पृथक् नहीं रहते हैं, एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं, वे अयुतसिद्ध हैं। उनका समवायसम्बन्ध होता है, जैसे—घट और घटरूप (गुणगुणी) तन्तु और पट (अवयव-अवयवी) क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, नित्यद्रव्य-विशेष, इन दोनों का समवायसम्बन्ध है। क्योंकि ये दोनों अलग नहीं किये जा सकते हैं।

NOTES

तर्क-भाषा

यथा अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति। अवयव्यादयो हि यथाक्रमम् अवयवाद्याश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽविनश्यन्तः। विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽवय-व्यादयः। यथा तन्तुनाशे सति पटः। यथा वा आश्रयनाशे सति गुणः। विनश्यत्ता तु विनाशकारणसामग्रीसान्निध्यम्।

सन्दर्भ—अयुतसिद्धों के समवायसम्बन्ध को उदाहरणों के द्वारा प्रस्तुत कर रहे हैं-

अर्थ—**यथा** = जैसे, **अवयवावयविनौ** = अवयव और अवयवी, **गुणगुणिनौ** = गुण और गुणी, **क्रियाक्रियावन्तौ** = क्रिया और क्रियावान, **जातिव्यक्ती** = जाति और व्यक्ति, **विशेषनित्यद्रव्ये च इति** = और विशेष एवं नित्य द्रव्य (अयुतसिद्ध हैं)। **अवयव्यादयो हि** = क्योंकि अवयवी आदि, **यथाक्रमम्** = क्रमशः, **अवयवाद्याश्रिताः** = अवयव आदि पर आश्रित, **एव** = ही, **अवतिष्ठन्ते** = रहते हैं, **अविनश्यन्तः** = अविनश्यद् अवस्था में। **विनश्यदवस्थास्तु** = विनश्यद् अवस्था वाले (अवयवी आदि) तो, **अनाश्रिता एव** = (क्षण के लिए) निराश्रित ही, **अवतिष्ठन्ते** = रहते हैं, **यथा** = जैसे, **तन्तुनाशे** = तन्तुओं का नाश, **सति** = होने पर, **पटः** = पट (अवयवी निराश्रित हो जाता है), **यथा वा** = या जैसे, **आश्रयनाशे** = आश्रय (पट) का नाश, **सति** = होने पर, **गुणः** = गुण (पट में रहने वाला गुण निराश्रित हो जाता है), **विनश्यत्ता तु** = विनश्यत्ता (का अर्थ) तो, **विनाशकारणसामग्री सान्निध्यम्** = विनाश के कारण सामग्री का एकत्रित (उपस्थित) हो जाना है।

सङ्कलितार्थ—जैसे अवयव एवं अवयवी (= तन्तु अवयव, पट अवयवी) गुण और गुणी (= रक्त नील आदि गुण, पट गुणी) क्रिया और क्रियावान् (= गमन क्रिया, गमन कर्त्ता क्रियावान्) जाति और व्यक्ति (= घटत्व आदि जाति घटरूप व्यक्ति), विशेष और नित्यद्रव्य (= आकाश आदि नित्यद्रव्य और उसमें रहने वाला विशेष पदार्थ) अयुतसिद्ध के उदाहरण हैं। क्योंकि अवयवी (पट) आदि तो यथाक्रम बिना नष्ट हुए अवयव आदि पर (तन्तु आदि पर) ही आश्रित रहते हैं। विनाश की अवस्था वाले अवयवी आदि तो निराश्रित ही रहते हैं। जैसे—तन्तुरूप-अवयवों के नाश होने पर पट अवयवी निराश्रित रहते हैं अथवा आश्रय का नाश होने पर (आश्रय पट) गुण निराश्रित रहते हैं। यहाँ पर विनश्यत्ता का अर्थ है—विनाश की कारणसामग्रियों का एकत्रित हो जाना या उपस्थित हो जाना।

विवेचन

अयुतसिद्धपदार्थों का समवायसम्बन्ध होता है, यह बताया जा चुका है। अयुत कौन-कौन हैं, उन्हें 'यथा' से इत्यादि प्रघट्टक के माध्यम से बताया है।

तर्क-भाषा

तन्तुपटावप्यवयवावयविनौ, तेन तयोः सम्बन्धः समवायोऽयुतसिद्धत्वात्।
तुरीपटयोस्तु न समवायोऽयुतसिद्धत्वाभावात्। न हि तुरी पटाश्रितैवावतिष्ठते,
नापि पटस्तुर्याश्रितः। अतस्तयोः सम्बन्धः संयोग एव। तदेवं तन्तुसमवेतः पटः।
यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। अतस्तन्तुरेव समवायिकारणं पटस्य, न तु तुर्यादि।

पटश्च स्वगतरूपादेः समयवायिकारणम्। एवं मृत्पिण्डोऽपि घटस्य समवायिकारणं, घटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम्।

सन्दर्भ—तीन प्रकार के कारणों की चर्चा के उपरान्त तन्तु पट का समवायिकारण है, यह बताया गया। इसी सन्दर्भ में समवाय का लक्षण कर अयुतसिद्ध की विस्तार से चर्चा की गई। समवायिकारण का उपसंहार करते हुए अब ग्रन्थकार कहते हैं—कि तन्तु ही पट का समवायिकारण है, तुरी वेमा आदि नहीं—

अर्थ—तन्तुपटौ अपि = तन्तु और पट भी, **अवयवावयविनौ** = अवयव एवं अवयवी हैं, **तेन** = अतएव, **तयोः** = तन्तु और पट का, **समवायः** = समवायसम्बन्ध है, **अयुतसिद्धत्वात्** = (दोनों के) अयुतसिद्ध होने से, **तुरीपटयोस्तु** = तुरी (वेमा) और पट का, **अयुतसिद्धत्वाभावात्** = अयुतसिद्धत्व के अभाव के कारण, **न समवायः** = समवायसम्बन्ध नहीं है, **नहि** = नहीं तो, **तुरी** = वेमा, **पटाश्रिता एव** = पट पर ही आश्रित रहती है, **नापि** = और नहीं, **पटः** = पट, **तुर्याश्रितः** = तुरी पर आश्रित रहता है, **अतः** = एक-दूसरे पर आश्रित न रहने के कारण, **तयोः** = तुरी और तन्तु का, **सम्बन्धः** = सम्बन्ध, **संयोग एव** = संयोग ही है, **तदेवम्** = तो इस प्रकार, **तन्तुसमवेतः** = तन्तु में समवायसम्बन्ध से, **पटः** = पट रहता है, **यत्समवेतम्** = जिसमें समवायसम्बन्ध से विद्यमान (समवेत), **कार्यम्** = कार्य, **उत्पद्यते** = उत्पन्न होता है, **तत्** = वह, **समवायिकारणम्** = समवायिकारण होता है। **अतः** = इसलिए, **तन्तुः एव** = तन्तु ही, **पटस्य** = पटकार्य का, **समवायिकारणम्** = समवायिकारण है, **न तु** = न कि, **तुर्यादि** = तुरी, तन्तुवाय आदि।

पटश्च = और पट, **स्वगतरूपादेः** = अपने में स्थित रूपादि (गुण का), **समवायिकारणम्** = समवायिकारण है। **एवम्** = इसी तरह, **मृत्पिण्डोऽपि** = मिट्टी का पिण्ड भी, **घटस्य** = घट कार्य का, **समवायिकारणम्** = समवायिकारण है, **घटश्च** = और घट, **स्वगतरूपादेः** = अपने में विद्यमान रूपादि गुण का, **समवायिकारणम्** = समवायिकारण है।

सङ्कलितार्थ—तन्तु और पट भी अवयव एवं अवयवी हैं, इसलिए दोनों में अयुतसिद्ध होने के कारण तन्तु और पट का समवायसम्बन्ध है। तुरी और पट अयुतसिद्ध न होने से दोनों में समवायसम्बन्ध नहीं है। न तो तुरी पट पर आश्रित है, न ही पट तुरी पर आश्रित है। अतः दोनों = तुरी और पट का सम्बन्ध संयोग ही है। इस तरह सिद्ध होता है कि तन्तु में पट समवायसम्बन्ध से रहता है।

जिसमें समवायसम्बन्ध से विद्यमान रहता हुआ कार्य उत्पन्न होता है वह समवायिकारण कहलाता है। इसलिए तन्तु ही पट का समवायिकारण है, न कि तुरी आदि।

और पट भी अपने में (पट में) विद्यमान रूप आदि गुण का समवायिकारण है। इसी प्रकार मिट्टी का पिण्ड भी घट का समवायिकारण है और घट अपने में विद्यमान रूप आदि गुण का समवायिकारण है।

तर्क-भाषा

ननु यदेव घटादयो जायन्ते तदैव तद्गतरूपादयोऽपि। अतः समानकालीनत्वाद् गुणगुणिनोः सव्येतरविषाणवत् कार्यकारण-भाव एव नास्ति पौर्वापर्या-भावात्, अतो न समवायिकारणं घटादयः स्वगतरूपादीनाम् कारण-विशेषत्वात् समवायिकारणस्य।

सन्दर्भ—गुण गुणी में समवायसम्बन्ध माना गया है और इसका उदाहरण पट और पटगत रूप है। इस पर शङ्का की जा रही है।

अर्थ—शङ्का—ननु = अजी, **यदैव** = जिस समय, **घटादयो** = घट-पट आदि, **जायन्ते** = उत्पन्न होते हैं, **तदैव** = उसी समय, **तद्गतरूपादयः अपि** = घट पटादि में विद्यमान रूप आदि भी (उत्पन्न होते हैं), **अतः** = इसलिए, **गुणगुणिनोः** = गुण और गुणी का, **समान कालीनत्वात्** = समान समय में उत्पन्न होने के कारण, **सव्येतरविषाणवत्** = बायें (सव्य) और दायें (इतर) सींग के समान, **पौर्वापर्याभावात्** = पौर्वापर्य (पहिले और पीछे का भाव) का अभाव होने से, **कार्यकारण-भावः एव** = कार्य और कारण का भाव ही, **नास्ति** = नहीं है, **अतः** = इसलिए, **घटादयः** = घट पट आदि, **स्वगतरूपादीनाम्** = अपने में विद्यमान रूप आदि का, **न**

समवायिकारणम् = समवायिकरण नहीं है। **समवायिकारणस्य** = समवायिकारण के, **कारणविशेषत्वात्** = विशेष प्रकार का कारण होने से (अर्थात् समवायिकारण कारण विशेष है, अत: घटादि स्वगतरूपादि के समवायिकारण नहीं हैं)।

NOTES

सङ्कलितार्थ—प्रश्न है कि जिस समय घटादि उत्पन्न होते हैं उसी समय उनमें विद्यमान रूपादि की भी उत्पत्ति होती है। दोनों के समानकालीन होने से पौर्वापर्य नहीं बन रहा है, अत: गुण और गुणी में बायें दायें सींग के समान कार्यकारण-भाव नहीं बन रहा है। इसी कारण घट आदि अपने में विद्यमान रूपादि गुणों के भी समवायि कारण नहीं हो सकते। समवायिकारण कारण-विशेष है, अर्थात् जब घटादि गुण से नियत पूर्ववर्ती न होने से कारण ही नहीं है, तो उनका रूपादि के साथ कार्यकारण-भाव कैसे बनेगा?

विवेचन

गुण और गुणी में समवायसम्बन्ध मानते हुए गुणी घटादि को स्वगत रूपादि गुण का समवायिकारण माना गया है। परन्तु इसमें एक शङ्का उत्पन्न की गई है। शङ्का का आधार है—गुण और गुणी का समानकालीन जन्म। इससे घटादि में कारण का लक्षण संघटित नहीं होता है। समवायिकारण भी विशेष कारण ही है।

तर्क-भाषा

अत्रोच्यते। न गुणगुणिनो: समानकालीनं जन्म, किन्तु द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथममुत्पद्यते पश्चात् तत्समवेता गुणा उत्पद्यन्ते। समानकालोत्पत्तौ तु गुणगुणिनो: समानसामग्रीकत्वाद् भेदो न स्याद्, कारणभेदनियतत्त्वात् कार्यभेदस्य। तस्मात् प्रथमे क्षणे निर्गुण एव घट उत्पद्यते गुणेभ्य: पूर्वभावीति भवति गुणानां समवायिकारणम्।

सन्दर्भ—गुण और गुणी के समानकालीन होने पर गुणी गुण का समवायिकारण नहीं हो सकता ? पूर्व में उपस्थापित इस शङ्का का उत्तर—

अर्थ—अत्रोच्यते = (पूर्व शङ्का के) विषय में उत्तर दिया जा रहा है। **गुणगुणिनो:** = गुण और गुणी का, **समानकालीनं** = एक ही समय में, **जन्म न** = जन्म नहीं होता है, **किन्तु** = परन्तु, **द्रव्यम्** = द्रव्य, **प्रथमम्** = पहिले, **निर्गुणम् एव** = गुणरहित ही, **उत्पद्यते** = उत्पन्न होता है, **पश्चात्** = बाद में, **तत्समवेता:** = उसमें समवायसम्बन्ध से रहने वाले, **गुणा:** = गुण, **उत्पद्यन्ते** = उत्पन्न होते हैं, **समानकालोत्पत्तौ तु** = (गुण गुणी के) समान काल में उत्पत्ति मानने पर तो, **गुणगुणिनो:** = गुण और गुणी के समान सामग्री, **कत्वाद्** = समान सामग्री (कारण) वाला होने के कारण, **भेद:** = (गुण गुणी में) भेद, **न स्यात्** = नहीं होगा (यह गुण है, यह गुणी है इस प्रकार का भेद नहीं होगा, क्योंकि—), **कार्यभेदस्य** = कार्य के भेद का, **कारणभेदनियतत्त्वात्** = कारण भेद निश्चित है (कार्यभेद तभी माना जाता है, जब कारण भी भिन्न हो यह व्याप्ति है), **तस्मात्** = इसलिए, **प्रथम क्षणे** = प्रथम क्षण में, **निर्गुण: एव** = गुणरहित ही, **घट:** = घट, **उत्पद्यते** = उत्पन्न होता है (इस तरह घट आदि द्रव्य), **गुणेभ्य:** = गुणों से, **पूर्वभावी इति** = पूर्व में उत्पन्न होता है, ऐसा मानने से, **गुणानाम्** = (द्रव्य) गुणों का, **समवायिकारणम्** = समवायिकारण होता है।

सङ्कलितार्थ—गुण और गुणी के समानकालीन जन्म के विषय में की गई शङ्का का उत्तर दिया जा रहा है कि गुण और गुणी का समान काल में जन्म नहीं होता है। किन्तु द्रव्य (गुणी) पहले गुणरहित ही उत्पन्न होता है, बाद में द्रव्य (गुणी) में समवायसम्बन्ध से गुण उत्पन्न होते हैं। गुण और गुणी को समानकाल में उत्पन्न मानने पर दोनों का समान कारणसामग्री से उत्पन्न होने वाला माना जायेगा और दोनों में भेद नहीं होगा। कार्यभेद को कारण भेदवाला होना चाहिए यह व्याप्ति या नियम है, अर्थात् कार्यभेद तभी माना जायेगा, जब कारणभेद भी होगा।

इसलिए प्रथम क्षण में घटादि द्रव्य गुणरहित ही उत्पन्न होता है, इस तरह वह गुणों से पूर्व में उत्पन्न होने वाला माना जाता है और गुणों का समवायिकारण (द्रव्य) हो जाता है।

गुण और गुणी समानकाल में उत्पन्न नहीं होते हैं। प्रथम क्षण में गुणी = द्रव्य निर्गुण ही उत्पन्न होता है, पश्चात् उसमें समवायसम्बन्ध से गुण उत्पन्न होते हैं। यह उत्तर दिया गया है।

NOTES

तर्क-भाषा

तदा कारणभेदोऽप्यस्ति। घटो हि घटं प्रति न कारणम्, एकस्यैव पौर्वापर्याभावात्। न हि स एव तमेव प्रति पूर्वभावी पश्चाद्भावी चेति। स्वगुणान् प्रति तु पूर्वभावित्वाद् भवति गुणानां समवायिकारणम्।

सन्दर्भ—पूर्वोक्त कथन को ग्रन्थकार व्याख्यान के साथ दृढ़ बनाते हुए कह रहे हैं कि कैसे घटादि द्रव्य गुण का समवायिकारण है—

अर्थ—तदा = पूर्व क्षण में निर्गुण द्रव्य की उत्पत्ति तथा बाद में उसमें रूपादि गुणों की उत्पत्ति को मानने पर, **कारणभेदः अपि** = गुण और गुणी में (घट और तद्गत रूप में) कारण भेद भी, **अस्ति** = है, **घटो हि** = घट तो, **घटं प्रति** = घट के प्रति, **न कारणम्** = कारण नहीं हो सकता, क्योंकि, **एकस्यैव** = एक ही घट द्रव्य में, **पौर्वापर्याभावात्** = पौर्वापर्य का अभाव रहता है (अर्थात् वही घट, उसी घट के पूर्व में और पश्चात् तो नहीं हो सकता), **स एव** = **वही घट, तमेव प्रति** = उसी के प्रति (अपने प्रति), **पूर्वभावी** = पूर्व में उत्पन्न होने वाला, **पश्चाद्भावी च** = और पीछे उत्पन्न होने वाला है, **इति नहि** = ऐसा नहीं हो सकता, **स्वगुणान् प्रति तु** = अपने गुणों के प्रति तो, **पूर्वभावित्वाद्ध** = पूर्व में उत्पन्न होने के कारण से, **भवति** = होता है, **गुणानां** = गुणों का, **समवायिकारणम्** = समवायिकारण।

सङ्कलितार्थ—पूर्वक्षण में निर्गुण द्रव्य की उत्पत्ति एवं पश्चाद् तद्गत गुणों की उत्पत्ति मानने से घटादि द्रव्य एवं तद्गत गुणों में कारण भेद भी सिद्ध हो जाता है। एक ही घट अपने प्रति पूर्व में और बाद में हो ऐसा सम्भव नहीं होने से घट, घट के प्रति कारण नहीं हो सकता है। किन्तु अपने में विद्यमान गुणों के प्रति तो पूर्व में उत्पन्न होने के कारण से घटादि द्रव्य गुणों का समवायिकारण हो ही सकता है।

तर्क-भाषा

नन्वेवं सति प्रथमे क्षणे घटोऽचाक्षुषः स्याद्, अरूपिद्रव्यत्वाद् वायुवत्। तदेव हि द्रव्यं चाक्षुषं यत् महत्त्वे सत्युद्भूतरूपवत्। अद्रव्यं च स्याद् गुणाश्रयत्वाभावात्। गुणाश्रयो द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणम्।

सन्दर्भ—प्रथम क्षण में यदि द्रव्य निर्गुण उत्पन्न होता है ऐसा माना जाये तब तो द्रव्य दिखलाई नहीं पड़ेगा, यह दोष उत्पन्न होता है। इसी को शङ्का के माध्यम से उपस्थित किया जा रहा है—

अर्थ—ननु = अजी !, **एवम् सति** = ऐसा होने पर (प्रथम क्षण में द्रव्य में निर्गुण उत्पन्न होने को मानने पर), **प्रथमे क्षणे** = प्रथम क्षण में, **घटः** = घट, **अचाक्षुषः** = चाक्षुष प्रतीति का विषय नहीं, **स्यात्** = हो सकेगा, **अरूपिद्रव्यत्वात्** = रूपरहित द्रव्य होने के कारण से, **वायुवत्** = वायु के समान (जैसे रूपरहित वायु नेत्र की प्रतीति का विषय नहीं होता है, जैसे ही प्रथम क्षण में निर्गुण द्रव्य चक्षु का विषय नहीं होगा), **तदेव** = वही, **द्रव्यम्** = द्रव्य, **चाक्षुषम्** = चाक्षुष-प्रतीति का विषय होता है, **यत्** = जो, **महत्त्वे सति** = महत्-परिणाम वाला होते हुए, **उद्भूतरूपवत्** = प्रकट रूप वाला होता है, **अद्रव्यं च** = और (वह घट) अद्रव्य, **स्याद्ध** = होगा, **गुणाश्रयत्वाभावात्** = गुणों का आश्रय न होने के कारण, क्योंकि, **गुणाश्रयः** = गुणों का जो आश्रय है (वह), **द्रव्यम्** = द्रव्य है, **इति** = यह, **द्रव्यलक्षणम्** = द्रव्य का लक्षण है।

सङ्कलितार्थ—(प्रश्न) यदि द्रव्य को प्रथम क्षण में निर्गुण उत्पन्न होना मानेंगे तब प्रथम क्षण में घट की नेत्र से प्रतीति नहीं हो पाएगी, रूपरहित द्रव्य हो जाने के कारण, जैसे कि रूपरहित वायु का नेत्र प्रत्यक्ष नहीं होता है। वही द्रव्य चाक्षुष होता है जो महत्-परिमाण वाला होता हुआ प्रकट रूप वाला हो। दूसरी बात—गुणों का आश्रय

नहीं होने से घट आदि द्रव्य अद्रव्य माना जायेगा। क्योंकि द्रव्य का लक्षण है—गुणाश्रयो द्रव्यम् = जो गुणों का आश्रय है, वह द्रव्य है।

NOTES

विवेचन

अचाक्षुषः स्यात्—निर्गुण द्रव्य की उत्पत्ति मानने पर घटादि द्रव्य चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकेगा। यह (i) प्रथम दोष होगा। क्योंकि महत्-परिणाम के साथ उद्भूत रूप वाले का ही चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है।

चक्षुषा गृह्यते इति—चक्षुष्+अण् = चाक्षुषः, न चाक्षुषः = अचाक्षुषः।

(ii) दोष—प्रथम क्षण में घटादि द्रव्य नहीं, अद्रव्य कोटि में चले जाएँगे। क्योंकि द्रव्य वही होता है, जो गुणों का आश्रय हो।

विशेष—चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए दो बातें आवश्यक हैं—(i) महत्-परिमाण का होना, (ii) उद्भूत् रूप वाला होना। पार्थिवादि परमाणुओं में महत्-परिमाण नहीं है, अतः उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है।

तर्क-भाषा

सत्यम्। प्रथमे क्षणे घटो यदि चक्षुषा न गृह्यते का नो हानिः। न हि सगुणोत्पत्तिपक्षेऽपि निमेषावसरे घटो गृह्यते। तेन व्यवस्थितमेतन्निर्गुण एव प्रथमं घट उत्पद्यते। द्वितीयादिक्षणेषु चक्षुषा गृह्यते।

न च प्रथमे क्षणे गुणाश्रयत्वाभावात् अद्रव्यत्वापत्तिः। समवायिकारणं द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणयोगात् योग्यतया गुणाश्रयत्वाच्च। योग्यता च गुणानामत्यन्ताभावाभावः।

सन्दर्भ—गुणाश्रयता के अभाव में प्रथम क्षण में घट की चाक्षुष प्रतीति नहीं हो सकेगी तथा वह द्रव्य नहीं कहलायेगा। इन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करते हुए तर्कभाषाकार कह रहे हैं।

अर्थ—**सत्यम्** = ठीक है, **प्रथमे क्षणे** = प्रथम क्षण में, **घटो** = घट, **यदि** = यदि, **चक्षुषा** = नेत्र से, **न** = नहीं, **गृह्यते** = गृहीत होता है, तो, **का** = क्या, **नो** = हमें, **हानिः** = क्षति है, **सगुणोत्पत्तिपक्षेऽपि** = गुणसहित द्रव्य उत्पन्न होता है, इस पक्ष में भी, **निमेषावसरे** = पलक झपकने के समय में भी, **घटो** = घट, **न हि** = नहीं, **गृह्यते** = (चक्षु द्वारा) गृहीत होता है, **तेन** = इससे, **व्यवस्थितम् एतत्** = यह सिद्ध होता है कि, **प्रथमं** = पहले, **निर्गुण एव** = गुण रहित ही, **घट उत्पद्यते** = घट उत्पन्न होता है और, **द्वितीयादिक्षणेषु** = द्वितीय आदि क्षणों में, **चक्षुषा** = नेत्र द्वारा, **गृह्यते** = गृहीत होता है (दूसरे दोष का समाधान), **न च** = और न ही, **प्रथमे क्षणे** = प्रथम क्षण में, **गुणाश्रयत्वाभावात्** = गुणों का आश्रय न होने से, **अद्रव्यत्वापत्तिः** = (घटादि में) द्रव्यत्व का अभाव होने लगेगा। क्योंकि, **समवायिकारणं द्रव्यम्** = समवायिकारण द्रव्य होता है, **इति** = इस, **द्रव्यलक्षणयोगात्** = द्रव्य के लक्षण के घटित होने से (= योगात्), **योग्यतया** = गुणाश्रयत्व की योग्यता के कारण, **गुणाश्रयत्वाच्च** = गुणाश्रयत्व के होने से (गुणाश्रयो द्रव्यं इस लक्षण को मानने पर भी योग्यता से घटादि में गुणाश्रयत्व है ही) अर्थात् गुणाश्रय की योग्यता के कारण प्रथम क्षण में भी गुणाश्रय मानेंगे। **योग्यता च** = और योग्यता है, **गुणानाम्** = गुणों के, **अत्यन्ताभावाभावः** = अत्यन्ताभाव का अभाव होना।

सङ्कलितार्थ—गुणाश्रयता के अभाव में प्रथम क्षण में घट की चाक्षुष प्रतीति नहीं होगी, यह प्रश्न ठीक है। किन्तु प्रथम क्षण में घट यदि नेत्र से गृहीत न हो तो हमें हानि क्या है। 'द्रव्य गुणसहित उत्पन्न होते हैं' इस पक्ष को मानने पर भी पलक झपकने के समय घट का नेत्र से ग्रहण तो होता ही नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रथम क्षण में घट निर्गुण ही उत्पन्न होता है और द्वितीय आदि क्षणों में नेत्र से गृहीत होता है।

अद्रव्यत्वापत्ति दोष का समाधान—और न ही प्रथम क्षण में गुण का आश्रय न होने से घट में अद्रव्यत्व की आपत्ति (दोष) होगी। क्योंकि 'समवायिकारण द्रव्य होता है' यह द्रव्य का लक्षण तो घटित होता ही है। दूसरी

बात—गुणों का आश्रय होने की योग्यता के कारण घट आदि गुणाश्रय माने ही जायेंगे। योग्यता क्या है ? गुणों के अत्यन्ताभाव के अभाव को योग्यता कहते हैं।

विवेचन

NOTES

प्रथम क्षण में घट के निर्गुण उत्पन्न होने पर उसका नेत्र से ग्रहण नहीं होगा। इस शङ्का का समाधान ग्रन्थकार ने **का नो हानिः** कहकर दिया है। क्योंकि गुण सहित द्रव्य उत्पन्न होता है, इस पक्ष को मानने पर भी द्रष्टा जब पलक झपकाता है, उस क्षण घटादि द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है, फिर भी व्यवहार में कोई हानि नहीं होती। इस प्रकार क्षण में द्रव्य के निर्गुण उत्पन्न होने पर व्यवहार में हानि नहीं होगी। अतः प्रथम दोष नहीं है।

दूसरा दोष था—**गुणाश्रयो द्रव्यम्** यह लक्षण प्रथमक्षण के घट में घटित नहीं होगा। इसका समाधान—

गुणाश्रयो द्रव्यम् यह द्रव्य का लक्षण न करके 'समवायिकारणं द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण करेंगे। इससे यह होगा कि प्रथम क्षण में उत्पन्न घटादि द्रव्य द्वितीय क्षण में उत्पन्न होने वाले गुणों का समवायिकारण तो माना ही जायेगा और प्रथम क्षण के घट में द्रव्य का लक्षण घटित हो जायेगा और घट में द्रव्यत्व योग बन जायेगा। यदि पूर्व पक्षी 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' इसी लक्षण को मानना चाहेंगे तब कहेंगे कि इसमें भी दोष नहीं है। क्योंकि गुणाश्रय का अर्थ—'गुणों का आश्रय बनने की योग्यता' यह करेंगे।

तर्क-भाषा

असमवायिकारणम् उच्यते—यत् समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणम्। तन्तु-संयोगस्य गुणस्य, पटसमवायिकारणेषु तन्तुषु समवेतत्त्वेन समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वात्, अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वेन पटं प्रति कारणत्वाच्च। एवं तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम्।

सन्दर्भ—त्रिविध कारणों में समवायिकारण को विस्तार से बताने के बाद अब असमवायिकारण को बताया जा रहा है।

अर्थ—**असमवायिकारणम्** = अब असमवायिकारण, **उच्यते** = कहा जा रहा है, **यत्** = जो, **समवायिकारणप्रत्यासन्नम्** = समवायिकारण में समीपतः सम्बद्ध (प्रत्यासन्न) हो, **अवधृतसामर्थ्यम्** = और जो कार्य के उत्पादन में निश्चित सामर्थ्य वाला (कारण शक्ति वाला) हो, **तद्ध** = वह असमावायिकारण है, **यथा** = जैसे, **तन्तुसंयोगः** = तन्तुओं का संयोग, **पटस्य** = पटकार्य का, **असमवायिकारणम्** = असमवायिकारण होता है, **तन्तुसंयोगस्य गुणस्य** = तन्तुसंयोगरूपी गुण की, **पटसमवायिकारणेषु** = पटकार्य का समवायिकारण, **तन्तुषु गुणिषु** = तन्तुरूपी गुणी में, **समवेतत्त्वेन** = समवायसम्बन्ध से रहने के कारण, **समवायिकारणे** = (पट के) समवायिकारण में, **प्रत्यासन्नत्वात्** = प्रत्यासत्ति है और, **अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वेन** = अन्यथासिद्धरहित (कार्य से) नियत पूर्वभावी होने से (कारण लक्षण युक्त होने से), **पटं प्रति** = कार्य के प्रति, **कारणत्वाच्च** = कारणता भी है, **एवं** = इसी प्रकार, **तन्तुरूपं** = तन्तु का रूप भी, **पटरूपस्य** = पट के रूप का (पटरूप कार्य का), **असमवायिकारणम्** = असमवायिकारण होता है।

सङ्कलितार्थ—असमवायिकारण का लक्षण कहा जा रहा है—जो समवायिकारण में उपस्थित हो और कार्य के लिए निश्चित सामर्थ्य रखता हो (कारणत्वशक्ति युक्त हो) वह असमवायिकारण होता है। जिस प्रकार तन्तु का संयोग पट का असमवायिकारण है। तन्तुसंयोग रूप गुण पट के समवायिकारण—तन्तुरूप गुणी में समवायसम्बन्ध
ा से रहने के कारण (पट के) समवायिकारण में प्रत्यासन्न है और वह अनन्यथासिद्ध नियत पूर्वभावी होने से (कारण लक्षण युक्त होने) पट कार्य के प्रति कारण भी है। इसी प्रकार तन्तु का रूप भी पट के रूप का असमवायिकारण है।

NOTES

विवेचन

असमवायिकारण के लक्षण में ग्रन्थकार ने दो बातें विशेष रूप से बताई हैं—(i) समवायिकारण में प्रत्यासन्न होना (ii) और अवधृत-सामर्थ्य।

प्रत्यासन्नम्—प्रति + आ + सद् धातु + क्त-प्रत्यय = प्रत्यासन्न। निकट में जो उपस्थित हो, विद्यमान हो, या सटा हो वह प्रत्यासन्न कहलाता है। कहाँ प्रत्यासन्न हो तो कहा गया कि समवायिकारण में प्रत्यासन्न हो।

अवधृतसामर्थ्यम्—अवधृतं = निश्चितं, सामर्थ्यं = कारणत्वरूपं, यस्य तत् (बहुव्रीहि समास), जिसमें कारण बनने की सामर्थ्य है, अर्थात् कारण का लक्षण जिसमें घटित हो।

असमवायिकारण में ये दोनों पद आवश्यक हैं। **अवधृतसामर्थ्य** पद के कारण तन्तुरूप पट का असमवायिकारण नहीं बनता है। अपितु तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण बनता है। क्योंकि यह तन्तुसंयोग जो गुण है, पट के समवायिकारण तन्तु में (गुणी में) समवायसम्बन्ध से है, अतः पट के समवायिकारण में प्रत्यासन्न (विद्यमान) है और पट के प्रति अनन्यथासिद्ध नियतपूर्वभावित्व रूप कारणत्व की सामर्थ्य से युक्त भी है। परन्तु तन्तुरूप तो पट के प्रति अन्यथासिद्ध होने से कारणत्वशक्ति युक्त नहीं है। अतः तन्तुरूप पट का असमावायिकारण नहीं है, अपितु तन्तुसंयोग ही पट का असमवायिकारण है। इस तरह असमवायिकारण से निकटतः सम्बद्ध तथा कारणत्व-लक्षणयुक्त असमवायिकारण सिद्ध होता है।

तर्क-भाषा

ननु पटरूपस्य पटः समवायिकारणं, तेन तद्गतस्यैव कस्यचिद्धर्मस्य पटरूपं प्रति असमवायिकारणत्वमुचितम्। तस्यैव समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्, न तु तन्तुरूपस्य। तस्य समवायिकारणप्रत्यासत्त्यभावात्।

मैवम् तत्समवायिकारणसमवायिकारण-प्रत्यासन्नस्यापि परम्परया समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्।

सन्दर्भ—तन्तुरूप को पटरूप का असमवायिकारण जो बताया गया है, उस पर 'ननु .... अभावात्' कहकर शङ्का की जा रही है, तथा ''मैवम् ....'' से उत्तर प्रस्तुत किया जा रहा है—

अर्थ—(प्रश्न) **ननु** = अजी!, **पटरूपस्य** = पट के रूप का, **पटः** = पट, **समवायिकारणम्** = समवायिकारण है, **तेन** = उससे, **तद्गतस्य एव** = उस पट में ही विद्यमान, **कस्यचिद्** = किसी, **धर्मस्य** = धर्म को, **पटरूपं प्रति** = पट के रूप के प्रति, **असमवायिकारणम्** = असमवायिकारण बनना, **उचितम्** = उचित है। क्योंकि, **तस्य एव** = उस धर्म की ही, **समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्** = समवायिकारण में प्रत्यासत्ति है, **न तु** = न कि, **तन्तुरूपस्य** = तन्तु के रूप की (प्रत्यासत्ति है), **तस्य** = उस तन्तुरूप की, **समवायिकारणप्रत्यासत्त्यभावात्** = (पटरूप के) समवायिकारण (पट) में प्रत्यासत्ति का अभाव है।

(उत्तर) **मैवम्** = ऐसा मत कहिये, **तत्समवायिकारण** = उस पटरूप के समवायिकारण पट के, **समवायिकारणप्रत्यासन्नस्यापि** = समवायिकारण (तन्तु) में प्रत्यासन्न (तन्तुरूप) को भी, **परम्परया** = परम्परा से, **समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्** = समवायिकारण में प्रत्यासन्न माना जाता है (इसलिए तन्तुरूप को पटरूप का असमवायिकारण मानने में दोष नहीं है)।

सङ्कलितार्थ—(प्रश्न होता है कि) पट के रूप का समवायिकारण पट है, इसलिए उस पट में रहने वाले किसी धर्म को ही पट के रूप के प्रति असमवायिकारण बनना उचित है। क्योंकि (पट का) धर्म ही समवायिकारण में प्रत्यासन्न है, न कि तन्तु का रूप प्रत्यासन्न है। तन्तु का रूप पटरूप के समवायिकारण पट में प्रत्यासन्ना (निकट से सम्बद्ध) नहीं है।

उत्तर—ऐसा नहीं है। उस पटरूप का समवायिकारण पट है और पट का समवायिकारण तन्तु में प्रत्यासन्न (रूप) को भी परम्परा से समवायिकारण में प्रत्यासन्न माना जाता है। अर्थात् परम्परा से तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण हो सकता है।

NOTES

विवेचन

असमवायिकारण के लक्षण में बताया गया है कि उसे समवायिकारण में प्रत्यासन्न होना चाहिए। किन्तु यह लक्षण ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत उदहारण 'एवं तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम्' में घटित नहीं हो सकता है। क्योंकि जब पटरूप का समवायिकारण पट है, तब उसमें विद्यमान कोई धर्म ही पटरूप का असाधारण कारण होगा, न कि तन्तु में विद्यमान रूप। पट में विद्यमान धर्म ही पटरूप में प्रत्यासन्न होता है। अत: यह उदाहरण ठीक नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष के रूप में प्रश्न उपस्थित कर स्वयं ग्रन्थकार कहते हैं—

''मैवम् तत्समवायि .... परम्परया' इत्यादि—

अर्थात् ऐसा नहीं है। परम्परासम्बन्ध के पटरूप के समवायिकारण पठ के समवायिकारण तन्तु में प्रत्यासन्न तन्तुरूप भी समवायिकारण में प्रत्यासन्न माना ही जाता है।

तर्क-भाषा

निमित्तकारणं तदुच्यते-यत्र समवायिकारणं नाप्यसमवायिकारणम्, अथ च कारणम्, तन्निमित्तकारणम्। यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम्। तदेतत् भावनामेव त्रिविधं कारणम्। अभावस्य तु निमित्तमात्रं, तस्य क्वचिदप्य-समवायात् समवायस्य भावद्वयधर्मत्वात्।

सन्दर्भ—समवायि एवं असमवायिकारणों का विस्तृत विवेचन के पश्चात् निमित्तकारण का विवेचन किया जा रहा है।

अर्थ—**निमित्तकारणम्** = निमित्तकारण, **तद् उच्यते** = उसे कहते हैं, **यन्न** = जो न तो, **समवायिकारणम्** = समवायिकारण होता है, **नापि** = और न ही, **असमवायिकारणम्** = असमवायिकारण होता है, **अथ च** = और जो, **कारणम्** = कारण होता है, **तत्** = वह, **निमित्तकारणम्** = निमित्तकारण होता है, **यथा** = जैसे, **वेमादिकं** = वेमा, तन्तुवाय आदि, **पटस्य** = पट का, **निमित्तकारणम्** = निमित्तकारण है। **तदेतद्** = वह यह, **त्रिविधम्** = तीन प्रकार का, **कारणम्** = समवायि-असमवायि निमित्तकारण, **भावनाम् एव** = भावपदार्थों का ही होता है, **अभावस्य तु** = अभावपदार्थ का तो, **निमित्तमात्रम्** = निमित्तकारण मात्र होता है, **तस्य** = अभाव का, **क्वचिदपि** = कहीं भी, **असमवायात्** = समवायसम्बन्ध नहीं होने से, (नहीं होता है), **समवायस्य** = समवाय का, **भावद्वयधर्मत्वात्** = दो भावपदार्थ का धर्म होने से (समवाय दो भावपदार्थों का ही धर्म होता है)।

सङ्कलितार्थ—निमित्तकारण उसे कहते हैं जो न समवायिकारण होता है और न ही असमवायिकारण होता है और वह कारण होता है, वही निमित्तकारण कहलाता है। जैसे कि तुरी तन्तुवाय आदि पट कार्य का निमित्तकारण है।

ये तीनों कारण भावपदार्थों के ही कारण होते हैं। अभावपदार्थ का तो निमित्तकारण मात्र होता है, क्योंकि अभाव कहीं भी समवायसम्बन्ध से नहीं रहता है। समवायसम्बन्ध दो भावपदार्थों का ही धर्म है।

विवेचन

सात पदार्थों में छह भावपदार्थ हैं एवं सातवाँ अभाव है। इस तरह भाव और अभाव इन दो भागों में पदार्थ बँटा हुआ है। कार्य के लिए कारण आवश्यक हैं।

भावपदार्थों का तीनों कारण समवायि-असमवायि एवं निमित्त हो सकता है। किन्तु अभाव का केवल निमित्तकारण होता है, समवायि और असमवायि नहीं। क्योंकि अभाव (जो सत्ता शून्य है) किसी में समवेत नहीं

होता है। समवेत = समवाय दो भावपदार्थों का धर्म है। इसलिए अभाव का किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध ही नहीं होगा तो उसका समवायिकारण कैसे होगा और समवायिकारण नहीं होने से असमवायिकारण भी नहीं होगा। क्योंकि असमवायि समवायिकारण में ही प्रत्यासन्न रहता है। अत: अभाव का केवल निमित्तकारण होता है।

NOTES

तर्क-भाषा

तदेतस्य त्रिविधस्य कारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव कारणम्। तेन व्यवस्थतिमेतल्लक्षणं प्रमाकरणं प्रमाणमिति।

सन्दर्भ—'प्रमाकरणं प्रमाणम्' से प्रारब्ध विषय का विवेचन करते हुए करण एवं कारणों का विवेचन किया गया। कारणों में कारण उपसंहार करते हुए प्रमाकरणं प्रमाणम् का निगमन प्रस्तुत करते हुए श्री केशव मिश्र कहते हैं—

अर्थ—**तत्** = इस प्रकार, **एतस्य** = इस, **त्रिविधस्य** = तीन प्रकार के, **कारणस्य** = कारण के, **मध्ये** = बीच, **यदेव** = जो भी कारण, **कथमपि** = किसी प्रकार से, **सातिशयम्** = अतिशयित हो जाता है, **तदेव** = वही कारण, **कारणम्** = करण बन जाता है, **तेन** = इस प्रकार के विवेचन से, **व्यवस्थितम्** = निश्चित हो गया है, **एतल्लक्षणम्** = यह लक्षण कि, **प्रमाकरणम्** = प्रमा का करण, **प्रमाणम् इति** = प्रमाण होता है।

सङ्कलितार्थ—इस प्रकार इन तीन प्रकार के लक्षण के मध्य जो भी कारण किसी तरह से असाधारण कारण हो जायेगा, वही करण होगा। इस विवेचन से यह लक्षण निश्चित हो गया कि प्रमा का करण प्रमाण कहलाता है।

तर्क-भाषा

यत्तु अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति लक्षणम्, तन्न, एकस्मिन्नेव घटे घटोऽयं घटोऽयमिति धारावाहिकज्ञानानां गृहीतग्राहिणाम् अप्रमाण्यप्रसङ्गात्।

सन्दर्भ—स्वमत प्रस्तुत करने के उपरान्त भाट्टमीमांसक एवं बौद्ध के मत में प्रमाण लक्षण बताते हुए ग्रन्थकार उनका परीक्षण कर रहे हैं तथा उसे अनुपयुक्त बता रहे हैं—

अर्थ—**यत्तु** = जो भाट्ट मीमांसक एवं बौद्ध, **अनधिगतार्थगन्तृ** = अप्राप्त अर्थ को प्राप्त कराने वाला (बोधक), **प्रमाणम्** = प्रमाण है, **इति** = यह, **लक्षणम्** = प्रमाण का लक्षण है (ऐसा कहते हैं), **तन्न** = वह सही नहीं हैं। क्योंकि, **एकस्मिन एव** = एक ही, **घटे** = घट में (लगातार), **घटोऽयम् घटोऽयम् इति** = यह घट है, यह घट है, इस प्रकार के, **धारावाहिकज्ञानानाम्** = धारावाहिक ज्ञानों का जो, **गृहीतग्राहिणाम्** = ज्ञात अर्थ का ज्ञान कराने वाले हैं, उनकी **अप्रमाण्यप्रसङ्गात्** = अप्रामाणिकता हो जायेगी।

सङ्कलितार्थ—जो मीमांसक एवं दिङ्नाद आदि बौद्ध आचार्य कहते हैं कि, ''अप्राप्त अर्थ का प्रापक प्रमाण है'' यह प्रमाण का लक्षण है, अर्थात् अज्ञातविषय वाला यथार्थ-ज्ञान प्रमा है और उसका करण प्रमाण है, यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि एक ही घट में 'यह घट है', 'यह घट है', इस प्रकार के ज्ञात अर्थ का बोध कराने वाले धारावाहिक ज्ञानों की अप्रामाणिकता हो जायेगी। अर्थात् धारावाहिक ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकेगा।

विवेचन

अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् अनधिगतश्चासौ अर्थश्च इति अनधिगतार्थ:। अनधिगतार्थस्य गन्तु = बोधकम् यह व्युत्पत्ति है। इस व्युत्पत्ति से यह घट है यह घट है, इस धारावाहिक-ज्ञानों में प्रमाणलक्षण संगत नहीं होगा। क्योंकि यहाँ घट ज्ञात हो चुका है, तब यह घट है, यह घट है ऐसा कहते हैं।

तर्क-भाषा

न चान्यान्यक्षणविशिष्टविषयीकरणादनधिगतार्थगन्तृता। प्रत्यक्षेण सूक्ष्मकाल-भेदाना-कलनात्। कालभेदग्रहे हि क्रियादिसंयोगान्तानां चतुर्णां यौगपद्या-भिमानो न स्यात्। क्रिया, क्रियातो विभागः, विभागात् पूर्वसंयोगनाशः, ततश्चोत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिरिति।

सन्दर्भ—'न च' से पूर्वपक्षी का तर्क उपस्थित करते हुए उसका खण्डन किया जा रहा है—

अर्थ—यदि पूर्वपक्षी मीमांसक आदि कहें कि **अन्यान्यक्षणविशिष्ट विषयीकरणात्** = भिन्न-भिन्न क्षण में धारावाहिक ज्ञान भिन्न-भिन्न विषय को ग्रहण करता है, अर्थात् प्रथम क्षण का घट द्वितीय क्षण में अनधिगत ही है, इसलिए, **अनधिगतार्थगन्तृता** = धारावाहिक ज्ञान अज्ञात अर्थ का बोध कराते हैं, तो **न च** = ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण यह है कि, **प्रत्यक्षेण** = प्रत्यक्ष के द्वारा, **सूक्ष्मकालभेदानाकलनात्** = सूक्ष्म कालभेदों का ग्रहण नहीं होता है (प्रत्यक्ष प्रत्येक क्षणविशिष्ट को अलग स्वीकार नहीं करता), **हि** = यदि, **कालभेदग्रहे** = सूक्ष्मकालभेद का ग्रहण किया जाये तो **क्रियादिसंयोगान्तानाम्** = क्रिया से प्रारम्भ कर संयोगपर्यन्त, **चतुर्णाम्** = चारों कार्यों का, **यौगपद्याभिमानः** = एक साथ उत्पन्न होने का भ्रम, **न स्यात्** = नहीं होता। वे चार कौन हैं? तो कहते हैं— (1) क्रिया, (2) **क्रियातः** = क्रिया से, **विभागः** = विभाग, (3) **विभागात्** = विभाग से, **पूर्वसंयोगनाशः** = पूर्व के संयोग का नाश, (4) **ततश्च** = और पूर्वसंयोग नाश से, **उत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिः इति** = उत्तरदेश के साथ संयोग की उत्पत्ति।

सङ्कलितार्थ—यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि भिन्न-भिन्नक्षणविशिष्ट घटादि का धारावाहिक ज्ञान भी अनधिगत अर्थ का बोधक ही होगा, तो यह कहना सही नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष सूक्ष्मकालभेदों का आकलन = ग्रहण नहीं करता। यदि काल के भेद का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा होने लगे तो क्रिया से लेकर संयोग पर्यन्त चारों कार्यों का एक साथ उत्पन्न होने का अभिमान नहीं होता चारों कार्य हैं (1) क्रिया, (2) क्रिया से उत्पन्न विभाग, (3) विभाग से पूर्वसंयोग का नाश, (4) पूर्वसंयोग के नाश से उत्तरदेश-संयोग की उत्पत्ति।

विवेचन

मीमांसक 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' कहते हैं। न अधिगतम् = अनधिगतम् = अप्राप्त, अज्ञात। अनधिगतश्चासौ अर्थः = अज्ञात अर्थ। अनधिगतार्थस्य गन्तृ = बोधकम्, यह व्युत्पत्ति है। अज्ञात अर्थ का ज्ञान अनुभव होता है। मीमांसक के मत में अनुभव प्रमाण सिद्ध होता है। इनके मत में सभी अनुभव उत्पत्तिकाल में प्रमाण होते हैं। बाद में कारण दोष का ज्ञान होने पर अप्रमाण या अयथार्थ माने जाते हैं।

तर्क-भाषा

ननु प्रमायाः कारणानि बहूनि सन्ति प्रमातृप्रमेयादीनि तान्यपि किं करणानि उत नेति?

उच्यते। सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादौ सति अविलम्बेन प्रमोत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादिरेव करणम्। प्रमायाः साधकत्वाड विशेषेऽप्यनेनैवोत्कर्षेणास्य प्रमात्रादिभ्योऽतिशयितत्वादतिशयितं साधकं साधकतमं तदेव करणमित्युक्तम्। अतः इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणत्वात् प्रमाणं न प्रमात्रादि।

तानि च प्रमाणानि चत्वारि तथा च न्यायसूत्रम्—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि इति। (गौ. न्या. सू. 1.1.3)

सन्दर्भ—तीन प्रकार के कारणों में जो साधकतम (अतिशयित) कारण होता है उसे कारण बताया जा चुका है। अन्य कारणों की अपेक्षा करण की अतिशयितता (प्रकृष्टता) क्या है? इसे प्रश्नोत्तर माध्यम से ग्रन्थकार बता रहे हैं—

NOTES

अर्थ—(प्रश्न) **ननु** = अजी!, **प्रमायाः** = यथार्थ-ज्ञान के, **कारणानि** = कारण, **बहूनि** = बहुत से, **सन्ति** = हैं, **प्रमातृप्रमेयादीनि** = प्रमाता प्रमेय आदि आदि, **किम्** = क्या, **तानि अपि** = वे भी, **करणानि** = करण हैं, **उत** = अथवा, **नेति** = नहीं हैं?

(उत्तर) **उच्यते** = कहा जा रहा है, **प्रमातरि** = प्रमाता, **च प्रमेये** = और प्रमेय के, **सति अपि** = रहने पर भी, **प्रमानुत्पत्तेः** = प्रमा की उत्पत्ति नहीं होने से, (और), **इन्द्रियसंयोगादौ** = इन्द्रिय व संयोग आदि के, **सति** = होने पर, **अविलम्बेन** = बिना विलम्ब के, **प्रमोत्पत्तेः** = प्रमा की उत्पत्ति होने से, **इन्द्रियसंयोगादिः एव** = इन्द्रिय और संयोग आदि ही (प्रमा का), **करणम्** = करण होते हैं, **प्रमायाः** = प्रमा के, **साधकत्वाविशेषेऽपि** = (प्रमाता प्रमेय और प्रमाण में) साधकत्व में विशेष (भेद) न होने पर भी, **अनेन एव** = इसी, **उत्कर्षेण** = उत्कृष्टता के द्वारा (शीघ्र प्रमोत्पादकत्व रूप उत्कर्ष के कारण), **अस्य** = इन्द्रिय और संयोग आदि का, **प्रमात्रादिभ्यः** = प्रमाता प्रमेय और प्रमाणादि से, **अतिशयितत्त्वात्** = प्रकृष्टता होने के कारण, **अतिशयितं** = अतिशयित प्रकर्ष, **साधकं** = साधक होना, **साधकतमम्** = साधकतम है, **तदेव** = वही, साधकतम, **करणम्** = करण है, **इत्युक्तम्** = ऐसा कहा गया है, **अतः** = इसलिए, **इन्द्रियसंयोगादिः एव** = इन्द्रिय संयोग आदि ही, **प्रमाकरणत्वात्** = प्रमा का करण होने से, **प्रमाणम्** = प्रमाण है, **न प्रमात्रादिः** = प्रमाता प्रमेय आदि नहीं, **तानि च** = और वे, **प्रमाणनि** = प्रमाण, **चत्वारि** = चार हैं, **तथा च** = जैसा कि, **न्यायसूत्रम्** = न्याय सूत्र कहता है, **प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः** = प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द, **प्रमाणानि इति** = प्रमाण हैं।

सङ्कलितार्थ—प्रमा के बहुत से कारण प्रमेय आदि हैं, तो क्या वे भी करण हैं, अथवा नहीं ? यह प्रश्न होता है।

उत्तर—प्रमाता और प्रमेय के होने पर भी प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती है और इन्द्रिय विषयादि-संयोग होने पर शीघ्र ही प्रमा की उत्पत्ति होती है, अतः इन्द्रिय-विषय-संयोग आदि ही प्रमा के कारण हैं। प्रमाता प्रमेय आदि में प्रमा की कारणता का भेद न होने पर भी इसी उत्कर्ष के कारण (= शीघ्र प्रमात्व की उत्पत्ति) इन्द्रिय-विषय संयोगादि प्रमाता आदि की अपेक्षा अतिशयित हैं, अतः अतिशयित साधक = प्रकृष्ट साधक, साधकतम है, वही करण है ऐसा कहा गया है। अतः प्रमा का करण होने से इन्द्रिय संयोगादि ही प्रमाण हैं न कि प्रमाता प्रमेय आदि।

और ये प्रमाण चार हैं। जैसा कि न्यायसूत्र कहता है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द प्रमाण हैं।

विवेचन

प्रमाता—प्र + मा + तृच् = प्रमाता, सप्तमी एकवचन-प्रमातरि। प्रमारूप ज्ञान को प्राप्त करने वाला प्रमाता है।

प्रमेय—प्र + मा + यत् = प्रमेय, स.ए. में 'प्रमेये' यह है। जो प्रमा के योग्य है, यथार्थ ज्ञान के योग्य है, वह प्रमेय है। सभी वस्तु प्रमेय हैं।

अतिशयितत्त्वात्—अति + शी + क्त = अतिशयित, तस्य भावः इस अर्थ में अतिशयित + त्व अतिशयित्व + पञ्चमी एकवचन।

इद्रियसंयोगादिः—इन्द्रियं च संयोगश्च इति इन्द्रियसंयोगौ, इन्द्रिसंयोगौ आदी यस्य सः इन्द्रियसंयोगादिः = इन्द्रियार्थसन्निकर्ष। क्योंकि विषय के साथ ही इन्द्रिय का संयोग होता है। इन्द्रिय और संयोग के रहने पर विषय = अर्थ, अवश्य रहता है। आदि पद निर्विकल्पक-ज्ञान आदि का बोधक है।

NOTES

तर्क-भाषा

किं पुन: प्रत्यक्षम् ?

साक्षात्कारि प्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा। सा च द्विविधा-सविकल्पकनिर्विकल्वपकभेदात्। तस्याः करणं त्रिविधिम्। कदाचिद् इन्द्रियम्, कदाचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिद् ज्ञानम्।

सन्दर्भ—चार प्रमाणों में प्रत्यक्षप्रमाण प्रथम उद्दिष्ट है, अत: उसका लक्षण बता रहे हैं—

अर्थ—किं पुन: प्रत्यक्षम् = फिर प्रत्यक्ष क्या है?, **साक्षात्कारि** = साक्षात्कारिणी, **प्रमाकरणम्** = प्रमा का करण, **प्रत्यक्षम्** = प्रत्यक्षप्रमाण है, **साक्षात्कारिणी च** = और साक्षात्कार करने वाली, **प्रमा** = यथार्थ-ज्ञान, **सा एव** = वह ही, **उच्यते** = कहलाती है, **या** = जो, **इन्द्रियजा** = इन्द्रिय से उत्पन्न होती है, **सा च** = और वह, **द्विविधा** = दो प्रकार की है, **सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदत्** = (1) सविकल्पक, (2) निर्विकल्पक भेद से, **तस्याः** = उसका, **करणम्** = करण, **त्रिविधम्** = तीन प्रकार का है, **कदाचिद् इन्द्रियम्** = (1) कभी इन्द्रिय, **कदाचिदिन्द्रियार्थसन्निकर्षः** = (2) कभी इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष, **कदाचिद् ज्ञानम्** = (3) और कभी ज्ञान (निर्विकल्पक)।

सङ्कलितार्थ—पुन: प्रत्यक्ष क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि साक्षात्कार करने वाली प्रमा का करण प्रत्यक्षप्रमाण है। साक्षात्कारिणी प्रमा उसे कहते हैं जो इन्द्रिय से उत्पन्न होती है। वह इन्द्रिय से उत्पन्न प्रमा सविकल्पक एवं निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार की है। इसका करण तीन प्रकार का है। (1) कभी इन्द्रिय (नेत्रादि) करण होता है, (2) कभी इन्द्रिय और अर्थ (घट-पटादि) का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) करण होता है, (3) और कभी निर्विकल्पकज्ञान करण होता है।

विवेचन

चारों प्रमाणों में प्रत्यक्ष का लक्षण है 'साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्'। यहाँ लक्ष्य है—प्रत्यक्ष, और लक्षण है—साक्षात्कारि प्रमाकरणम्। अक्षि अक्षि प्रति इस विग्रह में वीप्सा अर्थ में अव्ययीभाव समास कर प्रत्यक्षम् अस्ति अस्य इस अर्थ में अर्श आदिभ्योऽच् से अच् करने पर प्रत्यक्षशब्द प्रमाण का विशेषण बनता है। वात्स्यायन ने प्रतिगतम् अक्षम् कहकर अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम् यह व्युत्पत्ति दी है। इससे इन्द्रियों का अपने विषयों में व्यापार या उपस्थिति ही प्रत्यक्ष है। इस तरह नेत्र श्रोत घ्राण रसना त्वक् एवं मन प्रत्यक्षप्रमाण है।

प्रत्यक्षशब्द वस्तुत: तीन अर्थों में प्रयुक्त है—(1) प्रत्यक्षप्रमाण (जो ऊपर वर्णित है), (2) प्रत्यक्षप्रमाण से उत्पन्न ज्ञान अर्थ में, (3) 'प्रत्यक्षज्ञान का विषय' अर्थ में।

तर्क-भाषा

कदा पुनरिन्द्रियं करणम् ?

यदा निर्विकल्पकप्रमा फलम्। तथा हि—आत्मा मनसा संयुज्यते, मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन। इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्वनियमात्। ततोऽर्थन्निकृष्टेन्द्रियेण निर्विकल्पकं नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमिति ज्ञानं जन्यते। तस्य ज्ञानस्येन्द्रियं करणं, छिदाया इव परशुः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽवान्तरव्यापारः, छिदाकरणस्य परशोरिव दारुसंयोगः। निर्विकल्पकं ज्ञानं फलं, परशोरिव छिदा।।

सन्दर्भ—इन्द्रिय इन्द्रियार्थसन्निकर्ष एवं ज्ञान इन तीन करणों में प्रत्यक्षप्रमा का करण इन्द्रिय कब बनता है तथा उसकी प्रक्रिया क्या है, इस विषय में ग्रन्थकार प्रश्नोत्तर माध्यम से कह रहे हैं—

NOTES

अर्थ—(प्रश्न) **कदा** = कब, **पुनः** = फिर, **इन्द्रियम्** = इन्द्रिय, **करणम्** = करण बनता है?

(उत्तर) **यदा** = जब, **निर्विकल्पकप्रमा** = निर्विकल्पकज्ञान, **फलम्** = फल होता है (तब इन्द्रिय उसका करण बनता है), **तथा हि** = जैसे कि, **आत्मा** = आत्मा, **मनसा** = मन के साथ, **संयुज्यते** = जुड़ जाता है, **मनः** = मन, **इन्द्रियेण** = इन्द्रिय के साथ और, **इन्द्रियम्** = इन्द्रिय, **अर्थेन** = अर्थ (वस्तु) के साथ संयुक्त होता है। क्योंकि, **इन्द्रियाणाम्** = इन्द्रियों का, **वस्तु** = अर्थ को, **प्राप्य** = ग्रहण कर, **प्रकाशकारित्वनियमात्** = प्रकाशित करने का नियम है, **ततः** = इसके बाद, **अर्थसन्निकृष्टेन** = अर्थ के साथ सम्बद्ध, **इन्द्रियेण** = नेत्रादि इन्द्रिय से, **निर्विकल्पकम्** = निर्विकल्पक, **नामाजात्यादियोजनाहीनम्** = नाम, जाति आदि की योजना से रहित, **वस्तुमात्रावगाहि** = वस्तु (अर्थ) मात्र का ग्रहण कराने वाला, **किञ्चिद् इदम्** = यह कुछ है, **इति** = इस प्रकार का, **ज्ञानम्** = ज्ञान, **जन्यते** = उत्पन्न होता है, **तस्य** = उस स्वरूपमात्र के, **ज्ञानस्य** = ज्ञान का, **इन्द्रियं** = इन्द्रिय (नेत्रादि), **करणम्** = कारण होता है, **छिदाया इव** = जिस प्रकार काटने का (= छिदा) करण, **परशुः** = फरसा/कुल्हाड़ी होता है, **इन्द्रियार्थसन्निकर्षः** = (इस) इन्द्रिय और अर्थ का संयोग (सन्निकर्ष), **अवान्तरव्यापारः** = मध्य का भिन्न व्यापार होता है, **छिदाकरणस्य** = काटने का करण, **परशोः इव** = फरसा का जिस प्रकार, **दारुसंयोगः** = लकड़ी के साथ संयोग होता है (छेदन के कारण परशु का अवान्तरव्यापार संयोग होता है) इसमें, **निर्विकल्पकज्ञानम्** = निर्विकल्पकज्ञान, **फलम्** = फल होता है, **परशोः इव** = जैसे कि फरसे का, **छिदा** = काटना (फल है)।

सङ्कलितार्थ—

प्रश्न—इन्द्रिय प्रत्यक्षप्रमा का करण कब होता है ?

उत्तर—जब निर्विकल्पकज्ञान फल होता है तब इन्द्रिय करण होता है। जैसा कि—आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है और इन्द्रियाँ अर्थ (वस्तु) के साथ संयुक्त होती हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ अर्थ को ग्रहण करके प्रकाशित करती हैं, यह नियम है। (आत्मा का मन से मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का वस्तु से जुड़ने के पश्चात्) अर्थ से संयुक्त इन्द्रिय द्वारा नाम जाति आदि की योजना से रहित वस्तु के स्वरूपमात्र का बोध कराने वाला 'यह कुछ है' इस प्रकार निर्विकल्पकज्ञान उत्पन्न होता है।

इस ज्ञान का करण इन्द्रिय होता है, जैसे कि काटने का करण फरसा होता है। इसमें इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष (संयोग) अवान्तर = मध्यवर्ती अन्य, व्यापार होता है, जैसे कि छिदा का करण फरसा का अवान्तर व्यापार दारु (लकड़ी) का संयोग है। इस प्रक्रिया में निर्विकल्पकज्ञान फल होता है, जिस प्रकार फरसे का फल छिदा = काटना है।

विवेचन

साक्षात्कारिणी प्रमा के तीन करण हैं, यह बताया जा चुका है। इन्द्रिय करण तब बनता है, जब निर्विकल्पकप्रमा उसका फल होता है। निर्विकल्पक का लक्षण भी पूर्व पृष्ठ में बताया जा चुका है। करण फलवान् होता है, यह एक नियम है। इसे इस तरह समझाया गया है—आत्मा मन से संयुक्त होता है और मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय अर्थ से। आत्मा से युक्त मन जब नेत्रेन्द्रिय से सम्बद्ध हो जाता है, तब नेत्र अपने अर्थ (रूपवान् पदार्थ) घटादि से जुड़ जाता है। इस अवस्था में वस्तु घट का स्वरूपमात्र ज्ञात होता है, यही 'किञ्चिद् इदम्' यह वस्तुमात्रावगाहिज्ञान निर्विकल्पक है। इसमें नाम (घट ही है यह) जाति—घटत्व, उसके रक्तादिगुण आदि का भान नहीं होता है। इस ज्ञान में इन्द्रिय नेत्र करण = सांधन है। इस करण द्वारा फल प्राप्त करने में तीन बातें सामने आती हैं—करण, अवान्तरव्यापार, फल। कुल्हाड़ी काटने का कारण है, कुल्हाड़ी और लकड़ी का संयोग अवान्तरव्यापार है और उसका फल है, छिदा—कटना। इसी प्रकार इन्द्रिय कारण है, इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष अवान्तरव्यापार हुआ, निर्विकल्पकज्ञान (प्रमा) फल हुआ। आत्मा से संयुक्त मन जिस इन्द्रिय से संयोग करेगा, उसी इन्द्रिय के अर्थ का ग्रहण होगा, इन्द्रियों के (विषय) का नहीं। क्योंकि **इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्वम्**—इन्द्रियाँ वस्तु को

प्राप्त करके (सम्बद्ध होकर ही) ही उसे प्रकाशित करती हैं। जिस इन्द्रिय की जिस विषयवस्तु को ग्रहण करने की सामर्थ्य है, वह उसे ही प्रकाशित करेगी।

NOTES

तर्क-भाषा

कदा पुनरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम्?
यदा निर्विकल्पकानन्तरं सविकल्पकं नामजात्यादियोजनात्मकं डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते, तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम्। निर्विकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः। सविकल्पकं ज्ञानं फलम्।

सन्दर्भ—साक्षात्कारिणी प्रमा का करण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष भी है। इसके विषय में ग्रन्थकार कह रहे हैं—

अर्थ—(प्रश्न) **कदा पुनः** = फिर कब, **इन्द्रियार्थसन्निकर्षः** = इन्द्रिय और अर्थ का संयोग, **करणम्** = करण होता है?

(उत्तर) **यदा** = जब, **निर्विकल्पकानन्तरम्** = निर्विकल्पकज्ञान के बाद, **सविकल्पकम्** = सविकल्पकज्ञान, **नामजात्यादियोजनात्मकम्** = नाम और जाति आदि की योजना से युक्त, **डित्थोऽयम्** = यह डित्थ है, **ब्राह्मणोऽयम्** = यह ब्राह्मण है, **श्यामोऽयम्** = यह श्याम (वर्ण वाला) है, **इति** = ऐसा, **विशेषणविशेष्यावगाहिज्ञानम्** = विशेषण और विशेष्य का बोध कराने वाला ज्ञान, **उत्पद्यते** = उत्पन्न होता है, **तदा** = तब, **इन्द्रियार्थसन्निकर्षः** = इन्द्रिय (नेत्र) और अर्थ (डित्थ, ब्राह्मण, श्याम), का संयोग, **करणम्** = करण (साधन) होता है। (इसमें), **निर्विकल्पकज्ञानम्** = निर्विकल्पकज्ञान, **अवान्तरव्यापारः** = मध्यवर्ती व्यापार होता है, **सविकल्पकं** = (और) सविकल्पक, **ज्ञानम्** = ज्ञान, **फलम्** = फल होता है।

सङ्कलितार्थ—

प्रश्न—प्रत्यक्षप्रमा का करण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कब होता है?

उत्तर—जब निर्विकल्पकज्ञान के बाद नाम जाति गुण इत्यादि से अन्वित—यह डित्थ है (नाम) यह ब्राह्मण है (जाति) यह श्याम है (गुण) इस प्रकार का विशेषण और विशेष्य का ग्रहण कराने वाला सविकल्पकज्ञान उत्पन्न होता है, तब इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष करण बनता है। इसमें निर्विकल्पक ज्ञान मध्यवर्ती व्यापार है तथा सविकल्पक ज्ञान फल है।

विवेचन

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष जब करण बनता है तब सविकल्पकज्ञान उत्पन्न होता है, यही फल है तथा अवान्तरव्यापार है—निर्विकल्पकज्ञान।

तर्क-भाषा

कदा पुनर्ज्ञानं करणम्?

यदा उक्तसविकल्पकानन्तरं हानोपदानोपेक्षाबुद्धयो जायन्ते तदा निर्विकल्पकं ज्ञानं करणाम्। सविकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, हानादिबुद्धयः फलम्।

सन्दर्भ—प्रत्यक्षप्रमा का तृतीय करण है—ज्ञान। ज्ञान कब करण बनता है, इस विषय में ग्रन्थकार कह रहे हैं—

NOTES

अर्थ—(प्रश्न) **कदा** = कब, **पुनः** = फिर, **ज्ञानम्** = ज्ञान, **करणम्** = करण होता है?

(उत्तर) **यदा** = जब, **उक्त सविकल्पकानन्तरम्** = कहे गये सविकल्पकज्ञान के पश्चात्, **हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः** = (हान) त्याग, उपादान एवं उपेक्षा की बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं (यह त्याज्य है, यह ग्राह्य है, यह उपेक्षणीय है यह बुद्धि उत्पन्न होती है), **तदा** = तब, **निर्विकल्पकं** = निर्विकल्पक, **ज्ञानम्** = ज्ञान, **करणम्** = करण होता है, **सविकल्पकं** = सविकल्पक, **ज्ञानम्** = ज्ञान, **अवान्तरव्यापारः** = मध्य का व्यापार है, **हानादिबुद्धयः** = हान, उपादान और उपेक्षा की बुद्धियाँ होना ही, **फलम्** = फल है।

सङ्कलितार्थ—ज्ञान करण कब होता है? (यह प्रश्न है।)

उत्तर—जब पूर्व वर्णित सविकल्पकज्ञान के पश्चात् त्याज्य (हान) ग्राह्य (उपादान) और उपेक्षा की बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, तब निर्विकल्पकज्ञान करण होता है। सविकल्पकज्ञान मध्य का व्यापार होता है और हान उपादान तथा उपेक्षा की बुद्धियों का उत्पन्न होना ही फल है।

विवेचन

हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः—हानं च उपादानं च उपेक्षा च इति हानोपादानोपेक्षाः, तेषां बुद्धयः। हा + ल्युट् = हान। उप + आ + दा + ल्युट् = उपादान, उप + ईक्ष + अङ् + टाप् = उपेक्षा। बुद्धि का प्रत्येक शब्द के साथ अन्वय है। यह त्याज्य है, यह ग्रहण करने योग्य है, यह तटस्थ दृष्टि अपनाने योग्य है, जब ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, तब वही बुद्धि निर्विकल्पकज्ञान का फल होता है। यहाँ निर्विकल्पकज्ञान ही करण होता है और सविकल्पकज्ञान अवान्तरव्यापार होता है।

तर्क-भाषा

तज्जन्यस्तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः। यथा कुठराजन्य। कुठारदारुसंयोगः कुठारजन्यच्छिदाजनकः।

सन्दर्भ—इन्द्रिय इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और ज्ञान इन तीनों कारणों के सम्बन्ध में अवान्तरव्यापार की चर्चा हुई है। इसका लक्षण ग्रन्थकार बतला रहे हैं—

अर्थ—तज्जन्यः = उस कारण से उत्पन्न (जन्य) हो और, **तज्जन्यजनकः** = उस करण से उत्पन्न कार्य या फल का जनक = उत्पादक हो, वह, **अवान्तरव्यापारः** = मध्यवर्ती व्यापार है, **यथा** = जैसे, **कुठारजन्यः** = कुठार से उत्पन्न, **कुठारदारुसंयोगः** = कुठार और दारु का संयोग, ही, **कुठारजन्यछिदाजनकः** = कुठार से उत्पन्न होने वाली छेदन क्रिया का जनक है।

सङ्कलितार्थ—उस कारण से उत्पन्न और उस करण से उत्पन्न कार्य का जो जनक होता है वह अवान्तरव्यापार कहलाता है। जैसे कि कुठार से उत्पन्न **कुठार और लकड़ी का संयोग** ही कुठार से उत्पन्न छेदन क्रिया का जनक होने से अवान्तरव्यापार है।

विवेचन

अवान्तरव्यापार सभी जगह करण और फल के मध्यम में रहता है—

करण	**अवान्तरव्यापार**	**फल**
इन्द्रिय	इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पकज्ञान
इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पकज्ञान	सविकल्पकज्ञान
ज्ञान (निर्विकल्पक)	सविकल्पकज्ञान	हान उपादान एवं उपेक्षाबुद्धि।

तर्क-भाषा

अत्र कश्चिदाह—सविकल्पकादीनामपीन्द्रियमेव करणम्। यावन्ति त्वान्तरालिकानि सन्निकर्षादीनि तानि सर्वाण्यवान्तरव्यापार इति।

सन्दर्भ—करण के सम्बन्ध में एक अन्य मत है कि प्रत्यक्षप्रमा के तीन करण नहीं होते। सविकल्पकादि ज्ञान का करण भी इन्द्रिय ही है, अन्य सभी अवान्तरव्यापार हैं, इस पर ग्रन्थकार कहते हैं—

अर्थ—अत्र = त्रिविधकरण के प्रसङ्ग में, **कश्चिदाह** = कोई विद्वान् कहते हैं, **सविकल्पकादीनाम्** = सविकल्पकज्ञान, निर्विकल्पकज्ञान एवं हानोपादानोपेक्षा बुद्धि रूप सभी फलों का, **इन्द्रियम एव** = इन्द्रिय ही, **कारणम्** = कारण है, **यावन्ति तु** = और जितने, **आन्तरालिकानि** = मध्यवर्ती, **सन्निकर्षादीनि** = इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, निर्विकल्पकज्ञान, सविकल्पकज्ञान हैं, **तानि** = वे, **सर्वाणि** = सभी, **अवान्तरव्यापार इति** = अवान्तरव्यापार ही हैं।

सङ्कलितार्थ—त्रिविधकरण के विषय में कोई विद्वान् कहते हैं कि सविकल्पक निर्विकल्पक एवं हान-उपादान-उपेक्षा-बुद्धिरूप फलों का इन्द्रिय ही करण है और जितने मध्य में होनें वाले इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि हैं वे सभी अवान्तरव्यापार ही हैं।

विवेचन

आन्तरालिकानि—अन्तराले = फलकरणयोर्मध्ये भवानि, अन्तराल + ठक्, ठस्येक: = आन्तरालिकानि।

प्रत्यक्षप्रमा के कारण के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित थे—(1) प्रत्यक्षप्रमा के तीन कारण हैं, (2) प्रत्याक्षप्रमा का करण केवल इन्द्रिय है।

तर्क-भाषा

(षड्विधसन्निकर्ष:)

इन्द्रियार्थयोस्तु य: सन्निकर्ष: साक्षात्कारिप्रमाहेतु:, स षड्विध एव। तद्यथा-संयोग:, संयुक्तसमवाय: संयुक्तसमवेतसमवाय:, समवाय: समवेतसमवाय: विशेषणविशेष्यभावश्चेति।

सन्दर्भ—प्रत्यक्ष के तीन करणों में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के भेदों का विवेचन किया जा रहा है—

अर्थ—इन्द्रियार्थयोस्तु = इन्द्रिय और अर्थ का तो, **य: सन्निकर्ष:** = जो सन्निकर्ष, **साक्षात्कारिप्रमाहेतु:** = प्रत्यक्षप्रमा का हेतु है, **स:** = वह, **षड्विध: एव** = छह प्रकार का ही है। **तद्यथा** = जैसा कि, (1) **संयोग** = संयोग, (2) **संयुक्तसमवाय:** = संयुक्तसमवाय, (3) **संयुक्तसमवेतसमवाय:** = संयुक्तसमवेतसमवाय, (4) **समवाय:** = समवाय, (4) **समवाय:** = समवाय, (5) **समवेतसमवाय:** = समवेतसमवाय, (6) **विशेषणविशेष्यभावश्चेति** = और विशेषणविशेष्यभाव।

सङ्कलितार्थ—ऊपर से ही स्पष्ट है।

षड्विध सन्निकर्षों में संयोग प्रथम है। क्योंकि द्रव्य के साथ प्रथमत: इन्द्रिय का संयोग होता है। सभी पदार्थों का आश्रय द्रव्य ही सबमें प्रधान है। इसके बाद द्रव्य में रहने वाले गुण का ग्रहण संयुक्तसमवायसन्निकर्ष से होता है। तदनन्तर गुण में रहने वाले सामान्य का सन्निकर्ष संयुक्तसमवेतसमवाय है। सब पदार्थों का धर्म होने से चौथे स्थान पर समवाय है। फिर समवेतसमवाय है। क्योंकि समवेत पदार्थ में समवाय से यह सामान्य का ग्राहक है। विशेषण विशेष्यभाव छठा है क्योंकि वह समवाय और अभाव का ग्राहक है।

NOTES

ये सन्निकर्ष छह ही हैं। इसका आशय है कि लौकिक सन्निकर्ष छह ही हैं। इसके अतिरिक्त तीन अलौकिकसन्निकर्ष भी तीन प्रकार के हैं—(1) सामान्यलक्षण, (2) ज्ञानलक्षण, (3) योगज।

तर्क-भाषा

यत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं घटोऽर्थः। अनयोः सन्निकर्ष संयोग एव, अयुतसिद्ध्यभावात् एवं मनसा अन्तरिन्द्रियेण यदात्मविषयकं ज्ञानं जन्यतेऽहमिति, तदा मन इन्द्रियम्, आत्माऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव।

सन्दर्भ—इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के प्रथम भेद संयोग का वर्णन ग्रन्थकार कर रहे हैं—

अर्थ—**तत्र** = उनमें, **यदा** = जब, **चक्षुषा** = नेत्र से, **घटविषयक** = घट के विषय वाला, **ज्ञानम्** = ज्ञान, **जन्यते** = उत्पन्न होता है, **तदा** = तब, **चक्षुः** = नेत्र, **इन्द्रियम्** = इन्द्रिय होता है और, **घटोऽर्थः** = घट अर्थ होता है, **अयुतसिद्ध्यभावात्** = नेत्र और घट का अयुतसिद्ध न होने से, **अनयोः** = नेत्र और घट का, **सन्निकर्षः** = सन्निकर्ष, **संयोगः एव** = संयोग ही होता है, **एवम्** = इसी प्रकार, **मनसा** = मनरूपी, **अन्तः इन्द्रियेण** = अन्तः इन्द्रिय से, **यदा** = जब, **आत्मविषयकं** = आत्माविषयक, **ज्ञानम्** = ज्ञान, **जन्यते** = उत्पन्न होता है कि, **अहम् इति** = मैं हूँ, **तदा** = तब, **मनः** = मन, **इन्द्रियम्** = इन्द्रिय होता है और, **आत्माऽर्थः** = आत्मा अर्थ होता है, **अनयोः** = मन और आत्मा का, **सन्निकर्षः** = सन्निकर्ष, **संयोगः एव** = संयोग ही होता है।

सङ्कलितार्थ—इन षड्विध सन्निकर्षों में जब नेत्र से घट विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, तब नेत्र इन्द्रिय और घट अर्थ होता है। नेत्र और घट का सन्निकर्ष संयोग कहलाता है क्योंकि ये दोनों अयुतसिद्धपदार्थ नहीं हैं। इसी प्रकार मन रूपी आन्तरिक इन्द्रिय से जब आत्मा विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'मैं हूँ' तब मन इन्द्रिय और आत्मा अर्थ होता है। मन और आत्मा का सन्निकर्ष भी संयोग ही कहलाता है।

विवेचन

सन्निकर्ष—सम् + नि + कृष् + घञ् = सन्निकर्ष का अर्थ क्या है ? सन्निकर्ष का अर्थ है—प्रत्यक्ष का जनक विशेषप्रकार का सम्बन्ध। प्रत्यक्षजनक पहला सन्निकर्ष है—संयोग। संयोगनामक यह सम्बन्ध दो द्रव्यों में हुआ करता है। जैसे इन्द्रिय और अर्थ। इन्द्रिय भी द्रव्य है। अतः इन्द्रिय द्रव्य और अर्थ का प्रत्यक्ष जहाँ होगा वहाँ सन्निकर्ष-संयोग होगा। इन्द्रियों में नेत्र एवं त्वगादि इन्द्रियों के द्वारा पटादि द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है तथा अन्तःइन्द्रिय मन द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार मन नेत्र एवं त्वगिन्द्रिय संयोगनामक सन्निकर्ष से पदार्थ का प्रत्यक्ष कराते हैं।

तर्क-भाषा

कदा पुनः संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृह्यते, घटे श्यामं रूपमस्तीति, तदा चक्षुरिन्द्रियं, घटरूपम् अर्थः अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवाय एव। चक्षुः संयुक्त घटे रूपस्य समवायात्। एवं मनसाऽऽत्मसमवेते मुखादौ गृह्यमाणे अयमेव सन्निकर्षः।

सन्दर्भ—संयुक्तसमवायसन्निकर्ष के विषय में ग्रन्थकार कहते हैं—

अर्थ—(प्रश्न) **कदा** = कब, **पुनः** = फिर, **संयुक्तसमवायः** = संयुक्तसमवाय नामक, **सन्निकर्षः** = सन्निकर्ष होता है।

(उत्तर) **यदा** = जब, **चक्षुरादिना** = नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा, **घटगतरूपादिकम्** = घट में विद्यमान रूप आदि, **गृह्यते** = गृहीता होता है कि, **घटे** = घट में, **श्यामरूपम्** = श्याम रूप, **अस्ति इति** = है, **तदा** = तब,

चक्षुरिन्द्रियम् = नेत्र इन्द्रिय है, **घटरूपम्** = घट का रूप, **अर्थ** = अर्थ है, **अनयोः** = इन नेत्र और रूप का, **सन्निकर्षः** = सन्निकर्ष, **संयुक्तसमवाय एव** = संयुक्तसमवाय ही है, **चक्षुःसंयुक्ते** = नेत्र से संयोग प्राप्त, **घटे** = घट में, **रूपस्य** = रूप का, **समवायात्** = समवायसम्बन्ध होने से, **एवम्** = इसी तरह, **मनसा** = मन से, **आत्मसमवेते** = आत्मा में समवायसम्बन्ध से विद्यमान, **सुखादौ** = सुख-दुःख आदि का, **गृह्यमाणे** = ग्रहण होने पर, **अयमेव** = संयुक्तसमवाय ही, **सन्निकर्षः** = सन्निकर्ष होता है।

सङ्कलितार्थ—संयुक्तसमवायसन्निकर्ष कब होता है ?

जब नेत्रादि द्वारा घट में विद्यमान रूपादि का ग्रहण होता है कि 'घट में श्याम रूप है' तब नेत्र इन्द्रिय है और घट का रूप अर्थ है। इन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्तसमवाय ही है। क्योकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवायसम्बन्ध से रहता है। इसी प्रकार मन इन्द्रिय से आत्मा में समवायसम्बन्ध से विद्यमान सुख-दुःखादि का ग्रहण होने पर संयुक्तसमवायसन्निकर्ष ही होता है।

विवेचन

संयुक्तसमवाय—संयुक्ते समवायः अर्थात् इन्द्रिय से संयुक्त में समवायसम्बन्ध का होना संयुक्तसमवाय है।

तर्क-भाषा

घटगतपरिमाणादिग्रहे चतुष्टयसन्निकर्षोऽप्यधिकं कारणमिष्यते। सत्यपि संयुक्तसमवाये तदभावे दूरे परिमाणाद्यग्रहणात्। चतुष्टयसन्निकर्षो यथा—(1) इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम्, (2) इन्द्रियावयविना अर्थावयवानाम्, (3) इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम्, (4) अर्थावयविनामिन्द्रियावयविनां सन्निकर्ष इति।

सन्दर्भ—संयुक्तसमवायसन्निकर्ष द्वारा गुण कर्म जाति का ग्रहण होता है, यह कहकर परिमाण आदि के ग्रहण में इससे अतिरिक्त चार सन्निकर्ष और हुआ करते हैं, इसी को ग्रन्थकार बतला रहे हैं—

अर्थ—घटगतपरिमाणादिग्रहे = घट में विद्यमान परिमाण (ह्रस्व, दीर्घ) इत्यादि के ग्रहण में, **चतुष्टयसन्निकर्षोऽपि अधिकः** = चार अवयवों वाला सन्निकर्ष भी, **अधिकम्** = अधिक, **कारणम्** = कारण, **इष्यते** = माना जाता है, **संयुक्तसमवाये** = संयुक्तसमवाय के, **सत्यपि** = रहने पर भी, **तदभावे** = चतुष्टयसन्निकर्ष के अभाव में, **दूरे** = दूर में, **परिमाणाद्यग्रहणात्** = परिमाण (माप) आदि का ग्रहण नहीं होता है, **चतुष्टय सन्निकर्षः** = चार प्रकार के सन्निकर्ष, **यथा** = जैसे हैं, **(1)इन्द्रियावयवैः** = इन्द्रिय के अवयवों से, **अर्थावयविनाम्** = अर्थ के अवयवियों का सन्निकर्ष **(2) इन्द्रियावयविना** = इन्द्रिय रूपी अवयवी के द्वारा, **अर्थावयवानाम्** = अर्थ के अवयवों का सन्निकर्ष, **इन्द्रियावयवैः** = इन्द्रिय अवयवों के द्वारा, **अर्थावयवानाम्** = अर्थ के अवयवों का सन्निकर्ष, **अर्थावयविनाम्** = अर्थ-अवयवियों का, **इन्द्रियावयविनाम्** = इन्द्रिय-अवयवियों का सन्निकर्ष।

सङ्कलितार्थ—घट में विद्यमान ह्रस्वदीर्घ आदि परिमाणों में चार अवयवों वाला सन्निकर्ष भी विशेष कारण माना जाता है। संयुक्तसमवायसन्निकर्ष के रहने पर भी चतुष्टय सन्निकर्ष के नहीं होने पर दूरस्थ वस्तु में परिमाण आदि गुणों का ग्रहण सम्भव नहीं होता है। चतुष्टय सन्निकर्ष इस प्रकार हैं—

(1) इन्द्रिय के अवयवों द्वारा अर्थ रूपी अवयवी का सन्निकर्ष।

(2) इन्द्रिय रूपी अवयवी का अर्थ के अवयवों से सन्निकर्ष।

(3) इन्द्रिय के अवयवों द्वारा अर्थ के अवयवों का सन्निकर्ष।

(4) अर्थरूपी अवयवियों का इन्द्रियरूपी अवयवियों के साथ सन्निकर्ष।

NOTES

विवेचन

चतुष्टयसन्निकर्षः—चत्वारः अवयवा अस्य सः। चतुर+तयप् प्रत्यय। चतुष्टयश्चासौ सन्निकर्षश्च इस विग्रह में कर्मधारय समास होता है।

तर्क-भाषा

कदा पुनः संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्ष?

यदा पुनश्चक्षुषा घटरूपसमवेतं रूपत्वादि सामान्यं गृह्यते, तदा चक्षुरिन्द्रियं, रूपत्वादिसामान्यमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवेतसमवायः एव। चक्षुः संयुक्ते घटे रूपं समवेतं, तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

सन्दर्भ—संयुक्तसमवेतसमवाय नामक तृतीय सन्निकर्ष का यहाँ ग्रन्थकार वर्णन कर रहे हैं—

अर्थ—कदा = कब, पुनः = फिर, **संयुक्तसमवेतसमवायः** = संयुक्त समवेवसमवाय, **सन्निकर्षः** = सन्निकर्ष होता है, **यदा** = जब, **पुनः** = फिर से, **चक्षुषा** = नेत्र से, **घटरूपसमवेतम्** = घट के रूप में समवेत, **रूपत्वादि सामान्यम्** = रूपत्व आदि जाति, **गृह्यते** = गृहीत होता है, **तदा** = तब, **चक्षुः इन्द्रियम** = नेत्र इन्द्रिय होता है और, **रूपत्वादिसामान्यम्** = रूपत्व आदि जाति, **अर्थः** = अर्थ होता है, **अनयोः** = इन दोनों का, **सन्निकर्ष** = सन्निकर्ष, संयुक्त समवेत समवायः एव = संयुक्त समवेत समवाय ही है, (क्योंकि) **चक्षुःसंयुक्ते** = नेत्र से संयुक्त, **घटे** = घट में, **समवेतम्** = समवायसम्बन्ध से है, **तत्र** = उस रूप में, **रूपत्वस्य** = रूपत्व (जाति) का, **समवायात्** = समवायसम्बन्ध हैं (= होने से)।

सङ्कलितार्थ—फिरं संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष कब होता है?

उत्तर—जब फिर नेत्र से घट के रूप में समवायसम्बन्ध से रहने वाले रूपत्व आदि सामान्य का ग्रहण होता है तब नेत्र इन्द्रिय होता है और रूपत्वादिसामान्य अर्थ होता है। नेत्रेन्द्रिय और रूपत्वादिसामान्य का सन्निकर्ष संयुक्तसमवेतसमवाय ही होता है। क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवायसम्बन्ध से है और उस रूप में रूपत्व भी समवायसम्बन्ध से है।

विवेचन

संयुक्तसमवेतसमवायः—संयुक्ते समवेतम् संयुक्तसमवेतम् = इन्द्रिय से संयुक्त द्रव्य में, समवेत = समवायसम्बन्ध से रहना। संयुक्तसमवेते समवायः संयुक्तसमवेतसमवायः = इन्द्रियसंयुक्त द्रव्य में समवायसम्बन्ध से गुण है और उसमें रूपत्व (जाति) का समवाय है। इस तरह इन्द्रियार्थसन्निकृष्ट रूप में उसकी जाति का ज्ञान संयुक्तसमवेतसमवायसम्बन्ध से होता है।

तर्क-भाषा

कदा पुनः समवायः सन्निकर्षः?

यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दोऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः समवाय एव। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम्। श्रोत्रस्याकाशात्मकत्वाच्छब्दस्य चाकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोः समवायात्।

सन्दर्भ—समवायसन्निकर्ष शब्द और श्रोत्र का सन्निकर्ष है, इसे यहाँ बताया जा रहा है—

अर्थ—(प्रश्न) **कदा** = कब, **पुनः** = फिर, **समवायः सन्निकर्षः** = समवायसन्निकर्ष होता है?

(उत्तर) **यदा** = जब, **श्रोत्रेन्द्रियेण** = श्रोत्र इन्द्रिय से, **शब्दः** = शब्द, **गृह्यते** = गृहीत् होता है, **तदा** = तब, **श्रोत्रम् इन्द्रियम्** = कर्ण इन्द्रिय होता है, **शब्दः आर्थः** = और शब्द अर्थ होता है, **अनयोः** = इन दोनों का,

सन्निकर्षः = सन्निकर्षः, **समवायः एव** = समवाय ही होता है, **कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं** = कर्णविवर से परिमित या घिरा हुआ, **नभः** = आकाश, **श्रोत्रम्** = श्रोत है, **श्रोत्रस्य** = श्रोत के, **आकाशात्मकत्वात्** = आकाशरूप होने से, **शब्दस्य च** = और शब्द का, **आकाशगुणत्वात्** = आकाश का गुण होने से, **गुणगुणिनोः च** = गुण और गुणी में, **समवायात्** = समवाय होने से (श्रोत्र और शब्द का समवायसम्बन्ध है)।

सङ्कलितार्थ—समवायसन्निकर्ष कब होता है?

जब श्रोतेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है तब श्रोत्र इन्द्रिय होता है और शब्द अर्थ होता है। इन दोनों का समवाय ही सन्निकर्ष है। कर्णविवरपरिमित आकाश श्रोत्र है। श्रोत्र आकाश रूप है और शब्द आकाश का गुण है। गुण और गुणी में समवायसम्बन्ध होता है (यह विस्तार से पूर्व में समवाय पर कहा जा चुका है)।

विवेचन

अयुतसिद्धयोः समवायः के प्रसङ्ग में बताया जा चुका है कि—गुण एवं गुणी में समवायसम्बन्ध होता है। यहाँ पर श्रोत्र इन्द्रिय और शब्द का सन्निकर्ष समवाय माना गया है, इसमें गुणगुणिनोः समवायात् यह हेतु दिया गया है। शब्द एक गुण है। यह आकाश का ही गुण है। (इसे आकाश निरूपण के समय विस्तार से कहा जायेगा) आकाश गुणी है।

तर्क-भाषा

कदा पुनः समवेतसमवायः सन्निकर्षः?

यदा पुनः शब्दसमवेतं शब्दत्वादिकं सामान्यं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते, तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दत्वादिसामान्यमर्थः। अनयोः सन्निकर्षः समवेतसमवाय एव। श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

सन्दर्भ—समवेतसमवायसन्निकर्ष का निरूपण प्रश्न-उत्तर माध्यम से किया जा रहा है—

अर्थ—कदा = कब, पुनः, **समवेतसमवायः** = समवेतसमवाय, **सन्निकर्षः** = सन्निकर्ष होता है?

(उत्तर) **यदा** = जब, **पुनः** = फिर, **शब्दसमवेतम्** = शब्द में समवायसम्बन्ध से रहने वाला, **शब्दत्वादिकं सामान्यम्** = शब्दत्व आदि सामान्य (जाति), **श्रोत्रेन्द्रियेण** = श्रोत्र इन्द्रिय से, **गृह्यते** = गृहीत होता है, **तदा** = तब, **श्रोत्रम् इन्द्रियम्** = श्रोत्र इन्द्रिय होता है और, **शब्दत्वादिसामान्यम्** = शब्दत्व आदि सामान्य (जाति), **अर्थः**— अर्थ होता है, **एव** = समवेतसमवाय ही होता है। क्योंकि, **श्रोत्रसमवेते** = श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से विद्यमान, **शब्दे** = शब्द में, **शब्दत्वस्य** = शब्दत्व जाति का, **समवायात्** = समवायसम्बन्ध (होने से) है।

सङ्कलितार्थ—कब पुनः समवेतसमवायसन्निकर्ष होता है?

उत्तर—जब फिर शब्द में समवायसम्बन्ध से विद्यमान शब्दत्व आदि सामान्य का श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण होता है, तब श्रोत्र इन्द्रिय है और शब्दत्व-सामान्य अर्थ है। इन दोनों का सन्निकर्ष समवेतसमवाय ही है। श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से रहने वाले शब्द में शब्दत्व जाति का समवायसम्बन्ध है।

तर्क-भाषा

कदा पुनः विशेषणविशेष्यभाव इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति?

यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते 'इह भूतले घटो नास्ति' इति, तदा विशेष्यविशेषणभावः सम्बन्धः। तदा चक्षुःसंयुक्तस्य भूतलस्य घटाद्यभावो विशेषणं भूतलं विशेष्यम्।

NOTES

यदा च मनः संयुक्त आत्मनि सुखाद्यभावो गृह्यते 'अहं सुखरहित' इति, तदा मनःसंयुक्तस्य आत्मनः सुखाद्यभावो विशेषणम्। यदा श्रोत्रसमवेते गकारे घत्वाभावो गृह्यते तदा श्रोत्रसमवेतस्य गकारस्य घत्वाभावो विशेषणम्।

तदेवं संक्षेपतः पञ्चविधसम्बन्धान्यतमसम्बन्धसम्बद्धविशेषणविशेष्यभावलक्षणेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण अभाव इन्द्रियेण गृह्यते।

सन्दर्भ—विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्ष का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

अर्थ—कदा पुनः = कब फिर, **विशेषणविशेष्यभावः** = विशेषणविशेष्यभाव, **इन्द्रियार्थसन्निकर्षः** = इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, **भवति** = होता है।

यदा = जब, **चक्षुषा** = नेत्र से, **संयुक्ते** = सम्बद्ध, **भूतल** = भूतल पर, **घटाभावः** = घट का अभाव, **गृह्यते** = गृहीत होता है, **'इह भूतले घटो नास्ति' इति** = यहाँ भूतल पर घट नहीं है, यह , **तदा** = तब, **विशेष्यविशेषणभावः** = विशेष्य विशेषणभाव, **सम्बन्धः** = सम्बन्ध होता है, **तदा** = उस समय, **चक्षुःसंयुक्तस्य** = नेत्र से संयुक्त, **भूतलस्य** = भूतल का, **घटाद्यभावः** = घटादि का अभाव, **विशेषणम्** = विशेषण होता है और, **भूतलम्** = भूतल, **विशेष्यम्** = विशेष्य होता है।

यदा च = और जब, **मनः संयुक्ते** = मन से संयुक्त, **आत्मनि** = आत्मा में, **सुखाद्यभावः** = सुखादि का अभाव, **गृह्यते** = गृहीत होता है, **'अहं सुखरहितः' इति** = मैं सुख रहित हूँ, **तदा** = तब, **मनःसंयुक्तस्य** = मन से संयुक्त, **आत्मनः** = आत्मा का, **सुखाद्यभावः** = सुखादि का अभाव, **विशेषणम्** = विशेषण होता है, **यदा** = जब, **श्रोत्रसमवेते** = श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से रहने वाले, **गकारे** = गकार में, **घत्वाभावः** = घत्व का अभाव, **गृह्यते** = गृहीत होता है, **तदा** = तब, **श्रोत्रसमवेतस्य** = श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से स्थित, **गकारस्य** = गकार का, **घत्वाभावः** = घत्व का अभाव, **विशेषणम्** = विशेषण होता है।

तदेवम् = तो इस प्रकार, **संक्षेपतः** = संक्षेप में, **पञ्चविशसम्बन्धान्यतमसम्बन्ध** = पाँच प्रकार के—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय एवं समवेतसमवाय में से किसी एक सम्बन्ध से, **सम्बद्धविशेषणविशेष्यभावलक्षणेन** = सम्बद्ध विशेषणविशेष्यभाव लक्षण वाला, **इन्द्रियार्थसन्निकर्षेण** = इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से, **अभावः** = (घटादि का)अभाव, **इन्द्रियेण** = इन्द्रिय द्वारा, **गृह्यते** = गृहीत होता है।

सङ्कलितार्थ—कब पुनः विशेषणविशेष्यभाव इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होता है?

उत्तर—जब नेत्र से संयुक्त भूतल में 'घटाभाव' का ग्रहण होता है—'यहाँ भूतल पर घट नहीं है, ऐसा, तब विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होता है। उस समय नेत्र से सम्बद्ध भूतल का 'घटादि का अभाव' विशेषण होता है तथा 'भूतल' विशेष्य होता है और जब मन से सम्बद्ध आत्मा में सुखादि का अभाव गृहीत होता है कि 'मैं सुखरहित हूँ, ऐसा' तब मन से संयुक्त आत्मा का सुखादि का अभाव विशेषण होता है। जब श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से रहने वाले गकार में 'घत्व के अभाव' का ग्रहण होता है तब श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से स्थित गकार का घत्वाभाव विशेषण होता है।

तो इस प्रकार पाँच प्रकार के—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय और समवेतसमवाय में से किसी एक सम्बन्ध से सम्बद्ध विशेषणविशेष्यभावमूलक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष द्वारा अभाव का ग्रहण होता है।

विवेचन

विशेषणविशेष्यभाव एक विशेष प्रकार का सन्निकर्ष है। इसके द्वारा अभाव का ग्रहण होता हैं। येनेन्द्रियेण यद्वस्तु गृह्यते तेनैव तस्याभावोऽपि गृह्यते—जिस इन्द्रिय से जो वस्तु गृहीत होती है उसका अभाव भी उसी इन्द्रिय से गृहीत होता है, यह नियम है। अतः अभाव का ग्रहण भी भावग्राहक इन्द्रिय से होता है।

तर्क-भाषा

तदेवं समवायोऽपि। चक्षुःसम्बद्धस्य तन्तोर्विशेषणभूतः पटसमवायो गृह्यते 'इह तन्तुषु पटसमवाय' इति।

सन्दर्भ—समवाय-पदार्थ का ग्रहण भी विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्ष द्वारा ही होता है, इस विषय में ग्रन्थकार की उक्ति है—

अर्थ—तदेवम् = इसी प्रकार (अभाव के ग्रहण के समान), **समवायः अपि** = समवाय भी विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्ष द्वारा गृहीत होता है, **चक्षुःसम्बद्धस्य** = चक्षु से सम्बद्ध, **तन्तोः** = तन्तु का, **विशेषणभूतः** = विशेषण बना हुआ, **पटसमवायः** = पटसमवाय, **इह तन्तुषु पटसमवायः इति** = इन तन्तुओं में पट का समवाय है, इस प्रकार गृहीत होता है।

सङ्कलितार्थ—जिस प्रकार अभाव के ग्रहण में विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्ष होता है, उसी प्रकार समवाय के ग्रहण में भी होता है। नेत्रेन्द्रिय से सम्बद्ध तन्तु का विशेषण पट का समवाय कि 'यहाँ तन्तुओं में पट का समवाय है' गृहीत होता है।

विवेचन

समवायसम्बन्ध को नैयायिक अभाव के समान प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं। वैशेषिक इसे अनुमान का विषय मानते हैं। अभाव के ग्रहण में पञ्चविध सन्निकर्षों में से किसी एक सम्बन्ध से सम्बद्ध विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्ष होता है। किन्तु समवाय के ग्रहण में संयोग, संयुक्तसमवाय तथा समवाय इन तीनों में से किसी एक सम्बन्ध से ही सम्बद्ध विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्ष होता है।

तर्क-भाषा

तदेवं षोढासन्निकर्षो वर्णितः। संग्रहश्च—

अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाविकल्पिका।
करणं त्रिविधं तस्याः सन्निकर्षश्च षड्विधः।।
घटतन्नीलनीलत्वशब्दशब्दत्वजातयः।
अभावसमवायौ च ग्राह्याः सम्बन्धषट्कतः।।

अर्थदीपिका

सन्दर्भ—छह प्रकार के सन्निकर्षों का विस्तार से विवेचन करने के उपरान्त कारिका के माध्यम से संक्षेपीकरण कर रहे हैं।

अर्थ —तद् एवम् = तो इस प्रकार, **षोढा** = छह प्रकार का, **सन्निकर्षः** = सन्निकर्ष, **वर्णितः** = वर्णित हुआ है, **संग्रहश्च** = और उसका संग्रह है—

अक्षजा = इन्द्रिय से उत्पन्न, **प्रमितिः** = प्रमा (प्रत्यक्ष), **द्वेधा** = दो प्रकार की है, **सविकल्पाविकल्पिका** = सविकल्प एवं निर्विकल्प, **तस्याः** = इस प्रमा का, **करणम्** = करण, **त्रिविधम्** = तीन प्रकार का है, **सन्निकर्षश्च** = और सन्निकर्ष, **षड्विधः** = छह प्रकार का है, **सम्बन्धषट्कतः** = इन छह सन्निकर्षों द्वारा, **घटतन्नीलनीलत्वशब्द-शब्दत्वजातयः** = घट-द्रव्य, नील = घट के गुण नील, **नीलत्व** = नीलगुण में रहने वाला सामान्य, **शब्द** = शब्द, **शब्दत्वजातयः** = शब्द में रहने वाली जाति, **अभावसमवायौ च** = अभाव और समवाय का, **ग्राह्याः** = ग्रहण किये जाने चाहिए।

सङ्कलितार्थ—तो इस प्रकार छह प्रकार के सन्निकर्षों का वर्णन किया गया है और उसका संग्रह बताया जाता है।

NOTES

इन्द्रिय से उत्पन्न प्रमा दो प्रकार की है—(1) सविकल्पक, (2) निर्विकल्पक। उस प्रमा का करण तीन प्रकार का है और सन्निकर्ष छह प्रकार का है। घटद्रव्य, उसमें रहने वाले नील गुण, नील गुण में रहने वाले नीलत्व सामान्य, शब्द, शब्द में रहने वाली शब्दत्व जाति का ग्रहण (क्रमशः संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाया, समवाय और समवेतसमवाय इन पाँच सन्निकर्षों द्वारा होता है) अभाव और समवाय का ग्रहण विशेषणविशेष्यभाव द्वारा होता है, इस तरह छह सन्निकर्षों से उपर्युक्तों का ग्रहण होता है।

तर्क-भाषा

ननु निर्विकल्पकं परमार्थतः स्वलक्षणविषयं भवतु प्रत्यक्षम्। सविकल्पकं तु शब्दलिङ्गवदनुगताकारावगाहित्वात् सामान्यविषयं कथं प्रत्यक्षम्, अर्थजस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। अर्थस्य च परमार्थतः सत एव तज्जनकत्वात्। स्वलक्षणन्तु परमार्थतः सत् न तु सामान्यम्। तस्य प्रमाणनिरस्तविधिभावस्य अन्यव्यावृत्यात्मनस्तुच्छत्वात्।

मैवम्। सामान्यस्यापि वस्तुभूतत्त्वात्। तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम्।

सन्दर्भ—प्रस्तुत अवतरण में बौद्धों का मत प्रस्तुत कर रहे हैं—

बौद्ध प्रत्यक्षप्रमा के केवल एक भेद निर्विकल्पक को मानते हैं। उनके मत को संक्षेप में प्रस्तुत कर खण्डन किया जा रहा है—

अर्थ—(शङ्का) **ननु निर्विकल्पकं** = निर्विकल्पकज्ञान, **परमार्थतः** = वस्तुतः, **स्वलक्षणविषयं** = वस्तुमात्र विषयक है, अतः, **भवतु प्रत्यक्षम्** = वह प्रत्यक्ष हो सकता है, **सविकल्पकन्तु** = किन्तु सविकल्पक तो, **शब्दलिङ्गवत्** = शब्द तथा लिङ्ग = अनुमान के समान, **अनुगताकारावगाहित्वात्** = सामान्य (अनुगताकार) का अवगाही (ग्राहक) होने से, **सामान्यविषयं** = सामान्य विषय वाला है, तब, **कथम्** = कैसे, **प्रत्यक्षम्** = प्रत्यक्ष हो सकता है। क्योंकि, **अर्थजस्यैव** = अर्थ से उत्पन्न ज्ञान ही, **प्रत्यक्षत्वात्** = प्रत्यक्ष होता है, **अर्थस्य च** = और अर्थ तो, **परमार्थतः सतः** = वस्तुतः सत् (परमार्थसत् = विद्यमान) होने से ही, **तज्जनकत्वात्** = प्रत्यक्ष का जनक होता है, **स्वलक्षणन्तु** = स्वलक्षण तो, **परमार्थतः सत्** = वस्तुतः सत् (विद्यमान) है, **न तु** = न कि, **सामान्यम्** = सामान्य परमार्थ सत् है, **तस्य** = उसकी, **प्रमाणनिरस्तविधिभावस्य** = प्रमाणों से खण्डित विधिभाव (भावरूपता) है और, **प्रमाणनिरस्तविधिभावस्य** = प्रमाणों से खण्डित विधिभाव (भावरूपता) है और, **अन्यव्यावृत्त्यात्मनः** = अन्यव्यावृत्तिस्वरूपवाला होने से वह, **तुच्छत्वात्** = अभावरूप ही है (तुच्छ है)।

(समाधान) **मैवम्** = ऐसा नहीं है, **सामान्यस्यापि** = सामान्य भी, **वस्तुरूपत्वात्** = वस्तुभूत = परमार्थ सत् है, **तदेवम्** = तो इस प्रकार, **व्याख्यातम् प्रत्यक्षम्** = प्रत्यक्ष का व्याख्यान कर दिया गया ।

सङ्कलितार्थ—शङ्का —निर्विकल्पकज्ञान वस्तुतः वस्तुमात्र-विषयक है, अतः वह प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु सविकल्पक शब्द और अनुमान के सदृश अनुगत आकार = सामान्य का ग्राहक होने से सामान्य विषय वाला है, वह प्रत्यक्ष कैसे होगा? क्योंकि अर्थ से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है। परमार्थ सत् अर्थ ही उस प्रत्यक्ष का जनक माना जाता है। स्वलक्षण तो परमार्थ-सत् (= विद्यमान) ही होता है सामान्य नहीं। सामान्य की भावरूपता प्रमाणों से खण्डित है, वह अन्य व्यावृत्तिरूप होने से अभावमात्र (= तुच्छ) है। अर्थात् आकाश कुसुम के समान अत्यन्त असत् है।

समाधान—ऐसा नहीं है। सामान्य भी वस्तुभूत = परमार्थसत् = विद्यमान ही है।

NOTES

तो इस प्रकार प्रत्यक्ष का व्याख्यान हो गया।

विवेचन

बौद्धों के मत में स्वलक्षण-ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है। वे कहते हैं कि अर्थ से जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है— 'अर्थजस्यैव प्रत्यक्षत्वात्'। यह अर्थ दो प्रकार का है— (1) परमार्थसत् = वस्तुसत्, (2) कल्पित। परमार्थसत् ही प्रत्यक्ष का जनक है। उनके मत में पदार्थ दो प्रकार के माने जाते हैं—(1) स्वलक्षण, (2) सामान्यलक्षण।

तर्क-भाषा

(अनुमानम्)

लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। येन हि अनुमीयते तदनुमानम्। लिङ्गपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। तच्च धूमादिज्ञानमनुमितिं प्रति करणत्वात्। अग्न्यादिज्ञानमनुमितिः। तत्करणं धूमादिज्ञानम्।

अर्थदीपिका

सन्दर्भ—चतुर्विध प्रमाणों में द्वितीय प्रमाण अनुमान न्यायशास्त्र का महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय है। अनुमानप्रतिपादन के आधार पर ही न्यायशास्त्र अन्वीक्षाशास्त्र कहलाता है। ग्रन्थकार सरल शैली में अनुमान का प्रतिपादन कर रहे हैं।

अर्थ—**लिङ्गपरामर्शः** = लिङ्ग (हेतु) का परामर्श, **अनुमानम्** = अनुमान है, **येन हि** = जिससे कि, **अनुमीयते** = अनुमिति की जाती है, **तत् अनुमानम्** = वह अनुमान है, **लिङ्गपरामर्शेन च** = और लिङ्ग के परामर्श से, **अनुमीयते** = अनुमिति होती है, **अतः** = इसलिए, **लिङ्गपरामर्शः** = लिङ्ग का परामर्श, **अनुमानम्** = अनुमान है, **तच्च** = और वह लिङ्गपरामर्श, **धूमादिज्ञानम्** = धूम आदि का ज्ञान है, **अनुमितिं प्रति** = अनुमिति के प्रति, **करणत्वात्** = करण होने से, **अग्न्यादिज्ञानम्** = अग्नि आदि का ज्ञान, **अनुमितिः** = अनुमिति है, **तत्करणम्** = उसका करण, **धूमादिज्ञानम्** = धूमादि का ज्ञान है।

सङ्कलितार्थ—लिङ्ग का परामर्श अनुमान है, जिससे अनुमिति की जाती है—वह अनुमान है और लिङ्ग के परामर्श से अनुमिति होती है, अतः लिङ्गपरामर्श अनुमान है और वह लिङ्गपरामर्श है—धूमादि का ज्ञान क्योंकि अनुमिति में वही करण होता है। अग्नि आदि का ज्ञान होना ही अनुमिति है। उस ज्ञान का करण धूमादि का ज्ञान है।

विवेचन

चतुर्विध प्रमाणों में दूसरा प्रमाण अनुमान है। अनुमानशब्द अनुमानप्रमाण एवं अनुमानप्रमाण से उत्पन्न ज्ञान = अनुमिति (प्रमा) के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ पर लिङ्गपरामर्शः अनुमानम् यह एक लक्षण किया गया है। यह अनुमानप्रमाण का वाचक है। अतएव तर्कभाषाकार ने 'अनुमीयते येन तद् अनुमानम्' यह व्युत्पत्ति बताई है। अनु+मा धातु से ल्युट्-प्रत्यय करण अर्थ में है। न्यायभाष्य में 'प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्' कहा है, जिससे अनुमिति की जाती है वह करण अनुमान प्रमाण हुआ और अनुमिति प्रमा = ज्ञान, उसका फल हुआ। चूँकि लिङ्गपरामर्श से अनुमिति होती है, अतः लिङ्गपरामर्श = धूमादिज्ञान को अनुमान मान लिया जाता है।

तर्क-भाषा

किं पुनः लिङ्गं कश्च तस्य परामर्शः ?

उच्यते—व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम्। यथा धूमोऽग्नेर्लिङ्गम्। तथा हि—यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। तस्यां गृहीतायामेव व्याप्तौ धूमोऽग्निं गमयति, अतो व्याप्तिबलेनाग्न्यनुमापकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिङ्गम्।

NOTES

सन्दर्भ—अनुमान के लक्षण में लिङ्गपरामर्श शब्द आया है। लिङ्ग और परामर्श के अर्थ को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

अर्थ—(प्रश्न) **किं पुनः** = फिर क्या है, **लिङ्गम्** = लिङ्ग, **कश्च** = और कौन, **तस्य** = उसका, **परामर्शः** = परामर्श है ?

(उत्तर) **उच्यते** = बताया जा रहा है, **व्याप्तिबलेन** = व्याप्ति के बल से, **अर्थगमकम्** = अर्थ का बोध कराने वाला, **लिङ्गम्** = लिङ्ग कहलाता है, **यथा** = जैसे, **धूमोऽग्नेः लिङ्गम्** = धूम अग्नि का लिङ्ग है, **तथा हि** = जैसे कि, **यत्र धूमः** = जहाँ धूम है, **तत्र अग्निरिति** = वहाँ अग्नि है ऐसा, **साहचर्यनियमः** = साथ-साथ रहने का नियम, **व्याप्तिः** = व्याप्ति है, **तस्यां व्याप्तौ** = उस व्याप्ति का, **गृहीतायाम् एव** = ग्रहण किये जाने पर ही, **धूमः** = धूम, **अग्नि** = अग्नि का, **गमयति** = बोध कराता है, **अतः** = इसलिए, **व्याप्तिबलेन** = व्याप्ति के बल से, **अग्न्यनुमापकत्वात्** = अग्नि का अनुमापक होने से, **धूमः** = धूम, **अग्नेः** = अग्नि का, **लिङ्गम्** = लिङ्ग है।

सङ्कलितार्थ—(प्रश्न) फिर लिङ्ग क्या है और उसका परामर्श क्या है ?

(उत्तर) कहते हैं—व्याप्ति के बल से अर्थ का बोध कराने वाला लिङ्ग होता है। जैसे—धूम अग्नि का लिङ्ग है। जैसे कि 'जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है' ऐसा साहचर्य का नियम व्याप्ति है। उस व्याप्ति के गृहीत होने पर ही धूम अग्नि का बोध कराता है। अतः व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक होने से धूम अग्नि का लिङ्ग है।

विवेचन

लिङ्गपरामर्शः अनुमानम्—यह अनुमान का लक्षण किया गया। उसमें लिङ्ग क्या है और परामर्श क्या है ? इसका उत्तर ग्रन्थकार दे रहे हैं।

तर्क-भाषा

तस्य तृतीयं परामर्शः तथा हि—प्रथमं तावन्महानसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यन् वह्निं पश्यति। तेन भूयोदर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धमवधारयति, यत्र धूमस्तत्राग्निरिति।

सन्दर्भ—लिङ्गपरामर्शः अनुमानम् इस लक्षण के लिङ्ग शब्द का व्याख्यान कर अब परामर्श का व्याख्यान करते हैं।

अर्थ—**तस्य** = उस लिङ्ग का, **तृतीयं ज्ञानं** = तीसरा ज्ञान, **परामर्शः** = परामर्श कहलाता है, **तथा हि** = जैसे कि, **प्रथमं तावत्** = पहले तो, **महानसादौ** = पाकशाला आदि में, **भूयो भूयः** = बारम्बार, **धूमं पश्यन्** = धूम को देखता हुआ (जन), **वह्निम्** = अग्नि को, **पश्यति** = देखता है, **तेन** = उस, **भूयो दर्शनेन** = बार-बार के देखने से, **धूमाग्न्योः** = धूम और अग्नि का, **स्वाभाविकम्** = स्वाभाविक, **सम्बन्धम्** = सम्बन्ध का, **अवधारयति** = निर्णय करता है कि, **यत्र धूमः** = जहाँ धूम होता है, **तत्र अग्निः इति** = वहाँ अग्नि होती है।

सङ्कलितार्थ—उस धूम रूप लिङ्ग का तीसरा ज्ञान परामर्श कहलाता है। जैसे कि—पहले तो पाकशाला आदि में बार-बार धूम को देखता हुआ (व्यक्ति) अग्नि को देखता है। उस बार-बार के धूम और अग्नि के दर्शन से व्यक्ति धूम और अग्नि में स्वाभाविक सम्बन्ध का निर्धारण करता है कि जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है।

विवेचन

अनुमान के लक्षण में परामर्श शब्द का क्या अर्थ है ? इस जिज्ञासा की शान्ति हेतु ग्रन्थकार कहते हैं कि—लिङ्ग का तृतीयज्ञान = तीसरी बार ज्ञान होना परामर्श है।

तर्क-भाषा

यद्यपि यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वमपीति भूयोदर्शनं समानमवगम्यते, तथापि मैत्रीतनयत्वश्यामत्वयोर्न स्वाभाविकः सम्बन्धः, किन्त्वौपाधिक एव। शाकाद्यन्नपरिणामस्योपाधेर्विद्यमानत्वात्।

तथा हि—श्यामत्वे मैत्रीतनयत्वं न प्रयोजकं किन्तु शाकाद्यन्नपरिणतिभेद एव प्रयोजकः। प्रयोजकश्चोपाधिरित्युच्यते।

सन्दर्भ—धूम और अग्नि का सहचार देखने से धूम और अग्नि के स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) का निश्चय होता है। ऐसा मानने पर 'अयं श्यामः मैत्रीनयत्वात्' इस प्रकार का भी अनुमान हो सकता है, जो ठीक नहीं है। इस शङ्का का समाधान यहाँ किया जा रहा है।

अर्थ—**यद्यपि** = यद्यपि, **यत्र यत्र** = जहाँ-जहाँ, **मैत्रीतनयत्वम्** = मैत्री का तनय होना है, **तत्र तत्र** = वहाँ-वहाँ, **श्यामत्वम् अपि** = श्यामत्व भी है, **इति भूयो दर्शनम्** = इस प्रकार बार-बार दर्शन (धूम और वह्नि का बार-बार साथ दिखना), **समानं** = समान रूप से, **अवगम्यते** = प्रतीत होता है, **तथाऽपि** = फिर भी, **मैत्रीनयत्वश्यामत्वयोः** = मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व में, **न स्वाभाविकः सम्बन्धः** = स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, किन्तु, **औपाधिक एव** = औपाधिक सम्बन्ध ही है, **शाकाद्यन्नपरिणामस्य** = शाक आदि अन्न का परिणाम (परिपाक) ही, **उपाधेः** = उपाधि के रूप में, **विद्यमानत्वात्** = विद्यमान होने से (शाकादि अन्न का परिपाक ही यहाँ उपाधि है)।

तथा हि = जैसे कि, **श्यामत्वे** = श्यामल होने में, **मैत्रीतनयत्वं** = मैत्री का तनय होना, **न प्रयोजकम्** = कारण नहीं है, किन्तु, **शाकाद्यन्नपरिणतिभेद एव** = शाक-आदि अन्न के परिणाम (परिपाक) का भेद ही (परिपाक विशेष ही), **प्रयोजकः** = (श्यामता में) कारण है, **प्रयोजकश्च** = और प्रयोजक ही (कारण ही), **उपाधिः इत्युच्यते** = उपाधि कहलाता है।

सङ्कलितार्थ—यद्यपि जहाँ-जहाँ मैत्रीतनयत्व है वहाँ-वहाँ श्यामत्व है। इस प्रकार का सहचार (यत्र धूमः तत्र वह्निः के समान) समान रूप से दिखाई पड़ता है। फिर भी मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व में स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) नहीं माना जाता। किन्तु यहाँ सम्बन्ध औपाधिक (उपाधि = प्रयोजक के कारण) है। शाक आदि अन्न का परिणाम ही (श्यामत्व का कारण होने से) यहाँ उपाधि के रूप में विद्यमान है।

जैसे कि श्यामलता में मैत्री का पुत्र होना कारण नहीं है। किन्तु शाकादि अन्न का परिपाक-विशेष ही श्यामलता में कारण है, जो प्रयोजक = कारण होता है वही उपाधि कहलाता है।

विवेचन

'लिङ्गपरामर्शः अनुमानं' की व्याख्या-प्रसङ्ग में बताया गया कि बार-बार धूमाग्नि का सहचार देखे जाने से धूम और अग्नि में स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) का निश्चय होता है। इस कथन पर प्रश्न उठता है कि 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्' इस कथन में भी 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः' के समान सहचार दिखाई पड़ता है, तो क्या 'अयं श्यामः मैत्रीतनयत्वात्' जैसा अनुमान कर लेंगे ? इस शङ्का का समाधान ग्रन्थकार ने मूल में किया है।

तर्क-भाषा

न च धूमाग्न्योः सम्बन्धे कश्चिदुपाधिरस्ति। अस्ति चेत्, योग्योऽयोग्यो वा अयोग्यस्य शङ्कितुमशक्यत्वात्, योग्यस्य चानुपलभ्यमानत्वात्। यत्रोपाधिरस्ति तत्रोपलभ्यते। यथाग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः। हिंसात्वस्य चाधर्म-साधनत्वेन सह सम्बन्धे निषिद्धत्वमुपाधिः। मैत्रीतनयत्वस्य च श्यामत्वेन सह सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणतिभेदः।

NOTES

सन्दर्भ—उपाधि स्थल में जहाँ हेतु सोपाधिक होता है, वहाँ अनुमान दूषित होता है, यह बतलाकर अब धूम और अग्नि के स्वाभाविक सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है, यह बता रहे हैं।

अर्थ—न च = और नहीं, **धूमाग्न्योः** = धूम और अग्नि के, **सम्बन्धे** = सम्बन्ध में, **कश्चित्** = कोई, **उपाधिः** = प्रयोजक, **अस्ति** = है, **अस्ति चेत्** = यदि उपाधि है तो, **योग्योऽयोग्यो वा** = योग्य (प्रत्यक्ष के योग्य) है या अयोग्य है, **अयोग्यस्य** = (प्रत्यक्ष के) उपयोग्य उपाधि की, **अनुपलभ्यमानत्वात्** = उपलब्धि नहीं हो पा रही है, **यत्र उपाधिः अस्ति** = जहाँ पर उपाधि होती है, **तत्र उपलभ्यते** = वहाँ उपलब्ध होती है, **यथा** = जैसे कि, **अग्निः** = अग्नि का, **धूमसम्बन्धे** = धूम के साथ सम्बन्ध होने में, **आर्द्रेन्धनसंयोगः** = गीली लकड़ी का संयोग (उपाधि) है, **हिंसात्वस्य च** = और हिंसात्व का, **अधर्मसाधनत्वेन सह** = अधर्मसाधनत्व के साथ, **सम्बन्धे** = सम्बन्ध में, **निषिद्धत्वम्** = निषिद्धित्वम् (हिंसा निषिद्ध है) यह, **उपाधिः** = उपाधि है, **मैत्रीतनयत्वस्य च** = और मैत्री के तनयत्व का, **श्यामत्वेन सह** = श्यामता के साथ, **सम्बन्धे** = सम्बन्ध में, **शाकाद्यन्नपरिणतिभेदः** = शाक-आदि अन्न का परिणाम विशेष (उपाधि) है।

सङ्कलितार्थ—धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है। यदि कहें कि उपाधि है तो प्रश्न होगा कि—उपाधि प्रत्यक्ष के योग्य है या प्रत्यक्ष होने के अयोग्य है। प्रति प्रत्यक्ष के अयोग्य है, तो उसकी शङ्का ही नहीं की जा सकती है (अप्रत्यक्ष है भी या नहीं इसमें क्या प्रमाण है)। यदि प्रत्यक्ष के योग्य है, तो उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है। जहाँ उपाधि होती है वहाँ वह उपलब्ध भी होती है। जैसे कि—(1) अग्नि का धूम के साथ सम्बन्ध होने पर आन्द्र-ईंधन का संयोग उपाधि है। (2) हिंसा का अधर्मसाधन के साथ सम्बन्ध होने पर (हिंसा अधर्म का साधन है निषिद्ध होने से इस वाक्य में) निषिद्धत्व उपाधि है। इसी प्रकार (3) मैत्रीतनयत्व का श्यामत्व के साथ सम्बन्ध मानने पर **शाक-आदि अन्न का परिपाक विशेष** ही उपाधि है।

विवेचन

धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है, इसको सिद्ध करने के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि—उपाधि दो प्रकार की हो सकती है। (1) योग्य—अर्थात् प्रत्यक्ष के योग्य, (2) अयोग्य—प्रत्यक्ष के अयोग्य। यदि धूमाग्नि के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष के अयोग्य उपाधि है तब हम कह सकते हैं कि वह है ही नहीं। अतः विचार के योग्य यह नहीं है। यदि प्रत्यक्ष के योग्य उपाधि है ऐसा मानें तब तो उस उपाधि की पट आदि की भाँति उपलब्धि होनी चाहिए। यदि योग्य की उपलब्धि नहीं हो रही है तो मानना पड़ेगा कि उपाधि का अभाव ही है। अतः धूम और अग्नि के सम्बन्ध में उपाधि नहीं है यह ग्रन्थकार का आशय है।

तर्क-भाषा

न चेह धूमस्याग्निसाहचर्ये कश्चिदुपाधिरस्ति। यद्यभविष्यत्ततोऽद्रक्ष्यत् ततो दर्शनाभावान्नस्ति, इति तर्कसहकारिणानुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवोपाध्यभावोऽवधार्यते। तथा च, उपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेन भूयोदर्शन-जनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यगाहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते। तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविक एव सम्बन्धो न त्वौपाधिकः। स्वाभाविकश्च सम्बन्धोः व्याप्तिः।

सन्दर्भ—उपाधि के अभाव का निश्चय जब हो जाता है, तब ही भूयः सहचार दर्शन से स्वाभाविक सम्बन्ध का निर्णय होता है। इस बात को ग्रन्थकार कह रहे हैं।

अर्थ—न च = और नहीं, **इह** = यहाँ, **धूमस्याग्निसाहचर्ये** = धूम का अग्नि के साथ साहचर्य में, **कश्चित्** = कोई, **उपाधिः** = उपाधि है। **यद्यभविष्यत्** = यदि होती, **ततोऽद्रक्ष्यत्** = तब दिखलाई पड़ती, **ततः** = उस, **दर्शनाभावात्** = दिखाई न देने से, **नास्ति** = वह (उपाधि) नहीं है, **इति** = इस प्रकार के, **तर्कसहकारिणा** = तर्क के पोषक/ सहकारी, **अनुपलम्भसनाथेन** = और अनुपलब्धि से युक्त, **प्रत्यक्षेण एव** = प्रत्यक्षप्रमाण से ही, **उपाध**

यभावः = उपाधि का अभाव, **अवधार्यते** = निश्चित किया जाता है, **तथा च** = और इस तरह, **उपाधयभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेन** = उपाधि के अभाव की बुद्धि (ग्रहण) से उत्पन्न संस्कार से युक्त, **भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहकृतेन** = और पुनः पुनः देखने से उत्पन्न संस्कार से सहकृत (युक्त), **प्रत्यक्षेण एव** = प्रत्यक्ष के द्वारा ही, **उपाध्यभावोऽवधार्यते** = उपाधि के अभाव का निश्चय किया जाता है, **तेन** = इससे, **धूमाग्न्योः** = धूम और अग्नि का, **स्वाभाविकः एव** = स्वाभाविक ही, **सम्बन्धः** = सम्बन्ध है, **न तु औपाधिकः** = औपाधिक सम्बन्ध नहीं है, **स्वाभाविकश्च** = और स्वाभाविक ही, **सम्बन्धः** = सम्बन्ध, **व्याप्तिः** = व्याप्ति (कहलाता) है।

सङ्कलितार्थ—यहाँ यत्र धूमः तत्राग्निः में धूम का अग्नि के साथ साहचर्य में कोई उपाधि नहीं है। यदि वह होती तो दिखाई पड़ती। उसके न दिखाई पड़ने से वह नहीं है इस प्रकार के तर्क से युक्त एवं अनुपलब्धिक से पुष्ट प्रत्यक्ष के द्वारा ही उपाधि के अभाव की बुद्धि से उत्पन्न संस्कार से युक्त साहचर्य (= धूमाग्नि का) को ग्रहण कराने वाले प्रत्यक्ष के द्वारा धूम और अग्नि की व्याप्ति का निर्णय हो जाता है। इससे सिद्ध है कि धूम और अग्नि का स्वाभावित सम्बन्ध ही है, उपाधि के कारण नहीं है और स्वाभाविक सम्बन्ध ही व्याप्ति कहलाता है।

विवेचन

धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है इसको सिद्ध करने के लिए दो बातें ग्रन्थकार कह रहे हैं—(i) अनुकूल तर्क, (ii) अनुपलब्धि।

तर्क-भाषा

तदनेन न्यायेन धूमाग्न्योर्व्याप्तौ गृह्यमाणायां महानसे यद्धूमज्ञानं तत्प्रथमम्। पर्वतादौ पक्षे यद्धूमज्ञानं तद् द्वितीयम्। ततः पूर्वगृहीतां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा 'यत्र धूमस्तत्राग्निरिति' तत्रैव पर्वते पुनर्धूमं परामृशति अस्त्यत्र पर्वते वह्निना व्याप्तो धूम इति। तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम्।

एतच्चावश्यमभ्युपेतव्यम्। अन्यथा यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येव स्यात्। इह तु कथमग्निना भवितव्यम्। तस्मादिहापि धूमोऽस्ति, इति ज्ञानमन्वेषितव्यम्। अयमेव लिङ्गपरामर्शः अनुमितिं प्रति करणत्वाच्चानुमानम्। तस्मात् अस्त्यत्र पर्वतेऽग्निरित्यनुमिति- ज्ञानमुत्पद्यते।

सन्दर्भ—व्याप्तिग्रहणक्रम के निरूपण के पश्चात् पूर्वोक्त 'तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्श' को स्पष्ट करते हुए लिङ्गपरामर्श का स्वरूप कहते हैं।

अर्थ—**तत् अनेन न्यायेन** = तो इस रीति से, **धूमाग्न्योः** = धूम और अग्नि की, **व्याप्तौ गृह्यमाणायाम्** = व्याप्ति का ग्रहण करते समय, **महानसे** = पाकशाला में, **यद् धूमज्ञानं** = जो धूम का ज्ञान होता है, **तत् प्रथमम्** = वह प्रथम ज्ञान है, **पर्वतादौ पक्षे** = पर्वत आदि पक्ष में, **यद्धूम ज्ञानम्** = जो धूम का ज्ञान होता है, **तत् द्वितीयम्** = वह द्वितीय ज्ञान है, **ततः** = उसके बाद, **पूर्वगृहीताम्** = पहले (पूर्व में) निश्चित, **धूमाग्न्योः** = धूम और अग्नि की, **व्याप्तिम्** = साहचर्य नियम का, **स्मृत्वा** = स्मरण कर, **यत्रधूमः** = जहाँ धूम होता है, **तत्राग्निः इति** = वहाँ अग्नि होती है (का स्मरण कर), **तत्रैव पर्वते** = वहीं पक्ष पर्वत में, **पुनः धूमं परामृशति** = फिर धूम का परामर्श करता है कि, **अस्त्यत्र** = है यहाँ, **पर्वते** = पर्वत में, **वह्निना व्याप्तः** = अग्नि से व्याप्त, **धूमः इति** = धूम ऐसा, **तत् इदं** = वह यह, **धूमज्ञानम्** = धूम का ज्ञान, **तृतीयम्** = तीसरा (ज्ञान) है।

एतच्च = लिङ्ग के इस तृतीय ज्ञान को, **अवश्यम् अभ्युपेतव्यम्** = अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए, **अन्यथा** = नहीं तो, **यत्र धूमः** = जहाँ धूम है, **तत्राग्निः** = वहाँ अग्नि है, **इत्येव** = यही सामान्यज्ञान, **स्यात्** = होगा। **इह तु** = इस पर्वत में तो, **कथम्** = क्यों, **अग्निना भाव्यम्** = अग्नि को होना चाहिए ? (पर्वत में अग्नि कैसे सिद्ध होगी), **तस्मात्** = इसलिए, **इहापि** = यहाँ पर्वत में भी, **धूमः अस्ति** = धूम है, **इति ज्ञानम्** = यह ज्ञान, **अन्वेषितव्यम्** = मानना होगा, **अयमेव** = यही (पर्वत में धूम है), **लिङ्गपरामर्शः** = लिङ्गपरामर्श कहलाता है,

NOTES

अनुमितिं प्रति = अनुमिति-ज्ञान के प्रति, **करणत्वाच्च** = करण होने से, **अनुमानम्** = (लिङ्गपरामर्श) अनुमान है, **तस्मात्** = इससे ही, **अत्र पर्वते** = इस पर्वत में, **अग्नि:** = अग्नि है, **इति** = इस प्रकार की, **अनुमिति ज्ञानम्** = अनुमिति रूप ज्ञान, **उत्पद्यते** = उत्पन्न होता है।

सङ्कलितार्थ—तब इस रीति से धूम और अग्नि की व्याप्ति का (स्वाभाविक सम्बन्ध का) ग्रहण किये जाने पर पाकशाला में जो धूम का ज्ञान होता है वह प्रथम ज्ञान (लिङ्ग का) है। पर्वत आदि पक्ष में जो धूम का ज्ञान होता है, वह द्वितीय (लिङ्ग का) ज्ञान है। उसके बाद पूर्व में गृहीत 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' इस व्याप्ति का स्मरण कर पुन: पर्वत में जो धूम का परामर्श करता है कि 'इस पर्वत में वह्नि से व्याप्त धूम है' वह यह धूमज्ञान तृतीय है।

और इस तृतीय धूम ज्ञान को अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। नहीं तो 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है' यही सामान्यज्ञान होगा। इस पर्वत में अग्नि कैसे (सिद्ध) होगी। अत: अग्नि को सिद्ध करने के लिए पर्वत में भी (अग्नि से व्याप्त) धूम है, यह ज्ञान अवश्य मानना होगा। यही लिङ्गपरामर्श कहलाता है। क्योंकि यह अनुमिति के प्रति करण है, अत: अनुमान है। इससे ही पर्वत में अग्नि है इस प्रकार का अनुमिति रूप ज्ञान उत्पन्न होता है।

विवेचन

'लिङ्गपरामर्श: अनुमानम्' इस पूर्वोक्त लक्षण का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि धूम का तृतीय ज्ञान ही लिङ्गपरामर्श है। यही लिङ्गपरामर्श अनुमिति के प्रति करण बनता है। अनुमितिप्रमा का करण होने से यही अनुमान कहलाता है।

तीनों धूमज्ञान का क्रम—(1) उपाधि के अभाव का निश्चय होने के साथ धूम और अग्नि का बार-बार सहचार को देखने से दोनों की व्याप्ति का निश्चय होता है, यह प्रथम लिङ्गज्ञान होता है। (2) व्याप्ति का निश्चय हो जाने के उपरान्त पर्वतादि में जब धूम का दर्शन होता है, तब द्वितीय लिङ्गज्ञान होता है। (3) इसके बाद व्याप्ति-स्मरणपूर्वक वह्निव्याप्यधूमवान् अयं पर्वत: का जो ज्ञान होता है, वह तीसरा लिङ्गज्ञान कहलाता है।

तर्क-भाषा

ननु कथं प्रथमं महानसे यद्धूमज्ञानं तत्राग्निमनुमापयति ?

सत्यम् ! व्याप्तेरगृहीतत्वात्। गृहीतायामेव व्याप्तावनुमित्युदयात्। अथ व्याप्तिनिश्चियोत्तरकालं महानस एवाग्निरनुमीयताम्।

मैवम् ! अग्नेर्दृष्टत्वेन सन्देहस्यानुदयात्। सन्दिग्धश्चार्थोऽनुमीयते। यथोक्तं भाष्यकृता 'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्याय: प्रवर्तते', किन्तु सन्दिग्धे।

अथ पर्वतगातमात्रस्य पुंसो यद्धूमज्ञानं, तत्! कथं नाग्निमनुमापयति ? अस्ति चात्राग्निसन्देह:। साधकबाधकप्रमाणाभावेन संशयस्य न्यायप्राप्तत्वात्।

सन्दर्भ—तृतीय लिङ्गज्ञान की अनुमिति की उत्पत्ति का करण है। इसको पुष्ट करते हुए प्रश्नोत्तर शैली में ग्रन्थकार कह रहे हैं।

अर्थ—(प्रश्न) ननु = अजी !, **कथं** = क्यों, **प्रथमं** = पहला, **महानसे** = पाकशाला में, **यद्धूमज्ञानं** = जो धूम का ज्ञान होता है, **तत्** = वह, **अग्निम्** = अग्नि का, **न अनुमापयति** = अनुमान नहीं कराता है ?

(उत्तर) **सत्यम्** = ठीक है, **व्याप्ते:** = व्याप्ति का, **अगृहीतत्वात्** = ग्रहण न होने के कारण (प्रथम धूम ज्ञान अग्नि का अनुमान नहीं कराता है), **गृहीतायाम् एव व्याप्तौ** = व्याप्ति का ग्रहण होने पर ही, **अनुमित्युदयात्** = अनुमिति की उत्पत्ति होने के कारण।

(प्रश्न) **अथ** = तब, **व्याप्तिनिश्चयोत्तरकालम्** = व्याप्ति के निश्चय के पश्चात्, **महानसे एव** = पाकशाला में ही, **अग्निः अनुमीयताम्** = अग्नि का अनुमान किया जाये ?

(उत्तर) **मा एवम्** = ऐसा नहीं होता है, **अग्नेः** = अग्नि के, **दृष्टत्वेन** = दिखाई देने से (पाकशाला में), **सन्देहस्य** = सन्देह की, **अनुदयात्** = उत्पत्ति न होने के कारण (अनुमान नहीं होता), **सन्दिग्धः च** = और सन्देहयुक्त, **अर्थः** = अर्थ का, **अनुमीयते** = अनुमान किया जाता है, **यथोक्तम्** = जैसा कि कहा गया है, **भाष्यकृता** = भाष्यकार (वात्स्यायन) के द्वारा, **न अनुपलब्धे** = न तो अज्ञात अर्थ में, **न निर्णीते अर्थे** = और न ही निर्णीत अर्थ में, **न्यायः** = अनुमान, **प्रवर्तते** = प्रवृत्त होता है, **किन्तु सन्दिग्धे** = किन्तु सन्देहयुक्त अर्थ में (अनुमान) प्रवृत्त होता है।

(प्रश्न) **अथ** = तब, **पर्वतगतमात्रस्य** = पर्वत पर पहुँचे हुए मात्र, **पुंसः** = पुरुष का, **यद्धमज्ञानम्** = जो धूम का ज्ञान (द्वितीय लिङ्गज्ञान) होता है, **तत्** = वह, **कथं न** = क्यों नहीं, **अग्निम् अनुमापयति** = अग्नि का अनुमान कराता है? **अस्ति च** = और है, **अत्र** = यहाँ पर, **अग्निसन्देह** = अग्नि का सन्देह, **साधकबाधकप्रमाणाभावेन** = साधक और बाधक प्रमाणों का अभाव रहने से, **संशयस्य** = (यहाँ) संशय, **न्यायप्राप्तत्त्वात्** = न्यायतः प्राप्त है ही।

तर्क-भाषा

सत्यम् ! अगृहीतव्याप्तेरिव गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि पुंसोऽनुमानानुदयेन व्याप्तिस्मृतेरप्यनुमितिहेतुत्वात्। धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति। यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानस इति। तेन धूमदर्शने जाते व्याप्तिस्मृतौ भूतायां यद्धूमज्ञानं तत् धूमवांश्चायम् इति। तदेवाग्निनुमापयति नान्यत्। तदेवानुमानम्। स एव लिङ्गपरामर्शः। तेन व्यवस्थितमेदत् लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्।

(उत्तर) **सत्यम्** = ठीक है, **अगृहीतव्याप्तेः इव** = व्याप्ति का ग्रहण नहीं करने वाले (व्यक्ति) के समान, **गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि** = व्याप्ति का ग्रहण कर भूल जाने वाले, **पुंसः** = पुरुष को भी, **अनुमानानुदयेन** = अनुमान की उत्पत्ति नहीं होती है। क्योंकि, **व्याप्तिस्मृतेः अपि** = व्याप्ति का स्मरण भी, **अनुमितिहेतुत्वात्** = अनुमिति के प्रति हेतु होता है (अर्थात् व्याप्ति के स्मरण से पूर्व होने वाला द्वितीय लिङ्गज्ञान अनुमान नहीं करा सकता है)। **धूमदर्शनात् च** = और धूम का दर्शन होने से, **उद्बुद्धसंस्कारः** = जागृतसंस्कार वाला व्यक्ति, **व्याप्तिं** = व्याप्ति का, **स्मरति** = स्मरण करता है कि, **यो यो धूमवान्** = जो जो धूमयुक्त है, **स सः अग्निमान्** = वह वह अग्नियुक्त है, **यथा महानस इति** = जैसा कि रसोईघर है, **तेन** = अतः, **धूमदर्शने जाते** = (पर्वत में) धूम का दर्शन होने पर, **व्याप्तिस्मृतौ भूतायाम्** = व्याप्ति का स्मरण होने पर, **यद्धूमज्ञानम्** = जो धूम का ज्ञान होता है, **तत्** = वह, **तृतीयम्** = तृतीय लिङ्गज्ञान है, **धूमवान् च अयम् इति** = कि वह पर्वत धूम वाला है, **तदेव** = वही लिङ्गज्ञान, **अग्निम् अनुमापयति** = अग्नि की अनुमिति कराता है, **न अन्यत्** = कोई अन्य नहीं (प्रथम द्वितीय लिङ्गज्ञान नहीं), **तदेव** = यही तृतीय लिङ्गज्ञान, **अनुमानम्** = अनुमान है, **स एव** = और वही, **लिङ्गपरामर्शः** = लिङ्गपरामर्श है, **तेन** = इस व्याख्यान से, **व्यवस्थितम् एतत्** = यह व्यवस्थित हो गया कि, **लिङ्गपरामर्शः अनुमानम्** = लिङ्ग का परामर्श ही अनुमान है।

सङ्कलितार्थ—

प्रश्न—अजी ! प्रथम बार पाकशाला में जो धूमज्ञान होता है वह अग्नि का अनुमान क्यों नहीं कराता है ? (तृतीय ज्ञान तक इस हेतु जाने की क्या आवश्यकता है ?)

उत्तर—आपका कथन ठीक है। किन्तु (पाकशाला में धूम का प्रथम दर्शन होने के समय धूम और वह्नि की) व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। व्याप्ति का ग्रहण होने पर ही अनुमिति उत्पन्न होती है।

NOTES

प्रश्न—तब व्याप्ति का निश्चय हो जाने के बाद रसोईघर में ही अग्नि का अनुमान हो जाना चाहिए ?

उत्तर—ऐसा भी नहीं हो सकता है क्योंकि महानस में अग्नि के दिखाई देने से सन्देह की उत्पत्ति नहीं होती है और सन्दिग्ध अर्थ का ही अनुमान किया जाता है। जैसा कि भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है—अज्ञात अर्थ और अनिर्णीत अर्थ में अनुमान प्रवृत्त नहीं होता है, वह सन्दिग्ध अर्थ में ही प्रवृत्त होता है।

प्रश्न—फिर पर्वत पर पहुँचते ही मनुष्य का (व्याप्ति निश्चय के बाद एवं व्याप्ति स्मरण से पूर्व का) जो धूमज्ञान है, वह अग्नि का अनुमान क्यों नहीं कराता ? यहाँ पर अग्नि का सन्देह भी है और साधक तथा बाधक प्रमाणों का अभाव रहने से सन्देह न्यायत: प्राप्त भी है।

उत्तर—ठीक है। किन्तु व्याप्ति का ग्रहण न करने वाले पुरुष के समान, व्याप्ति का ग्रहण करके भूल जाने वाले पुरुष को भी अनुमान का उदय नहीं होता (अनुमिति नहीं होती)। इसलिए व्याप्ति का स्मरण होना भी अनुमिति के प्रति हेतु है। (इस कारण व्याप्ति स्मरण से पूर्व का द्वितीय धूमज्ञान अग्नि का अनुमान कराने में समर्थ नहीं है) और (पर्वत में) धूम के देखने से (पूर्व में गृहीत व्याप्ति के) संस्कार के उद्‌बुद्ध हो जाने से व्यक्ति व्याप्ति का स्मरण करता है—जो जो धूमवान् है वह वह अग्निमान् है, जैसे—रसोईघर। इससे पर्वत में धूम का (द्वितीय) दर्शन होने पर व्याप्ति का स्मरण हो जाने पर जो धूमज्ञान होता है वह तीसरा ज्ञान (यह पर्वत धूमवान है) इस प्रकार का तृतीय लिङ्गज्ञान है। वही अग्नि का अनुमान कराता है अन्य नहीं। उसी को अनुमान कहते हैं। उसी तृतीय लिङ्गज्ञान को परामर्श कहते हैं। इस विवेचन से सिद्ध है कि लिङ्गपरामर्श ही अनुमान है।

विवेचन

ग्रन्थकार ने लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् का उपसंहार करते हुए, लिङ्ग के तृतीय ज्ञान को परामर्श माना है। यही अनुमान है, अनुमिति ज्ञान में सहायक है।

तर्क-भाषा

तच्चानुमानं द्विविधिम्, स्वार्थं परार्थञ्चेति। स्वार्थं स्वार्थप्रतिपत्तिहेतु: तथा हि स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्न्योर्व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्‌गते चाग्नौ सन्दिहान: पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्नमूलामभ्रंलिहां-धूमलेखां पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्‌बुद्ध-संस्कारो व्याप्तिं स्मरति—यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। ततोऽत्रापि धूमोऽस्तीति प्रतिपद्यते। तस्मादत्र पर्वतेऽग्निरप्यस्तीति स्वयमेव प्रतिपद्यते। तत्स्वार्थानुमानम्।

सन्दर्भ—न्यायवैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थों के अनुसार अनुमान के दो भेद माने गये हैं। तदुनसार ही ग्रन्थकार केशव मिश्र अनुमान भेदों को बताते हुए पहले स्वार्थानुमान का निरूपण कर रहे हैं।

अर्थ—तच्च अनुमानम् = लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् लक्षण वाला अनुमान, **द्विविधम्** = दो प्रकार का है, **(1) स्वार्थम्** = स्वार्थानुमान, **(2) परार्थञ्चेति** = और परार्थानुमान, **स्वार्थम्** = स्वार्थानुमान, **स्वार्थप्रतिपत्तिहेतु:** = अपने लिए ज्ञान का हेतु होता है, **तथा हि** = जैसे कि, **स्वयमेव** = स्वयं ही, (कोई व्यक्ति), **महानसादौ** = पाकशाला आदि में, **विशिष्टेन प्रत्यक्षेण** = विशिष्ट प्रत्यक्ष से (उपाधि के अभाव ज्ञान का संस्कार तथा धूम एवं अग्नि के भूयो दर्शन से), **धूमाग्न्यो:** = धूम और अग्नि की, **व्याप्तिं** = व्याप्ति को, **गृहीत्वा** = ग्रहण करके, **पर्वतसमीपं** = पर्वत के समीप, **गत:** = गया, **तद्‌गते च** = और उस पर्वत में स्थित, **अग्नौ** = अग्नि के विषय में, **सन्दिहान:** = सन्देह करता हुआ, **पर्वतवर्तिनीम्** = पर्वत में विद्यमान, **अविच्छिन्नमूलाम्** = अखण्डित मूलवाली (मूल से सम्बद्ध), **अभ्रंलिहां** = मेघों का स्पर्श करने वाली, **धूमलेखां** = धूम की रेखा को, **पश्यन्** = देखता हुआ, **धूमदर्शनाच्च** = और धूम को देखने से, **उद्‌बुद्ध-संस्कार:** = (धूमाग्नि के व्याप्ति सम्बन्धी) उद्‌बुद्ध संस्कार वाला व्यक्ति, **व्याप्तिं स्मरति** = व्याप्ति का स्मरण करता है, **यत्र धूमस्तत्राग्निरिति** = जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, **तत: अत्रापि** = तत्पश्चात् यहाँ पर्वत में भी, **धूम: अस्ति इति** = धूम है ऐसा, **प्रतिपद्यते** = समझ लेता है,

तस्मादत्र = उस परामर्श-ज्ञान से यहाँ भी, **पर्वते** = पर्वत में, **अग्निरपि अस्ति** = अग्नि भी है, **इति** = ऐसा, **स्वयमेव** = स्वयं ही, **प्रतिपद्यते** = समझ लेता है, **तत्** = वह, **स्वार्थनुमानम्** = स्वार्थनुमान है।

NOTES

सङ्कलितार्थ—वह अनुमान दो प्रकार का है—(1) स्वार्थानुमान, (2) परार्थानुमान। अपने ज्ञान का हेतु जो अनुमान है, वह स्वार्थानुमान कहलाता है। जैसे कि कोई व्यक्ति स्वयं ही महानस आदि में विशिष्ट प्रत्यक्ष से = उपाधि ज्ञान के अभाव के साथ धूम और अग्नि के भूयो दर्शन रूप प्रत्यक्ष से, धूम और अग्नि की व्याप्ति का ग्रहण करके पर्वत के समीप गया, पर्वत में स्थित अग्नि में सन्देह करता हुआ पर्वत में विद्यमान मूल से लेकर बादलों तक अटूट रेखा वाली धूमरेखा को देखता हुआ और धूम के दर्शन से (पूर्व में ग्रहीत व्याप्ति के विषय में) उद्बुद्धसंस्कार वाला होकर व्याप्ति का स्मरण करता है कि जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है। तदनन्तर यहाँ पर्वत में भी धूम है यह परामर्श करता है। उस लिङ्ग के परामर्श से पर्वत में अग्नि भी है, ऐसा स्वयं ही जान लेता है। वह स्वार्थानुमान है।

विवेचन

उपर्युक्त अवतरण में स्वार्थानुमान का निरूपण किया गया है। ग्रन्थकार ने 'स्वार्थं स्वप्रतिपत्तिहेतुः' कहा है। इसका आशय है कि अनुमान करने वाले व्यक्ति को जिस अनुमान से स्वयं अनुमिति हो जाये वह स्वार्थानुमान है। जैसे कि—मनुष्य पाकशाला में धूम और अग्नि को एक साथ देखकर निश्चय करता है कि—जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि भी होती है। यही उसकी व्याप्ति बनती है। बाद में कभी पर्वत पर जाता है, वहाँ धूम को देखता है। यहाँ अग्नि है या नहीं यह सन्देह करता है। किन्तु धूम को देखकर यत्र धूमः तत्र अग्निः इस व्याप्ति का स्मरण उसे होता है। यही उसका उद्बुद्ध संस्कार है। इससे वह वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः = वह्नि से व्याप्त धूम वाला पर्वत है, यह स्वयं अनुमान कर लेता है अर्थात् पर्वत में अग्नि है यह अनुमिति जो उसे होती है, वही स्वार्थानुमान है।

तर्क-भाषा

यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधयितुं पञ्चावयवमनुमानवाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा—पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानसः तथा चायं, तस्मात्तथा इति।

अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादितात् पञ्चरूपोपन्नाल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते, तेनैतत् परार्थानुमानम्

सन्दर्भ—परार्थानुमान का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

अर्थ—**यत्तु कश्चित्** = जब कोई व्यक्ति, **स्वयम्** = अपने आप ही, **धूमात्** = धुआँ से, **अग्निम् अनुमाय** = अग्नि का अनुमान करके, **परं** = अन्य व्यक्ति को, **बोधयितुम्** = समझाने के लिए, **पञ्चावयवम्** = पाँच अवयवों वाले, **अनुमान वाक्यम्** = अनुमानवाक्य का, **प्रयुङ्क्ते** = प्रयोग करता है, **तत्** = वह, **परार्थानुमान्** = परार्थ-अनुमान कहलाता है, **तद्यथा** = जैसे कि, **पर्वतोऽग्निमान्** = पर्वत अग्निमान् है (प्रतिज्ञा), **धूमवत्त्वात्** = धूमवान् होने से (हेतु), **यो यो धूमवान स सोऽग्निनाम् यथा महानसः** = जो जो धूमवान् होता है वह वह अग्निमान् (अग्नि से युक्त) होता है, जैसे—रसोईघर (उदाहरण), **तथा च अयम्** = यह पर्वत भी वैसा ही है (महानस की तरह धूमयुक्त है) (उपनय), **तस्मात्तथा इति** = इसलिए यह पर्वत भी वैसा ही अग्निमान् है (निगमन), **अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता** = इस प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन से युक्त वाक्य के द्वारा, **प्रतिपादितात्** = प्रतिपादित किए गए, **पञ्चरूपोपन्नात्** = पाँच रूपों से (पक्षसत्व आदि से) युक्त, **लिङ्गात्** = हेतु से, **परोऽपि** = अन्य व्यक्ति भी, **अग्निं प्रतिपद्यते** = अग्नि को जान लेता है, **तेन एतत्** = अतः यह, **परार्थानुमानम्** = परार्थानुमान है।

सङ्कलितार्थ—जब कोई व्यक्ति स्वयं धूमरूप हेतु के देखने से अग्नि का अनुमान कर अन्य व्यक्ति को उस अग्नि का बोध कराने के लिए पाँच अवयवों वाले अनुमानवाक्य का प्रयोग करता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है।

जैसे कि—(1) यह पर्वत अग्नि से युक्त है (प्रतिज्ञा), (2) धूम से युक्त होने के कारण से (हेतु), (3) जो जो धूमयुक्त होता है, वह वह अग्नि से युक्त होता है, जैसे कि—पाकशाला (उदाहरण), (4) उसी प्रकार वह्नियुक्त धूमवान् यह पर्वत भी है (उपनय), (5) अतः यह पर्वत भी अग्नियुक्त है (निगमन)।

NOTES

इस प्रतिज्ञा आदि से युक्त वाक्य के द्वारा प्रतिपादित पाँच रूपों से (पक्षसत्वादि से) युक्त हेतु से अन्य व्यक्ति भी अग्नि का ज्ञान कर लेता है। अतः यह परार्थानुमान है।

विवेचन

(i) परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग आवश्यक है। ये पञ्चावयव हैं—(i) प्रतिज्ञा, (2) हेतु, (3) उदाहरण, (4) उपनय, (5) निगमन।

(ii) परार्थानुमान में लिङ्ग = हेतु का पाँच रूपों से युक्त होना भी आवश्यक है। लिङ्ग के पाँच रूप हैं—(1) पक्षसत्त्व = हेतु की पक्ष में स्थिति, (2) सपक्षसत्त्व = सपक्ष महानसादि में हेतु का रहना, (3) विपक्षव्यावृत्ति = विपक्ष-महाद्रदादि में हेतु का नहीं रहना, (4) अबाधितविषयत्व = हेतु के विषय का बाधित न होना, (5) असत्प्रतिपक्षत्व = सत्प्रतिपक्ष का न होना। न्यायशास्त्र में—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः (1.1.32 न्यायसूत्र) ये पाँचों अवयवों के नाम हैं। वैशेषिक दर्शन में—प्रतिज्ञा अपदेश निदर्शन अनुसन्धान एवं प्रत्याम्नाय, ये पाँचों अवयवों के नाम हैं।

तर्क-भाषा

अत्र पर्वतस्याग्निमत्त्वं साध्यं, धूमवत्त्वं हेतुः। स चान्वयव्यतिरेकी, अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्त्वात्। तथा हि यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वं, यथा महानसे इत्यन्वयव्याप्तिः। महानसे धूमाग्न्योरन्वयसद्भावात्। एवं यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाह्रदे इतीयं व्यतिरेकव्याप्तिः। महाह्रदे धूमाग्न्योर्व्यतिरेकस्य सद्भावदर्शनात्।

अर्थदीपिका

सन्दर्भ—अनुमान में लिङ्ग या हेतु का होना आवश्यक है। यह लिङ्ग = हेतु तीन प्रकार का है—(1) अन्वयव्यतिरेकि, (2) केवलान्वयि, (3) केवलव्यतिरेकि। इनका वर्णन ग्रन्थकार कर रहे हैं—

अर्थ—अत्र = यहाँ पर, (पर्वतः अग्निमान् धूमवत्त्वात् में), **पर्वतस्य** = पर्वत का, **अग्निमत्त्वम्** = अग्नियुक्तता, **साध्यम्** = साध्य है (सिद्ध करना है), **धूमवत्त्वम्** = धूमयुक्तता, **हेतुः** = हेतु है, **स च** = और वह हेतु (लिङ्ग), **अन्वयेन** = अन्वय से, **व्यतिरेकेण च** = और व्यतिरेक से, **व्याप्तिमत्वात्** = व्याप्ति वाला होने से (व्याप्तिमान् होने से), **अन्वयव्यतिरेकी** = अन्वयव्यतिरेकी है, **तथा हि** = जैसे कि, **यत्र तत्र धूमवत्त्वम्** = जहाँ-जहाँ धूमवत्ता होती है (धूम होता है), **तत्र तत्र अग्निमत्त्वम्** = वहाँ-वहाँ अग्निमत्ता (अग्नि) है, **यथा महानसे** = जैसे कि पाकशाला में, **इत्यन्वयव्याप्तिः** = यह अन्वय से व्याप्ति का उदाहरण है। क्योंकि, महान से = पाकशाला में, **धूमाग्न्योः** = धूम और अग्नि का, **सद्भावात्** = सद्भाव = अस्तित्व है, **एवम्** = इसी प्रकार, **यत्र अग्निः नास्ति** = जहाँ पर अग्नि नहीं है, **तत्र धूमोऽपि** = वहाँ धूम भी, **नास्ति** = नहीं है, **यथा महाह्रदे** = जैसे कि महाह्रद में (बड़े सरोवर में), **महाह्रदे** = बड़े सरोवर में, **इति इयम्** = इस प्रकार यह, **व्यतिरेक व्याप्ति** = व्यतिरेक से व्याप्ति (का उदाहरण है), **महाहूपे** = बड़े सरोवर में, **धूमाग्न्योः** = धूम और अग्नि के, **व्यतिरेकस्य** = अभाव का, **सद्भावदर्शनात्** = अस्तित्व दिखाई पड़ता है।

सङ्कलितार्थ—पर्वत अग्निवाला है धूमवान् होने से इसमें पर्वत का अग्नियुक्त होना साध्य है तथा धूमयुक्त होना हेतु है। अर्थात् अग्नि साध्य है तथा धूम हेतु है। यह हेतु अन्वय तथा व्यतिरेक द्वारा व्याप्ति वाला होने से अन्वयव्यतिरेकी हेतु है। जैसे कि—"जहाँ-जहाँ धूमवत्त्व (धूम) है, वहाँ-वहाँ अग्निमत्त्व (अग्नि) है, जैसे रसोईघर

में" यह अन्वयव्याप्ति का उदाहरण है। क्योंकि रसोईघर में धूम एवं वह्नि का अस्तित्व दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार "जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे कि बड़े सरोवर में" यह व्यतिरेकव्याप्ति का उदाहरण है। क्योंकि सरोवर में धूम और अग्नि के अभाव का होना देखा जाता है।

विवेचन

अन्वयव्याप्ति एवं व्यतिरेकव्याप्ति ही हेतु के तीन प्रकार का होने में आधार बनता है। जहाँ पर हेतु अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों प्रकार से व्याप्ति वाला होकर साध्य की सिद्धि करता है, वहाँ हेतु (1) अन्वयव्यतिरेकी कहलाता है। जैसे कि पर्वतोऽग्निनाम् धूमवत्त्वात्। यहाँ **तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्** की स्थिति होती है। यह अन्वय का लक्षण है। तथा **तदभावे तदभावः** की स्थिति भी होती है। यह व्यतिरेक का लक्षण है।

तर्क-भाषा

व्यतिरेकव्याप्तेस्त्वयं क्रमः। अन्वयव्याप्तौ तद् व्याप्यं तदभावोऽत्र व्यापकः। यच्च व्यापंक तदभावतोऽत्र व्याप्त इति। तदुक्तम्—

व्याप्तव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद विपरीतः प्रतीयते॥
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।
तदभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः॥
व्यापस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम्।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः॥

सन्दर्भ—जिस हेतु में अन्वय व व्यतिरेक दोनों से व्याप्ति ग्रहण की जाती है, वहाँ पर व्यतिरेकव्याप्ति का क्रम भिन्न होता है, इसी बात को ग्रन्थकार बताते हैं, तथा श्लोकवार्तिक (121–123) के श्लोकों द्वारा उसे पुष्ट कर रहे हैं—

अर्थ—व्यतिरेकव्याप्तेः = व्यतिरेकव्याप्ति का (प्रयोग का), **तु अयम्** = तो यह, **क्रमः** = क्रम है, **अन्वयव्याप्तौ** = अन्वयव्याप्ति के प्रयोग में, **यद्व्याप्यम्** = जो व्याप्य होता है, **तदभावः** = उसका (व्याप्य का) अभाव, **अत्र व्यापकः** = यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति के प्रयोग में व्यापक होता है, **यच्च व्यापकम्** = और अन्वयव्याप्ति के प्रयोग में जो व्यापक होता है, **तदभावः** = उसका (व्यापक का) अभाव, **अत्र व्याप्यः इति** = यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति में व्याप्त हो जाता है, **तदुक्तम्** = इसे (श्लोकवार्तिक में) जैसा कहा गया है—

भावायोः (अन्वयव्याप्ति में) दो भावपदार्थों का, **व्याप्यव्यापकभावः हि** = व्याप्य और व्यापकभाव, **यादृक्** = जिस प्रकार का, **इष्यते** = माना जाता है, **तयोः** = उन व्याप्यव्यापकभावों के, **अभावयोः** = अभावों का, **तस्मात्** = उस व्याप्यव्यापकभाव से, **विपरीतः** = विपरीत व्याप्यव्यापकभाव क्रम, **प्रतीयते** = प्रतीत होता है (अर्थात् धूम और अग्नि दो भावपदार्थ हैं इनमें धूम व्याप्य एवं वह्नि व्यापक माना जाता है। व्यतिरेकव्याप्ति में धूम और वह्नि का अभाव अर्थात् साध्याभाव = वह्न्यभाव, व्याप्त एवं साधनाभाव = धूमाभाव व्यापक हो जाता है)।

अन्वये = अन्वयव्याप्ति में, **साधनम्** = साधन (धूमादि), **व्याप्यम्** = व्याप्य और, **साध्यम्** = साध्य (वह्नि आदि), **व्यापकम्** = व्यापक, **इष्यते** = माना जाता है, व्यतिरेकव्याप्ति में, **अन्यथा** = अन्य प्रकार से, **तदभावः** = उस साध्य का अभाव, व्याप्यः = व्याप्य माना जाता है और, **साधनात्ययः** = साधन (हेतु) का अभाव, **व्यापकः** = व्यापक माना जाता है, **पूर्वम्** = (अनुमान प्रयोग में) पहले, **व्याप्यस्य** = व्याप्य का, **वचनम्** = कथन होता है, ततः परम् = उसके बाद, **व्यापकस्य** = व्यापक का कथन होता है, **एवं परीक्षिता** = इस प्रकार परीक्षा की गई, **व्याप्तिः** = साहचर्य नियम, **तत्त्वतः** = सम्यक्, ठीक ढंग से, **स्फुटीभवति** = स्पष्ट हो जाती है।

सङ्कलितार्थ—व्यतिरेकव्याप्ति के प्रयोग का यह क्रम है—अन्वयव्याप्ति में जो व्याप्य होता है, उसका अभाव व्यतिरेकव्याप्ति में व्यापक हो जाता है और अन्वयव्याप्ति में जो व्यापक होता है, उसका अभाव व्यतिरेकव्याप्ति में व्याप्य हो जाता है। श्लोकवार्तिक (मीमांसा का ग्रन्थ) में इसको इस प्रकार बताया है—

(1) दो भावपदार्थों का जैसा व्याप्यव्यापकभाव अन्वयव्याप्ति में माना जाता है (धूम = साधन, व्याप्य एवं वह्नि = साध्य, व्यापक माना जाता है) व्यतिरेकव्याप्ति में उन दोनों के अभावों का उससे विपरीत व्याप्यव्यापकभाव माना जाता है (121 श्लोक वार्तिक)।

(2) अन्वयव्याप्ति में साधन = हेतु धूमादि, व्याप्य माना जाता है और साध्य = वह्नि आदि व्यापक माना जाता है। व्यतिरेकव्याप्ति में उससे भिन्न अर्थात् साध्य का अभाव = वह्न्यभावादि व्याप्य माना जाता है तथा साधन का अभाव = धूमाभावादि व्यापक माना जाता है (122 श्लोक वार्तिक)।

(3) अनुमान के प्रयोग में—व्याप्य का कथन पहले किया जाता है, उसके बाद व्यापक का कथन होता है। इस प्रकार परीक्षा की गई व्याप्ति वास्तविक रूप से स्पष्ट होती है (123 श्लोक वार्तिक)।

तर्क-भाषा

तदेवं धूमवत्त्वे हेतावन्वयेन व्यतिरेकेण व व्याप्तिरस्ति। यत्तु वाक्ये केवलमन्वयव्याप्तेरेव प्रदर्शनं तदेकेनापि चरितार्थत्वात्। तत्राप्यन्वयस्यावक्रत्वात् प्रदर्शनम्। ऋजुमार्गेण सिद्ध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात्। न तु व्यतिरकेव्याप्तेरभावात्।

तदेवं धूमवत्त्वं हेतुरन्वयव्यतिरेकी। एवमन्येऽप्यनित्यत्वादौ साध्ये कृतकत्वादयो हेतवोऽन्वयव्यतिरेकिणो द्रष्टव्याः। यथा—शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्। यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्। यत्रानित्यत्वाभावस्तत्र कृतकत्वाभावो यथा गगने।

अर्थ—तदेवम् = तो इस प्रकार (पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्) इस अनुमानवाक्य में, **धूमवत्त्वे हेतौ** = धूमवत्त्व (धूम) हेतु में, **अन्वयेन** = अन्वयदृष्टान्त से, **व्यतिरेकेण च** = एवं व्यतिरेक दृष्टान्त से, **व्याप्तिः अस्ति** = व्याप्ति है, **यत्तु** = जो, **वाक्ये** = अनुमान वाक्य में, **केवलम्** = केवल, **अन्वयव्याप्तेरेव** = अन्वयव्याप्ति का ही, **प्रदर्शनम्** = प्रदर्शन किया गया है, **तत्** = वह तो, इसलिए है कि, **एकेनापि** = एक से भी, **चरितार्थत्वात्** = चरितार्थ हो जाता है, **तत्रापि** = उन दोनों व्याप्तियों में भी, **अन्वयस्य अवक्रत्वात्** = अन्वयव्याप्ति के सरल होने से, **प्रदर्शनम्** = प्रदर्शन किया गया है (क्योंकि), **ऋजुमार्गेण** = सरल मार्ग से, **सिद्ध्यतः अर्थस्य** = सिद्ध हो रहे अर्थ का, **वक्रेण** = टेढ़े (कठिन) मार्ग से, **साधनायोगात्** = सिद्ध करना अनुचित (अयुक्त) है, **न तु** = न कि, **व्यतिरेकव्याप्तेः** = व्यतिरेकव्याप्ति का, **अभावात्** = अभाव होने से (इसका प्रदर्शन नहीं हुआ है), **तदेवम्** = तो इस प्रकार, **धूमवत्त्वं हेतुः** = धूमवत्त्व हेतु, **अन्वयव्यतिरेकी** = अन्वयव्यतिरेकी है, **एवम् अन्येऽपि** = इस प्रकार अन्य भी, **अनित्यत्वादौ** = अनित्यत्व आदि के, **साध्ये** = साध्य रहने पर, **कृतकत्वादयः** = कृतकत्व आदि, **हेतवः** = हेतुएँ, **अन्वयव्यतिरेकिणः** = अन्वयव्यतिरेकी, **द्रष्टव्याः** = जानना चाहिए, **यथा** = जैसे कि, **शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्** = शब्द अनित्य है कार्य होने से, घट के समान, **यत्र कृतकत्वम्** = जहाँ कृतकत्व होता है, **तत्र अनित्यत्वम्** = वहाँ अनित्यता होती है (यह अन्वयव्याप्ति है)। **यत्र अनित्यत्वाभावः** = जहाँ अनित्यत्व का अभाव होता है, **तत्र कृतकत्वाभावः** = वहाँ कार्यत्व का अभाव होता है, **यथा गगने** = जैसे आकाश में (यह व्यतिरेकव्याप्ति है)।

सङ्कलितार्थ—तो इस प्रकार ('पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्' इस अनुमानवाक्य के) धूमवत्त्व हेतु में अन्वयव्याप्ति एवं व्यतिरेकव्याप्ति भी है। जो अनुमानवाक्य में केवल अन्वयव्याप्ति (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः) का ही प्रदर्शन किया गया है वह इसलिए है कि एक व्याप्ति से ही निर्वाह हो रहा है। उन दोनों व्याप्तियों में भी अन्वयव्याप्ति का प्रदर्शन सरल होने के कारण किया गया है। सरल मार्ग से सिद्ध हो रहे अर्थ (प्रयोजन) को कुटिल मार्ग से सिद्ध करना अनुचित माना जाता है। अतः व्यतिरेकव्याप्ति का प्रदर्शन नहीं किया गया है, इसमें उसका नहीं होना कारण नहीं है।

तो इस प्रकार धूमवत्त्व नामक हेतु अन्वयव्यतिरेकी है। इसी प्रकार अन्य अनित्यत्व आदि के साध्य रहने पर 'कृतकत्व' आदि हेतुओं को अन्वयव्यतिरेकी जानना चाहिए। उदाहरण—शब्द अनित्य है कृतक (कार्य) होने से, घट के समान—(1) जहाँ कृतकत्व होता है, वहाँ अनित्यत्व भी होता है (अन्वयव्याप्ति), (2) जहाँ अनित्यत्व का अभाव होता है, वहाँ कार्यत्व का भी अभाव होता है, जैसे कि गगन में (अनित्यत्व नहीं होने से कार्यत्व भी नहीं है)।

तर्क-भाषा

कश्चिद्धेतुः केवलव्यतिरेकी। यद्यथा, सात्मकत्वे साध्ये प्राणादिमत्त्वं हेतुः। यथा—जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात्। यत् सात्मकं न भवति तत् प्राणादिमन्न भवति, यथा—घटः। न चेदं जीवच्छरीरं तथा, तस्मान्न तथेति। अत्र हि जीवच्छरीरस्य सात्मकत्वं साध्यं, प्राणादिमत्त्वं हेतुः। स च केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्याप्तेरभावात्। तथा हि यत् प्राणादिमत् तत् सात्मकं, यथा अमुक इति दृष्टान्तो नास्ति। जीवच्छरीरं सर्वं पक्ष एव।

सन्दर्भ—केवलव्यतिरेकी हेतु का वर्णन ग्रन्थकार कर रहे हैं—

अर्थ—कश्चित् = कोई, **हेतुः** = हेतु, **केवलव्यतिरेकी** = केवलव्यतिरेकी होता है (व्यतिरेकव्याप्ति वाला ही होता है), **तद्यथा** = जैसे कि, **सात्मकत्वे** = आत्मा से युक्त होना, **साध्ये** = साध्य होने पर, **प्राणादिमत्त्वम् हेतुः** = 'प्रणादि से युक्त होना' हेतु होता है, **यथा** = जैसे, **जीवच्छरीरम्** = जीवित शरीर, **सात्मकम्** = आत्मयुक्त है (प्रतिज्ञा), **प्राणादिमत्त्वात्** = प्राणादि युक्त होने से (हेतु), **यत् साम्यकं न भवति** = जो सात्मक (आत्मयुक्त) नहीं होता है, **तत्** = वह, **प्राणादिमत् न भवति** = प्राणादि से युक्त भी नहीं होता है, **यथा घटः** = जैसे कि घड़ा (उदाहरण), **न चेदम्** = और न ही यह, **जीवच्छरीरम्** = जीवित शरीर, **तथा** = वैसा प्राणादिमत्त्व के अभाव वाला है (उपनय), **तस्मात् न तथा** = इसलिए यह सात्मकत्व का अभाव वाला भी नहीं है (निगमन), **अत्र हि** = यहाँ पर, **जीवच्छरीरस्य** = जीवित शरीर का, **सात्मकत्वम्** = आत्मायुक्त होना, **साध्यम्** = साध्य है, **प्राणादिमत्त्वं** = प्राणादियुक्त होना, **हेतुः** = हेतु है, **स च** = और वह हेतु, **केवलव्यतिरेकी** = केवलव्यतिरेकी है, **अन्वयव्याप्तेः अभावात्** = (क्योंकि) यहाँ अन्वयव्याप्ति का अभाव है, **तथा हि** = जैसे कि, यत् प्राणादिमत = जो प्राणादि युक्त हैं, तत् = वह, सात्कमम् = आत्मा से युक्त है, **यथा अमुकः** = जैसे अमुक। **इति दृष्टान्तः** = यह दृष्टान्त, **नास्ति** = नहीं है। **जीवत् शरीरं** = जीवित शरीर, **सर्वम्** = सब, **पक्ष एव** = पक्ष ही है।

सङ्कलितार्थ—कोई हेतु केवलव्यतिरेकी ही हुआ करता है। जैसे कि सात्मकत्व (आत्मा से युक्त होना) के साध्य रहने पर प्राणादिमत्त्व (प्राणादि से युक्त होना) हेतु है। उदाहरण—"जीवित शरीर सात्मक होता है, प्राणादिमान् होने से, जो सात्मक नहीं होता है वह प्राणादिमत् भी नहीं होता है, जैसे कि घट।" और यह जीवित शरीर प्राणादिमत्त्व के अभाव वाला नहीं है, अतः यह सात्मकत्व का अभाव वाला भी नहीं है। इस अनुमान में जीवित शरीर की 'सात्मकता' साध्य है, और 'प्राणादिमत्ता' हेतु है। यह हेतु केवलव्यतिरेकी है, क्योंकि यहाँ अन्वयव्याप्ति का सर्वथा अभाव है। यथा—जो प्राणादिमत् है, वह सात्मक है, जैसे—वह, यह दृष्टान्त नहीं बनता है, क्योंकि सभी जीवित शरीर पक्ष ही बन जाता है (दृष्टान्त की कोई गुञ्जाइश ही नहीं बचती)।

विवेचन

केवलव्यतिरेकी हेतु को प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थकार ने कहा कि कुछ हेतु केवलव्यतिरेकी ही होते हैं। वहाँ व्यतिरेकव्याप्ति ही हो सकती है। अन्वयव्याप्ति वहाँ होती ही नहीं। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने कहा—जीवत् शरीरम् सात्मकम्—यह **प्रतिज्ञा** वाक्य है, इसमें 'सात्मक' **साध्य** है। प्राणादिमत्त्वात्—यह **हेतु** है। यत् सात्मकं न भवति तत् प्राणादिमत् न भवति यथा घटः—यह **उदाहरण** है। नचेद जीवच्छरीरम् तथा—यह **उपनय** है। तस्मान्न तथा—यह **निगमन** है।

तर्क-भाषा

लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः। यथा पृथिवीलक्षणं गन्धवत्त्वम्। विवादपदं पृथिवीति व्यवहर्तव्यम्, गन्धवत्त्वात्। यन्न पृथिवीति व्यवह्रियते तन्न गन्धवत्, यथापः।

NOTES

सन्दर्भ—सभी लक्षण भी केवलव्यतिरेकी हेतु होते हैं। इसका प्रदर्शन यहाँ किया जाता है—

अर्थ—लक्षणमपि = लक्षण भी, **केवलव्यतिरेकी हेतुः** = केवलव्यतिरेकी हेतु होता है, **यथा** = जैसे, **पृथिवीलक्षणम्**

गन्धवत्त्वम् = पृथिवी का लक्षण 'गन्धवती' होना है (गन्धवत्त्व का हेतु के रूप में प्रयोग कर विवादग्रस्त पदार्थ को पृथिवी सिद्ध करने हेतु कहा जाता है कि), **विवादपदं** = विवादास्पद वस्तु, **पृथवी इति व्यवहर्तव्यम्** = पृथिवी है ऐसा व्यवहार करना चाहिए, **गन्धवत्त्वात्** = गन्धवाली होने से, **तन्न गन्धवत्** = वह गन्ध वाली नहीं है, **यथापः** = जैसे कि जल।

सङ्कलितार्थ—लक्षण भी केवलव्यतिरेकी हेतु होते हैं। जैसे—पृथिवी का लक्षण है—गन्धवत्त्व (गन्धवाली होना)। (अनुमान प्रक्रिया में) विवादास्पद (वस्तु) पृथिवी है ऐसा व्यवहार करना चाहिए, गन्धवाली होने के कारण। 'जो पृथिवी नहीं है' ऐसा व्यवहार किया जाता है, वह गन्धवाली (वस्तु) भी नहीं है। जैसे कि—जल।

विवेचन

किसी पदार्थ का असाधारण धर्म लक्षण होता है। तर्कभाषाकार लक्ष्य को साध्य एवं लक्षण को साधन (हेतु) के रूप में रखकर कहते हैं कि—लक्षण भी हेतु होता है और वह केवलव्यतिरेकी हेतु होता है। इसमें कारण यह है कि जिसका लक्षण किया जाता है, वह सभी साध्य अर्थ पक्ष बन जाता है, उससे भिन्न किन्तु सदृश कोई भी अर्थ शेष नहीं रहता जिसे अन्वयव्याप्ति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। उदाहरण के लिए ग्रन्थकार ने पृथिवी का लक्षण प्रस्तुत किया है तथा उसे विवादास्पद अर्थात् सन्दिग्ध मानकर पक्ष बनाया है।

तर्क-भाषा

प्रमाणलक्षणं वा, यथा—प्रमाकरणत्वम्। तथा हि—प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं प्रमाकरणत्वात्, यत् प्रमाणमिति न व्यवह्रियते तन्न प्रमाकरणं, यथा प्रत्यक्षाभासादि। न पुनस्तभेदं, तस्मान्न तथेति। न पुनरत्र यत् प्रमाकरणं तत्प्रमाकरणमिति व्यवहर्तव्यं, यथाऽमुक इत्यन्वयदृष्टान्तोऽस्ति, प्रमाणमात्रस्य पक्षीकरणत्वात्। अत्र च व्यवहारः साध्यो न तु प्रमाणत्वं, तस्य प्रमाकरणत्वाद्धेतोरभेदेन साध्याभेददोषप्रसङ्गात्। तदेवं केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः।

सन्दर्भ—केवलव्यतिरेकी हेतु—प्रमाणलक्षण को अनुमानवाक्य में ग्रन्थकार प्रस्तुत कर रहे हैं—

अर्थ—प्रमाणलक्षणं वा = अथवा प्रमाण का लक्षण, **यथा प्रमाकरणत्वम्** = जैसे प्रमाकरणत्व (केवलव्यतिरेकी हेतु है), **तथाहि** = जैसे कि, **प्रत्यक्षादिंक प्रमाणाम्** = प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्द प्रमाण है, **इति व्यवहर्त्तव्यम्** = ऐसा व्यवहार करना चाहिए, **प्रमाकरणत्वात्** = प्रमा का करण होने से, **यत् प्रमाणम्** = जहाँ प्रमाण है, **इति न व्यवह्रियते** = ऐसा व्यवहार नहीं किया जाता है, **तः प्रमाकरणम्** = वहाँ प्रमा का करण है, यह व्यवहार भी नहीं किया जाता है, **यथा** = जैसे कि, **प्रत्यक्षाभासादि** = प्रत्यक्षाभास आदि, **न पुनस्तभा इदम्** = किन्तु यह (यत्र प्रमाणं) वैसा नहीं है, **तस्मात् न तथा इति** = इसलिए यह वैसा (प्रमाकरणत्वाभाववत्) नहीं है, **यत् प्रमाकरणम्** = जो प्रमा का करण है, **तत् प्रमाणम्** = वह प्रमाण है, **इति व्यवहर्तव्यम्** = यह व्यवहार करना चाहिए, **यथा अमुकः** = जैसे कि अमुक (वह), **इत्यन्वयदृष्टान्तः** = ऐसी अन्वयव्याप्ति, **न पुनरत्र** = यहाँ पर नहीं, **अस्ति** = है, क्योंकि, **प्रमाणमात्रस्य** = प्रमाणमात्र को, **पक्षीकृतत्त्वात्** = पक्ष बना लिया गया है।

अत्र च = और यहाँ पर, **व्यवहारः साध्यः** = व्यवहार साध्य है, **न तु** = न कि, **प्रमाणत्वम्** = प्रमाणत्व (साध्य है), **तस्य** = उस प्रमाणत्व का, **प्रमाकरणत्वाद हेतोः** = प्रमाकरणत्व रूप हेतु से, **अभेदेन** = अभेद होने के कारण, **साध्याभेद दोषप्रसङ्गात्** = साध्य के साथ अभेदरूप दोष की प्राप्ति हो जाएगी, **तदेवम्** = तो इस प्रकार, **केवलव्यतिरेकिणः** = केवलव्यतिरेकी हेतु, **दर्शिताः** = दिखला दिये गये।

सङ्कलितार्थ—अथवा जैसे प्रमाण का लक्षण प्रमाकरणत्व (अन्वयव्यतिरेकी हेतु होता है)। जैसे कि—प्रत्यक्षादि प्रमाण है ऐसा व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि यह प्रमा का करण है, 'जो प्रमाण है' ऐसा व्यवहार नहीं होता, वह प्रमा का करण भी नहीं होता, जैसे कि—प्रत्यक्षाभास आदि। किन्तु यह वैसा = प्रमाणव्यवहाराभावयुक्त नहीं है, अतः वैसा = प्रमाकरणत्वाभावयुक्त भी नहीं है। किन्तु 'जो प्रमा का करण होता है, वह प्रमाण होता है', जैसे—अमुक, इस प्रकार का अन्वय दृष्टान्त यहाँ पर नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रमाणमात्र को यहाँ पक्ष बना लिया गया है।

और (प्रत्यक्षादिकं प्रमाणम्) इस अनुमानवाक्य में साध्य है—व्यवहार। प्रमाणत्व साध्य नहीं है। इसका प्रमाकरण रूप हेतु से अभेद होने के कारण साध्याभाव दोष होने लगेगा (अतः प्रमाणत्व साध्य नहीं है)। इस तरह केवलव्यतिरेकी हेतु दिखलाये गये।

विवेचन

केवलव्यतिरेकी हेतु का एक अन्य उदाहरण ग्रन्थकार ने प्रमाण के लक्षण प्रमाकरणत्व को बताया है। किन्तु पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात् इस अनुमानवाक्य से भिन्न वाक्य का यहाँ प्रयोग किया जाता है। यथा—प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यम्, प्रमाणकरणत्वात्, यत् यत् प्रमाणमिति न व्यवह्रियते, तन्न प्रमाणं, यथा प्रत्यक्षाभासादि। यहाँ पर साध्य है—व्यवहार, प्रमाणत्व नहीं। यदि 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' इत्यादि के समान 'प्रत्यक्षादिकं प्रमाणं, प्रमाकरणत्वात्' इत्यादि अनुमानवाक्य का प्रयोग हो तब एक दोष उत्पन्न होगा। वह दोष है—साध्य का हेतु के साथ अभेद होना। प्रमाणत्व और प्रमाकरणत्व एक ही सिद्ध होता है।

तर्क-भाषा

कश्चिदन्यो हेतुः केवलान्वयी। यथा—शब्दोऽभिधेयः, प्रमेयत्वात्। यत् प्रमेयं तदभिधेयं, यथा घटः। तथा चायं, तस्मात्तथेति। अत्र शब्दस्याभिधेयत्वं साध्यम्, प्रमेयत्वं हेतुः। स च केवलान्वय्येव। यदभिधेयं न भवति तत्प्रमेयमपि न भवति, यथाऽमुक इति व्यतिरेकदृष्टान्ताभावात्। सर्वत्र हि प्रामाणिक एवार्थो दृष्टान्तः। च स प्रमेयश्चाभिधेयश्चेति।

सन्दर्भ—ग्रन्थकार उपर्युक्त अवतरण द्वारा केवलान्वयी हेतु का वर्णन कर रहे हैं।

अर्थ—कश्चित् अन्यः = कोई अन्य, **हेतुः** = हेतु, **केवलान्वयी** = केवलान्वयी (केवल अन्वय दृष्टान्त वाला) होता है, **यथा** = जैसे, **शब्दः अभिधेयः** = शब्द अभिधेय (कहा जाने योग्य) होता है, **प्रमेयत्वात्** = प्रमेय होने से (यथार्थ-ज्ञान का विषय होने से), **यत् प्रमेयम्** = जो यथार्थज्ञान का विषय होता है, **तत् अभिधेयम्** = वह अभिधेय होता है, **यथा घटः** = जैसे कि घट, **तथा च अयम्** = और यह शब्द भी वैसा ही प्रमेय है, **तस्मात् तथेति** = इसलिए यह भी वैसा ही अभिधेय है, **अत्र** = इन अनुमानवाक्य में, **शब्दस्य** = शब्द की, **अभिधेयत्वम्** = अभिधेयता, **साध्यम्** = साध्य है, **प्रमेयत्वम्** = प्रमेयत्व, **हेतुः** = हेतु है, **स च** = और वह हेतु, **केवलान्वयी एव** = केवलान्वयी ही है, **यत् अभिधेयम्** = जो अभिधेय, **न भवति** = नहीं होता है, **तत् प्रमेयम् अपि** = वह प्रमेय भी, **न भवति** = नहीं होता है, **यथा अमुकः** = जैसे वह, **इति** = इस तरह का, **व्यतिरेकदृष्टान्ताभावात्** = व्यतिरेक-दृष्टान्त का अभाव है, **सर्वत्र हि** = क्योंकि सभी जगह, **प्रामाणिकः एवार्थः** = प्रामाणिक ही अर्थ, **दृष्टान्तः** = दृष्टान्त होता है, **स च** = और वह, **प्रमेयश्च अभिधेयश्च** = प्रमेय भी और अभिधेय भी होता है (अर्थात् व्यतिरेक दृष्टान्त में उदाहरण नहीं मिलता है)।

NOTES

सङ्कलितार्थ—कोई अन्य केवलान्वयी होता है। जैसे—शब्द अभिधेय होता है, प्रमेय होने से। जो प्रमेय होता है वह अभिधेय भी होता है, जैसे घट। यह शब्द भी वैसा ही प्रमेय है, अतः यह शब्द अभिधेय है। इस अनुमानवाक्य में शब्द की अभिधेयता साध्य है और प्रमेयत्व हेतु है। और वह हेतु केवलान्वयी ही है, क्योंकि जो अभिधेय नहीं होता है वह प्रमेय भी नहीं होता है, जैसा कि अमुक, यह व्यतिरेक-दृष्टान्त यहाँ नहीं मिलता। सभी जगह प्रामाणिक (प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात) अर्थ ही दृष्टान्त हुआ करता है और वह प्रामाणिक अर्थ प्रमेय भी होता है और अभिधेय भी होता है (इस तरह व्यतिरेकव्याप्ति में दृष्टान्त के न मिलने से प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी है)।

विवेचन

जिस हेतु में केवल अन्वयव्याप्ति ही हो, व्यतिरेकव्याप्ति न हो वह हेतु केवलान्वयी होता है। व्यतिरेकव्याप्ति नहीं होने का कारण है दृष्टान्त का अभाव। वस्तुतः केवलान्वयी हेतु वह होता है, जहाँ पर साध्याभाव की अप्रसिद्धि हो, या हेतु के अभाव की अप्रसिद्धि हो, या दोनों के अभाव की अप्रसिद्धि हो। जैसे—शब्दः अभिधेयः (साध्य) प्रमेयत्वात् (हेतु)। यत् प्रमेयत् तत् अभिधेयम् यथा घटः (दृष्टान्त = उदाहरण) तथा चायम् (उपनय) तस्मात्तथा (निगमन)।

तर्कभाषा

एतोषाञ्च अन्वयव्यतिरेकिकेवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिहेतूनां त्रयाणां मध्ये तो हेतुरन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते, न त्वेकेनापि रूपेण हीनः। तानि पञ्चरूपाणि पक्षसत्त्वं, सपक्षसत्त्वं विपक्षव्यावृत्तिः अवाधितविषयत्वम् असत्प्रतिपक्षत्वं चेति। एतानि तु पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वादौ अन्वयव्यतिरेकिणि हेतौ विद्यन्ते। तथा कि—धूमवत्त्वं पक्षस्य पर्वतस्य धर्मः। पर्वते तस्य विद्यमानत्वात्। एवं सपक्षे सत्त्वम्, सपक्षे महानसे सद् विद्यते इत्यर्थः। एवं विपक्षान्महाह्रदात् व्यावृत्तिस्तत्र नास्तीत्यर्थः।

सन्दर्भ—परार्थानुमान के प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने पूर्व में कहा था कि प्रतिज्ञादि से युक्त पञ्चरूप से उपपन्न लिङ्ग = हेतु से, अन्य व्यक्ति भी अग्नि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। हेतु किन पाँच रूपों से युक्त हों, इसका निरूपण यहाँ किया जा रहा है।

अर्थ—**एतेषाञ्च** = और इन, **अन्वयव्यतिरेकिकेवलान्वयिकेवलव्यतिरेकि-हेतूनां त्रयाणाम्** = अन्वयव्यतिरेकी केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इन तीनों हेतुओं के, **मध्ये** = मध्य में, **यो हेतुः** = जो हेतु, **अन्वयव्यतिरेकी** = अन्वयव्यतिरेकी होता है, **सः** = वह, **पञ्चरूपोपपन्नः एव** = पाँच रूपों से अन्वित ही, **स्वसाध्यम्** = अपने साध्य को, **साधयितुं** = सिद्ध करने में, **क्षमते** = समर्थ होता है, **न तु एकेनापि रूपेण हीनः** = न कि एक रूप से भी हीन हेतु, **तानि** = वे, **पञ्चरूपाणि** = पाँच रूप हैं, (1) **पक्षसत्त्वम्** = हेतु का पक्ष में रहना, (2) **सपक्षसत्त्वम्** = हेतु का सपक्ष (महानसादि) में रहना, (3) **विपक्षव्यावृत्तिः** = विपक्ष (महाह्रदादि) में नहीं रहना, (4) **अबाधितविषयत्वम्** = विषयत्व = साध्य का बाधित न होना, (5) **असत् प्रतिपक्षत्वञ्चेति** = और प्रतिपक्षी हेतु का न होना, **एतानि तु** = ये तो, **पञ्चरूपाणि** = पाँचों रूप, **धूमवत्त्वादौ** = धूमवत्त्व आदि, **अन्वयव्यतिरेकिणि** = अन्वयव्यतिरेकी, **हेतौ** = हेतु में, **विद्यन्ते** = हैं, **तथाहि** = जैसे कि, **धूमवत्त्वं** = धूमवत्त्व, **पक्षस्य पर्वतस्य** = पक्ष बने पर्वत का, **धर्मः** = धर्म है, क्योंकि, **पर्वते** = पर्वत में, **तस्य** = उसकी, **विद्यमानत्वात्** = विद्यमानता है, **एवम्** = इसी प्रकार, **सपक्षे** = सपक्ष में, **सत्त्वम्** = सत्ता है, **सपक्षे महानसे** = सपक्ष महानस में, **सद्** = विद्यमान, **विद्यते इत्यर्थः** = है, यह अर्थ हुआ, **एवम्** = इसी प्रकार, **विपक्षात् महाह्रदात्** = विपक्ष महाह्रद से, **व्यावृत्तिः** = व्यावृत्ति है, **तत्र** = विपक्ष में (हेतु), **नास्तीत्यर्थः** = नहीं है, यह अर्थ है।

तर्क-भाषा

एवमबाधितविषयं च धूमवत्त्वम्। तथाहि—धूमवत्त्वस्य हेतोर्विषयः साध्यधर्मस्तच्चाग्निमत्त्वम्, तत् केनापि प्रमाणेन न बाधितं न खण्डितमित्यर्थः।

एवमसत्प्रतिपक्षत्वम् असन् प्रतिपक्षो यस्येत्यसत्प्रतिपक्षं धूमवत्त्वं हेतुः। तथा हि—साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। स च धूमवत्त्वे हेतौ नास्त्येवानुपलम्भात्।

तदेवं पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वे हेतौ विद्यन्ते। तेनैतद् धूमवत्त्वमग्निमत्त्वस्य गमकम्। अग्निमत्त्वस्य साधकम्।

NOTES

एवम् = इसी तरह, **अबाधितविषयं च** = अबाधितविषय (साध्य) वाला, **धूमवत्त्वम्** = धूमवत्त्व हेतु है, **तथा हि** = जैसे कि, **धूमवत्त्वस्य हेतोः** = धूमवत्त्व हेतु का, **विषयः** = विषय, **साध्यधर्मः** = साध्य का धर्म होता है, **तच्च** = और वह, **अग्निमत्त्वम्** = अग्निमत्त्व है, **तत्** = वह, **केनापि प्रमाणेन** = किसी भी प्रमाण से, **न बाधितम्** = बाधित नहीं है, **न खण्डितम् इत्यर्थः** = खण्डित नहीं होता है, यह अर्थ है, **एवम्** = इसी तरह, **असत्प्रतिपक्षत्वम्** = प्रतिपक्षी का न होना है, **असन्** = अविद्यमान, **प्रतिपक्षः** = विरोधी हेतु है, **यस्य** = जिस हेतु का वह, **असत्प्रतिपक्षत्वं धूमवत्वम्** = असत्प्रतिपक्ष वाला धूमवत्त्व, **हेतुः** = हेतु है, **तथा हि** = जैसा कि, **साध्यविपरीतसाधकम्** = साध्य के विपरीत को सिद्ध करने वाला, **हेत्वन्तरम्** = दूसरा हेतु, **प्रतिपक्षः इत्युच्यते** = प्रतिपक्ष कहलाता है, **स च** = और वह, **धूमवत्त्वे हेतौ** = धूमवत्त्व हेतु में, **नास्ति एव** = नहीं ही है, **अनुपलम्भात्** = उपलब्ध न होने से, **तदेवम्** = तो इस प्रकार, **पञ्चरूपाणि** = पाँच रूप, **धूमवत्त्वे हेतौ** = धूमवत्त्व हेतु में, **विद्यन्ते** = विद्यमान हैं, **तेन एतद्** = उससे यह, **धूमवत्त्वम्** = धूमवत्त्व हेतु, **अग्निमत्त्वस्य** = अग्निमता का, **गमकम्** = बोधक है, **अग्निमत्त्वस्य साधकम्** = पर्वत में अग्नि का साधक हेतु है।

सङ्कलितार्थ—अन्वयतिरेकी केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इन तीन हेतुओं में जो हेतु अन्वयव्यतिरेकी है, वह पाँच रूपों से युक्त होकर ही अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ है। एक रूप से भी हीन होने पर साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। वे पाँच रूप हैं—(1) पक्षसत्त्व, (2) सपक्षसत्त्व, (3) विपक्षव्यावृत्ति, (4) अबाधितविषयत्व (साध्य का बाधित न होना), (5) और असत्प्रतिपक्षत्व (विरोधी) हेतु का न होना। ये पाँचों रूप धूमवत्त्व आदि अन्वयव्यतिरेकी हेतु में विद्यमान हैं। जैसे कि धूमवत्त्व पक्ष-पर्वत का धर्म है क्योंकि पर्वत में (धूम) विद्यमान है। इसी प्रकार सपक्ष में भी धूम की सत्ता है, क्योंकि सपक्ष महानस में वह विद्यमान है यह अर्थ है। इसी तरह विपक्ष महाह्रद (जलाशय) से धूम की व्यावृत्ति है, क्योंकि वह धूमवत्त्व जलाशय में नहीं है।

इसी प्रकार धूमवत्त्व हेतु अबाधित विषय वाला भी है। जैसे कि धूमवत्त्व हेतु का विषय है साध्यधर्म, वह अग्निमत्त्व है, वह अग्निमत्त्व किसी भी प्रमाण से (पर्वत में) बाधित नहीं है, अर्थात् खण्डित नहीं है।

इसी प्रकार धूमवत्त्व हेतु में असत्प्रतिपक्षत्व भी है। नहीं है प्रतिपक्ष जिसका वह असत्प्रतिपक्ष धूमवत्त्व हेतु है। जैसे कि साध्य के विपरीत अर्थ का साधक अन्य हेतु प्रतिपक्ष कहलाता है। वह धूमवत्त्व हेतु में नहीं ही है, क्योंकि उपलब्ध नहीं होता है। (यदि होता तो अवश्य उपलब्ध होता)।

तो इस प्रकार पक्षसत्त्वादि पाँचों रूप धूमवत्त्व हेतु में विद्यमान हैं। अतः यह धूमवत्त्व हेतु अग्निमत्ता का बोधक है अर्थात् अग्नि का साधक हेतु है।

विवेचन

अनुमानवाक्य में प्रयुक्त अन्वयव्यतिरेकी नामक हेतु पाँच रूपों से युक्त होने पर ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। यदि एक रूप भी कम रह जाये तो वह हेतु साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। वह असद्-हेतु बन जाता है।

तर्क-भाषा

अग्नेः पक्षधर्मत्वं हेतोः पक्षधर्मताबलात् सिद्ध्यति। तथाहि—अनुमानस्य द्वे अङ्गे, व्याप्तिः, पक्षधर्मता च। तत्र व्याप्त्या साध्यसामान्यस्य सिद्धिः। पक्षधर्मताबलात्तु साध्यस्य पक्षसम्बन्धित्वं विशेषः सिद्ध्यति। पर्वतधर्मेण धूमवत्त्वेन वह्निरपि पर्वतसम्बद्ध एवानुमीयते। अन्यथा साध्यसामान्यस्य व्याप्तिग्रहादेव सिद्धेः कृतमनुमानेन। यस्त्वन्योऽप्यन्वयव्यतिरेकी हेतुः स सर्वः पञ्चरूपोपपन्न एव सद्धेतुः। अन्यथा हेत्वाभासः अहेतुरिति यावत्।

सन्दर्भ—धूमवत्त्व हेतु को अग्निमत्व की सिद्धि करने वाला मानने पर सिद्ध-साधन नामक दोष होता है, तथा पर्वतनिष्ठ अग्नि के साथ हेतु का साहचर्य नहीं दिखने से अग्नि की असिद्धि होती है, इस प्रश्न को अन्तर्मन में रखते हुए ग्रन्थकार समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं।

अर्थ—**अग्नेः** = अग्नि का, **पक्षधर्मत्वम्** = पक्ष में रहना, **हेतोः** = धूम (आदि) हेतु का, **पक्षधर्मताबलात्** = पर्वतादि (पक्ष) में रहने की सामर्थ्य से, **सिद्ध्यति** = सिद्ध होता है, **तथा हि** = जैसे कि, **अनुमानस्य** = अनुमान के, **द्वे अङ्गे** = दो अंग हैं, **(1) व्याप्तिः** = व्याप्ति और (2) पक्षधर्मता, **तत्र** = उनमें, **व्याप्त्या** = व्याप्ति से, **साध्यसामान्यस्य** = साध्य सामान्य (अग्नि सामान्य) की, **सिद्धिः** = सिद्धि होती है, **पक्षधर्मताबलात् तु** = और पक्षधर्मता के बल से (पक्ष पर्वतादि में हेतु धूमादि के रहने से), **साध्यस्य** = साध्य अग्नि का, **पक्षसम्बन्धित्वम्** = पक्ष-पर्वतादि में विद्यमान होना, **विशेषः** = विशेष रूप से, **सिद्ध्यति** = सिद्ध होता है, **पर्वतधर्मेण** = पर्वत का धर्म (पर्वत में विद्यमान), **धूमवत्त्वेन** = धूमवत्त्व हेतु द्वारा, **वह्निः** = अग्नि भी, **पर्वतसम्बद्धः एव** = पर्वत से सम्बद्ध ही (पर्वत में विद्यमान ही), **अनुमीयते** = अनुमित होता है (अनुमान किया जाता है), **अन्यथा** = पक्षधर्मता के अभाव में (यदि पक्षधर्मता के बल से अग्निविशेष की सिद्धि न मानी जाये तब), **साध्यसामान्यस्य** = साध्य = अग्नि सामान्य की, **व्याप्तिग्रहादेव** = (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः = जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है इस) व्याप्ति के ग्रहण से ही, **सिद्धेः** = सिद्धि होने से, **कृतम् अनुमानेन** = फिर अनुमान करना व्यर्थ है।

यः तु अन्योऽपि = जो दूसरा भी, **अन्वयव्यतिरेकी** = अन्वयव्यतिरेकी, **हेतुः** = हेतु है, **सः सर्वः** = वह सभी, **पञ्चरूपोपपन्नः एव** = पाँच रूपों से युक्त ही, **सद्धेतुः** = सद्-हेतु होता है, **अन्यथा** = नहीं तो (पाँच रूपों में से किसी एक रूप से हीन होने पर), **हेत्वाभासः** = वह हेत्वाभास हो जाता है, **अहेतुः इति यावत्** = अर्थात् अहेतु हो जाता है।

सङ्कलितार्थ—अग्नि का पर्वतादि-पक्ष में रहना हेतु का पर्वतादि-पक्ष में विद्यमान होने की सामर्थ्य से सिद्ध होता है। जैसे कि अनुमान के दो अङ्ग हैं—(1) व्याप्ति (साहचर्य नियम), (2) पक्षधर्मता (पक्ष में विद्यमान होना) जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ वह्नि है। इस व्याप्ति के द्वारा वह्नि सामान्य की सिद्धि होती है और पर्वत आदि पक्ष में हेतु के रहने की सामर्थ्य से (पक्षधर्मता के बल से) अग्नि का पक्ष सम्बन्धी होना अर्थात् पर्वतादिनिष्ठ होना रूप विशेष अर्थ की सिद्धि होती है। पर्वत का धर्म धूमवत्त्व द्वारा (पर्वत में विद्यमान धूम रूप हेतु द्वारा) पर्वत से सम्बद्ध वह्नि ही अनुमान का विषय बनता है। यदि पक्षधर्मता के बल से अग्नि-विशेष की सिद्धि न हुआ करे (= अन्यथा) तब अग्नि-सामान्य की सिद्धि व्याप्ति के ग्रहण से ही हो जायेगी, अनुमान करना व्यर्थ होगा।

विवेचन

उपर्युक्त उद्धरण को मन में उठी एक शङ्का के समाधान के लिए ग्रन्थकार ने लिखा है। शङ्का यह है कि—धूमवत्त्व हेतु द्वारा अग्नि सामान्य की सिद्धि होती है या पर्वतनिष्ठ अग्नि विशेष की सिद्धि होती है ?

यदि धूमवत्त्व हेतु अग्नि-सामान्य की ही सिद्धि करता हो तब यत्र यत्र धूमस्तत्राग्निः इस व्याप्तिग्रह से ही सामान्य अग्नि की सिद्धि हो जाती है, उसके लिए अनुमान करना व्यर्थ है। अथवा अनुमान करने पर सिद्ध अर्थ को ही अनुमान सिद्ध करेगा तो अनुमान में सिद्धसाधन दोष आ जायेगा। या पिष्टपेषण ही होगा।

यदि कहा जाये कि अनुमान से अग्नि-विशेष की सिद्धि की जाती है तो यह कथन भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि पर्वत में रहने वाले अग्नि-विशेष के साथ धूम का कहीं भी साहचर्य दृष्टिगोचर नहीं होता है (पर्वतवृत्ति अग्निनिरूपित व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है)। अतः पर्वतवृत्ति अग्नि का अनुमान कैसे होगा ?

समाधान—ग्रन्थकार ने उपर्युक्त दोनों शङ्काओं के समाधान के लिए ही अनुमान के दो अङ्ग माने हैं—(1) व्याप्ति और (2) पक्षधर्मता। इन दोनों के अग्निसामान्य एवं पर्वतनिष्ठ अग्निविशेष की सिद्धि की जायेगी।

व्याप्ति है—यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः, इससे धूमसामान्य के रहने पर अग्निसामान्य की सिद्धि होगी।

पक्षधर्मता—साधन का पक्ष पर्वतादि में रहना है। पर्वतरूपी पक्ष में रहने वाले धूम से साध्य वह्नि भी पर्वत में रहने वाली ही अनुमान द्वारा सिद्ध हो जायेगी। पर्वत में धूम का रहना ही धूम की पक्षधर्मता हुई। इसके बल से ही वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः का अनुमान हो जायेगा। सार यह है—पक्षधर्मता रूपी अङ्ग द्वारा अग्नि विशेष की अर्थात् पर्वत में विद्यमान अग्नि की सिद्धि हो जायेगी। हमें यह भी स्मरण करना होगा कि लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् पर परामर्श का अन्य लक्षण विवेचन में उद्धृत किया गया है—व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। अतः यहाँ पर अनुमान के दो अङ्ग बताए गए हैं।

संस्कृतम्

प्रश्नो भवति यते धूमवत्त्वहेतुना अग्निसामान्यस्य सिद्धिर्भवति, पर्वतादिनिष्ठस्य अग्निविशेषस्य वा ? यदि अग्निसामान्यस्य सिद्धिः अङ्गीक्रियते तदा यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः इति व्याप्त्या एव तस्य सिद्धिर्भवति, अनुमानं पुनः सिद्धसाधनदोषयुक्तं भवेत्, व्यर्थञ्च भवेत्। यदि धूमवत्त्वहेतुनाऽग्निविशेषस्य सिद्धिः अङ्गीक्रियेत तदा पर्वतादिनिष्ठाग्निना धूमस्य साहचर्याभावदर्शनात् व्याप्तिग्रहणं न भवेत् पर्वतनिष्ठाग्निविशेषश्च न सिद्ध्येत। अतः उच्यते **समाधानम्**—*अनुमानस्य द्वे अङ्गे स्तः, व्याप्तिः, पक्षधर्मता च। व्याप्त्या साध्यसामान्यस्य अग्नेः सिद्धिः भवति। पक्षधर्मताबलात् पर्वतादिनिष्ठस्य अग्निविशेषस्य सिद्धिर्भवेत्। पक्षे विद्यमानो यो हेतुः धूमवत्वं, तस्य बलात् वह्निरपि पक्षे पर्वते विद्यमानः एव अनुमानेन सिद्ध्यति। यद्येवं न स्वीक्रियेत तदा अग्निसामान्यस्य व्याप्तिग्रहणादेव सिद्धिर्भवति, अनुमानं व्यर्थं स्यात्। अतः पक्षधर्मताबलात् अग्निविशेषस्य सिद्धिर्भविष्यति, न भवति कश्चन दोषः।*

तर्क-भाषा

केवलान्वयी चतूरूपोपनन्न एव स्वसाध्यं साधयति। तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति, विपक्षाभावात्।

केवलव्यतिरेकी च चतूरूपोपपन्न एव। तस्य हि सपक्षे सत्त्वं नास्ति। सपक्षाभावात्।

अर्थदीपिका

सन्दर्भ—केवलान्वयी एवं केवलव्यतिरेकी हेतु चार रूपों से युक्त होकर ही साध्य को सिद्ध करते हैं, इसको ग्रन्थकार बता रहे हैं।

अर्थ—केवलान्वयी च = और केवलान्वयी हेतु, **चतूरूपोपपन्नः एव** = चार रूपों से युक्त होकर ही, **स्वसाध्यं** = अपने साध्य की, **साधयति** = सिद्धि करती है, **तस्य हि** = क्योंकि केवलान्वयी का, **विपक्षात्** = विपक्ष (महाह्रदादि से), **व्यावृत्तिः** = विपक्ष में अभाव, यह रूप, **नास्ति** = नहीं होता है, **विपक्षाभावात्** = क्योंकि यहाँ विपक्ष होता ही नहीं (विपक्ष का अभाव रहता है)।

केवलव्यतिरेकी च = और केवलव्यतिरेकी हेतु, **चतूरूपोपपन्न एव** = चार रूपों से युक्त ही अपने साध्य की सिद्धि करता है। **तस्य हि** = क्योंकि केवलव्यतिरेकी की, **सपक्षे** = सपक्ष (महानसादि) में, **सत्त्वं** = सत्ता, **नास्ति** = नहीं होती है, **सपक्षाभावात्** = यहाँ सपक्ष का अभाव रहता है।

सङ्कलितार्थ—केवलान्वयी हेतु चार रूपों से युक्त होते हुए भी अपने साध्य की सिद्धि करता है। इसमें विपक्षव्यावृत्ति यह रूप नहीं होता है, क्योंकि यहाँ विपक्ष होता ही नहीं है और केवलव्यतिरेकी हेतु भी चार रूपों से युक्त होकर ही अपने साध्य की सिद्धि करता है, क्योंकि इसमें सपक्षसत्त्व यह रूप नहीं होता है। इसमें सपक्ष का ही अभाव रहता है।

NOTES

विवेचन

केवलान्वयी के चार रूप हैं—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। यहाँ विपक्षव्यावृत्तिरूप विपक्ष के अभाव से नहीं होता है। जैसे—घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् = घट अभिधेय है, प्रमेय होने से। यहाँ घट पक्ष है, अभिधेय साध्य है, प्रमेयत्व हेतु है। यहाँ पर सभी अभिधेय हैं, अतः प्रमेय हैं, यहाँ पक्षसत्त्व और सपक्षसत्त्व दो रूप बनते हैं। विपक्ष कोई नहीं है, अतः विपक्षव्यावृत्ति-रूप नहीं है। साध्य का बाध किसी अन्य-प्रमाण से नहीं होता, अतः अबाधितविषयत्व हेतु है। साध्यभाव का साधक कोई अन्य हेतु नहीं है, अतः असत्प्रतिपक्षत्व हेतु है। इस प्रकार प्रमेयत्व हेतु चार रूपों से ही युक्त है।

तर्क-भाषा

के पुनः पक्ष-संपक्ष-विपक्षाः ? उच्यन्ते सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः। यथा धूमानुमाने पर्वतः पक्षः। सपक्षस्तु निश्चितसाध्यधर्मा धर्मी। यथा महानसो धूमानुमाने। विपक्षस्तु निश्चितसाध्याभाववान् धर्मी। यथा—तत्रैव महाह्रदः इति।

तदेवमन्वयव्यतिरेकिकेवलान्वपयिकेवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः।

सन्दर्भ—हेतु के पाँच रूपों में पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष की बात आई है। वे तीनों क्या हैं, इसके विषय में ग्रन्थकार बताते हैं।

अर्थ—के पुनः = फिर कौन, **पक्षविपक्षसपक्षाः** = पक्ष, विपक्ष एवं सपक्ष हैं ?, **उच्यन्ते** = बताये जा रहे हैं, **सन्दिग्धसाध्यधर्मा** = सन्दिग्ध है साध्य का धर्म जिसमें वह, **धर्मी** = धर्म वाला, **पक्षः** = पक्ष कहलाता है, **यथा** = जैसे, **धूमानुमाने** = धूम से अग्नि के अनुमान में या धूमरूप अनुमान में, **पर्वतः पक्ष** = पर्वत पक्ष है, **सपक्षस्तु** = सपक्ष तो, **निश्चितसाध्यधर्मा** = निश्चित साध्यरूपी धर्म वाला, **धर्मी** = धर्मी होता है, **यथा** = जैसे, **महानसः** = पाकशाला, **धूमानुमाने** = धूम से अग्नि से अनुमान में (होता है), **विपक्षस्तु** = विपक्ष को, **निश्चितसाध्याभाववान् धर्मी** = निश्चित साध्य का अभाव वाला धर्मी होता है, **यथा** = जैसे, **तत्रैव** = धूम से अग्नि के अनुमान में, **महाह्रदः** = महाह्रद है, **तदेवम्** = तो इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकी केवलान्वयी एवं केवलव्यतिरेकी हेतु दिखाये गये।

विवेचन

सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः—साध्यस्य धर्मः साध्यधर्मः सन्दिग्धः साध्यधर्मः, यस्मिन् सः = जिस वस्तु में साध्य का धर्म सन्दिग्ध हो वह **सन्दिग्धसाध्यधर्मा** होता है। सन्दिग्धसाध्यधर्म+अनिच् = सन्दिग्धसाध्यधर्मन्, प्रथमा एकवचन का रूप। धर्मी = धर्मः अस्ति अस्मिन् = जिसमें धर्म रहता है, धर्म+इनि = धर्मिन्, प्रथमैकवचन में धर्मी है। पर्वत में अग्नि साध्य है, साध्य का धर्म अग्नि, पर्वत में सन्दिग्ध है। धर्म है धूमादि, वह भी पर्वत में है, अतः पर्वतधर्मी भी है।

तर्क-भाषा

अतोऽन्ये हेत्वाभासाः। ते च असिद्धविरुद्धानैकान्तिकप्रकरणसम-काला-त्ययापदिष्टभेदात् पञ्चैव।

सन्दर्भ—पञ्चरूपों में एक रूप से भी हीन हेतु असद्-हेतु हैं। असद्-हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। यहाँ पर हेत्वाभासों का निरूपण ग्रन्थकार कर रहे हैं।

अर्थ—अतः अन्ये = अन्वयव्यतिरेकी केवलान्वयी एवं केवलव्यतिरेकी से भिन्न (असद्-हेतु), **हेत्वाभासाः** = हेत्वाभास कहलाते हैं, **ते च** = और वे—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम, **कालात्ययापदिष्टभेदात्** = और कालात्ययापदिष्ट के भेद से, **पञ्च एव** = पाँच ही हैं।

NOTES

विवेचन

अन्वयव्यतिरेकी हेतु पञ्चरूप युक्त, केवलान्वयी हेतु चार रूपों से युक्त तथा केवलव्यतिरेकी हेतु चार रूपों से युक्त होने पर सद्-हेतु माने जाते हैं। उससे भिन्न हेतु असद्-हेतु हैं। असद्-हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। ये हेतु के दोष माने जाते हैं।

तर्क-भाषा

(1) तत्र लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुरसिद्धः। तत्रासिद्धस्त्रिविधः। आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

आश्रयासिद्धो यथा—गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव।

स्वरूपासिद्धो यथा—अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात्, घटवत्। अत्र चाक्षुषत्वं हेतुः, स च शब्दे नास्त्येव, तस्य श्रावणत्वात्।

सन्दर्भ—पाँच प्रकार के हेत्वाभासों में प्रथम हेत्वाभास असिद्ध का भेद सहित निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं।

अर्थ—तत्र = उनमें, **लिङ्गत्वेन** = लिङ्ग अथवा ज्ञापक के रूप से, **अनिश्चितः** = निश्चित न होने वाला, **हेतुः** = हेतु, **असिद्धः** = असिद्ध नामक हेत्वाभास है, **तत्र** = वह, **असिद्धः** = असिद्ध, **त्रिविधः** = तीन प्रकार का है, (1) आश्रयासिद्ध, (2) स्वरूपासिद्ध, (3) **व्याप्यत्वासिद्धः च इति** = और व्याप्यत्वासिद्ध।

आश्रयासिद्धो यथा = जैसा आश्रयासिद्ध का उदाहरण, **गगनारविन्दं** = आकाश-कमल, **सुरभि** = सुगन्धित होता है (प्रतिज्ञा), **अरविन्दत्वात्** = कमल होने से (हेतु), **सरोजारविन्दवत्** = सरोवर में उत्पन्न कमल के समान (उदाहरण), **अत्र** = इस वाक्य में, **गगनारविन्दम्** = आकाश-कमल, **आश्रयः** = पक्ष है (हेतु का आश्रय पक्ष होता है), **स च** = और वह, **नास्ति एव** = है ही नहीं।

स्वरूपासिद्धो यथा = स्वरूपासिद्ध का उदाहरण, **अनित्यः शब्द** = शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), **चाक्षुषत्वात्** = नेत्र से ग्राह्य होने के कारण (हेतु), **घटवत्** = घड़े के समान (उदाहरण), **अत्र** = इस अनुमानवाक्य में, **चाक्षुषत्वम्** = चाक्षुषत्व (चक्षु से ग्राह्य होने से), **हेतुः** = हेतु है, **स च** = और वह, **शब्दे** = शब्द में (पक्ष या आश्रय में), **नास्ति एव** = नहीं ही है, क्योंकि, **तस्य** = उस शब्द का, **श्रावणत्वात्** = श्रवण से ग्राह्यत्व (श्रावणत्व) हेतु होता है।

सङ्कलितार्थ—अनुमानवाक्य में ज्ञापक या बोधक के रूप में निश्चित न रहने वाला हेतु असिद्ध कहलाता है। वह असिद्ध तीन प्रकार का होता है—(1) आश्रयासिद्ध, (2) स्वरूपासिद्ध, (3) व्याप्यत्वासिद्ध।

आश्रयासिद्ध का उदाहरण—आकाश कमल सुगन्धित होता है, कमल होने से, सरोवर के कमल के समान। यहाँ पर सुगन्धि का आश्रय = पक्ष गगनारविन्द है, जो होता ही नहीं। अर्थात् कमल का आश्रय आकाश को बताया है। आकाश में कमल के न होने से आश्रय ही निश्चित नहीं है। अतः यह हेतु असिद्ध है। असिद्ध में भी आश्रयासिद्ध नामक हेत्वाभास है।

स्वरूपासिद्ध का उदाहरण—शब्द अनित्य है चाक्षुष होने, घट के समान। यहाँ पर चाक्षुषत्व हेतु है, वह शब्द नामक पक्ष में होता ही नहीं है। शब्द में तो श्रावणत्व अर्थात् श्रोत्रग्राह्यता होती है। अतः यहाँ पर हेतु का स्वरूप ही असिद्ध है।

NOTES

विवेचन

जिस हेतु को अनुमापक के रूप में निश्चित नहीं किया जा सकता है, वह हेतु असिद्ध होता है। इसके तीन भेद हैं—(1) आश्रयासिद्ध, (2) स्वरूपासिद्ध, (3) व्याप्यत्वासिद्ध।

तर्क-भाषा

व्याप्यत्वासिद्धस्तु द्विविधः। एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्। अपरस्तूपाधिसद्भावात्। तत्र प्रथमो यथा—शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्। यत् सत् तत् क्षणिकं, यथा जलधरपटलं, तथा च शब्दादिरिति। न च सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिग्राहकं प्रमाणमस्ति। सोपाधिकतया सत्त्वस्य व्याप्यत्वासिद्धौ उच्यमानायां क्षणिकत्वमन्यप्रयुक्तमित्यभ्युपगतं स्यात्।

सन्दर्भ—असिद्ध नामक हेत्वाभास के तृतीय भेद व्याप्यत्वासिद्ध का विवेचन यहाँ पर किया जाता है।

अर्थ—**व्याप्यत्वासिद्धः तु** = व्याप्यत्वासिद्ध, तो **द्विविधः** = दो प्रकार का है, **एकः** = एक, **व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्** = व्याप्तिग्राहक प्रमाण के न होने से, **अपरः तु** = और दूसरा, **उपाधिसद्भावात्** = उपाधि के रहने से, **तत्र** = इन दोनों में, **प्रथमः** = पहला, **यथा** = जैसे कि है, **शब्दः क्षणिकः** = शब्द क्षणिक होता है, **सत्त्वात्** = विद्यमान होने से, **यत् सत्** = जो सत् होता है, **तत् क्षणिकम्** = वह क्षणिक होता है, **यथा जलधरपटलम्** = जैसे बादल समूह, **तथा च** = और उसी तरह, **शब्दादिरिति** = शब्द आदि भी है, किन्तु, **सत्त्वक्षणिकत्वयोः** = सत्त्व और क्षणिकत्व का, **व्याप्तिग्राहकं** = व्याप्ति का ज्ञान कराने वाला, **प्रमाणम्** = प्रमाण, **न च अस्ति** = नहीं ही है, **सोपाधिकतया** = यदि उपाधियुक्त होने से, **सत्त्वस्य** = सत्त्व हेतु को, **व्याप्यत्वासिद्धौ** = व्याप्यत्वासिद्ध, **उच्यमानायाम्** = कहे जाने पर, **क्षणिकत्वम्** = क्षणिकता, **अन्यप्रयुक्तम्** = अन्य कारणों से (शब्द में) है, **इति अभ्युपगतं स्यात्** = यह स्वीकार करना होगा (जो इष्ट नहीं है)।

सङ्कलितार्थ—व्याप्यत्वासिद्ध दो प्रकार का होता है—(1) व्याप्तिग्राहक प्रमाण का अभाव होने से, (2) और दूसरा उपाधि के रहने से। प्रथम का उदाहरण—शब्द क्षणिक है (प्रतिज्ञा) सत् होने से (हेतु), जो सत् होता है वह क्षणिक होता है, जैसे कि मेघसमूह (उदाहरण) उसी प्रकार शब्दादि भी हैं (उपनय)। किन्तु सत्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति का निश्चय करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। यदि यहाँ पर उपाधियुक्त होने से सत्व-हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहें तब तो दूसरे निमित्त से (शब्द में) क्षणिकत्व किया गया है, यह स्वीकार करना होगा (जो कि नैयायिकों को मान्य नहीं है)।

विवेचन

जहाँ हेतु व्याप्य नहीं होता है, अर्थात् उसमें व्याप्य-धर्म नहीं रहता है, वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध नामक असिद्ध हेत्वाभास का तृतीय भेद माना जाता है। इसमें दो कारण होते हैं—(1) व्याप्तिग्राहक प्रमाण का अभाव रहता है, (2) या उपाधि हो। व्याप्तिग्राहक प्रमाण का उदाहरण मूल में बताया गया है। क्षणिकत्व साध्य है तथा सत्त्व-हेतु है। इन दोनों की व्याप्ति नहीं बनती है। अर्थात् 'जो सत् है वह क्षणिक है' इस प्रकार की व्याप्ति का निश्चायक कोई प्रमाण नहीं है।

तर्क-भाषा

द्वितीयो यथा—क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं, हिंसात्वात्, क्रतुबाह्यहिंसावत्। अत्र ह्यधर्मसाधनत्वे हिंसात्वं न प्रयोजकं, किन्तु निषिद्धत्वमेव प्रयोजकम्, उपाधिरिति यावत्। तथा हि—'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः इत्युपाधिलक्षणम्। तच्चास्ति निषिद्धत्वे। निषिद्धत्वं हि साध्यस्याधर्मसाधनत्वस्य व्यापकम्। यतो यत्र यत्राधर्मसाधनत्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वमपीति। एवं साधनं हिंसात्वं न व्याप्नोति निषिद्धत्वम्। न हि यत्र यत्र हिंसात्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वं, यज्ञीयपशुहिंसाया निषिद्धत्वाभावात्। तदेवं निषिद्धत्वस्योपाधेः सद्भावादन्यप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवि हिंसात्वं व्याप्यत्वासिद्धमेव।

सन्दर्भ—उपाधि के रहने पर भी हेतु व्याप्यत्वासिद्ध-नामक हेत्वाभास हो जाता है, अहेतु या दुष्ट हेतु हो जाता है, इसको ग्रन्थकार उदाहरण द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं।

NOTES

अर्थ—**द्वितीयो यथा** = द्वितीय व्याप्यत्वासिद्ध यह है, **क्रत्वन्तर्वर्तिनी** = यज्ञ के मध्य में होने वाली, **हिंसा** = हिंसा, **अधर्मसाधनम्** = अधर्म का साधन है, **हिंसात्वात्** = हिंसा होने से, **क्रतुबाह्यहिंसावत्** = यज्ञ के बाहर की हिंसा के समान, **अत्र हि** = यहाँ, **अधर्मसाधनत्वे** = अधर्म साधनत्व में, **हिंसात्वं** = हिंसात्व, **न प्रयोजकम्** = निमित्त या कारण नहीं है, किन्तु, **निषिद्धत्वम् एव** = (शास्त्र द्वारा) निषिद्धत्व ही, **प्रयोजकम्** = कारण है, **उपाधिरिति यावत्** = अर्थात् उपाधि है, **तथा हि** = जैसे कि, **साध्यव्यापकत्वे सति** = साध्य का व्यापक होने पर भी जो, **साधनाव्यापकः** = साधन का अव्यापक (धर्म) है वह, **उपाधिः** = उपाधि है, **इत्युपाधिलक्षणम्** = यह उपाधि का लक्षण है, **तच्च** = और वह, **निषिद्धत्वे अस्ति** = निषिद्धत्व में है, **निषिद्धत्वं हि** = निषिद्धत्व तो, **साध्यस्य अधर्मसाधनत्वस्य** = साध्य अधर्मसाधनत्व का, **व्यापकम्** = व्यापक (धर्म) है, **यतो** = क्योंकि, **यत्र यत्र अधर्मसाधनत्वं** = जहाँ-जहाँ अधर्मसाधनत्व है, **तत्र तत्र अवश्यम्** = वहाँ-वहाँ निश्चित ही, **निषिद्धत्वम् अपीति** = निषिद्धत्व भी है ही, **एवम्** = इस प्रकार, **निषिद्धत्वम्** = निषिद्धत्व (उपाधि), **साधनं हिंसात्वम्** = हेतुभूत हिंसात्व को, **न व्याप्नोति** = व्याप्त नहीं करता (व्यापक धर्म नहीं बनता) क्योंकि, **यत्र यत्र हिंसात्वम्** = जहाँ-जहाँ हिंसात्व है, **तत्र तत्र** = वहाँ-वहाँ, **अवश्यं** = अवश्य ही, **निषिद्धत्वम्** = निषिद्धत्व, **न हि** = नहीं है, **यज्ञीयपशुहिंसायाः** = यज्ञ न होने वाली पशु हिंसा में, **निषिद्धत्वाभावात्** = निषिद्धत्व का अभाव है (यज्ञीय हिंसा को निषिद्ध नहीं माना जाता है), **तदेवम्** = तो इस तरह, **निषिद्धत्वस्य उपाधेः** = निषिद्धत्व उपाधि के, **सद्भावात्** = रहने के कारण, **अन्यप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवि** = अन्य (निषिद्धत्व) से होने वाली व्याप्ति पर आश्रित रहने वाला (= उपजीवि), **हिंसात्वम्** = हिंसात्व हेतु, **व्याप्यत्वासिद्धम् एव** = व्याप्यत्वासिद्ध ही है।

सङ्कलितार्थ—द्वितीय-उपाधि के सद्भाव से होने वाले व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण है—यज्ञ के अन्दर की गई हिंसा अधर्म का साधन है (प्रतिज्ञा), हिंसा होने से (हेतु), यज्ञ के बाहर होने वाली हिंसा के समान (उदाहरण) इस अनुमानवाक्य के अधर्म साधनत्व में 'हिंसात्व' निमित्त नहीं है, किन्तु (शास्त्र द्वारा किया गया) निषिद्धत्व ही प्रयोजक है, अर्थात् उपाधि है। जैसे कि साध्य का व्यापक होने पर भी जो साधन (हेतु) का अव्यापक धर्म होता है वह उपाधि है, यह उपाधि का लक्षण है। निषिद्धत्व में उपाधि का यह लक्षण घटित होता है। निषिद्धत्व साध्यभूत अधर्मसाधनत्व का व्यापक है। क्योंकि जहाँ-जहाँ अधर्म साधनत्व है वहाँ-वहाँ अवश्य ही निषिद्धत्व भी है। इस प्रकार निषिद्धत्व साधन हिंसात्व का व्यापक नहीं बनता है। क्योंकि जहाँ-जहाँ हिंसात्व है वहाँ-वहाँ निषिद्धत्व भी अवश्य हो, ऐसा नहीं है। जैसे यज्ञसम्बन्धी पशु-हिंसा में निषिद्धत्व नहीं है। तो इस प्रकार निषिद्धत्व उपाधि के विद्यमान रहने से अन्य निषिद्धत्व के कारण से व्यापि पर आश्रित रहने वाला जो हिंसात्व हेतु है वह व्याप्यत्वासिद्ध ही है।

विवेचन

अनुमानवाक्य में प्रयुक्त हेतु जब उपाधि के रहने से असिद्ध हो जाता है तब वह व्याप्यत्वासिद्ध कहलाता है। उपाधि प्रयोजक-कारण को कहते हैं। ग्रन्थकार ने इसका लक्षण बताया कि " जो साध्य का व्यापक हो किन्तु साधन का व्यापक न हो (अव्यापक हो) वह उपाधि है।" उपाधि के रहने से हेतु के व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण है—क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनम् (प्रतिज्ञा) हिंसात्वात् (हेतु) क्रतुबाह्यहिंसावत् (उदाहरण)। इसमें प्रयुक्त हिंसात्व हेतु दोषग्रस्त है, क्योंकि हिंसा शास्त्रों में निषिद्ध होने से अधर्म-साधन है, केवल हिंसा से नहीं। अतः निषिद्धत्व यहाँ पर उपाधि अर्थात् प्रयोजक है।

तर्क-भाषा

(2) साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। स यथा—शब्दो नित्यः कृतकत्वादात्मवत्। अत्र कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतानित्यत्वेन व्याप्तम्। यत्कृतकं तदनित्यमेव, न नित्यमित्यतो विरुद्धं कृतकत्वमिति।

सन्दर्भ—विरुद्ध नामक तृतीय हेत्वाभास का वर्णन ग्रन्थकार करते हैं।

अर्थ—साध्यविपर्ययव्याप्तः = साध्य के विपर्यय = अभाव से व्याप्त, **हेतुः विरुद्धः** = हेतु विरुद्ध कहलाता है, **स यथा** = वह इस तरह है, **शब्दो नित्यः** = शब्द नित्य है, **कृतकत्वात्** = कार्य (कृतक) होने से, **आत्मवत्** = आत्मा के समान, **अत्र** = यहाँ, **कृतकत्वं हि** = कृतकत्व हेतु तो, **साध्यनित्यत्वविपरीतानित्यत्वेन** = साध्य-नित्यत्व के विपरीत (अभाव रूप) अनित्यत्व से, **व्याप्तम्** = व्याप्त है, **यत् कृतकम्** = जो कृतक (कार्य) होता है, **तदनित्यम् एव** = वह अनित्य ही होता है, **न नित्यम्** = नित्य नहीं होता, **इत्यतो** = इस कारण से, **विरुद्धम्** = विरुद्ध का नाम है, **कृतकत्वम् इति** = कृतकत्व यह हेत्वाभास।

सङ्कलितार्थ—साध्य के विपर्यय = अभाव से, व्याप्त हेतु विरुद्ध कहलाता है। वह इस प्रकार है—शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), कृतज्ञ होने (हेतु), आत्मा की तरह (उदाहरण)। यहाँ पर कृतकत्व हेतु साध्यभूत नित्यत्व के विपरीत अनित्यत्व से व्याप्त है। क्योंकि जो कृतज्ञ होता है, वह अनित्य ही होता है, नित्य नहीं। इस कारण कृतकत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

विवेचन

साध्यविपर्यव्याप्तः हेतुः विरुद्धः इस लक्षण में साध्यविपर्यय का अर्थ है, साध्यभाव। विपर्ययः = विपरीतः। साध्य के विपरीत साध्यभाव होगा। अतः साध्याभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध है। जैसे 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' में साध य-नित्यत्व के विरुद्ध अनित्यत्व से व्याप्त हेतु कृतकत्व है, क्योंकि जो कृतक होगा, वह अनित्य होगा ही।

तर्क-भाषा

(3) सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स द्विविधः, साधरणानैकान्तिकोऽसाधारणा-नैकान्तिकश्चेति। तत्र पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणः। यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्, व्योमवत्। अत्र हि प्रमेयत्वं हेतुस्तच्च नित्यानित्यवृत्ति। सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृत्तो यः पक्ष एव वर्तते सोऽसाधारणानैकान्तिकः। स यथा—भूर्नित्या गन्धवत्त्वात्। गन्धवत्त्वं हि सपक्षान्नित्याद् विपक्षाच्चानित्याद् व्यावृत्तं भूमात्रवृत्ति।

अर्थदीपिका

सन्दर्भ—तृतीय अनैकान्तिक हेत्वाभास का निरूपण ग्रन्थकार करते हैं।

अर्थ—सव्यभिचारः = व्यभिचार = अव्यवस्था से ग्रस्त हेतु, **अनैकान्तिकः** = अनैकान्तिक कहलाता है, **स द्विविधः** = वह दो प्रकार का है, **(1) साधारणानैकान्तिकः** = साधारण अनैकान्तिक, **(2) असाधारणानैकान्तिकश्चेति** = और असाधारण अनैकान्तिक, **तत्र** = उन दोनों में, **पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः** = पक्ष सपक्ष एवं विपक्ष में रहने वाला, **साधारणः** = साधारण अनैकान्तिक होता है, **यथा** = जैसे, **शब्दो नित्यः** = शब्द नित्य है, **प्रमेयत्वात्** = प्रमेय होने से, **व्योमवत्** = आकाश के समान, **अत्र हि** = इस वाक्य में, **प्रमेयत्वं हेतुः** = प्रमेयत्व हेतु है, **तच्च** = और वह, **नित्यानित्यवृत्ति** = नित्य एवं अनित्य दोनों में रहता है, **सपक्षात्** = सपक्ष में, **विपक्षात्** = व विपक्ष से, **व्यावृत्तः** = अलग होकर, **यः** = जो हेतु, **पक्षे एव** = पक्ष में ही, **वर्तते** = रहता है, **सः** = वह, **असाधारणाऽनैकान्तिकः** = असाधारण अनैकान्तिक होता है, **स यथा** = वह जैसे, **भूः नित्या** = पृथिवी नित्य है, **गन्धत्त्वात्** = गन्धवाली होने से, **गन्धवत्त्वं हि** = यह गन्धवत्त्व, **सपक्षात्** = सपक्ष, **नित्यादध** = नित्य से (आकाशादि से), **विपक्षाच्च** = और विपक्ष, **अनित्यादध** = अनित्य से (जलादि से), **व्यावृत्तम्** = अलग, **भूमात्रवृत्ति** = पृथिवी मात्र में रहती है।

सङ्कलितार्थ—व्यभिचार = अव्यवस्था से ग्रस्त हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है। वह दो प्रकार का है—(1) साधारण अनैकान्तिक और (2) असाधारण अनैकान्तिक। उन दोनों में से पक्ष सपक्ष एवं विपक्ष में रहने वाला हेतु साधारण अनैकान्तिक होता है। यथा—शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), प्रमेय होने से (हेतु), आकाश के समान (उदाहरण)। इस वाक्य में प्रमेयत्व हेतु है और वह नित्य-पक्ष तथा सपक्ष एवं अनित्य विपक्ष में रहने वाला है

(जबकि इसे विपक्ष में नहीं होना चाहिए)। सपक्ष एवं विपक्ष दोनों से अलग जो हेतु पक्षमात्र में रहे वह असाधारण-अनैकान्तिक होता है। जैसे—पृथिवी नित्य है (प्रतिज्ञा), गन्धवती होने से (हेतु), यहाँ गन्धवत्त्व नामक हेतु सपक्ष-नित्य आकाशादि से एवं विपक्ष-अनित्यजलादि से अलग पृथिवीमात्र (पक्ष में) रहता है। अतः असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

विवेचन

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः—व्यभिचारेण सह वर्तते इति, सव्यभिचारः अव्यवस्था, औचित्य का उल्लंघन या नियमपूर्वक न रहना सव्यभिचार का अर्थ है।

तर्क-भाषा

(4) प्रकरणसमस्तु स एव यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते। स यथा—शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात्। शब्दो नित्योऽनित्यधर्मरहितत्वात् इति। अयमेव हि सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते।

सन्दर्भ—हेत्वाभास के चतुर्थ भेद प्रकरणसम का ग्रन्थकार निरूपण कर रहे हैं। इसका नाम कालान्तर में सत्प्रतिपक्ष हो गया, जो अन्वर्थ संज्ञा है।

अर्थ—**प्रकरणसमस्तु स एव** = प्रकरणसम तो वही है (हेत्वाभास है), **यस्य** = जिस, **हेतोः** = हेतु का, **साध्यविपरीतसाधकम्** = साध्य के विपरीत अर्थ का साधक, **हेत्वन्तरम्** = अन्य हेतु, **विद्यते** = विद्यमान होता है, **स यथा** = वह इस प्रकार है, **(1) शब्दः अनित्यः** = शब्द अनित्य है, **नित्यधर्मरहितत्वात्** = नित्य धर्म के न होने से। (2) विपरीतसाधकहेतु, **शब्दः** = शब्द, **नित्यः** = नित्य है, **अनित्यधर्मरहितत्वात् इति** = अनित्य धर्म के न होने से, **अयम् एव हि** = यह ही (प्रकरणसम ही), **सत्प्रतिपक्षः इति** = सत्प्रतिपक्ष इस नाम से, **च उच्यते** = कहा जाता है।

सङ्कलितार्थ—प्रकरणसम वह हेत्वाभास होता है, जिस हेतु के साध्य अर्थ के विपरीत अर्थ का साधक कोई अन्य हेतु विद्यमान हो। जैसे—शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), नित्य धर्म के न होने से (हेतु)। इसका विपरीत-अर्थसाधक हेतु-शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), अनित्यधर्म के न होने से (हेतु)। यह प्रकरणसम ही सत्प्रतिपक्ष कहलाता है।

विवेचन

प्रकरणसम का बाद के आचार्यों ने सत्प्रतिपक्ष नाम से प्रयोग किया है। साध्य-विपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्षः = साध्य के विपरीत अर्थ का साधक हेत्वन्तर प्रतिपक्ष कहलाता है। सन् = विद्यमानः प्रतिपक्षः यस्य सः सत्प्रतिपक्षः। जहाँ पर दो हेतु परस्पर विरोधी अर्थ को सिद्ध करें वहाँ हेतु सत्प्रतिपक्ष होगा।

तर्क-भाषा

(5) पक्षे प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः कालात्ययापदिष्टः इति चोच्यते। यथा अग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्। अत्र हि कृतकत्वस्य हेतोः साध्यमनुष्णत्वं, तदभावः प्रत्यक्षेणैवावधारितः, स्पार्शनप्रत्यक्षेणैवोष्णत्वोपलम्भात्।

इति व्याख्यातमनुमानम्

सन्दर्भ—कालात्ययापदिष्ट नामक पञ्चम हेत्वाभास का निरूपण किया जा रहा है।

अर्थ—**पक्षे** = पक्ष में, **प्रमाणन्तरावधृतसाध्याभावः** = अन्य प्रबल प्रमाण से निश्चित कर लिया गया है (अवधृत) साध्य का अभाव जिसका, वह, **हेतुः** = हेतु, **बाधित विषयः** = बाधित विषय वाला (साध्यधर्म वाला), **कालात्ययापदिष्टः इति च** = और कालात्ययापदिष्ट यह, **उच्यते** = कहलाता है, **यथा** = जैसे, **अग्निः अनुष्णः**

NOTES

= अग्नि शीतल है, **कृतकत्वात्** = कृतक (जन्य) होने से, **जलवत्** = जल के समान, **अत्र हि** = इस वाक्य में, **कृतकत्वस्य हेतोः** = कृतकत्व हेतु का **साध्यम्** = साध्य अर्थ है, **अनुष्णत्वम्** = अनुष्णत्व (शीतलता), **तदभावः** = उस अनुष्णत्व का अभाव, **प्रत्यक्षेण एव** = प्रत्यक्षप्रमाण से ही, **अवधारितः** = निश्चित कर लिया गया है, **स्पार्शनप्रत्यक्षेणैव** = स्पार्शन (त्वचा) प्रत्यक्ष से ही, **उष्णत्वोपलम्भात्** = (अग्नि में) उष्णत्व की उपलब्धि हो रही है।

सङ्कलितार्थ—पक्ष में जिस हेतु के साध्य का अभाव अन्य प्रमाण से ही निश्चित कर लिया गया हो ऐसा हेतु बाधित साध्य अर्थवाला तथा कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास कहलाता है। जैसे—अग्नि अनुष्ण होता है (प्रतिज्ञा), कृतज्ञ अर्थात् जन्म होने से (हेतु), जल के समान (उदाहरण) इस अनुमानवाक्य में कृतकत्व हेतु का साध्य अनुष्णत्व है। किन्तु अनुष्णत्व का अभाव = उष्णता (अग्नि रूप पक्ष में) त्वचा के स्पर्श रूप प्रत्यक्षप्रमाण से ही निश्चित हो जाता है। अत: कृतकत्वात् यह हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

इस प्रकार अनुमान की व्याख्या पूर्ण हुई

विवेचन

बाधितविषयः कालात्ययापदिष्ट इस कथन में बाधितः विषयः = साध्यः, यस्य सः यह बहुव्रीहि समास है। जिस हेतु का विषय अर्थात् साध्य-अर्थ बाधित हो जाये वह। इसी को प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावः के द्वारा कहा गया है। प्रमाणान्तरेण अवधृतः = निश्चितः, साध्यस्य अभावः यस्य सः = अन्य प्रमाण द्वारा पक्ष में जिस हेतु के साध्य का अभाव निश्चित हो गया, वह बाधित-साध्य-अर्थ वाला हेतु कालात्ययापदिष्ट होता है।

(उपमानम्)

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्। यथा गवयमजानन्नपि नागरिको 'यथा गौस्तथा गवयः' इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकात् पुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानमुपमितिकरणत्वात् गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानानन्तरमयमसौ गवयशब्दवाच्यः पिण्ड इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिरूपमितिः सैव फलम्। इदन्तु प्रत्यक्षानुमानासाध्यप्रमासाधकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानमस्ति।

सन्दर्भ—प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों की व्याख्या के बाद क्रमप्राप्त उपमान नामक तृतीय प्रमाण का स्वरूप सोदाहरण बतलाया जा रहा है।

अर्थ—अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतम् = (यथा गौः तथा गवयः) इस अतिदेश-वाक्य के अर्थ के स्मरण के साथ, **गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानम्** = गो की समानता से युक्त जो पिण्ड = आकृति का ज्ञान है, वह, **उपमानम्** = उपमान है। **यथा** = जैसे, **गवयम्** = गवय (नील गाय) को, **अजानन् अपि** = नहीं जानता हुआ भी कोई, **नागरिकः** = नगरवासी, **यथा** = जैसे, **गौः** = गाय होती है, **तथा** = वैसी ही, **गवयः** = नील गाय होती है, **इति वाक्यम्** = इस वाक्य को, **कुतश्चित्** = किसी, **आरण्यकात्** = वनवासी, **पुरुषात्** = पुरुष से, **श्रुत्वा** = सुनकर, **वनं गतः** = वन में गया और, **वाक्यार्थम्** = जैसी गाय होती है वैसी नील-गाय होती है इस वाक्य के अर्थ का, **स्मरन्** = स्मरण करता हुआ, **यदा** = जब, **गौसादृश्यविशिष्टम्** = गाय की समानता आदि से युक्त, **पिण्डम्** = आकृति को, **पश्यति** = देखता है, **तदा** = तब, **तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतम्** = उस वाक्य के अर्थ के स्मरण के साथ, **गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानम्** = गो की समानता से युक्त पिण्ड का ज्ञान ही, **उपमानम्** = उपमान कहलाता है, क्योंकि, **उपमितिकरणत्वात्** = (वह) उपमिति ज्ञान का करण (साधन) है, **गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानान्तरम्** = गो की समानता से युक्त पिण्ड = आकृतिज्ञान के पश्चात्, **अयम् असौ** = यह वह (सामने दृश्यमान), **गवय शब्दवाच्यः** = गवव शब्द का अर्थ, **पिण्डः** = आकृति है, **इति** = इस प्रकार से जो; **संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिः** =

संज्ञा (गवय) और संज्ञी (गोसदृशपिण्ड) का सम्बन्धज्ञान है वह, **उपमितिः** = उपमिति कहलाता है। **सा एव** = वही उपमिति, **फलम्** = (उपमान का) फल है, **इदम् तु** = यह उपमान तो, **प्रत्यक्षानुमानासाध्यप्रमासाधकत्वात्** = प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से नहीं सिद्ध की जानेवाली उपमिति प्रमा का साधक होने से, **प्रमाणान्तरम्** = प्रत्यक्षानुमान से भिन्न प्रमाण, **उपमानम्** = उपमान, **अस्ति** = है।

सङ्कलितार्थ—जैसी गाय होती है वैसी नील गाय होती है। इस प्रकार के अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ गो की समानता से युक्त पिण्ड का ज्ञान उपमान कहलाता है। जैसे नील गाय को नहीं जानता हुआ नगरवासी मनुष्य 'जैसी गाय होती है वैसी ही नील गाय भी होती है' इस प्रकार का वाक्य किसी वनवासी पुरुष से सुन कर बन जाता है और (गोसदृशो गवयः) इस वाक्यार्थ का स्मरण करते हुए जब गो की समानता वाली आकृति या पिण्ड को देखता है तब अतिदेशवाक्य के अर्थ के स्मरण के साथ गो की समानता से युक्त पिण्ड का ज्ञान उपमान प्रमाण होता है, क्योंकि उपमिति ज्ञान का वही अतिदेशवाक्यार्थ करण है। गो की समानता वाले पिण्ड के ज्ञान के पश्चात् 'यह वह पिण्ड गयव शब्द का वाच्य है' इस प्रकार की जो संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति है, वह उपमिति (उपमान से जन्य ज्ञान) कहलाती है। वही उपमिति उपमानप्रमाण का फल है। यह उपमान प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों से सिद्ध किये जा सकने वाले ज्ञान का साधक = साधक होने से एक भिन्न प्रमाण उपमान है।

उपमान की व्याख्या पूर्ण हुई।

विवेचन

प्रत्यक्ष एवं अनुमान के बाद प्रमेय की सिद्धि का तृतीय प्रमाण उपमान है। किसी अज्ञात पदार्थ को ज्ञात पदार्थ की समानता वाली आकृति से जानने के लिए अतिदेश वाक्य का प्रयोग किया जाता है। यथा—गोसदृशो गवयः = गाय के समान गवय होती है। अतिदेशवाक्य के अर्थ का स्मरण अज्ञात पदार्थ को देखने के बाद होता है।

तर्क-भाषा

(शब्द)

आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः। वाक्यं त्वाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः। अत एव गौरश्वः पुरुषो हस्ती इति पदानि न वाक्यम्, परस्पराकाङ्क्षाविरहात्। 'वह्निना सिञ्चेदिति न वाक्यं योग्यताविरहात्। नह्यग्निसेकयोः परस्परान्वययोग्यताऽस्ति तथा हि अग्निनेति तृतीयया सेकरूपं कार्यं प्रति कारणत्वमग्नेः प्रतिपादितम्। न चाग्निः सेके करणीभवितुं योग्यः। तेन कार्यकारण-भावलक्षण-सम्बन्धेऽग्निसेकयो रयोग्यत्वादग्निना सिञ्चेदिति न वाक्यम्।'

सन्दर्भ—शब्दनामक चतुर्थ प्रमाण का निरूपण ग्रन्थकार कर रहे हैं—

अर्थ—**आप्तवाक्यम्** = आप्त का वाक्य शब्द-प्रमाण है, **आप्तस्तु** = आप्त तो, **यथाभूतस्य अर्थस्य** = जैसा अर्थ है वैसा ही, **उपदेष्टा** = उपदेश (बताने) करने वाला, **पुरुषः** = कहलाता है, **वाक्यन्तु** = वाक्य तो, **आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां** = आकाङ्क्षा योग्यता और सन्निधि (आसत्ति) युक्त, **पदानाम्** = पदों का, **समूहः** = समूह है, **अत एव** = इन तीनों के न रहने के कारण ही, **गौः अश्वः पुरुषः हस्ती** = गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी, **इति पदानि** = ये सभी पद, **न वाक्यम्** = वाक्य नहीं माने जाते, क्योंकि, **परस्पराकाङ्क्षाविरहात्** = (इनमें) परस्पर आकाङ्क्षा का अभाव है, **वह्निना सिञ्चेत्** = 'आगे से सींचे', **इति न वाक्यम्** = यह वाक्य नहीं माना जाता (क्योंकि), **योग्यताविरहात्** = (आग में सिंचन) योग्यता का अभाव है, **अग्निसेकयोः** = अग्नि और सिंचन में, **परस्परान्वययोग्यता** = एक-दूसरे से अन्वित होने की योग्यता, **नहि अस्ति** = नहीं है, **तथा हि** = जैसे कि, **अग्निना इति तृतीयया** = अग्नि तृतीयान्त के द्वारा, **सेकरूपं कार्यं प्रति** = सिञ्चनरूप कार्य के प्रति, **करणत्वम्** = साधनत्व, **अग्नेः** = अग्नि का, **प्रतिपादितम्** = बताया गया है, **अग्निः** = अग्नि, **सेके** = सेचन क्रिया में,

NOTES

करणीभवितुम् = करण बनने के, **न च योग्यः** = योग्य नहीं है, **तेन** = इस प्रकार, **कार्यकारण-भावलक्षणसम्बन्धे** = कार्यकारण-भाव-रूप सम्बन्ध में, **अग्निसेकयोः** = अग्नि और सेचन क्रिया की, **अयोग्यत्वात्** = योग्यता न होने के कारण, **अग्निना सिञ्चेत्** = 'अग्नि से सींचे', **इति न वाक्यम्** = वह (पद समूह) वाक्य नहीं है।

सङ्कलितार्थ—आप्तवाक्य शब्द-प्रमाण है। जो अर्थ जैसा है उसे वैसा ही बताने वाला पुरुष आप्त कहलाता है। आकाङ्क्षा योग्यता और सन्निधि = आसत्तियुक्त, पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। इसलिए गौः अश्वः पुरुषः हस्ती ये पदसमूह वाक्य नहीं हैं, क्योंकि इनमें परस्पर आकाङ्क्षा का अभाव है। 'वह्नि से सींचे' यह भी वाक्य नहीं है, क्योंकि इसमें योग्यता का अभाव है। अग्नि और सेचन क्रिया में परस्पर अन्वय की योग्यता नहीं होती है। जैसे कि—अग्नि शब्द से आई तृतीया-विभक्ति के द्वारा सेचन कार्य के प्रति अग्नि को करण बताया गया है। किन्तु सेचनकार्य में अग्नि करण नहीं बन सकता है। इस तरह अग्नि और सेचन के कार्यकारण-भावसम्बन्ध में अयोग्य होने के कारण 'अग्नि से सींचे' यह वाक्य नहीं है।

विवेचन

ग्रन्थकार ने शब्दप्रमाण का लक्षण बताया—आप्तवाक्यं शब्दः। इसमें शब्द लक्ष्य है और आप्तवाक्यम् यह लक्षण है। आप्त कहते हैं—यथार्थवक्ता को। पतञ्जलि ने कहा—आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कात्स्न्येंन, निश्चयवान् रागादिवशादपि नान्यथावादी सः। जो अनुभव के द्वारा वस्तुतत्त्व को सम्पूर्ण रूप से निश्चय करने वाला है तथा राग द्वेषादि के वशीभूत होने पर भी जो गलत नहीं कहता है, वह आप्त है।

तर्क-भाषा

एवम् एकैकशः प्रहरे प्रहरे असहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादि पदानि न वाक्यम्, सत्यामपि परस्पराकाङ्क्षायां सत्यामपि परस्परान्वययोग्यतायां परस्परसान्निध्याभावात्।

यानि तु साकाङ्क्षाणि योग्यतावन्ति सन्निहितानि पदानि तान्येव वाक्यम्। यथा 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि। यथा च नदीतीरे पञ्चफलानि सन्ति इति। यथा च तान्येव 'गामानय' इत्यादि पदान्यविलम्बितोच्चरितानि।

अर्थ—एवम् = इसी प्रकार, **एकैकशः** = एक-एक कर, **प्रहरे प्रहरे** = पहर पहर में, **असहोच्चरितानि** = साथ-साथ उच्चारित नहीं किये गए, **'गाम् आनय'** = गाय को..... लाओ ...., **इत्यादि पदानि** = इत्यादि पदसमूह, **न वाक्यम्** = वाक्य नहीं है, क्योंकि, **सत्यामपि परस्पराकाङ्क्षायाम्** = परस्पर आकाङ्क्षा के रहने पर भी, **सत्यामपि परस्परान्वययोग्यतायाम्** = परस्पर अन्यव की योग्यता होने पर भी, **परस्परसान्निध्याभावात्** = परस्पर सन्निधि का अभाव है।

यानि तु = जो, **साकाङ्क्षाणि** = आकाङ्क्षायुक्त, **योग्यतावन्ति** = योग्यतायुक्त और, **सन्निहितानि** = सन्निधियुक्त, **पदानि** = पद (पदसमूह) हैं, **तानि एव** = वहीं, **वाक्यम्** = वाक्य कहलाते हैं, **यथा** = जैसे, **ज्योतिष्टामेन** = ज्योतिष्टोम से, **स्वर्गकामः** = स्वर्ग चाहने वाला, **यजेत** = याग करे, इत्यादि (यह वैदिक वाक्य है), **यथा च** = जैसे, **नदीतीरे** = नदी-तट पर, **पञ्चफलानि सन्ति इति** = पाँच फल हैं इत्यादि (लौकिक वाक्य है), **यथा च** = और जैसे, **तान्येव** = वे ही, **गाम् अनय** = गाय को लाओ, इत्यादि, **पदानि** = पद, **अविलम्बितोच्चरितानि** = बिना विलम्ब के उच्चारित किये गये वाक्य हैं।

सङ्कलितार्थ—इसी प्रकार एक-एक कर पहर पहर में (रुक-रुककर) साथ-साथ उच्चारण नहीं किये गये 'गाम् आनय' इत्यादि पद वाक्य नहीं कहलाते हैं। भले ही उनमें परस्पर आकाङ्क्षा हो और परस्पर अन्वय की योग्यता हो, फिर भी परस्पर सन्निधि के अभाव में वे पद (समूह) वाक्य नहीं कहलाते हैं। जो आकाङ्क्षा योग्यता और सन्निधि ा से युक्त पद हैं (पद समूह हैं) वे ही वाक्य कहलाते हैं। यथा 'स्वर्ग की इच्छा रखने वाला ज्योतिष्टोम याग करें'

इत्यादि (वैदिक वाक्य) और 'नदी-तीर पर पाँच फल हैं' इत्यादि (लौकिक वाक्य हैं) और वे ही 'गाय को लाओ' इत्यादि पद जो बिना विलम्ब किये उच्चरित हुए हैं, वाक्य हैं।

विवेचन

NOTES

सन्निधि का अर्थ होता है = पदों की परस्पर समीपता। अविलम्बेन उच्चारण करना पदसमूह में परस्पर सान्निध्य = आसत्ति आवश्यक है। यदि अभी गाम् यह कहा, तथा घन्टे भर बाद आनय कहा जाये तो इसे वाक्य नहीं कहेंगे, क्योंकि शब्दबोध पूर्णत: नहीं हो पाता है।

तर्क-भाषा

नन्वत्रापि न पदानि साकाङ्क्षाणि किन्त्वर्थाः, फलादीनामाधेयानां तीराद्याधाराकाङ्क्षितत्त्वात्। न च विचार्यमाणेऽर्था अपि साकाङ्क्षाः, आकाङ्क्षाया इच्छात्मकत्वेन चेतनधर्मत्वात्।

सत्यम्! अर्थास्तावत् स्वपदश्रोतर्यन्योऽन्यविषयाकाङ्क्षाजनकत्वेन साकाङ्क्षा इत्युच्यन्ते। तद्द्वारेण तत्प्रतिपादिकानि पदान्यपि साकाङ्क्षाणीत्युपचर्यन्ते। यद्वा पदान्येवार्थान् प्रतिपाद्यार्थान्तराविषया-काङ्क्षाजनकानीत्युपचारात् साकाङ्क्षणि। एवमर्थाः साकाङ्क्षाः परस्परान्वययोग्याः। तद्द्वारेण पदान्यपि परस्परान्वययोग्यानीत्युच्यन्ते।

सन्दर्भ—आकाङ्क्षादि युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा गया है। किन्तु आकाङ्क्षादि तो अर्थधर्म हैं फिर इन्हें पदधर्म कैसे बताया गया? इस प्रश्न का समाधान यहाँ पर ग्रन्थकार बतला रहे हैं—

अर्थ—(प्रश्न) **ननु अत्रापि** = अजी पूर्वोक्त उदाहरणों में भी, **न पदानि साकाङ्क्षाणि** = साकाङ्क्ष नहीं हैं, **किन्तु अर्थाः** = किन्तु अर्थ साकाङ्क्ष हैं, **फलादीनाम्** = फल आदि, **आधेयानाम्** = आधेयरूप अर्थों को, **तीरादि आधाराकाङ्क्षितत्त्वात्** = तीर आदि आधाररूप अर्थों की आकाङ्क्षा रहती है, **विचार्यमाणे** = (वस्तुतः) विचार करने पर, **अर्था अपि** = अर्थ भी, **न च साकाङ्क्षाः** = आकाङ्क्षायुक्त नहीं होते, (क्योंकि), **आकाङ्क्षायाः** = आकाङ्क्षा को **इच्छात्मकत्वेन** = इच्छारूप मानने से, **चेतनधर्मत्वात्** = चेतन धर्म माना जाता है (और फलादि अचेतन हैं)।

(उत्तर) **सत्यम्** = कथन ठीक है (कि पद या अर्थ साक्षात् साकाङ्क्ष नहीं होते) किन्तु, **अर्था तावत्** = अर्थ तो, **स्वपदश्रोतरि** = अपने वाचक पद को सुनने वाले (के मन) में, **अन्योऽन्यविषयाकाङ्क्षाजनकत्वेन** = एक-दूसरे पद के विषय में आकाङ्क्षा को उत्पन्न करने के कारण, **साकाङ्क्षाः** = आकाङ्क्षायुक्त, **इति उच्यन्ते** = कहे जाते हैं, **तद्द्वारेण** = उन अर्थों के द्वारा, **पदानि अपि** = पद भी, **साकाङ्क्षाणि** = आकाङ्क्षायुक्त हैं, **इत्युपचर्यन्ते** = ऐसा उपचार से कथन होता है, **यद्वा** = अथवा, **पदानि एव** = पद ही, **अर्थान्** = अपने अर्थों का, **प्रतिपाद्य** = प्रतिपादन करके, **अर्थान्तराविषयाकाङ्क्षाजनकानि** = अन्य अर्थ के विषय में आकाङ्क्षा को उत्पन्न करते हैं, **इति** = इसलिए, **उपचारात्** = गौणरूप से, **साकाङ्क्षाणि** = आकाङ्क्षायुक्त माने जाते हैं, **एवम्** = इसी तरह उपचार से, **अर्थाः** = अर्थ भी, **साकाङ्क्षाः** = आकाङ्क्षायुक्त, **परस्परान्वयोग्याः** = परस्पर अन्वय के योग्य माने जाते हैं, **तद्द्वारेण** = उन अर्थों के माध्यम से, **पदानि अपि** = पद भी, **परस्परान्वययोग्यानि** = एक-दूसरे से अन्वय के योग्य हैं, **इत्युच्यन्ते** = ऐसा कहलाते हैं।

सङ्कलितार्थ—प्रश्न है कि—पूर्वोक्त उदाहरणों में भी पद साकाङ्क्ष नहीं हैं, किन्तु अर्थ ही साकाङ्क्ष हैं। क्योंकि फल आदि आधेयरूप अर्थों को तीरादि-आधाररूप अर्थों की आकाङ्क्षा होती है। वस्तुतः विचार करने पर अर्थ भी साकाङ्क्ष नहीं माने जा सकते। क्योंकि आकाङ्क्षा इच्छारूप है और वह चेतन का धर्म है (वह जड़ फल और तीरादि में कैसे हो सकती है?)।

उत्तर—कथन ठीक है (कि पद या अर्थ साक्षात् आकाङ्क्षायुक्त नहीं हो सकते हैं, किन्तु) अर्थ अपने वाचक पद को श्रोता के मन में एक-दूसरे पद के विषय में आकाङ्क्षा उत्पन्न करने के कारण साकाङ्क्ष कहे जाते हैं। उन अर्थों के द्वारा पद में साकाङ्क्षता का व्यवहार उपचार से (गौण रूप से) होता है। अथवा पद ही अर्थों का प्रतिपादन करके अन्य अर्थ के विषय में आकाङ्क्षा को उत्पन्न करने वाले हैं, अत: गौण रूप से (उपचार से) साकाङ्क्ष कहे जाते हैं। इसी प्रकार आकाङ्क्षायुक्त अर्थ भी परस्पर अन्वय के योग्य होते हैं। उन अर्थों के द्वारा (अर्थप्रतिपादक) पद भी परस्पर के योग्य मान लिए जाते हैं।

विवेचन

न पदानि .... इत्यादि उद्धरण में दो प्रकार की शंका है—(1) शब्द साकाङ्क्ष नहीं होते, अपितु अर्थ साकाङ्क्ष होते हैं। (2) विचार करने पर वस्तुत: अर्थ भी साकाङ्क्ष नहीं होते, क्योंकि यह आकाङ्क्षा इच्छारूप होने से चेतन = आत्मा का धर्म है, जड़ पदार्थ का नहीं।

तर्क-भाषा

सन्निहितत्त्वं तु पदानामेकेनैव पुंसा अविलम्बेनोच्चरितत्त्वम्। तच्च साक्षादेव पदेषु सम्भवति नार्थ द्वारा।

तेनायमर्थः सम्पन्नः। अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषयामर्थान्तरविषयां वाऽऽकाङ्क्षां जनयतां प्रतीयमानपरस्परान्वययोग्यार्थप्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम्।

सन्दर्भ—सन्निधि की स्थिति आकाङ्क्षा एवं योग्यता से भिन्न होती है इसे बतलाते हुए वाक्य का परिष्कृत लक्षण बताया जा रहा है।

अर्थ—सन्निहितत्त्वम् तु = सन्निधि तो, **पदानाम्** = पदों का, **एकेन एव** = एक ही, **पुंसा** = पुरुष के द्वारा, **अविलम्बेन** = बिना विलम्ब के, **उच्चरितत्त्वम्** = उच्चारण करना है, **तच्च** = और वह (सन्नधि), **साक्षात् एव** = सीधे ही, **सम्भवति** = हो सकती है, **न अर्थद्वारा** = अर्थ के द्वारा नहीं।

तेन = इस विवेचन से, **अयम् अर्थः** = (वाक्यलक्षण का) यह अर्थ, **सम्पन्नः** = फलित हुआ, **अर्थप्रतिपादनद्वारा** = अर्थ के प्रतिपादन के द्वारा, **श्रोतुः** = श्रोता की, **पदान्तरविषयाम्** = अन्य पद के विषय में, **वा** = या, **अर्थान्तरविषयाम्** = अन्य अर्थ के विषय में, **आकाङ्क्षाम्** = आकाङ्क्षा को, **जनयताम्** = उत्पन्न कर रहे, (और) **प्रतीयमानपरस्परान्वययोग्यार्थप्रतिपादकानाम्** = स्पष्टरूप से या अबाधित रूप से, परस्पर अन्वय के योग्य अर्थों का प्रतिपादन करने वाले, **सन्निहितानाम्** = सन्निधियुक्त/अविलम्ब उच्चारण किये गये, **पदानाम्** = पदों का, **समूहः** = समूह, **वाक्यम्** = वाक्य है।

सङ्कलितार्थ—एक ही पुरुष के द्वारा पदों का बिना विलम्ब किये उच्चारण करना सन्निधि है। वह सन्निधि साक्षात् पदों में ही हो सकती है। अर्थ के माध्यम से सन्निधि सम्भव नहीं है। इस विवेचन से वाक्य के लक्षण का यह अर्थ फलित हुआ—अर्थ के प्रतिपादन के द्वारा (पद) अन्य पद के विषय में अथवा अर्थ के विषय में श्रोता की आकाङ्क्षा को उत्पन्न करने वाले तथा स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहे परस्पर अन्वययोग्य अर्थ का प्रतिपादन करने वाले सन्निधियुक्त पदों का समूह वाक्य है।

विवेचन

ग्रन्थकार वाक्य का निष्कृष्ट लक्षण प्रस्तुत करना चाहते हैं। अत: कहते हैं कि—जिस प्रकार आकाङ्क्षा श्रोता में रहती है किन्तु उपचार से अर्थ या पद आकाङ्क्षा के जनक माने जाते हैं तथा योग्यता अर्थात् अन्वय की योग्यता साक्षात् अर्थों में रहती है, किन्तु औपचारिक रूप से पदों को योग्यताविशिष्ट कहा जाता है, वैसा सन्निधि में नहीं होता। सन्निधि तो सीधे-सीधे पदों में ही रहती है।

पदं च वर्णसमूहः। समूहश्चात्र एकज्ञानविषयीभावः। एवञ्च वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशित्वेन एकदाऽनेकवर्णानुभवासम्भावात् पूर्वपूर्ववर्णाननुभूय अन्त्यवर्णश्रवणकाले पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन अन्त्य-वर्णसम्बधेन पदव्युत्पादनसमयग्रहानुहीतेन श्रोत्रेणैकदैव सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते, सहकारिदाढ्र्यात्, प्रत्यभिज्ञानवत्। प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षे ह्यतीतापि पूर्वावस्था स्फुरत्येव।

ततः पूर्वपूर्वपदानुभवजनितसंस्कारसहकृतेनान्त्यपदविषयेण श्रोत्रेन्द्रियेण पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेनानेक-पदावगाहिनी वाक्यप्रतीतिः क्रियते।

सन्दर्भ—वाक्यलक्षण में पदसमूह का उल्लेख किया गया है। पद किसे कहते हैं? इस प्रश्न का समाधान यहाँ पर ग्रन्थकार प्रस्तुत कर रहे हैं—

अर्थ—पदं च = और पद, **वर्णसमूहः** = वर्णों का समूह है, **समूहः च अत्र** = और यहाँ समूह का अर्थ है, **एकज्ञानविषयीभावः** = एक ज्ञान का विषय बनना, **एवञ्च** = इस प्रकार, **वर्णानां क्रमवताम्** = क्रम से उत्पन्न होने वाले वर्णों का, **पूर्वपूर्ववर्णान्** = पूर्व पूर्व में उच्चारित वर्णों का, **अनुभूय** = अनुभव करके, **अन्त्यवर्णश्रवणकाले** = अन्तिम वर्ण के सुनने के समय में, **पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन** = पूर्व पूर्व में उच्चरित वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से युक्त, **अन्त्यवर्णसम्बन्धेन** = अन्त में उच्चरित वर्ण से सम्बन्ध रखने वाले,**पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन** = पदबोध के संकेत ग्रह से अनुगृहीत, **श्रोत्रेण** = श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा, **एकदा एव** = एक-काल में ही, **सदसद् अनेकवर्णावगाहिनी** = विद्यमान (अन्तिम वर्ण) एवं अविद्यमान (= असद् पूर्व पूर्व में उच्चरित एवं नष्ट हुए) अनेक वर्णों का ग्रहण (अवगाहन) करने वाली, **पदप्रतीतिः**= पद की प्रतीति, **जन्यते** = उत्पन्न हो जाती है, ऐसा, **सहकारिदाढर्यात्** = सहयोगी संस्कार की दृढ़ता से होता है, **प्रत्यभिज्ञानवत्** = जैसा कि प्रत्यभिज्ञा में हुआ करता है, **प्रत्यभिज्ञापक्षे हि** = (सोऽयं देवदत्तः इत्यादि) नामक प्रत्यक्ष में तो, **अतीता अपि** = अतीत काल की भी, **पूर्वावस्था** = पूर्व-अवस्था (सः पद से सूचित अवस्था), **स्फुरति एव** = भासित हुआ ही करती है।

ततः = उस पदप्रतीति के बाद, **पूर्वपूर्वपदानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन** = पूर्व पूर्व में उच्चरित एवं नष्ट हुए पद के अनुभव से उत्पन्न, संस्कार के सहयोग से युक्त, **अन्त्यपदविषयेण** = अन्तिम पद को ग्रहण करने वाले (= विषयेण) और, **पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेन** = पदों के अर्थबोध से अनुगृहीत, **श्रोत्रेन्द्रियेण** = श्रोत इन्द्रिय के द्वारा, **अनेकपदावगाहिनी** = (नष्ट एवं विद्यमान) अनेक पदों का (अवगाहन) ग्रहण करने वाली, **वाक्यप्रतीतिः** = वाक्य की प्रतीति, **क्रियते** = की जाती है।

सङ्कलितार्थ— वर्णों का समूह पद कहलाता है। यहाँ पर समूह का अर्थ एक-ज्ञान का विषय बनना है। इस प्रकार क्रम से उत्पन्न होने वाले वर्ण अतिशीघ्र विनष्ट हो जाने वाले होते हैं; अतः एक काल में अनेक वर्णों का ज्ञान होना सम्भव नहीं होता, फिर भी पूर्व में उच्चरित वर्णों का अनुभव करके अन्तिम वर्ण के सुनने के काल में —(1) पूर्व पूर्व में उच्चरित वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से सम्बद्ध, (2) अन्तिम वर्ण से सम्बद्ध, (3) और पदबोध के संकेत-ज्ञान से अनुग्रहीत श्रोत्र के द्वारा एक ही काल में नष्ट एवं विद्यमान (सत्-असत्) अनेक वर्णों का ग्रहण करने वाली पद की प्रतीति उत्पन्न हो जाया करती है। ऐसा संस्कार की दृढ़ता से होता है। जैसे कि 'सोऽयं देवदत्त' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष में होता है। प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष में अतीत-काल की पूर्व अवस्था स्फुरित (भासित) होती ही है।

उस प्रतीति के अनन्तर—(1) पूर्व पूर्व में उच्चारण किये गये पदों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से युक्त (2) अन्तिम पद को ग्रहण करने वाले (3) पदों के अर्थों के बोध से अनुगृहीत, श्रोत्र-इन्द्रिय के द्वारा अनेक पदों का ग्रहण करने वाली (पदसमूह) वाक्य की प्रतीति की जाती है।

NOTES

विवेचन

'वर्णसमूहः पदम्' यह पद का लक्षण है। नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं। प्रथम क्षण में वर्ण उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में स्थिति होती है एवं तृतीय क्षण में वर्ण नष्ट हो जाता है। अर्थात् द्वितीय वर्ण की उत्पत्ति काल में प्रथम का नाश होता है, इसी प्रकार से तृतीय वर्ण की उत्पत्ति काल में द्वितीय का नाश होता है। इस तरह वर्ण क्रमिक उत्पत्ति एवं विनाश वाले हैं। अतः एककाल में अनेक वर्णों के समूह की प्रतीति हो ही नहीं सकती है।

तर्क-भाषा

तदिदं वाक्यमाप्तपुरुषेण प्रयुक्तं सच्छब्दनामकं प्रमाणम्। फलन्त्वस्य वाक्यार्थज्ञानम्। तच्चैतच्छब्दलक्षणं प्रमाणं लोके वेदे च समानम। लोके त्वयं विशेषो यः कश्चिदेवाप्तो भवति, न सर्वः। अतः किञ्चिदेव लौकिकं वाक्यं प्रमाणं यदाप्तवक्तृकम्। वेदे तु परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतं सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं सर्वस्यैवाप्तवाक्यत्वात्।

वर्णितानि चत्वारि प्रमाणानि। एतेभ्योऽन्यन्न प्रमाणं, प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भावात्।

सन्दर्भ—आप्तवाक्यं शब्दः इस शब्दप्रमाण के लक्षण में प्रयुक्त आप्त, वाक्य इत्यादि की व्याख्या के बाद शब्दप्रमाण के लक्षण का उपसंहार करते हुए श्री केशव मिश्र कहते हैं—

अर्थ—तत् इदम् = वह यह, **वाक्यम्** = वाक्य, **आप्तपुरूषेण** = आप्तपुरुष द्वारा, **प्रयुक्तम्** = प्रयुक्त, **सत्** = होता हुआ, **शब्दनामकं प्रमाणम्** = शब्द नामक प्रमाण कहलाता है, **फलन्तु अस्य** = इस शब्द-प्रमाण का फल तो, **वाक्यार्थज्ञानम्** = वाक्य के अर्थ का ज्ञान है, **तच्च एतत्** = और वह यह, **शब्दलक्षणं प्रमाणम्** = शब्द (लक्षण) नामक प्रमाण, **लोके वेदे च** = लोक और वेद में, **समानम्** = समान है, **लोके तु अयं विशेषः** = लोक में यह विशेष (अन्तर) है कि, **यः कश्चित् एव** = कोई कोई ही, **आप्तो भवति** = आप्तपुरुष होता है, **न सर्वः** = सभी सहीं, **अतः** = इसलिए, **किञ्चित् एव** = कुछ ही, **लौकिकं वाक्यम्** = लौकिक वाक्य, **प्रमाणम्** = प्रमाण होता है, **यदाप्तवक्तृकम्** = जो आप्तपुरुष द्वारा बोला जाता है, **वेदे तु** = वेद में तो, **परमाप्तश्री महेश्वरेण** = परम आप्त श्री महेश्वर द्वारा (परमात्मा द्वारा), **कृतम्** = रचा गया, **सर्वम् एव वाक्यम्** = सभी वाक्य, **आप्तवाक्यत्वात्** = आप्तवाक्य हैं। **वर्णितानि** = वर्णित किये गये, **चत्वारि प्रमाणानि** = चारों प्रमाण, **एतेभ्यः** = (इनसे भिन्न) प्रमाण होने पर, **अत्रैव** = इन चारों में ही, **अन्तर्भावात्** = अन्तर्भाव हो जाता है।

सङ्कलितार्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त वह यह वाक्य आप्त पुरुष द्वारा प्रयुक्त होता हुआ शब्द नामक प्रमाण कहलाता है। इस शब्द-प्रमाण का फल वाक्यार्थ का ज्ञान है। यह शब्द नामक प्रमाण लोक और वेद में समान है। लोक में अन्तर यह है कि कुछ ही पुरुष आप्त होता है सभी आप्त नहीं होते। इसलिए कुछ ही लौकिक-वाक्य प्रमाण है जो आप्तपुरुष द्वारा कहा गया है। वेद में तो सभी वाक्य परम-आप्त श्री महेश्वर द्वारा रचा गया है, अतः सभी वाक्य आप्तवाक्य होने से प्रमाण हैं।

चारों प्रमाणों का वर्णन कर दिया गया। इन चारों से भिन्न कोई प्रमाण हो तो उसका इन्हीं चारों में अन्तर्भाव हो जाता है।

विवेचन

आप्तवाक्यं शब्दः इसमें शब्द लक्ष्य है तथा आप्तवाक्यम् लक्षण है। इस शब्द-प्रमाण का फल है—वाक्यार्थज्ञानं। अर्थात् आप्तशब्द को सुनकर होने वाली प्रमा = शाब्दी प्रमा। यह लक्षण वेद तथा लोक में समान ही है। अन्तर इतना है कि यथाभूत अर्थ के ज्ञाता बहुत हो सकते हैं, किन्तु वक्ता कुछ ही होते हैं, अतः लोक में कुछ ही आप्तोक्त वाक्य प्रमाण हैं, सभी नहीं। वेद को नैयायिक परमेश्वरकृत मानते हैं। परमेश्वर समस्त पदार्थों के रचयिता होने से प्रमाण हैं। इस तरह शाब्दीप्रमा या वाक्यार्थबोध का करण = आप्तवाक्य शब्द प्रमाण है।

तर्क-भाषा

(अर्थापत्तिः)

ननु अर्थापत्तिरपि पृथक् प्रमाणमस्ति। अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकी-भूतार्थान्तरकल्पनम् 'अर्थापत्तिः' तथा हि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते। दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनमन्तरेण नोपपद्यतेऽतः पीनत्वाऽन्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम्। तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं, रात्रिभोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात्।

सन्दर्भ—मीमांसक एवं वेदान्ती अर्थापत्ति को भी प्रमाण मानते हैं। उनके मत में (पूर्वपक्ष के रूप में) अर्थापत्ति का स्वरूप बतलाया जा रहा है—

अर्थ—ननु अर्थापत्तिः अपि = अजी अर्थापत्ति भी, **पृथक्** = प्रत्यक्षादिकों से भिन्न, **प्रमाणम् अस्ति** =प्रमाण है, **अनुपपद्यमानार्थदर्शनात्** = अर्थ की संगति के न बैठने से या उत्पन्न नहीं होने से, **तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पन्** = उसके उपपादक या प्रतिपादक अन्य अर्थ की कल्पना करना ही, **अर्थापत्तिः** = अर्थापत्ति कहलाती है, **तथा हि** = जैसे कि, **पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते** = मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है, **इति दृष्टे श्रुते वा** = ऐसा देखने या सुनने पर, **रात्रिभोजनं** = रात्रिभोजन की, **कल्प्यते** = कल्पना की जाती है, **दिवाऽभुञ्जानस्य** = दिन में नहीं खाने वाले का, **पीनत्वम्** = मोटा होना, **रात्रिभोजनम् अन्तरेण** = रात्रिभोजन के बिना, **न उपपद्यते** = संगत नहीं होता, **अतः** = इसलिए, **पीनत्वाऽयथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिः एव** = पीनत्व की अन्य प्रकार से (रात्रिभोजन की कल्पना के बिना) अनुपपत्ति से होने वाली (उत्पन्न होने वाली) अर्थापत्ति ही, **रात्रिभोजने** = रात्रि के भोजन में, **प्रमाणम्** = प्रमाण है, **तच्च** = और वह अर्थापत्ति, **प्रत्यक्षादिभ्यः** = प्रत्यक्ष आदि से, **भिन्नम्** = भिन्न है, क्योंकि, **रात्रिभोजनस्य** = रात्रि का भोजन, **प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात्** = प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं बनता है।

सङ्कलितार्थ—अर्थापत्ति भी एक पृथक् प्रमाण है। संगत न हो रहे अर्थ को देखने से उसको संगत बैठाने के लिए एक अन्य अर्थ की कल्पना ही अर्थापत्ति प्रमाण है। जैसे कि 'मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है' ऐसा देखने या सुनने पर रात्रिभोजनरूप अर्थ की कल्पना की जाती है। दिन में भोजन नहीं करने वाले का पीनत्व रात्रिभोजन के बिना संगत नहीं बैठता है, अतः पीनत्व की रात्रिभोजन के बिना (अन्यथा) उपपत्ति (संगति) के नहीं बैठने से उत्पन्न अर्थापत्ति ही रात्रि के भोजन में प्रमाण होता है। वह अर्थापत्ति प्रत्यक्ष आदि से भिन्न ही है, क्योंकि रात्रिभोजन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है।

विवेचन

प्रमेय-पदार्थ की सिद्धि के लिए नैयायिक प्रत्यक्ष अनुमान उपमान एवं शब्द-प्रमाण को ही मानते हैं। परन्तु मीमांसक एवं वेदान्ती अर्थापत्ति को भी प्रमाण मानते हैं। मीमांसक के अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव करने से पूर्व पूर्वपक्ष के रूप में ही अर्थापत्ति का स्वरूप उदाहरण सहित बताया जा रहा है।

अर्थापत्तिः—अर्थस्य आपत्तिः = आपादनम् कल्पनम् वा = अर्थ का आपादन या कल्पना। अथवा अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् इस व्यधिकरण बहुव्रीहि के अनुसार जिससे अर्थान्तर की कल्पना की जाये वह करण = साधन = प्रमाण अर्थापत्ति है।

तर्क-भाषा

नैतत्। रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात्। तथाहि—अयं देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते, दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्। यस्तु न रात्रौ भुङ्क्ते, नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनो, यथा दिवारात्रौ चाऽभुञ्जानोऽपीनो, न चायं तथा, तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात्। किमर्थमर्थापत्तिः पृथक्त्वेन कल्पनीया।

NOTES

NOTES

सन्दर्भ—प्रत्यक्षादि से भिन्न प्रमाण अर्थापत्ति है। इसका निराकरण करते हुए तर्कभाषाकार अर्थापत्ति को अनुमान में ही व्यतिरेकी-अनुमान से अन्तर्भूत करते हैं—

अर्थ—न एतत् = (अर्थापत्ति चारों प्रमाणों से भिन्न है) यह कथन सही नहीं है (क्योंकि), **रात्रिभोजनस्य** = रात्रि का भोजन, **अनुमानविषयत्वात्** = अनुमान प्रमाण का विषय है, **तथा हि** = जैसे कि, **अयं देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते** = यह देवदत्त रात्रि में खाता है (क्योंकि), **दिवा अभुञ्जानत्वे सति** = दिन में नहीं खाते हुए भी, **पीनत्वात्** = मोटा है, **यस्तु न रात्रौ भुङ्क्ते** = जो व्यक्ति रात्रि में नहीं खाता है, **नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनः** = वह दिन में नहीं खाते हुए भी मोटा नहीं है, **यथा** = जैसे, **दिवा रात्रौ च अभुञ्जानः अपीनः** = दिन और रात्रि में नहीं खाने वाला मोटा नहीं होता, **न च अयम् तथा** = यह देवदत्त वैसा अपीन नहीं है, **तस्मात् न तथा** = इसलिए वैसा अपीन (अपुष्ट) नहीं है, **इति** = इस प्रकार के, **केवलव्यतिरेक्यनुमानेन एव** = केवलव्यतिरेकी अनुमान से ही, **रात्रिभोजनस्य** = रात्रि के भोजन की, **प्रतीयमानत्वात्** = प्रतीति होती है, **किमर्थम्** = किसलिए, **पृथक्त्वेन** = पृथक्रूप से, **अर्थापत्तिः** = अर्थापत्ति की, **कल्पनीया** = कल्पना की जाये।

सङ्कलितार्थ—(अर्थापत्ति भिन्न प्रमाण है) यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि रात्रिभोजन अनुमान प्रमाण का विषय है। जैसे—यह देवदत्त रात्रि में भोजन करता है (प्रतिज्ञा), क्योंकि दिन में भोजन न करने पर भी यह मोटा (पीन) है (हेतु), जो रात्रि में नहीं खाता वह दिन में नहीं खाने पर मोटा नहीं होता, जैसे दिन और रात्रि में नहीं खाने वाला मोटा नहीं होता (उदाहरण) यह देवदत्त वैसा अपीन = दुर्बल नहीं है (उपनय), इसलिए यह वैसा (दिन और रात्रि में भोजन नहीं करने वाला) नहीं है, अर्थात् रात्रि में भोजन करता है, (निगमन) इस प्रकार के केवलव्यतिरेकी अनुमान से ही रात्रिभोजन रूप अर्थ की प्रतीति हो जाने से किसलिए अर्थापत्ति को अलग प्रमाण माना जाये।

तर्क-भाषा

(अभावः)

ननु अभावाख्यमपि पृथक् प्रमाणमस्ति। तच्चाभावग्रहणायाङ्गीकरणीयम्। तथा हि—घटाद्यनुपलब्ध्या घटाद्यभावो निश्चीयते। अनुपलब्धिश्चोपलब्धेरभावः। इत्यभावप्रमाणेन घटाद्यभावो गृह्यते।

नैतत्। यद्यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवादृक्ष्यदित्यादितर्क-सहकारिणाऽनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवाभावग्रहणात्।

अर्थदीपिका

सन्दर्भ—भाट्टमीमांसक एवं वेदान्ती अभाव को भी पृथक् प्रमाण मानते हैं। ग्रन्थकार उनका मत प्रदर्शित कर अभाव को प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत करते हुए कहते हैं—

अर्थ—(प्रश्न) **ननु** = अजी, **अभावाख्यम् अपि** = अभाव नाम का भी, **पृथक् प्रमाणम् अस्ति** = एक भिन्न प्रमाण है, **तच्च** = उस अभाव-प्रमाण को, **अभावग्रहणाय** = अभावपदार्थ के ग्रहण के लिए, **अङ्गीकरणीयम्** = स्वीकार करना चाहिए, **तथा हि** = जैसे कि, **घटादि अनुपलब्ध्या** = घट आदि की उपलब्धि न होने से, **घटादि अभावः** = घट आदि पदार्थ का अभाव, **निश्चीयते** = निश्चित किया जाता है, **अनुपलब्धिश्च** = और अनुपलब्धि ा, **उपलब्धेः अभावः** = उपलब्धि का अभाव ही है, **इति अभावप्रमाणेन** = इसलिए अभाव प्रमाण के द्वारा, **घटाद्यभावः** = घट आदि के अभाव को, **गृह्यते** = ग्रहण करता है।

समाधान—नैतत् = यह कथन ठीक नहीं है, **यदि अत्र घटः अभविष्यत्** = यदि यहाँ घट होता, **तर्हि** = तब, **भूतलम् इव** = भूतल के समान, **अद्रक्ष्यत्** = दिखाई देता, **इत्यादितर्कसहकारिणा** = इत्यादि तर्क के साथ, **अनुपलम्भसनाथेन** = अनुपलब्धि से युक्त, **प्रत्यक्षेण एव** = प्रत्यक्षप्रमाण से ही, **अभावग्रहणात्** = अभाव का ग्रहण हो जाया करता है।

सङ्कलितार्थ—भाट्टमीमांसक एवं वेदान्ती का मानना है कि अभाव नाम का भी एक पृथक् प्रमाण है। उस अभाव-प्रमाण को अभावपदार्थ के लिए स्वीकार किया जाना चाहिए।

जैसे कि घट आदि पदार्थों की अनुपलब्धि से घटादि के अभाव का निश्चय होता है और अनुपलब्धि कहते हैं उपलब्धि के अभाव को। इस तरह अभावप्रमाण से घटादि के अभाव का ग्रहण होता है।

नैयायिक का कहना है कि यह ठीक नहीं है। यदि यहाँ पर घट होता तो भूतल के समान दिखाई देता, इत्यादि तर्क के सहयोगी अनुपलब्धि से युक्त प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा ही अभावपदार्थ को ग्रहण होता है।

विवेचन

मीमांसक एवं वेदान्ती अभाव को पृथक् प्रमाण मानते हैं। वे मानते हैं कि पदार्थ की अनुपलब्धि से जो पदार्थ का अभावज्ञान होता है वह अनुपलब्धि प्रमा है। इसका कारण है अनुपलब्धि, और अनुपलब्धि क्या है? अनुपलब्धि तो उपलब्धि का अभाव ही है।

तर्क-भाषा

ननु इन्द्रियाणि सम्बद्धार्थग्राहकणि। तथाहीन्द्रियाणि वस्तु प्राप्य प्रकाशकारीणि ज्ञानकारणत्वादालोकवत्। यद् वा चक्षु:श्रोत्रे वस्तु प्राप्य प्रकाशकारिणी बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्। त्वगादीनान्तु प्राप्य प्रकाशकारित्वमुभयववादिसिद्धमेव।

सन्दर्भ—नैयायिक प्रत्यक्षप्रमाण (इन्द्रिय) से ही अभाव का ग्रहण करते हैं। परन्तु पूर्वपक्षी इस पर तीन आपत्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। पूर्वपक्षी की प्रथम आपत्ति को यहाँ पर दिखाया जा रहा है—

अर्थ—(प्रश्न) **ननु** = नैयायिक जी!, **इन्द्रियाणि** = इन्द्रियाँ, **सम्बद्धार्थग्राहकाणि** = सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण कराती हैं, **तथा हि** = जैसे कि (अनुमान किया जाता है), **इन्द्रियाणि** = इन्द्रियाँ, **वस्तु** = पदार्थ को, **प्राप्य** = प्राप्त करके, **प्रकाशकारीणि** = प्रकाशित करने वाली होती है, **ज्ञानकारणत्वात्** = ज्ञान का कारण होने, **आलोकवत्** = प्रकाश के समान, **यद्वा** = अथवा, **चक्षु:श्रोत्रे** = नेत्र और श्रोत्र, **वस्तु** = पदार्थ को, **प्राप्य** = प्राप्त करके, **प्रकाशकारिणी** = प्रकाशित करने वाली होती हैं, **बहिरिन्द्रियत्वात्** = बाह्य इन्द्रिय होने से, **त्वागादिवत्** = त्वक् आदि इन्द्रियों का, **प्राप्यप्रकाशकारित्वम्** = (वस्तु को) प्राप्त प्रकाशित करना तो, **उभयवासिद्धम् एव** = दोनों वादियों पूर्वपक्षी एवं सिद्धान्ती को स्वीकार ही है।

सङ्कलितार्थ—(पूर्वपक्षी नैयायिक से कहता है कि) इन्द्रियाँ अपने से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण कराती हैं। जैसे कि अनुमान है—इन्द्रियाँ पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाशित करती हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे ज्ञान के कारण हैं (हेतु) आलोक के समान (उदाहरण)। अथवा नेत्र और श्रोत पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाशित करने वाली हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे बाह्य इन्द्रियाँ हैं (हेतु) त्वगादिवत् = जैसे कि त्वक् आदि इन्द्रियाँ का वस्तु (पदार्थ) को प्राप्त करके प्रकाशित करती हैं (उदाहरण) त्वक् आदि इन्द्रियों वस्तु (पदार्थ) को प्राप्त करके प्रकाशित करने की बात तो दोनों वादियों—पूर्वपक्षी एवं सिद्धान्ती को स्वीकार ही है (अर्थात् त्वगादि बाह्य इन्द्रिय के समान ही नेत्र-श्रोत भी पदार्थ से सम्बद्ध होकर ही उन्हें प्रकाशित करते हैं। अभाव में कोई वस्तु है ही नहीं तो प्रत्यक्ष इन्द्रियाँ कैसे उसका ग्रहण करेंगी?)।

विवेचन

नैयायिक तथा मीमांसक दोनों इस बात पर सहमत हैं कि इन्द्रियाँ सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण कराती हैं। इसी बात को पकड़कर पूर्वपक्षी मीमांसक कहना चाहते हैं कि इन्द्रिय द्वारा अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। अत: प्रत्यक्ष से अभाव का ग्रहण न होने से इसे पृथक् प्रमाण मानना चाहिए।

NOTES

न चेन्द्रियाभावयोः सम्बन्धोऽस्ति, संयोगसमवायौ हि सम्बन्धौ, न च तौ तयोः स्तः। द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमात्। अभावस्य च द्रव्यत्वाभावात्। अयुतसिद्ध्यभावान्न समवायोऽपि।

विशेषणविशेष्यभावश्च सम्बन्ध एव न सम्भवति, भिन्नोभयाश्रितैकत्वाभावात्। सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवत्युभयसम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च।

यथा—भेरीदण्डयोः संयोगः। स हि भेरीदण्डाभ्यां भिन्नस्तदुभयाश्रितश्चैकश्च। न च विशेषण-विशेष्यभावस्तथा।

सन्दर्भ—पूर्वपक्षी पूर्वोक्त अनुमान से यह सिद्ध करना चाहता है कि इन्द्रिय और अभाव सम्बन्ध ही नहीं है। चाहे वह संयोग या समवाय हो, अथवा विशेषणविशेष्यभाव, इसी बात को यहाँ सोदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

अर्थ—इन्द्रियाभावयोः = इन्द्रिय और अभाव का, **न च सम्बन्धोऽस्ति** = सम्बन्ध ही नहीं है, **हि** = क्योंकि, **संयोगसमवायौ सम्बन्धौ** = (न्यायवैशेषिक मत में) संयोग और समवाय ही सम्बन्ध हैं, **तौ** = वे दोनों, **न च तयोः स्तः** = इन्द्रिय और अभाव में होते ही नहीं हैं, क्योंकि, **द्रव्ययोः एव संयोगः** = दो द्रव्य पदार्थों में ही संयोग होता है, **इति नियमात्** = ऐसा नियम है, **अभावस्य च द्रव्यत्वाभावात्** = और अभाव तो द्रव्य ही नहीं है, **अयुतसिद्ध-अभावात्** = (इन्द्रिय और अभाव में) अयुतसिद्ध का अभाव होने से, **न समवायोऽपि** = समवायसम्बन्ध भी नहीं है।

विशेषणविशेष्यभावश्च = और विशेषणविशेष्यभाव, **सम्बन्ध एव न सम्भवति** = सम्बन्ध ही नहीं हो सकता है (कारण यह है कि वह), **भिन्नोभयाश्रित एकत्वाभावात्** = सम्बन्धियों से भिन्न, दोनों पर आश्रित एवं एक नहीं होता है, **सम्बन्धो हि** = सम्बन्ध तो, **सम्बन्धिभ्यां भिन्नः** = दोनों सम्बन्धियों से भिन्न, **उभयसम्बन्धयाश्रितः च** = और दोनों सम्बन्धियों पर आश्रित, **एकश्च भवति** = और एक होता है, **यथा** = जैसे कि, **भेरीदण्डयोः** = नगाड़ा एवं दण्ड से, **भिन्नः** = संयोग होता है, **स हि** = वह संयोग तो, **भेरीदण्डाभ्याम्** = नगाड़ा एवं दण्ड से, **भिन्नः** = भिन्न है, **उभयाश्रितश्च** = और दोनों (भेरीदण्ड) पर आश्रित है, **एकश्च** = और एक है, **च विशेषणविशेष्यभावः** = और विशेषणविशेष्यभाव, **न तथा** = वैसा नहीं है।

सङ्कलितार्थ—किन्तु इन्द्रिय और अभाव में कोई सम्बन्ध नहीं है (न्यायवैशेषिक मत में) संयोग और समवाय ही सम्बन्ध हैं। किन्तु ये दोनों इन्द्रिय और अभाव में हैं ही नहीं। यह भी नियम है कि दो द्रव्यों का ही संयोग सम्बन्ध होता है, और अभाव तो द्रव्य है ही नहीं। इन्द्रिय और अभाव में अयुतसिद्धता के न होने से समवायसम्बन्ध भी नहीं हो सकता है।

और विशेषणविशेष्यभाव तो सम्बन्ध ही नहीं हो सकता है, क्योंकि वह सम्बन्धियों से भिन्न, दोनों पर रहने वाला तथा एक नहीं है। सम्बन्ध तो दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होता है, दोनों सम्बन्धियों पर आश्रित होता है और एक होता है। जैसे कि भेरी = नगाड़ा और दण्ड का संयोग। वह संयोग नगाड़ा और दण्ड इन दोनों से भिन्न है, दोनों पर आश्रित है और एक है। किन्तु विशेषणविशेष्यभाव वैसा नहीं है। (= सम्बन्धियों से भिन्न, उभयाश्रित और एक नहीं है)।

विवेचन

(1) इन्द्रिय और अभाव का सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

(2) विशेषणविशेष्यभाव पर सम्बन्ध का लक्षण घटित नहीं होने से विशेषणविशेष्यभाव को सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है।

तथा हि—दण्डपुरुषयोर्विशेषण-विशेष्यभावो न ताभ्यां भिद्यते। नहि दण्डस्य विशेषणत्वमर्थान्तरम्, नापि पुरुषस्य विशेष्यत्वमर्थान्तरम्, अपितु स्वरूपमेव। अभावस्यापि विशेषणत्वात् विशेष्यत्वाच्च। न चाभावे कस्यचित् पर्दास्य द्रव्याद्यन्यतमस्य सम्भवः। तस्मादभावस्य स्वोपरक्तबुद्धिजनकत्वं यत् स्वरूपं तदेव विशेषणत्वं, न तु पदार्थान्तरम्।

NOTES

सन्दर्भ—विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध नहीं कहला सकता है, इसकी पुष्टि 'दण्डी पुरुषः' उदाहरण द्वारा पूर्वपक्षी कर रहे हैं—

अर्थ—तथा हि = जैसे कि (दण्डी पुरुषः इस विशिष्ट प्रतीति में), **दण्डपुरुषयोः** दण्ड और पुरुष का, **विशेषणविशेष्यभावः** = जो विशेषणविशेष्यभाव है, वह, **ताभ्यां** = दण्ड और पुरुष उन दोनों से, **न भिद्यते** = भिन्न नहीं है, **दण्डस्य** = दण्ड की, **विशेषणत्वम्** = विशेषणता, **नहि अर्थान्तरम्** = उससे भिन्न पदार्थ नहीं है, **नाति** = और न ही, **पुरुषस्य** = पुरुष की, **विशेष्यत्वम्** = विशेष्यता, **अर्थान्तरम्** = पुरुष से भिन्न अर्थ है, **अति तु** = किन्तु, **स्वरूपम् एव** = दण्ड और पुरुष का स्वरूप ही है, **अभावस्य अपि** = अभाव का भी, **विशेषणत्वात्** = विशेषण के रूप में होने से, **विशेष्यत्वाच्च** = और विशेष्य के रूप में होने से दोनों अभाव के स्वरूप ही हैं, **च अभावे** = और अभाव में, **द्रव्याद्यन्यतमस्य** = द्रव्यादि पदार्थों में से, अन्यतम, **कस्यचित् पदार्थस्य** = किसी पदार्थ का रहना, **न सम्भवः** = सम्भव नहीं है, **तस्मात्** = अतः, **अभावस्य** = अभाव का, **स्वोपरक्तबुद्धिजनकत्वम्** = अपने अभाव से उपरक्त = युक्त बुद्धि को उत्पन्न करने वाला, **यत् स्वरूपम्** = जो स्वरूप है, **तदेव** = वही, **विशेषणत्वम्** = अभाव की विशेषणता है, **न तु** = न कि, **पदार्थान्तरम्** = वह (अभाव से) भिन्न पदार्थ है।

(मूले रेखाङ्कितभागः क्वचित् पुस्तके नोपलभ्यते)

सङ्कलितार्थ—यथा (दण्डी पुरुषः इस विशेष ज्ञान में) दण्ड और पुरुष का विशेषणविशेष्यभाव दण्ड और पुरुष से भिन्न नहीं है। दण्ड की विशेषणता दण्ड से भिन्न अर्थ नहीं है और न ही पुरुष की विशेष्यता पुरुष से भिन्न अर्थ है, किन्तु दण्ड और पुरुष का स्वरूप ही विशेषणता एवं विशेष्यता है। इसी प्रकार अभाव भी विशेषण और विशेष्य होता है (अतः वह अभाव से भिन्न अर्थ नहीं है) और अभाव में द्रव्यादि पदार्थों में से एक पदार्थ का रहना भी सम्भव नहीं है। इसलिए अभाव का अपने स्वरूप से युक्त बुद्धि को उत्पन्न करने का जो स्वरूप है वही विशेषणता है, न कि अन्य पदार्थ।

विवेचन

सम्बन्ध में तीन अंशों की स्थिति होती है, यह पहले बताया जा चुका है। वह सम्बन्धियों से भिन्न हो—(1) वह उभयाश्रित हो, (2) वह एक हो, (3)। इन तीनों में प्रथम अर्थात् विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्धियों से भिन्न नहीं है, अतः यह सम्बन्ध नहीं हो सकता है, इसका प्रतिपादन यहाँ पर हुआ है।

उदाहरण के लिए—दण्डी पुरुषः = दण्डवाला पुरुष है, इस ज्ञान में दण्ड विशेषण एवं पुरुष विशेष्य है। विशेषण में विशेषणता एवं विशेष्य में विशेष्यता होती है। दण्ड की विशेषणता दण्ड के स्वरूप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और पुरुष की विशेष्यता पुरुष के स्वरूप से भिन्न कुछ भी नहीं है। इस तरह विशेषणविशेष्यभाव दोनों सम्बन्धियों—दण्ड और पुरुष का अपना स्वरूप ही है, उनसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है।

यदि विशेषणविशेष्यभाव को उस पदार्थ का स्वरूप न माना जाये, उस पदार्थ से भिन्न माना जाये तो क्या होगा? समाधान करते हुए कहा है—अभावस्यापि...। अभाव भी विशेषण और विशेष्य ही होता है। विशेषणविशेष्य को यदि उस पदार्थ से भिन्न मानें तब न्यायवैशेषिक के द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव इन सातों में से किसी एक का स्वरूप मानना होगा।

NOTES

एवं व्याप्यव्यापकत्वकारणत्वादयोऽप्यूह्याः। स्वप्रतिबद्धबुद्धिजनकत्वं स्वरूपमेव हि व्यापकत्वमग्न्यादीनाम्। कारणत्वमपि कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि स्वरूपमेव हि तन्त्वादीनां, नत्वर्थान्तरमभावस्यापि व्यापकत्वात् कारणत्वाच्च। नह्यभावे सामान्यादिसम्भवः।

तदेवं विशेषणविशेष्यभावो न विशेषणविशेष्यस्वरूपाभ्यां भिन्नः। नाप्युभयाश्रितो, विशेषणे विशेषणभावमात्रस्य सत्त्वाद् विशेष्यभावस्याभावाद्, विशेष्ये च विशेष्यभावमात्रस्य सद्भावात् विशेषणभावस्याभावात्।

अर्थ—विशेषणविशेष्यभाव के समान व्याप्यव्यापकभाव एवं कार्यकारण-भाव आदि भी पदार्थ के स्वरूप से भिन्न कोई अर्थ नहीं है, यह यहाँ बताया जा रहा है—

अर्थ—एवम् = विशेषणविशेष्यभाव के समान ही, **व्याप्याव्यापकत्व-कारणत्वादयः अपि ऊह्याः** = व्याप्यव्यापकभाव तथा कार्यकारणत्व-भाव आदि को भी सम्बन्धिस्वरूप ही जानना चाहिए, **स्वप्रतिबद्धबुद्धिजनकत्वम्** = अपने से (स्व) सम्बद्ध (व्याप्य धूम है) इस प्रकार की बुद्धि को उत्पन्न करने वाला, **स्वरूपम् एव** = स्वरूप ही, **व्यापकत्वमग्न्यादीनाम्** = अग्नि आदि का व्यापकत्व है, **कारणत्वम् अपि** = कारणता भी, **कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि स्वरूपम् एव** = कार्य (पटादि) के द्वारा अन्वयव्यतिरेकी का अनुसरण करने वाला स्वरूप ही, **तन्त्वादीनाम्** = तन्तु आदि का है, **न तु अर्थान्तरम्** = व्याप्यव्यापकभाव कार्यकारणत्वादि अन्य अर्थ नहीं है, **अभावस्यापि** = क्योंकि अभाव में भी, **व्यापकत्वात्** = व्यापकता होती है, **कारणत्वाच्च** = और कारणता होती है, **अभावे** = (अतः) अभाव में, **नहि सामान्यादिसम्भवः** = सामान्य आदि का रहना सम्भव नहीं है। (यदि व्याप्यव्यापकभाव आदि को सम्बन्धियों से भिन्न मानेंगे तब विशेषणविशेष्यभाव के, समान व्याप्यव्यापकभावादि भी द्रव्यादि छः पदार्थों में से कोई एक माना जायेगा, किन्तु अभाव में सामान्यादि का रहना सम्भव नहीं है।)

तदेवम् = तो इस प्रकार, **विशेषणविशेष्यभावो** = विशेषणत्व और विशेष्यत्व, **न विशेषणविशेष्यस्वरूपाभ्यां भिन्नः** = विशेषण और विशेष्य के स्वरूप से भिन्न नहीं है, **नाऽपि उभयाश्रितः** = और न ही विशेषणविशेष्यभाव दोनों सम्बन्धियों पर आश्रित है, क्योंकि **विशेषणे** = विशेषण में, **विशेषणभावमात्रस्य** = विशेषणभाव मात्र, **सत्त्वात्** = रहता है, **विशेष्यभावस्य अभावात्** = विशेष्यभाव का अभाव रहता है, **विशेष्ये च** = और विशेष्य में, **विशेष्यभावमात्रस्य** = विशेष्यभाव मात्र का, **सद्भावात्** = सद्भाव है, **विशेषणभावस्य अभावात्** = और विशेषणभाव का अभाव है।

सङ्कलितार्थ—विशेषणविशेष्यभाव के समान व्याप्यव्यापकभाव एवं कार्यकारण-भाव आदि भी (सम्बन्धियों से भिन्न नहीं, अपितु सम्बन्धी स्वरूप ही) जानना चाहिए। अपने से व्याप्य धूम है (= प्रतिबद्ध) इस प्रकार की बुद्धि को उत्पन्न करने वाला जो अग्नि आदि का स्वरूप है वही अग्नि का व्यापकत्व है। इसी तरह तन्तु आदि का वह स्वरूप ही कारणत्व है, जिसके अन्वय एवं व्यतिरेक का पटादि कार्य द्वारा अनुसरण किया जाता है। ये व्याप्यव्यापकभाव एवं कार्यकारण-भाव आदि भिन्न पदार्थ नहीं हैं। चूँकि अभाव में भी व्यापकत्व एवं कारणत्व होता है, अतः विशेषणविशेष्यभाव के समान व्याप्यव्यापकभाव एवं कार्यकारण-भाव को भी द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय में से कोई पदार्थ मानना होगा। किन्तु अभाव में सामान्यादि का रहना सम्भव ही नहीं है।

इस प्रकार विशेषणविशेष्यभाव विशेषणविशेष्य के अपने रूप से भिन्न नहीं है। न ही वह उभयाश्रित ही है। क्योंकि विशेषण में विशेषणभाव मात्र रहता है, विशेष्यभाव का अभाव है और विशेष्य में विशेष्यभाव मात्र रहता है, वहाँ विशेषणभाव का अभाव है।

विवेचन

जिस प्रकार विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार व्याप्यव्यापकभाव तथा कार्यकारण-भाव भी सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं होता। अत: ये भी सम्बन्ध नहीं है यह आशय है, उपर्युक्त पंक्तियों का। यथा—धूम और अग्नि। इन दोनों में व्याप्यव्यापकभाव माना जाता है। धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक।

NOTES

तर्क-भाषा

नाप्येको, विशेषणं च विशेष्यञ्च तयोर्भाव इति द्वन्द्वात् परं श्रूयमाणो भावशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तथा च विशेष्यभवश्चेत्युपपन्नम्। द्वावेतावेकश्च सम्बन्धः।

तस्माद् विशेषणविशेष्यभावो न सम्बन्धः। एवं व्याप्यव्यापकभावादयोऽपि। सम्बन्धशब्दप्रयोगस्तूभय-निरूपणीत्वसाधर्म्येणोपचारात्। तथा चासम्बद्धस्या-भावस्येन्द्रियेण ग्रहणं न सम्भवति।

सन्दर्भ—विशेषणविशेष्यभाव एक भी नहीं है। इस तृतीय अंश को बताकर विशेषणभावादि के सम्बन्धत्व निराकरण का उपसंहार पूर्वपक्षी के मत से किया जा रहा है—

अर्थ—नापि एकः = यह (विशेषणविशेष्यभाव) एक भी नहीं है, **विशेषणञ्च विशेष्यञ्च** = विशेषण और विशेष्य (का द्वन्द्व कर विशेषणविशेष्य बनता है), **तयोः भावः** = उनका भाव (विशेषणविशेष्यभाव), **इति द्वन्द्वात् परम्** = इस द्वन्द्व, समासयुक्त विशेषणविशेष्य के आगे, **श्रूयमाणः भावशब्दः** = सुनाई पड़ रहा भाव शब्द, **प्रत्येकम्** = प्रत्येक के साथ (विशेषण और विशेष्य के साथ), **अभिसम्बध्यते** = जुड़ जाता है, **तथाच** = और इस प्रकार, **विशेषणभावः विशेष्यभावश्च** = विशेषणभाव और विशेष्यभाव, **इति उपपन्नम्** = यह अर्थ संगत हो जाता है, **द्वौ एतौ** = ये दो हैं, **एकश्च सम्बन्धः** = किन्तु सम्बन्ध एक होता है।

तस्मात् = इसलिए, **विशेषणविशेष्यभावः** = विशेषणविशेष्यभाव, **न सम्बन्धः** = सम्बन्ध नहीं है, **एवम्** = इसी तरह, **व्याप्यव्यापकभावादयः अपि** = व्याप्य व्यापकभाव आदि भी सम्बन्ध नहीं है, **सम्बन्धशब्दप्रयोगः तु** = (इनके लिए) सम्बन्ध शब्द का प्रयोग तो, **उभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्येण** = दो के द्वारा प्रतिपादित होने की समानता के कारण, **उपचारात्** = उपचार (गौण रूप) से होता है, **तथा च** = इस प्रकार, **असम्बद्धस्य** = इन्द्रिय से असम्बद्ध, **अभावस्य** = अभाव का, **इन्द्रियेण** = इन्द्रियों के द्वारा, **ग्रहणं** = ग्रहण, **न सम्भवति** = सम्भव नहीं होता है।

सङ्कलितार्थ—विशेषणविशेष्यभाव एक भी नहीं है। विशेषण और विशेष्य का द्वन्द्व कर विशेषणविशेष्य बनता है। उनका भाव इस अर्थ में विशेषणविशेष्यभाव बनता है। द्वन्द्व-समास युक्त विशेषणपिशेष्य के आगे श्रूयमाण भाव शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है और विशेषणभाव विशेष्यभाव यह अर्थ हो जाता है। ये दो हैं, किन्तु सम्बन्ध तो एक ही होता है।

इसलिए विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह व्याप्यव्यापकभाव, कार्यकारण-भाव आदि भी सम्बन्ध नहीं हैं। इनके लिए सम्बन्ध शब्द का प्रयोग तो दो के द्वारा प्रतिपादित किये जाने की समानता के कारण लक्षण (उपचार/गौणवृत्ति) द्वारा होता है।

अत: इन्द्रिय से सम्बद्ध द्वारा ग्रहण नहीं होता है। (उपर्युक्त विवेचन का सार है कि अभाव को पृथक् प्रमाण मानना चाहिए, यह पूर्वपक्ष का उपसंहार है)।

विवेचन

सम्बन्ध (i) सम्बन्धियों से भिन्न होता है, (ii) उभयाश्रित होता है, (iii) एक होता है। किन्तु विशेषणविशेष्यभावादि में ये अंश घटित नहीं होते। दो अंशों का घटित न होना पहले बताया गया। यहाँ पर तीसरे

NOTES

अंश को **नाप्येकः** द्वारा बता रहे हैं। अर्थात् विशेषणविशेष्यभाव को सम्बन्ध मानने पर उन्हें एक मानना चाहिए, किन्तु ये एक नहीं हैं। अतः सम्बन्ध भी नहीं हैं।

तर्क-भाषा

सत्यम्। भावावच्छिन्नत्वाद् व्याप्तेर्भावं प्रकाशयदिन्द्रियं प्राप्तमेव प्रकाशयति, नत्वभावमपि। अभावं प्रकाशयदिन्द्रियं विशेषणविशेष्यभावमुखेनैवेति सिद्धान्तः।

असम्बद्धाभावग्रहेऽतिप्रसङ्गदोषस्तु विशेषणतयैव निरस्तः। समश्च परमते।

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।

नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे।।

सन्दर्भ—पूर्वपक्षी मीमांसक ने विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध का खण्डन करते हुए उसके द्वारा प्रत्यक्षेन्द्रिय प्रमाण से अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता, अतः अभाव को पृथक प्रमाण मानना चाहिए यह बताया। सिद्धान्ती नैयायिक इसका उत्तर देते हुए अभाव का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होता है, अपने इस मत की पुष्टि करते हुए उपसंहार कर रहे हैं—

अर्थ—सत्यम् = यह सही है कि इन्द्रिय द्वारा सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण होता है, असम्बद्ध का नहीं, किन्तु, **भावावच्छिन्नत्वात् व्याप्तेः** = व्याप्ति के भावपदार्थ तक सीमित रहने के कारण से, **भावम् प्रकाशयन्** = भावपदार्थ को प्रकाशित करती हुई, **इन्द्रियम्** = इन्द्रिय, **प्राप्तम् एव** = सम्बद्ध (प्राप्त) अर्थ को ही, **प्रकाशयति** = प्रकाशित करती है, **न तु अभावम् अपि** = अभाव पदार्थ को नहीं, **अभावम् प्रकाशयत् इन्द्रियम्** = अभावपदार्थ को प्रकाशित करने वाली इन्द्रिय, **विशेषणविशेष्यभावमुखेन एव** = विशेषणविशेष्यभाव के द्वारा ही (मुखेन) प्रकाशित करती है, **इति सिद्धान्तः** = यह सिद्धान्त है।

असम्बद्धाभावग्रहे = (इन्द्रिय द्वारा) असम्बद्ध अभाव का ग्रहण मानने पर, **अतिप्रसङ्गदोषः तु** = जो अतिप्रसङ्ग नामक दोष (= दोष की आशङ्का) है, वह तो, **विशेषणतया एव** = विशेषणता (विशेषणविशेष्यभाव) के द्वारा ही, **निरस्तः** = निरस्त हो जाता है, **समश्च परमते** = और वह दोष परमत (पूर्वपक्षी के मत) में भी समान है।

यत्र = जहाँ पर, **उभयोः** = दोनों पक्षों में, **समो दोषः** = समान रूप से दोष होता है, **परिहारः अपि वा समः** = अथवा दोष का परिहार भी समान रूप से होता है, **तादृगर्थविचारणे** = उस प्रकार के अर्थ के विचार करने में, **एकः न पर्यनुयोक्तव्यः** = एक ही पक्ष पर आक्षेप नहीं करना चाहिए (= पर्यनुयोक्तव्यः)।

सङ्कलितार्थ—यह सही है कि इन्द्रिय सम्बद्ध अर्थ का ही ग्रहण करती है असम्बद्ध का नहीं किन्तु यह व्याप्ति भावपदार्थ तक ही सीमित(अविच्छिन्न) है। अर्थात् भावपदार्थ को प्रकाशित करने वाली इन्द्रिय प्राप्त = सम्बद्ध अर्थ को ही प्रकाशित करती है, अभाव को नहीं। अभावपदार्थ को प्रकाशित करने वाली इन्द्रिय तो विशेषणविशेष्यभाव के द्वारा ही प्रकाशित करती है, यह सिद्धान्त है।

असम्बद्ध अभाव के ग्रहण में आने वाले अतिप्रसङ्ग दोष का परिहार तो विशेषणता (इन्द्रिय सम्बद्ध विशेषणविशेष्यभाव) के द्वारा ही हो जाता है और वह दोष पूर्वपक्षी के मत में भी समान ही है।

जहाँ पर दोनों पक्षों में समान दोष होता है और दोष का परिहार भी समान होता है, इस प्रकार के अर्थ का विचार करने में किसी एक पक्ष पर आक्षेप नहीं करना चाहिए।

NOTES

विवेचन

नैयायिक द्वारा पूर्वपक्षी के मत का खण्डन करने का आशय यह है कि—'इन्द्रिय अपने से सम्बद्ध पदार्थ का ग्रहण करती है' यह नियम द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष्य और समवाय इन छह भावपदार्थों के लिए ही है। किन्तु अभावपदार्थ जो सप्तम है, उसका ग्रहण करने के लिए इन्द्रिय का अभाव के साथ सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् संयोग या समवायसम्बन्ध की आवश्यकता अभाव के ग्रहण के लिए नहीं है। अनुभव से ज्ञात होता है कि इन्द्रिय विशेषणविशेष्यभाव द्वारा ही अभाव का ग्रहण करती है। इसके लिए अनुकूल तर्क और अनुपलब्धि की सहायता से इन्द्रिय अपने से असम्बद्ध अभाव का ग्रहण कर लेती है। अत: अभाव को पृथक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

तर्क-भाषा

प्रामाण्यवादः

इदमिदानीं निरूप्यते। जलादिज्ञाने जाते, तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते। कश्चित् सन्देहादेव प्रवृत्तः, प्रवृत्त्युत्तरकाले जलादिप्रतिलम्भे सति प्रामाण्यमवधारयतीति वस्तुस्थितिः।

सन्दर्भ—प्रमाकरण = यथार्थ-ज्ञान का साधन प्रमाण है और यथार्थ-ज्ञान भी प्रमाण है। दोनों अर्थों में प्रमाण शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ पर यथार्थ-ज्ञान के लिए प्रमाण शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रमाणस्य भावः = प्रमाण + ष्यञ् = प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान की यथार्थता। प्रामाण्य-सम्बन्धी वाद प्रामाण्यवाद कहलाता है। उपर्युक्त उद्धरण द्वारा प्रामाण्यवाद का विवेचन किया जा रहा है—

अर्थ—इदम् इदानीम् निरूप्यते = अब यह विचार किया जा रहा है कि, **जलादिज्ञाने जाते** = जल आदि का ज्ञान हो जाने पर, **तस्य** = उसकी, **प्रामाण्यम्** = प्रामाणिकता का, **अवधार्य** = निर्णय करके, **कश्चित्** = कोई व्यक्ति, **जलादौ** = जल आदि (के ग्रहण में या त्याग)में, **प्रवर्तते** = प्रवृत्त होता है, **कश्चित्** = कोई तो, **सन्देहात् एव** = (प्रामाण्य निश्चय के बिना) सन्देह से ही, **प्रवृत्तः** = प्रवृत्त होता है, **प्रवृत्त्युत्तरकाले** = प्रवृत्ति के अनन्तर, **जलादिप्रतिलम्भे** = जलादि की प्राप्ति हो जाने पर, **प्रामाण्यम्** = ज्ञान के प्रामाण्य का, **अवधारयति** = निश्चय करता है, **इति वस्तुस्थितिः** = यह वास्तविक स्थिति है।

सङ्कलितार्थ—अब यह विचार किया जा रहा है कि जलादि का ज्ञान हो जाने पर उसकी प्रामाणिकता का निर्णय कर कोई व्यक्ति जलादि के ग्रहण या त्याग में प्रवृत्त होता है और कोई व्यक्ति (प्रामाण्य-निश्चय के बिना ही) सन्देह से (जलानयनादि में) प्रवृत्त होता है। प्रवृत्ति के पश्चात् जलादि की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करता है, यह वास्तविक स्थिति है।

विवेचन

प्रमाण = यथार्थज्ञान स्वत: प्रामाणिक होता है या अन्य साधन से उसे प्रामाणिक सिद्ध किया जाता है, इस विषय की चर्चा प्रामाण्यवाद कहलाती है। या ज्ञानों का प्रामाण्य-ग्रह कैसे होता है, यह चर्चा ही प्रामाण्यवाद है।

तर्क-भाषा

अत्र कश्चिदाह—प्रवृत्तेः प्रागेव प्रामाण्यवधार्य पुरुषः प्रवर्तते, स्वत एव प्रामाण्यावधारणात्। अस्यार्थः—यैनैव यज्ज्ञानं गृह्यते तनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि, न तु ज्ञानग्राहकादन्यज्ज्ञानधर्मस्य प्रामाण्यस्य ग्राहकम्। तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य। ज्ञाने च प्रवृत्तेः पूर्वमेव गृहीतं कथमन्यथा प्रामाण्याप्रामाण्यसन्देहोऽपि स्यात्। अनधिगते धर्मिणि सन्देहानुदयात्। तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्यमप्यर्थापत्त्यैव गृह्यते। ततः पुरुषः प्रवर्तते। न तु प्रथमं ज्ञानमात्रं गृह्यते, ततः प्रवृत्त्युत्तरकाले फलदर्शनेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते।

NOTES

सन्दर्भ—यहाँ पर मीमांसक के मत से प्रामाण्यवाद की समस्या का समाधान एवं प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता का प्रदर्शन किया जा रहा है—

अर्थ—अत्र = प्रामाण्यवाद के विषय में, **कश्चित्** = भट्ट मीमांसक, **आह** = कहते हैं, **प्रवृत्तेः प्राक् एव** = प्रवृत्ति से पहले ही, **प्रामाण्यम्** = (ज्ञान की) प्रामाणिकता का, **अवधार्य** = निश्चय कर, **पुरुषः** = व्यक्ति, **प्रवर्तते** = (कार्य में) प्रवृत्त होता है, क्योंकि **स्वतः एव** = अपने आप ही, **प्रामाण्यावधारणात्** = (ज्ञान का) प्रामाण्य का निर्धारण होता है, **अस्यार्थः** = इसका आशय यह है, **येन एव** = जिस सामग्री से ही, **यज्ज्ञानम्** = जो ज्ञान, **गृह्यते** = गृहीत होता है, **तेन एव** = उसी सामग्री से, **तद्गतम्** = उस ज्ञान में स्थित, **प्रामाण्यम् अपि** = प्रामाण्य भी गृहीत होता है, **ज्ञानग्राहकादन्यत्** = ज्ञान का ग्रहण कराने वाले से भिन्न, **ज्ञानधर्मस्य** = ज्ञान के धर्म, **प्रामाण्यस्य** = प्रामाण्य का, **न तु ग्राहकम्** = ग्राहक नहीं होता, **तेन** = ज्ञान-ग्राहक तथा प्रामाण्य ग्राहक सामग्री के एक होने से, **ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वम् एव** = ज्ञान के ग्राहक से अतिरिक्त सामग्री की अपेक्षा नहीं करना ही, **प्रामाण्यस्य** = प्रामाण्य का, **स्वतस्त्वम्** = त्वतस्त्व (स्वतोग्राह्यता) है, **ज्ञानञ्च** = और ज्ञान तो, **प्रवृत्तेः पूर्वम् एव** = प्रवृत्ति से पूर्व ही, **गृहीतम्** = गृहीत हो जाता है, **कथम् अन्यथा** = यदि ज्ञान पहले गृहीत न हुआ करे तो कैसे, **प्रामाण्याप्रामाण्यसन्देहोऽपि स्यात्** = (ज्ञान के) प्रामाण्य और अप्रामाण्य का सन्देह भी हो, क्योंकि, **अनधिगते ध र्मिणि** = अज्ञात (अप्राप्त) धर्मी में, **सन्देहानुदयात्** = सन्देह की उत्पत्ति नहीं होती, **तस्मात्** = इसलिए, **प्रवृत्तेःपूर्वमेव** = प्रवृत्ति से पहले ही, **ज्ञातताऽन्यथाऽनुपपत्तिप्रसूतया** = ज्ञातता (रूप कार्य) की अन्यथा (= ज्ञानरूप कारण के बिना) अनुपपत्ति से उत्पन्न, **अर्थापत्त्या** = अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा, **ज्ञाने गृहीते** = ज्ञान का ग्रहण किये जाने पर, **ज्ञानगतम्** = ज्ञान में विद्यमान प्रामाण्य भी, **अर्थापत्त्या एव** =अर्थापत्ति के द्वारा ही, **गृह्यते** = गृहीत होता है, **ततः** = उसके पश्चात्, **पुरुष** = व्यक्ति, **प्रवर्तते** = प्रवृत्त होता है, **न तु प्रथमम्** = न कि पहले, **ज्ञानमात्रं** = ज्ञानमात्र, **गृह्यते** = गृहीत होता है, **ततः** = उसके बाद, **प्रवृत्त्युत्तरकाले** = प्रवृत्ति के उत्तर समय में, **फलदर्शनेन** = फल को देखने से, **ज्ञानस्य** = ज्ञान की, **प्रामाण्यम्** = प्रामाणिकता, **अवधार्यते** = निर्धारित होती है।

सङ्कलितार्थ—प्रामाण्यवाद के विषय में भट्ट मीमांसक कहते हैं—प्रवृत्ति से पूर्व ही प्रामाण्य का निर्णय कर व्यक्ति (कार्य में) प्रवृत्त होता है। क्योंकि ज्ञान के प्रमाण्य का निर्धारण स्वतः ही हो जाता है। (ज्ञान स्वतो ग्राह्य है)। इसका आशय है कि जिस सामग्री से जिस ज्ञान का ग्रहण होता है , उसी सामग्री से उस ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है।

ज्ञान के ग्राहक से अन्य ज्ञान के धर्म प्रामाण्य का ग्राहक नहीं है। ज्ञान-ग्राहक तथा प्रामाण्य ग्राहक-सामग्री के एक होने से ही ज्ञान के ग्राहक सामग्री से भिन्न की अपेक्षा नहीं रखना ही प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता है। ज्ञान तो प्रवृत्ति से पूर्व ही गृहीत हो जाता है। यदि ज्ञान पूर्व में ही गृहीत न हो तब उस ज्ञानरूप धर्मी का प्रामाण्य और अप्रामाण्य का सन्देह भी कैसे होगा। क्योंकि अज्ञात धर्मी में धर्म का सन्देह नहीं उत्पन्न होता। इसलिए प्रवृत्ति से पहले ही ज्ञातता रूप कार्य की अन्यथा-अनुपपत्ति (ज्ञानरूप करण के बिना अनुपपत्ति) से उत्पन्न अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान का ग्रहण किये जाने पर ज्ञान में विद्यमान प्रामाण्य का ग्रहण अर्थापत्ति से हो जाता है। उसके बाद पुरुष (कार्य में) प्रवृत्त होता है। ऐसा नहीं होता कि पहले केवल ज्ञान गृहीत होता है, उसके बाद प्रवृत्ति के उत्तर काल में फल की प्राप्ति देखकर ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय किया जाता है।

विवेचन

पूर्वपक्षी मीमांसक ने उपर्युक्त उद्धरण द्वारा तीन बातों को निर्दिष्ट किया है—

(1) प्रवृत्ति से पहले ही ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है, क्योंकि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है।

(2) स्वतोग्राह्य का स्वरूप बताया गया है।

(3) प्रवृत्ति से पहले ही ज्ञान तथा ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का ग्रहण करने में युक्ति।

तर्क-भाषा

अत्रोच्यते—ज्ञातताऽन्यथाऽनुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञानं गृह्यते इति यदुक्तं तदेव वयं न मृष्यामहे, तया प्रामाण्यग्रहस्तु दूरत एव। तथा हि इदं किल परस्याभिमतम्—घटादिविषये ज्ञाने जाते 'मया ज्ञातोऽयं घटः' इति घटस्य ज्ञातता प्रतिसन्धीयते। तेन ज्ञाने जाते सति ज्ञातता नाम कश्चिद्धर्मो ज्ञात इत्यनुमीयते। स च ज्ञानात् पूर्वमजातत्त्वात्, ज्ञाने जाते च जातत्त्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानेन जन्यत इत्यवधार्यते। एवञ्च ज्ञानजन्योऽसौ ज्ञातता नाम धर्मो ज्ञानमन्तरेण नोपपद्यते, कारणाभावे कार्यानुदयात्। तेनार्थापत्त्या स्वकारणं ज्ञानं ज्ञाततयाऽऽक्षिप्यते इति।

न चैतद्युक्तम्। ज्ञान विषयातिरिक्तया ज्ञाततया अभावात्।

सन्दर्भ—ज्ञातता के द्वारा अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण एवं ज्ञानगत प्रामाण्य का ग्रहण कर मीमांसक ने प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य माना है। नैयायिक ज्ञातता का खण्डन कर प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व का खण्डन 'अत्रोच्यते' इत्यादि द्वारा प्रस्तुत कर रहे हैं—

अर्थ—अत्रोच्यते = मीमांसक की ज्ञातता के विषय में कहना है कि, **ज्ञातताऽन्यथाऽनुपपत्तिप्रसूतया** = ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से उत्पन्न, **अर्थापत्त्या** = अर्थापत्ति-प्रमाण के द्वारा, **ज्ञानं गृह्यते** = ज्ञान गृहीत होता है, **इति यद् उक्तम्** = ऐसा जो मीमांसक ने कहा, **तदेव** = उसी को, **वयं** = हम नैयायिक, **न मृष्यामहे** = नहीं मानते हैं, तब, **तया** = उस अर्थापत्ति द्वारा, **प्रामाण्यग्रहस्तु** = प्रामाण्य का ग्रहण तो, **दूरत एव** = दूर की बात है, **तथा हि** = जैसे कि, **इदं किल** = यह तो, **परस्य अभिमतम्** = मीमांसक का मत है, **घटादिविषये** = घटादि विषयक, **ज्ञाने जाते** = ज्ञान के होने पर, **मया ज्ञातोऽयं घटः** = मैंने यह घट जान लिया, **इति** = इस तरह की, **ज्ञातता** = घट की ज्ञातता, **प्रतिसन्धीयते** = निश्चित की जाती है, **तेन** = उससे, **ज्ञाने जाते सति** = ज्ञान हो जाने पर, **ज्ञातता नाम** = (घट में) ज्ञातता नामक, **कश्चित्** = कोई, **धर्मः** = धर्म, **जातः** = उत्पन्न हो गया है, **इति अनुमीयते** = ऐसा अनुमान किया जाता है, **स च** = और वह (ज्ञातता धर्म), **ज्ञानात् पूर्वम्** = ज्ञान से पहले, **अजातत्त्वात्** = उत्पन्न न होने से, **ज्ञाने जाते च** = और ज्ञान के उत्पन्न होने पर, **जातत्त्वात्** = उत्पन्न होने से, **अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्** = अन्वय और व्यतिरेक द्वारा, **ज्ञानेन जन्यते** = ज्ञान से उत्पन्न होता है, **इति अवधार्यते** = ऐसा निश्चित किया जाता है, **एवम्** = और इस तरह, **ज्ञानजन्यः** = ज्ञान से उत्पन्न, **असौ ज्ञातता नाम धर्मः** = वह ज्ञातता नामक धर्म, **ज्ञानम् अन्तरेण** = ज्ञान के बिना, **उपपद्यते** = उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, **कारणाभावे** = कारण के अभाव में, **कार्यानुदयात्** = कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, **तेन** = अर्थापत्ति-प्रमाण के द्वारा, **ज्ञाततया** = ज्ञातता से, **स्वकारणम्** = अपने कारण, **ज्ञानम्** = ज्ञान का, **अक्षिप्यते इति** = आक्षेप कर लिया जाता है (अर्थात् ज्ञातता अपने कारण ज्ञान का आक्षेप कर लेती है)। **न च एतद् युक्तम्** = यह पूर्वोक्त मीमांसक मत ठीक नहीं है। **ज्ञानविषयातिरिक्तायाः** = ज्ञानविषयता (ज्ञान का विषय होना) के अतिरिक्त, **ज्ञाततायाः अभावात्** = ज्ञातता (कुछ भी) नहीं है।

सङ्कलितार्थ—मीमांसक के मत का खण्डन करने के उपक्रम में नैयायिक का कहना है कि ज्ञातता की अन्यथाऽनुपपत्ति से उत्पन्न अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है यह जो कहा गया है, हम उसी को नहीं मानते हैं, अर्थापत्ति से प्रामाण्य के ग्रहण की बात तो दूर की चीज है। जैसे कि अन्य का मत है—घटादि विषयक ज्ञान होने पर 'मैंने घट को जान लिया' इस प्रकार की घट की ज्ञातता का निश्चय होता है। उससे 'ज्ञान के उत्पन्न होने पर ज्ञातता नामक कोई धर्म उत्पन्न हुआ' यह अनुमान किया जाता है और यह ज्ञातता नामक धर्म ज्ञान से पहले उत्पन्न नहीं होता तथा ज्ञान हो जाने पर उत्पन्न हो जाता है। इस अन्वयव्यतिरेक के द्वारा ज्ञान से उत्पन्न हो जाता है ऐसा निश्चय किया जाता है। इस प्रकार ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञातता-नामक वह धर्म ज्ञान के बिना उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञातता अपने कारण ज्ञान का आक्षेप कर लेती है।

उपर्युक्त मीमांसक का मत ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान का विषय होने के अतिरिक्त ज्ञातता कुछ भी नहीं है।

विवेचन

NOTES

ज्ञातता का स्वरूप अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध करना—घट ज्ञान से पूर्व 'ज्ञातोऽयं घटः' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती। घट का ज्ञान हो जाने पर ऐसी प्रतीति होती है। अतः यहाँ घटज्ञान होने पर ज्ञातता की प्रतीति होती है (यह अन्वय है)। ज्ञान के अभाव में ज्ञातता की प्रतीति नहीं होती है (यह व्यतिरेक है)। इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक से निश्चय होता है कि—घट के ज्ञान से घट में कोई नया धर्म उत्पन्न हो गया है और उस धर्म का अनुभव 'ज्ञातोऽयं घटः' के रूप में होता है। अतः उस नवीन धर्म को **ज्ञातता** शब्द से कहते हैं। ज्ञातस्य भावः ज्ञातता।

तर्क-भाषा

ननु ज्ञानजनितज्ञातताधारत्वमेव हि घटादेर्ज्ञानविषयत्वम्। तथा हि—न तावत् तादात्म्येन विषयता, विषयविषयिणोर्घटज्ञानयोस्तादात्म्यानभ्युपगमात्। तदुत्पत्त्या तु विषयत्वे इन्द्रियादेरपि विषयत्वापत्तिः। इन्द्रियादेरपि तस्य ज्ञानस्योत्पत्तेः, तेनेदमनुमीयते, ज्ञानेन घटे किञ्चिज्जनितं येन घट एव तस्य ज्ञानस्य विषयो नान्यः। इत्यतो विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्याऽपि ज्ञाततासिद्धिः, न तु प्रत्यक्षमात्रेण।

सन्दर्भ—'ज्ञानविषयता' से भिन्न ज्ञातता कुछ भी नहीं है इस प्रकार नैयायिक के कहने पर पुनः मीमांसक शंका उपस्थित करता हुआ अपने पक्ष का समर्थन कर रहा है—

अर्थ—ननु = अजी नैयायिक जी!, **ज्ञानजनितज्ञातताधारत्वम् एव हि** = ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता का आधार होना ही, **घटादेः** = घट आदि की, **ज्ञानविषयत्वम्** = ज्ञान विषयता है, ज्ञान का विषय होना है, **तथा हि** = जैसे कि, **न तावत् तादात्म्येन विषयता** = यह विषयता तादात्म्यसम्बन्ध से नहीं बन सकती, क्योंकि, **विषयविषयिणोः** = विषय और विषयी, **घटज्ञानयोः** = घट (विषय) और ज्ञान (विषयी) का, **तादात्म्यानभ्युपगमात्** = तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता है। **तदुत्पत्त्या तु** = यदि तदुपत्ति से (जिस वस्तु से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही वस्तु उस ज्ञान का विषय है, इस तरह की), **विषयत्वे** = विषयता स्वीकार करें तो, **इन्द्रियादेरपि** = इन्द्रिय आदि में भी, **विषयत्वापत्तिः** = ज्ञान की विषयता की प्राप्ति होने लगेगी, क्योंकि—**इन्द्रियादेरपि** = इन्द्रिय आदि से भी, **तस्य ज्ञानस्य** = उस ज्ञान की, **उत्पत्तेः** = उत्पत्ति होती है, **तेनेदम्** = उससे यह, **अनुमीयते** = अनुमान किया जाता है कि, **ज्ञानेन** = ज्ञान के द्वारा, **घटे** = घट में, **किञ्चिज्जानितम्** = कुछ उत्पन्न कर दिया गया है, **येन** = जिससे, **घट एव** = घट ही, **तस्य ज्ञानस्य विषयः** = उस ज्ञान का विषय है, **नान्यः** = कोई अन्य पदार्थ नहीं, **इत्यतः** = इस प्रकार, **विषयत्वाऽन्यथाऽनुपपत्तिप्रसूतया** = विषयता की अन्यथा = ज्ञातता के बिना अनुपपन्न होने से उत्पन्न हुई, **अर्थापत्त्याऽपि** = अर्थापत्तिनामक प्रमाण से भी, **ज्ञाततासिद्धिः** = ज्ञातता की सिद्धि होती है, **न तु प्रत्यक्षमात्रेण** = न कि केवल प्रत्यक्ष से।

सङ्कलितार्थ—मीमांसक अपने पक्ष के समर्थन में कहता है—अजी! ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता का आधार बनना ही घटादि की ज्ञान-विषयता है। अर्थात् ज्ञान का विषय होना है। जैसे—यह विषयता तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं बन सकती है, क्योंकि घट विषय तथा ज्ञानरूप विषयी का तादात्म्यसम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जाता है। यदि तदुपत्ति से अर्थात् जिस वस्तु से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही वस्तु उस ज्ञान का विषय है, इस तरह विषयता स्वीकार करें तो इन्द्रिय आदि को भी विषयता स्वीकार करना होगा, क्योंकि इन्द्रिय आदि से भी ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतः यह अनुमान किया जाता है कि ज्ञान ने घट में किसी धर्म को उत्पन्न किया है, जिससे घट ही उस ज्ञान का विषय होता है, अन्य पदार्थ नहीं। इस प्रकार विषयता की ज्ञातता के बिना (अन्यथा) अनुपपत्ति होने से उत्पन्न हुई अर्थापत्ति (प्रमाण) के द्वारा भी ज्ञातता की सिद्धि होती है, केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं।

मैवम्। स्वभावादेव विषयविषयितोपपत्तेः। अर्थज्ञानयोरेतादृश एव स्वाभाविको विशेषो येनानयोर्विशषयविषयिभावः। इतरथातीतानागतयोर्विषयत्वं न स्यात्। ज्ञानेन तत्र ज्ञातता जननासम्भवादसति धर्मिणि धर्मजननायोगात्।

किञ्च ज्ञाततया अपि स्वज्ञानविषयत्वाया तत्रापि ज्ञाततान्तरप्रसङ्गस्तथाचाऽनवस्था। अथ ज्ञाततान्तरमन्तरेणापि स्वभावादेव विषयत्वं ज्ञाततायाः। एवं चेत् तर्हि घटादावपि किं ज्ञाततायेति।

सन्दर्भ—मीमांसक ने ज्ञातता को विषयता का नियामक मानकर नैयायिक के आक्षेप का प्रत्युत्तर दिया था। किन्तु उपर्युक्त उद्धरण द्वारा पुनः नैयायिक मीमांसक के उत्तर में दोष प्रदर्शित कर रहे हैं।

अर्थ—**मैवम्** = ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, **स्वभावादेव** = स्वभावतः ही, **विषयविषयितोपपत्तेः** = विषय-विषयिभाव उपपन्न हो जाता है (बन जाता है), **अर्थज्ञानयोः** = अर्थ और ज्ञान का, **एतादृश एव** = ऐसा ही, **स्वाभाविकः विशेषः** = स्वाभाविक सम्बन्ध (विशेषता) है, **येन** = जिससे, **अनयोः** = इन अर्थ और ज्ञान दोनों का, **विषयविषयिभावः** = विषय-विषयिभाव बन जाता है, (अर्थ विषय एवं ज्ञान विषयी बन जाता है) **इतरथा** = यदि ज्ञातता को ही विषयता का नियामक माना जाये तो, **अतीतानागतयोः** = अतीत तथा अनागत पदार्थों में, **विषयत्वम्** = विषयता, **न स्यात्** = नहीं हो पाएगी, क्योंकि, **ज्ञानेन** = ज्ञान के द्वारा, **तत्र** = उनमें, **ज्ञातताजननाऽसम्भवात्** = ज्ञातता की उत्पत्ति असम्भव है, क्योंकि, **असति धर्मिणि** = अविद्यमान धर्मी में, **धर्मजननाऽयोगात्** = धर्म की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

किञ्च = दूसरी बात यह कि, **ज्ञातताया अपि** = ज्ञातता भी, **स्वज्ञानविषयत्वात्** = अपने ज्ञान का (ज्ञातताविषयक ज्ञान का) विषय होती है, **तत्रापि** = वहाँ पर भी, **ज्ञाततान्तरप्रसङ्ग** = दूसरी ज्ञातता की प्राप्ति होगी, **तथा च** = और इस तरह दूसरी ज्ञातता मानने पर, **अनवस्था** = अनवस्था प्राप्त हो जायेगी, **अथ** = यदि, **ज्ञाततान्तरम् अन्तरेणापि** = अन्य ज्ञातता के बिना भी, **स्वभावाद् एव** = स्वभाव से ही (स्वतः ही), **विषयत्वं** = विषयता, **ज्ञाततायाः** = ज्ञातता की मान लें, **एवं चेत् तर्हि** = यदि ऐसा मान लिया गया तो, **घटादौ अपि** = घट आदि में भी, **किं ज्ञाततायेति** = ज्ञातता को मानने से क्या लाभ होगा ?

सङ्कलितार्थ—नैयायिक का उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं। स्वभावतः ही विषय-विषयिभाव की उपपत्ति हो जाया करती है। अर्थ और ज्ञान में ऐसी ही स्वाभाविक विशेषता होती है जिससे कि इन दोनों में विषय-विषयिभाव हुआ करता है(पदार्थ स्वयं ही विषय होता है तथा स्वयं ही विषयी होता है) यदि ऐसा नहीं हो (अर्थात् ज्ञानजनित ज्ञातता का आधार होने से विषय-विषयभाव माना जाये) तब अतीत और अनागत पदार्थों में विषयता नहीं हो सकेगी। क्योंकि ज्ञान के द्वारा वहाँ ज्ञातता का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है और अविद्यमान धर्मी में धर्म का उत्पन्न होना भी सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह दोष होगा—ज्ञातता भी अपने ज्ञान का विषय होती है, अतः वहाँ भी दूसरी ज्ञातता को मानना होगा और इस तरह अनवस्था हो जायेगी। यदि कहें कि अन्य ज्ञातता के बिना भी स्वभाव से ही ज्ञातता की ज्ञान-विषयता मान लें तो क्या क्षति है? यदि ऐसा मान लिया गया तो घटादि में भी ज्ञातता को मानने से क्या लाभ? (जैसे दूसरी ज्ञातता को माने बिना ही ज्ञातता अपने ज्ञान का विषय हो सकती है, उसी तरह घट आदि भी ज्ञातता के बिना स्वभाव से ही ज्ञान का विषय हो सकते हैं)।

विवेचन

नैयायिकों का कहना है कि ज्ञातता के आधार पर विषयता का निश्चय नहीं होता है। अर्थात् घटज्ञान से घट में ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होता है, इसलिए घट उस ज्ञान का विषय है, यह कहना ठीक नहीं है। वस्तुतः विषयविषयिभाव रूप से होता है। यह पदार्थ और ज्ञान का स्वभाव होता है।

NOTES

अस्तु वा ज्ञातता, तथापि तन्मात्रेण ज्ञानं गम्यते ज्ञातताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा प्रामाण्यमिति कुत एव ज्ञानग्राहकग्राह्यता प्रामाण्यस्य। अथ केनचिज्जाततविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानप्रामाण्ये सहैव गृह्येते। एवं चेदप्रामाण्येऽपि शक्यमिदं वक्तम्। केनचिज्ज्ञाततविशेषेण अप्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानाप्रामाण्ये सहैव गृह्येते, इत्यप्रामाण्यमपि स्वत एव गृह्यताम्। अथैवमम्ययप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम्। ज्ञानग्राहकादन्यत इत्यर्थः।

सन्दर्भ—मीमांसकोक्त ज्ञातता को अस्वीकार करने के बाद नैयायिक कहते हैं कि ज्ञातता को स्वीकार करने पर भी प्रामाण्य स्वतोग्राह्य नहीं हो सकता। इसी बात को विस्तार से उपर्युक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया जा रहा है—

अर्थ—**अस्तु वा ज्ञातता** = अथवा ज्ञातता को मान भी लें (ज्ञातता रहे), **तथापि** = फिर भी, **तन्मात्रेण** = ज्ञातता-मात्र से (अर्थात् यथार्थ-ज्ञान एवं अयथार्थ-ज्ञान से उत्पन्न होने वाली सभी प्रकार की ज्ञातता से), **ज्ञानं गम्यते** = ज्ञान का ग्रहण होता है और, **प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा** = प्रमाण ज्ञान के साथ नियम से रहने वाली (अव्यभिचारी), **ज्ञातताविशेषेण** = विशेष प्रकार की ज्ञातता से, **प्रामाण्यम्** = प्रामाण्य (गृहीत होता है), **इति कुतः एव** = इस प्रकार कैसे, **प्रामाण्यस्य** = प्रामाण्य की, **ज्ञानग्राहकग्राह्यता** = ज्ञानग्राहक सामग्री से ग्राह्यता होगी? **अथ** = यदि कहें कि, **प्रमाणज्ञाना व्यभिचारिणा** = प्रमाण ज्ञान के साथ नियम से रहने वाली, **केनचित्** = किसी, **ज्ञातता विशेषेण** = विशेष प्रकार की ज्ञातता से, **ज्ञानप्रामाण्ये** = ज्ञान तथा ज्ञानगत प्रामाण्य, दोनों, **सहैव** = साथ-साथ ही, **गृह्यते** = गृहीत होते हैं, **एवं चेत्** = तब तो, **अप्रामाण्येऽपि** = अप्रामाण्य ज्ञान में भी, **इदं** = यही बात, **वक्तुं शक्यम्** = कही जा सकती है, कि, **केनचित्** = किसी, **ज्ञातताविशेषेण** = विशेष प्रकार की ज्ञातता से, **अप्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा** = जो अप्रामाण्य ज्ञान के साथ नियम से रहने वाली है, उससे, **ज्ञानाप्रामाण्ये** = ज्ञान और अप्रामाण्य, **सहैव** = एक साथ ही, **गृह्येते** = गृहीत होते हैं, **इति** = इस प्रकार, **अप्रामाण्यमपि** = अप्रामाण्य को भी, **स्वत एव** = स्वतः ही, **गृह्यताम्** = ग्रहण करें (अर्थात् अप्रामाण्य को भी स्वतोग्राह्य मानना होगा), **अथ** = और, **एवमपि** = फिर भी, **अप्रामाण्यम्** = अप्रामाण्य को, **परतः** = परतो ग्राह्य मानते हैं, **तर्हि** = तब, **प्रामाण्यमपि** = प्रामाण्य को भी, **परम एव गृह्यताम्** = परतो ग्राह्य ही मानिये, **ज्ञानग्राहककादन्यतः इत्यर्थः** = अर्थात् ज्ञानग्राहक-सामग्री से भिन्न के द्वारा प्रामाण्य मानिये यह आशय है।

सङ्कलितार्थ—अथवा मीमांसकोक्त ज्ञातता को मान भी लिया जाये तब भी ज्ञातता मात्र का ग्रहण होता है, और प्रमाणज्ञान के साथ नियमतः रहने वाली विशेष प्रकार की ज्ञातता के द्वारा प्रामाण्य का ग्रहण होता है, इस प्रकार ज्ञान-ग्राहक सामग्री से प्रामाण्य की ग्राह्यता कैसे होगी? यदि कहें कि प्रमाणज्ञान के साथ नियमतः रहने वाली किसी विशेष प्रकार की ज्ञातता से ज्ञान और तद्गत प्रामाण्य का साथ ही ग्रहण किया जाता है, यदि ऐसा हो तब तो यही बात ज्ञान के अप्रामाण्य के विषय में भी कही जा सकती है कि अप्रामाण्य ज्ञान के साथ नियमतः रहने वाली किसी विशेष प्रकार की ज्ञातता से ज्ञान एवं ज्ञातगत अप्रामाण्य का भी साथ ही ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार अप्रामाण्य का ग्रहण भी स्वतः ही मानिये। और फिर भी (आप मीमांसक) अप्रामाण्य का ग्रहण परतः मानते हैं तो प्रामाण्य को भी परतः ही स्वीकार कीजिये। अर्थात् ज्ञानग्राहक-सामग्री से अन्य के द्वारा मानिये, यह (नैयायिक का) अभिप्राय है।

विवेचन

पूर्व के अनुच्छेद में ज्ञातता के स्वरूप को असिद्ध मानते हुए उसके आधार पर अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान और प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता का खण्डन नैयायिक ने किया है। अब इस अनुच्छेद में अभ्युपगम सिद्धान्त का सहारा लेकर प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता का खण्डन करते हुए नैयायिक कहते हैं—मीमांसकोक्त ज्ञातता को स्वीकार कर भी लिया जाये तब भी प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि ज्ञानग्राहक-सामग्री से ही प्रामाण्य का ग्रहण करना प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता है ऐसा मीमांसक मानते हैं, परन्तु ऐसा होता नहीं। ज्ञातता-मात्र से ज्ञान का ग्रहण होता है

और ज्ञातता विशेष से प्रामाण्य ज्ञान का ग्रहण होता है। इस तरह ज्ञातता में भेद हो जाता है। अर्थात् सामान्य-ज्ञातता से कारण ज्ञान का तथा विशेष-ज्ञातता से प्रामाण्यज्ञान का ग्रहण होता है। एक ही सामग्री से दोनों की उत्पत्ति नहीं हुई, अतः प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता खण्डित होती है।

तर्क-भाषा

ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षेणैव गृह्यते, प्रामाण्यं पुनरनुमानेन। तथा हि जलज्ञानानन्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिर्द्वेधा फलवती, अफला चेति। तत्र या फलवती प्रवृत्तिः सा समर्था, तया तज्ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमनुमीयते। प्रयोगश्च विवादाध्यासितं जलज्ञानं प्रमाणं, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्। यन्न प्रमाणं तन्न समर्थां प्रवृत्तिं जनयति यथा प्रमाणाभास इति केवलव्यतिरेकी।

अत्र च फलवत्प्रवृत्तिजनकं यज्जलज्ञानं तत् पक्षः, तस्य प्रामाण्यं साध्यं याथार्थ्यमित्यर्थः। न तु प्रमाकरणत्वं, स्मृत्यां व्यभिचारापत्तेः। हेतुस्तु समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं फलवत्प्रवृत्तिजनकत्वमिति यावत्।

सन्दर्भ—मीमांसक के मत का खण्डन करने के पश्चात् सिद्धान्ती नैयायिक 'प्रामाण्य परतो ग्राह्य है' इसका प्रतिपादन कर रहे हैं—

अर्थ—**ज्ञानं हि** = ज्ञान से, **मानसप्रत्यक्षेणैव** = मानस प्रत्यक्ष से ही, **गृह्यते** = गृहीत होता है, **प्रामाण्यं पुनं** = और प्रामाण्य का ग्रहण, **अनुमानेन** = अनुमान प्रमाण से होता है, **तथा हि** = जैसे कि (यह जल है इस प्रकार के), **जलज्ञानानन्तरम्** = जल ज्ञान के पश्चात्, **जलार्थिनः** = जलभिलाषी जन की, **प्रवृत्तिर्द्वेधा** = प्रवृत्ति दो तरह की होती है, **फलवती अफला चेति** = एक सफला दूसरी विफला, **तत्र** = इनमें, **या फलवती** = जो सफला, **प्रवृत्तिः** = प्रवृत्ति है, **सा** = वह, **समर्था** = समर्था (कहलाती है), **तया** = उससे, **तज्ज्ञानस्य** = उस ज्ञान के, **याथार्थ्यलक्षणम्** = याथार्थ्य स्वरूप वाले, **प्रामाण्यम्** = प्रामाण्य का, **अनुमीयते** = अनुमान किया जाता है, **प्रयोगश्च** = अनुमान का प्रयोग यह है, **विवादाध्यासितम्** = विवादग्रस्त, संदिग्ध, **जलज्ञानं** = जल का ज्ञान, **प्रमाणम्** = प्रमाण है (प्रतिज्ञा), **समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्** = क्योंकि वह सफल-प्रवृत्ति का जनक है, (हेतु) **यन्न प्रमाणं** = जो (ज्ञान) प्रमाण नहीं होता, **तन्न समर्थां प्रवृत्तिम् जनयति** = वह (ज्ञान) सफल-प्रवृत्ति का जनक नहीं होता, **यथा** = जैसे, **प्रमाणाभासः** = प्रमाणाभास, **इति केवलव्यतिरेकी** = यह केवलव्यतिरेकी अनुमान है।

अत्र च = और यहाँ अनुमान में, **फलवत्प्रवृत्तिजनकम्** = सफल प्रवृत्ति का जनक, **यज्जलज्ञानम्** = जो जल का ज्ञान है, **तत्पक्षः** = वह पक्ष है, **तस्य प्रामाण्यम्** = उसका प्रामाण्य, **साध्यम्** = साध्य है, **याथार्थ्यम् इत्यर्थः** = अर्थात् यथार्थता साध्य है, **न तु प्रमाकरणत्वम्** = प्रमाकरणत्व साध्य नहीं है, क्योंकि, **स्मृत्यां** = यथार्थ-स्मृति में, **व्यभिचारापत्तेः** = हेतु का व्यभिचार होने लगेगा, **हेतुस्तु** = यहाँ पर हेतु है, **समर्थप्रवृत्तिजनकत्वम्** = समर्थ-प्रवृत्तिजनकत्व, **फलवत्प्रवृत्तिजनकत्वम् इति यावत्** = अर्थात् सफल प्रवृत्ति का जनक होना।

सङ्कलितार्थ—ज्ञान का ग्रहण (अनुव्यवसायात्मक) मानस प्रत्यक्ष से होता है, और प्रामाण्य का ग्रहण अनुमान से होता है। जैसे कि—यह जल है इस प्रकार के जल ज्ञान के पश्चात्, जल चाहने वाले की प्रवृत्ति दो प्रकार की देखी जाती है—(1) फलवती (सफला), (2) अफला। इनमें जो सफल प्रवृत्ति है वह 'समर्था' कहलाती है। समर्था प्रवृत्ति से उन ज्ञान के याथार्थ्य-स्वरूप वाले प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—विवादग्रस्त या सन्दिग्ध जलज्ञान प्रमाण है (प्रतिज्ञा), समर्थप्रवृत्ति का जनक होने से (हेतु)। जो ज्ञान प्रमाण नहीं होता, वह समर्थ का जनक भी नहीं होता, जैसे प्रमाणाभास (व्यतिरेकी उदाहरण)। यह केवलव्यतिरेकी अनुमान है।

इस अनुमान में सफल प्रवृत्ति का जनक जो जलज्ञान है, वह पक्ष है, जल ज्ञान का प्रामाण्य साध्य है, अर्थात् उसकी यथार्थता साध्य है यह अर्थ है। प्रमाकरणत्व साध्य नहीं है। (क्योंकि प्रमाकरणत्व को साध्य मानने पर) यथार्थ-स्मृति में व्यभिचार होगा। (अर्थात् सफल प्रवृत्ति की जनक स्मृति की भी यथार्थरूप प्रामाण्य स्वीकार किया

जाता है। प्रमाकरणत्व रूप प्रामाण्य स्मृति का नहीं माना जाता है, अतः यहाँ पर प्रामाण्य का अर्थ याथार्थ्य मानना चाहिए, प्रमाकरणत्व नहीं) और प्रामाण्य का साधक हेतु है—समर्थप्रवृत्ति की जनकता अथवा प्रवृत्ति का जनक होना।

NOTES

विवेचन

नैयायिक ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष से ग्रहण करते हैं। यह मानस प्रत्यक्ष से होने वाला ज्ञान अनुव्यवसायात्मक है। व्यवसायात्मक = निश्चयात्मक ज्ञान है। निर्विकल्पकज्ञान के पश्चात् सविकल्पकज्ञान नाम जात्यादि योजना सहित होता है। यही व्यवसायात्मक ज्ञान है। जैसे—इदं पुस्तकम्, यह पुस्तक है। इसके बाद अहं पुस्तकं ज्ञातवान्—मैंने पुस्तक को जान लिया इत्यादि ज्ञान होता है। इस ज्ञान को अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहते हैं। इसमें पुस्तक का ज्ञान विषय है। यह मानस प्रत्यक्ष से होता है। मन इन्द्रिय द्वारा इसमें ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है।

तर्क-भाषा

अनेन तु केवलव्यतिरेक्यनुमानेनानभ्यासदशापन्नस्य ज्ञानस्य प्रमाण्येऽवबोधिते तद्दृष्टान्तेन जलप्रवृत्तेः पूर्वमपि तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनान्वयव्यतिरेक्यनुमानेनान्यस्य ज्ञानस्याभ्यासदशापन्नस्य प्रामाण्यमनुमीयते। तस्मात् परत एंव प्रामाण्यं न ज्ञानग्राहकेणैव गृह्यते इति।

सन्दर्भ—अनभ्यासदशापन्न एवं अभ्यासदशापन्न दोनों ज्ञान का प्रामाण्य केवलव्यतिरेकी अनुमान से गृहीत होता है, इस आधार पर प्रामाण्य की परतोग्राह्यता का उपसंहार प्रस्तुत करते हुए कहा जा रहा है—

अर्थ—अनेन तु = इस, **केवलव्यतिरेक्यनुमानेन** = केवलव्यतिरेकी अनुमान से तो, **अनभ्यासदशासपन्नस्य ज्ञानस्य** = अनभ्यास दशा में प्राप्त ज्ञान का, **प्रामाण्ये अवबोधिते** = प्रामाण्य का बोध हो जाने पर, **तद्दृष्टान्तेन** = उसी दृष्टान्त से, **जलप्रवृत्तेः** = जल लाने के लिए प्रवृत्ति से, **पूर्वम् अपि** = पूर्व भी, **तज्जातीयत्वेन लिङ्गेन** = समर्थप्रवृत्तिजनकजातीयत्व हेतु द्वारा, **अन्वयव्यतिरेक्यनुमानेन** = अन्वयव्यतिरेकी अनुमान से, **अन्यस्य ज्ञानस्य** = अन्य (अभ्यासदशापन्न) ज्ञान के, **प्रामाण्यम्** = प्रामाण्य का, **अनुमीयते** = अनुमान किया जाता है, **तस्मात्** = इसलिए, **परतः एवं प्रामाण्यम्** = प्रामाण्य का निश्चय, परतः ही होता है, **न ज्ञान-ग्राहकेण एव गृह्यते इति** = न कि ज्ञान ग्राहकसामग्री से ही प्रामाण्य का ग्रहण होता है।

सङ्कलितार्थ—इस केवलव्यतिरेकी अनुमान द्वारा अनभ्यास दशा में प्राप्त ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित हो जाने पर उसके दृष्टान्त से जल के लिए हो रही प्रवृत्ति से पूर्व में भी समर्थप्रवृत्तिजनक-जातीयत्व हेतु (लिङ्ग) द्वारा अन्वयव्यतिरेकी अनुमान से अभ्यास-दशा में प्राप्त अन्य ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान कर लिया जाता है। अतः प्रामाण्य परतः ही ग्राह्य है, ज्ञानग्राहकसामग्री द्वारा प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता है।

विवेचन

नैयायिक ने समर्थ प्रवृत्ति से ज्ञान-प्रामाण्य का निश्चय होता है, ऐसा माना है। लेकिन कहीं-कहीं समर्थ प्रवृत्ति से पूर्व भी ज्ञान-प्रामाण्य का निश्चय देखा गया है। वहाँ पर 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' यह हेतु नहीं दिया जा सकता है। इसका कारण यह है कि वहाँ उस ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं हुई है। तब वह समर्थ प्रवृत्ति का जनक नहीं होगा। इसकी संगति बैठाने के लिए प्रवृत्ति से पूर्व ही ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य मानना चाहिए, उस आशंका का उत्तर उपर्युक्त उद्धरण में दिया गया है।

तर्क-भाषा

चत्वार्येवं प्रमाणानि युक्तिलेशोक्तिपूर्वकम्।
केशवो बालबोधाय यथाशास्त्रमवर्णयत्।।
इति प्रमाणपदार्थः समाप्तः।

सन्दर्भ—लेखक प्रमाण प्रकरण का उपसंहार करते हुए यह पद्य लिख रहे हैं—

अर्थ—केशवः = आचार्य केशव मिश्र ने, **बालबोधाय** = बालकों के बोध के लिए, **यथाशास्त्रम्** = न्यायशास्त्र के अनुसार, **युक्तिलेशोक्तिपूर्वकम्** = नाममात्र की युक्तियों का कथन कर, **चत्वारि एव** = चार ही प्रत्यक्ष अनुमान उपमान एवं शब्द, **प्रमाणानि** = प्रमाण हैं (इति), **अवर्णयत्** = ऐसा वर्णन किया है।

सङ्कलितार्थ—श्री केशव मिश्र ने बालकों के ज्ञान के लिए न्यायशास्त्र के अनुसार नाममात्र की युक्तियों का कथन कर चार ही प्रमाण हैं, यह वर्णन किया है।

प्रमाण पदार्थ समाप्त हुआ।

सारांश :

प्रस्तुत इकाई में आपने भारतीय दर्शनों के अध्ययन के क्रम में न्याय एवं वैशेषिक दर्शन से सम्बन्धित सिद्धान्तों का 'तर्क भाषा' के माध्यम से अध्ययन किया है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, न्याय एवं वैशेषिक दर्शन आस्तिक अर्थात् वैदिक दर्शन हैं। न्याय दर्शन हमें विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तु तत्व की परीक्षा में प्रवृत्त करता है। यही न्याय का व्यापक अर्थ भी है। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन परस्पर समानता रखते हुए भी कुछ विभिन्नता भी रखते हैं। यह इकाई हमें न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के आचार्यों के साथ-साथ प्राचीन एवं नव्य न्याय के सिद्धान्तों का परिचय कराती है। यह इकाई न्याय दर्शन के अनुसार सोलह पदार्थों का निरूपण, कार्य-कारण सिद्धान्त का परिचय, परिणामवाद, विवर्तवाद, शून्यवाद एवं आरम्भवाद का उल्लेख, त्रिविध करण, प्रमाण-चतुष्टय, प्रमाण लक्षण, ज्ञान का स्वरूप, प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, व्याप्ति का स्वरूप एवं भेद, हेत्वाभास, शब्द प्रमाण तथा वाक्य के स्वरूप आदि से भी परिचित कराती है।

आचार्य गौतम ने न्याय दर्शन में अनुमान प्रमाण के ज्ञान के लिए हेतु के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक बताया है। हेतु के ज्ञान के लिए हेत्वाभास का ज्ञान आवश्यक है ताकि हम दुष्ट हेतु से बच सकें तथा सही अनुमान करने में समर्थ हो सकें। प्रस्तुत इकाई में सद् हेतु के स्वरूप, हेत्वाभास के लक्षण एवं भेद, असिद्ध, विरूद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरण सम एवं बाधित हेत्वाभास का वर्णन तर्क भाषा के माध्यम से किया गया है। साथ ही यह इकाई हमें प्रामाण्यवाद के विषय में न्याय दर्शन के दृष्टि कोण से भी परिचित कराती है। ज्ञान का प्रामाण्य किस प्रकार निश्चित हो? इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्न मतों में काफी विवाद है। सर्वप्रथम वेदों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में इस प्रकार का विवाद सामने आया था। प्रामाण्यवाद में 'प्रमाण' का आशय यथार्त ज्ञान से है। अर्थात् ज्ञान की यथार्थता ही उसका प्रामाण्य है। यह इकाई प्रामाण्यवाद के अर्थ, प्रकार तथा स्वतः एवं परतः प्रामाण्य का परिचय प्रदान करते हुए इससे सम्बन्धित मीमांसकों के मत का खण्डन भी प्रस्तुत करती है।

अभ्यास प्रश्न :

1. न्याय दर्शन के किन्हीं पाँच पदार्थों का विवेचन कीजिए।
2. कार्य-कारण सिद्धान्त का सामान्य परिचय दीजिए।
3. समवायि कारण तथा असमवायि कारण का वर्णन कीजिए।
4. त्रिविधा शास्त्र प्रवृत्ति का आशय स्पष्ट कीजिए।
5. प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद एवं उपभेदों का वर्णन कीजिए।
6. अनुमान प्रमाण के लक्षण एवं भेदोपभेद का विवेचन कीजिए।

NOTES

7. सद्हेतु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए हेत्वाभास के लक्षण बताइए।

8. हेत्वाभास के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या कीजिए।

9. प्रामाण्यवाद के सम्बन्ध में मीमांसकों के मत को स्पष्ट कीजिए।

10. न्याय दर्शन के ज्ञातता सम्बन्धी दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिए।

2 सांख्यकारिका

इकाई में सम्मिलित है :

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तावना
- सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय
- सांख्यदर्शन में सत्कार्यवाद एवं इसकी सिद्धि
- सत्कार्यवाद द्वारा प्रकृति की सिद्धि
- सांख्य दर्शन में पुरुष एवं प्रकृति
- सांख्य दर्शन में बन्धन एवं मोक्ष
- त्रिविध दु:खों से मोक्ष द्वारा मुक्ति
- पुरुष एवं प्रकृति से भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि
- मोक्ष का स्वरूप एवं विविध भेद
- सांख्य दर्शन में विकासवाद का सिद्धान्त
- सृष्टि का मूल कारण एवं विकास-क्रम
- सूक्ष्म शरीर, प्रत्यय एवं तन्मात्र सर्ग
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य :

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् छात्र सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय प्राप्त करके 'सांख्यकारिका' के रचियता श्री ईश्वर कृष्ण एवं उनकी रचना (सांख्यकारिका) का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेंगे तथा निम्नांकित बिन्दुओं को समझने में सक्षम हो सकेंगे :

सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद एवं प्रकृति, पुरुष एवं प्रकृति का स्वरूप एवं भेद, बन्धन एवं मोक्ष, त्रिविधि दु:ख एवं मोक्ष द्वारा उनकी निवृत्ति, पुरुष एवं प्रकृति से भोगों एवं अपवर्ग की सिद्धि, मोक्ष का स्वरूप एवं विविध भेद, विकासवाद का सिद्धान्त, सृष्टि का मूल कारण तथा उसका विकास-क्रम, सूक्ष्म शरीर, प्रत्यक्ष सर्ग एवं तन्मात्र सर्ग।

प्रस्तावनाः

प्रस्तुत इकाई में पाठ्यक्रम में निर्धारित ईश्वर कृष्ण की विख्यात कृति 'सांख्य कारिका' की समस्त कारिकाओं की सप्रसंग व्याख्या दी गयी है जिसके माध्यम से आप सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन कर सकेंगे। ईश्वर कृष्ण के काल के सम्बन्ध में विद्वानों की मान्यताएँ अलग-अलग हैं। जापान के प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री श्री तकाकुसु ने इनको 450 ई0 का माना है। इस संदर्भ में डॉ. श्रीपादकृष्ण बेलवलकर का कहना है कि ईश्वर कृष्ण का काल निध ारण बसुबन्धु के प्रतियोगी विन्धवास और ईश्वर की एकता पर निर्भर करता है।भारतीय परम्परा में इन दोनों की एकता का कोई प्रमाण नहीं है। माठर वृत्ति के अनुसार वृष या वृषगण ईश्वर कृष्ण के गुरु नहीं हैं। पं. उदयवीर शास्त्री भी इसी मत के समर्थक हैं। भारतीय विद्वान ईश्वर कृष्ण का काल ईसा की प्रथम शताब्दी से पहले मानते हैं।

ईश्वर कृष्ण रचित 'सांख्य कारिका' को सांख्य सप्तति तथा कनकसप्तति के नाम से भी जाना जाता है। इन नामों से इस ग्रन्थ में सत्तर कारिकाओं का होना निश्चित है। सांख्य कारिका के अनुसार महर्षि कपिल को सांख्य दर्शन का प्रथम आचार्य माना गया है। कपिल मुनि ने सांख्य शास्त्र का ज्ञान आसुरि को तथा आसुरि ने यह ज्ञान पंचशिख को दिया जिन्होंने सांख्य ज्ञान की परम्परा को आगे बढ़ाया। सांख्य कारिका में सांख्य दर्शन के समस्त प्रमुख सिद्धान्तों का ज्ञान सरल एवं क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया गया है। इसके हिरण्यसप्तति या सुवर्ण सप्तति नाम भी प्रचलित हैं। ईश्वर कृष्ण ने स्वयं अपने ग्रन्थ में कहा है कि आति विस्तृत सांख्यशास्त्र को सरल रूप में प्रस्तुत करने के लिए ही उन्होंने इस संक्षिप्त ग्रन्थ की रचना की है। सांख्य कारिका में मानव जीवन के विविध दु:खों का अस्तित्व स्वीकारा गया है। प्रकृति-पुरुष विवेक के माध्यम से इन दु:खों से मुक्ति संभव है।

सांख्य दर्शन का सामान्य परिचयः

सांख्य दर्शन का उद्भव उपनिषद् से हुआ है, ऐसी मान्यता है। उपनिषदों के उद्धरण के आधार पर ही सांख्य दर्शन को त्रिगुणात्मक प्रकृति पर आधारित माना गया है। यह प्रकृति ही संसार की सृष्टि करती है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार पुरुष दृष्टा है। अपनी क्रियाशून्यता के कारण पुरुष असंग कहा जाता है। सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय महर्षि कपिल को है। सांख्य शब्द की निष्पत्ति संख्या शब्द से मानी गयी है। इस दर्शन में पच्चीस तत्वों की व्याख्या की गयी है। इस पद का अर्थ सम्यक् ख्यातम् या सम्यक् विचार भी है। अमरकोश के अनुसार भी सांख्य पद का प्रयोग विचारण के अर्थ में होता है। प्रकृति-पुरुष का विवेक हो जाना ही इस सांख्य दर्शन का लक्ष्य है। इसी से पुरुष को कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। विद्वानों द्वारा सांख्य प्रवचन सूत्र नामक ग्रन्थ का रचयिता इन्हीं महर्षि कपिल को माना गया है। इस गन्थ में छ: अध्याय हैं।

महर्षि कपिल के प्रथम शिष्य आसुरि हैं। आसुरि के शिष्य पंचशिख आचार्य हैं। पंचशिखाचार्य पराशर गोत्र के थे। इनके अतिरिक्त सांख्य दर्शन की आचार्य परंपरा में विन्ध्यवास, वार्षगण्य, जैगीषव्य तथा ईश्वरकृष्ण के नाम सम्मिलित हैं। गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त ज्ञान को ईश्वरकृष्ण ने आर्या छन्द के द्वारा संक्षिप्त इसलिए कर दिया ताकि वर्तमान युग में कम औसत आयु एवं बुद्धि वाले सामान्य जन भी सांख्यशास्त्र के महत्वपूर्ण ज्ञान को सरलता पूर्वक ग्रहण कर सकें।

सांख्यदर्शन कार्य-कारण वाद के संबंध में सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मान्यता देता है। सत्कार्यवाद के दो प्रकार हैं- परिणामवाद एवं विवर्तवाद। सांख्यशास्त्री सत्कार्यवाद के द्वारा ही अनुमान के आधार पर प्रकृति की सिद्धि करते हैं। सांख्य शास्त्र में निरूपित दु:ख त्रयं की निवृत्ति हेतु पुरुष तथा प्रकृति का विवेक आवश्यक है। त्रिविध दु:खों का मूल कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति है। पुरुष अनादि काल से प्रकृति से बँधा है। इस बन्धन से मुक्ति पाना ही जीवन का उद्देश्य है। सांख्य दर्शन प्रकृति एवं पुरुष इन दो तत्वों को स्वीकार करता है। सांख्य दर्शन के 25 तत्वों में 24 तत्व प्रकृतिकृत हैं, वे अचेतन तथा जड़ हैं। 25वाँ तत्व पुरुष सचेतन है। पुरुष अनेक हैं, एक पुरुष जन्म लेता है, एक मरता है, एक का मोक्ष हो जाता है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने इसी आधार पर पुरुष बहुलवाद को स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन का महत्वपूर्ण बिन्दु तत्व विचार है। इसमें सृष्टि सम्बन्धी विकास क्रम का प्रमुख विषय तत्व विचार ही है। सृष्टि का विकास-क्रम 25 तत्वों से बताया गया है जिनमें प्रकृति एवं पुरुष सम्मिलित हैं। सांख्य दर्शन का विकासवादी सिद्धान्त अति प्राचीन है।

जगत का मूल कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। सत्व, रज एवं तम प्रकृति के उपादान हैं। चेतन पुरुष के कारण प्रकृति में क्षोभ होता है तो सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सांख्य शास्त्रियों ने सृष्टि के विकास-क्रम को दो भागों-प्रत्यय सर्ग तथा तन्मात्र सर्ग में बाँटा है। प्रत्यय सर्ग को बुद्धि सर्ग या भाव सर्ग भी कहते हैं। प्रत्यय सर्ग के बिना तन्मात्र सर्ग उत्पन्न नहीं होता और तन्मात्र सर्ग के बिना भाव की निष्पत्ति असंभव है।

सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्णकृत)

NOTES

सांख्यकारिका (1)

प्रसङ्ग—दु:खनिवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा प्रस्तुत करने के रूप में अपने ग्रन्थ की विषयप्रयोजनादि सूचक प्रस्तावना करते हुए सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण कहते हैं—

दु:खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्।।1।।

अन्वय—दु:खत्रयाभिघातात् तदपघातके हेतौ जिज्ञासा (जायते), दृष्टे (हेतौ सति) सा अपार्था चेत्, न, (तेन दु:खनिवृत्ते:) एकान्तात्यन्तत: अभावात्।

शब्दार्थ—दु:खत्रयाभिघातात् = त्रिविध दु:खों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक) के द्वारा किए गये प्रहार से पीड़ित होने के कारण। तदपघातके हेतौ = उन तीन प्रकार के दु:खों के नाश हेतु या उपाय (साधन) के सम्बन्ध में जिज्ञासा = जानने की इच्छा। दृष्टे = प्रत्यक्षगोचर के कारण या उपाय होने पर। सा = वह (जिज्ञासा)। अपार्था = व्यर्थ या निरर्थक। चेत् = यदि (ऐसा कहा जाये तो)। न = नहीं (ऐसा कहना उचित नहीं)। एकान्तात्यन्तत: = एकान्तिक या अनिवार्य रूप से तथा आत्यन्तिक या पूर्णतया अन्तिम रूप से। अभावात् = (दु:खनिवृत्ति के) न होने के कारण।

हिन्दी अर्थ—त्रिविध दु:खों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) के द्वारा किये गये प्रहार से पीड़ित होने के कारण उन तीन प्रकार के दु:खों के नाश हेतु या उपाय के सम्बन्ध में जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। यदि (ऐसा कहा जाय कि) प्रत्यक्षगोचर (हेतु या उपाय) के वर्तमान होने पर उक्त जिज्ञासा व्यर्थ है तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षगोचर उपाय से एकान्तिक या अनिवार्य रूप से तथा आत्यन्तिक या पूर्णतया अन्तिम रूप से (दु: खनिवृत्ति) नहीं होती है।

टिप्पणी

दु:खत्रयम्—1. आध्यात्मिकम् 2. आधिभौतिकम् 3. आधिदैविकमिति गौडपादाचार्य:।

आध्यात्मिक दु:ख दो प्रकार का है—(क) शारीरिक (ख) मानसिक। त्रिदोष—(वात, पित्त, कफ) की विषमता से उत्पन्न दु:ख शारीरिक कहलाते हैं। जैसे—ज्वर, अतिसार आदि। काम, क्रोध, मोह, मद, लोभ आदि से तथा लौकिक विषयों के अभाव से उत्पन्न दु:ख मानसिक कहलाते हैं। जैसे—प्रियजन वियोगादि दु:ख।

आधिभौतिक दु:ख का अर्थ है—प्राणी समूह से होने वाला अर्थात् जरायुज, अण्डज, श्वेदज और उद्भिज्ज के द्वारा जो उत्पन्न होता है। (मनुष्य, पशु, सिंह, सर्प, मशक, खटमल, जुँआ आदि।)

आधिदैविक दु:ख वह कहलाता है जो देवता सम्बन्धी अथवा आकाश सम्बन्धी होता है। जैसे—यक्ष, राक्षस, दुष्टग्रह आदि के दुष्ट प्रभाव से होने वाला शीत, उष्ण, वर्षा, आँधी, वज्र, उल्कापात आदि। "आधिदैविकं शीतोष्णावात वर्षासन्यवश्यायावेशनिमित्तम्"। युक्तिदीपिका।

यद्यपि सभी दु:ख मन का धर्म होने के कारण मानसिक होते हैं तथापि—'ननु सर्वस्यापि दु:खस्य मनोधर्मत्वेन मानसत्वात् कथं मानसत्वामानसत्वव्यवहार: इति चेत, न, मनोमात्रजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वव्यवहारात्।' (पं. बंशीधर मिश्र— 'तत्वविभाकर')

दृष्टे साऽपार्था—आचार्य गौडपाद अपने सांख्यकारिका भाष्य में कहते हैं कि रसायनादि औषधिसेवन एवं शल्य क्रिया आदि से शारीरिक दु:ख का तथा प्रिय समागम और अप्रिय परिहार से मानसिक दु:ख का (दोनों प्रकार

NOTES

के आध्यात्मिक दु:खों का) निवारणोपाय लोक में देखा जाता है। आधिभौतिक दु:खोत्पत्ति के हेतु प्राणियों से रक्षा के उपाय भी देखे जाते हैं। यज्ञ, दान, जप, पाठादि से आधिदैविक दु:ख निवृत्ति के उपाय देखे जाते हैं।

सांख्यकारिका (2)

प्रसङ्ग—प्रत्यक्षगोचर उपाय के समान यज्ञादि श्रौत या वैदिक उपाय से भी एकान्तिक एवं आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति नहीं होती, अत: दु:ख विनाशक सांख्यशास्त्रीय उपाय की जिज्ञासा आवश्यक है—

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।।2।।

अन्वय—आनुश्रविक: दृष्टवत् (अस्ति), हि स अविशुद्धिक्षयातिशययुक्त: (अस्ति), तद्विपरीत: व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् (उत्पन्न:) श्रेयान्।

शब्दार्थ—आनुश्रविक = श्रौत या वैदिक, श्रुति या वेद में प्रतिपादित। दृष्टवत् = प्रत्यक्षगोचर हेतु या उपाय के समान। हि = यत:, क्योंकि। स: = वह (श्रौत या वैदिक उपाय)। अविशुद्धिक्षयातिशययुक्त: = अशुद्धि, क्षय अर्थात् नाश और अतिशय (आधिक्य, ऊँच-नीच या विषमता) से युक्त। तद्विपरीत: = उस (अशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त वैदिक उपाय) से विपरीत अर्थात् शुद्ध एवं क्षय और अतिशय से रहित। व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् = व्यक्त (महत् आदि विकृति या विकार), अव्यक्त (प्रकृति या प्रधान) और ज्ञ अर्थात् पुरुष के विज्ञान (विशिष्ट-ज्ञान या विवेक) से (होने वाला उपाय)। श्रेयान् = अधिक उत्तम।

हिन्दी अर्थ—श्रुति या वेद में प्रतिपादित यज्ञादि उपाय प्रत्यक्षगोचर उपाय के समान है अर्थात् उससे भी एकान्तिक और आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह वैदिक उपाय अशुद्धि, क्षय अर्थात् नाश एवं अतिशय अर्थात् आधिक्य एवं ऊँच-नीच से युक्त है। इस प्रकार के वैदिक उपाय से विपरीत अर्थात् शुद्ध एवं क्षय और अतिशय से रहित उपाय जो कि व्यक्त महत् आदि विकार, अव्यक्त (प्रकृति) और पुरुष के विज्ञान से होता है, अधिक उत्तम है क्योंकि इससे एकान्तिक एवं आत्यन्तिक दु:खनिवृत्ति होती है।

टिप्पणी

आनुश्रविक—'गुरुपाठादनुश्रूयते' की व्युत्पत्ति से अनुश्रव वेद को कहते हैं। क्योंकि ये गुरु के उच्चारण को सुनकर ही पढ़े जाते हैं। अथवा ये गुरु परम्परा से ही सुने जाते हैं, कोई इनकी रचना नहीं करता। अत: ये अनुश्रव कहे जाते हैं। वेद में निरूपित उपाय को अनुश्रव पद से तत्रभव: के अर्थ में तद्धित् ठञ् प्रत्यय से व्युत्पन्न कर आनुश्रविक कहेंगे। इसका अभिप्राय यज्ञश्रयागादिरूप वैदिक उपाय से है जिससे स्वर्ग की प्राप्ति का विधान किया गया है।

दृष्टवत्—लौकिक उपायों के सदृश अर्थात् जैसे हम लोक में देखते हैं कि किसी व्यक्ति के ज्वर से पीड़ित होने पर हम वैद्य और औषध आदि लौकिक उपायों से उसकी निवृत्ति करा देते हैं परन्तु ऐसा करने पर कदापि ऐसा नहीं देखा जाता है कि वह (ज्वर) सदैव के लिए नष्ट हो जाये तो इस प्रकार लौकिक उपायों से दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं देखी जाती। इन्हीं लौकिक उपायों की भाँति वेद निरूपित उपायों से भी आत्यन्तिक निवृत्ति असम्भव है।

अविशुद्धिक्षयातिशययुक्त:—'दृष्टवदानुश्रविक:' पद से वैदिक उपायों को लौकिक उपायों के समान दु:खनिवृत्ति में अक्षम कहा गया है—इसी का कारण प्रस्तुत पद में बताया गया है। अविशुद्धि-स्वच्छताविहीन। वैदिक उपाय इसलिए अविशुद्धि युक्त है क्योंकि उनमें पशु हिंसा की जाती है। जैसा कि कहा है—

'षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनाद्वनानि पशुभिस्त्रिभिः।।'

क्षययुक्त = नाशवान्। वैदिक उपाय भी नश्वर है क्योंकि इन्द्रादि देवताओं का भी नाश होता है, जो कि निम्न वचनों से स्पष्ट है—

''बहूनीन्द्रसहस्राणि देवानां च युगे युगे।
कालेनसमतीतानि, कालो हि दुरतिक्रमः।।''

अतिशययुक्त = उत्कर्षयुक्त। वैदिक उपाय भी अतिशय युक्त है क्योंकि 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत्' वचानानुसार केवल ज्योतिष्टोमयज्ञ से स्वर्ग प्राप्ति होती है। इसके विपरीत 'स्व राज्यकामो वाजपेयेन यजेत्'। इस वचन से स्वराज्य अर्थात् स्वर्गाधिराज इन्द्र की प्राप्ति वाजपेय यज्ञ से होती है, यही एक की अपेक्षा दूसरे का उत्कर्ष है तथा अधिक सम्पत्तिवान् को देखकर न्यून सम्पन्न को दु:ख अवश्य होता है।

तद्विपरीतः श्रेयान्—तद् का अभिप्राय यहाँ आनुश्रविक अर्थात् लौकिक उपायों के सदृश वैदिक उपाय से है, अतः तद्विपरीतः का अर्थ है—अविशुद्धि (पशुहिंसादि जनित), क्षय, अतिशय आदि दोषों से युक्त वैदिक उपायों से भिन्न अर्थात् हिंसादि के अभाव के कारण पवित्र तथा वेदों में अनेकशः पुनर्जन्म के अभाव कथन से नित्य और सर्वश्रेष्ठ मोक्ष फल से युक्त।

व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्—व्यक्ताव्यक्तज्ञ का शब्दार्थ है—व्यक्त, अव्यक्तज्ञ (पुरुष) तथा उनका विज्ञान अर्थात् विवेक के साथ ज्ञान। जिस क्रम से इन तीनों का ज्ञान होता है वह निम्न कारिका में किया गया है—

''एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।।''

व्यक्त (कार्य) का ज्ञान होने पर, उसके कारणभूत अव्यक्त (प्रकृति) का ज्ञान होता है। इन दोनों के पारार्थ्य के कारण दोनों से भिन्न आत्मा का ज्ञान होताा है। इस प्रकार तत्वविषयक ज्ञान के निरन्तर अभ्यास से 'न मैं क्रिया युक्त हूँ, न मैं कर्त्ता हूँ तथा न मेरी भोक्तृता है' इस भाँति सम्पूर्ण, सन्देह एवं विपर्ययरहित होने के कारण शुद्ध एवं केवल विवेक रूप ज्ञान उत्पन्न होता है।

'व्यक्ताव्यक्तज्ञ' की व्युत्पत्ति 'व्यक्त चाव्यक्त' च ज्ञः चेति व्यक्ताव्यक्तज्ञाः तेषां विज्ञानात्' से विदित है कि यहाँ द्वन्द्व समास हुआ है। किन्तु द्वन्द्व समास में किसका पूर्वनिपात हो इसके नियम हैं—'अल्पाच्तरम्' 'अभ्यर्हितम् च' अर्थात् जिसमें कम स्वर हो तथा जो अन्यों की अपेक्षा अधिक सम्माननीय हो। इस दृष्टि से यहाँ, 'ज्ञ' पद को पूर्व में होना चाहिए था, किन्तु यहाँ इस विशेष क्रम से पदों को रखने से यह प्रयोजन है कि जिस क्रम से ज्ञातव्य विषय की जानकारी करनी है वह यही है। व्यक्त के ज्ञान के बिना अव्यक्त का तथा उसके बिना पुरुष का ज्ञान असम्भव है। यह जगत् जिसकी अभिव्यक्ति है वह प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से होती है। क्योंकि उसका ग्रहण हम सबसे पूर्व करते हैं। अतः व्यक्त पद के पूर्वनिपात का यह तात्पर्य समझना चाहिए कि सबसे पहले यह जगत् है तत्पश्चात् इसके मूलकरण अव्यक्त प्रकृति को जाना जा सकता है। मूल प्रकृति का कोई कारण नहीं वह स्वतन्त्र तत्त्व है।

सांख्यकारिका (3)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका में वर्णित व्यक्त, अव्यक्त एवं पुरुष के विज्ञान या विवेक ज्ञान से उत्पन्न होने वाला उपाय एकान्तिक एवं आत्यन्तिक दु:खनिवृत्ति का वास्तविक उपाय है, अतः उस उपाय को जानने के लिए यह आवश्यक है कि पहले उसके कारण रूप 'व्यक्ताव्यक्तविज्ञान' के विषयीभूत पदार्थों–व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष को

जान लिया जाय। इसलिए कारिकाकार ईश्वरकृष्ण इस कारिका में इन पदार्थों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं या वर्णन कर रहे हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।। 3।।

अन्वय—मूलप्रकृतिः अविकृतिः, महदाद्याः सप्त प्रकृतिविकृतयः, षोडशकः तु विकारः, पुरुष न प्रकृतिः न विकृतिः।

शब्दार्थ—मूलप्रकृतिः = सांख्याभिमत ऐसा मूल कारण-तत्त्व, जिसका अन्य कोई कारण न हो, यह कारण तत्त्व-प्रकृति, प्रधान एवं अव्यक्त एवं अक्षर आदि अभिधानों से अभिहित किया जाता है। अविकृतिः = जो विकार या कार्य न हो। महदाद्याः सप्तः = महत् आदि सात अर्थात् महत् या महत्तत्व, अहङ्कार एवं पञ्चतन्मात्राएँ (ये पाँच तन्मात्रायें या सूक्ष्मभूत)। प्रकृतिविकृतयः = प्रकृति अर्थात् कारण होने के साथ-साथ विकृति अर्थात् विकार या कार्य। षोडकशः = सोलह का वर्ग या समुदाय अर्थात् पञ्च महाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियाँ, इन सोलह पदार्थों का समुदाय। तु = तो । विकारः = कार्य। पुरुषः = सांख्याभिमत् 'चित्' तत्त्व या आत्मा। न = नहीं। प्रकृतिः = किसी विकार या कार्य का कारण। विकृतिः = किसी कारण से उत्पन्न होने वाला विकार या कार्य।

हिन्दी अर्थ—मूल प्रकृति अर्थात् सांख्याभिमत ऐसा मूल कारण-तत्त्व जिसका अन्य कोई कारण न हो 'अविकृति' है अर्थात् किसी अन्य कारण तत्त्व का विकार या कार्य नहीं है, महत्तत्व आदि सात अर्थात् महत्तत्व, अहङ्कार एवं पञ्चतन्मात्राएँ (शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा)', ये सात तत्त्व या पदार्थ 'प्रकृतिविकृति' हैं अर्थात् प्रकृति या कारण होने के साथ-साथ विकार या कार्य भी है और सोलह का समुदाय अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी आदि पाँच महाभूत, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु जिह्वा एवं नासिका, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु या गुदा एवं उपस्थ या जननेन्द्रिय, ये पाँच कर्मेन्द्रिय एवं मन, इन सोलह पदार्थों का समुदाय तो केवल विकार है, पुरुष (सांख्याभिमत् 'चित्' तत्त्व या आत्मा) न प्रकृति अर्थात् किसी का कारण है और न विकृति अर्थात् किसी का विकार या कार्य है।

टिप्पणी

मूलप्रकृतिरविकृति—प्रधान ही मूल प्रकृति है क्योंकि वह किसी अन्य से उत्पन्न नहीं होती। अतः किसी की विकृति नहीं है, वह प्रकृति के विकार भूत महदादि सात तत्त्वों का कारण रूप है, वह मूल भी है और प्रकृति भी है, अतः प्रकृति कहलाती है। सांख्यसूत्र में भी मूल प्रकृति को इस प्रकार बताया गया है—

मूले मूलाभावादमूलम् ।। (सांख्यदर्शन सूत्र 1/67)

अर्थात् मूल में मूल का अभाव होने के कारण मूल प्रकृति वह है जो दूसरों का कारण है, किन्तु उसका कोई कारण नहीं।

महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त—महदादि से तात्पर्य यहाँ महत्तत्व, अहंकार रूप रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द से है। प्रकृति से उत्पन्न तथा अहंकार का उत्पादक होने के कारण महत् प्रकृति और विकृति दोनों ही है, इसी प्रकार अहंकार भी महत् से उत्पन्न होकर पञ्चतन्मात्राओं का उत्पादक है। अतः प्रकृति-विकृति उभयविध है, शब्द तन्मात्रा अहंकार से उत्पन्न होकर आकाश (महाभूत) को उत्पन्न करती है, रूप तन्मात्रा अहंकार से उत्पन्न होकर तेज (महाभूत) का उत्पादक है, रस तन्मात्र अहंकार से उत्पन्न होकर जल (महाभूत) को उत्पन्न करता है, स्वर्ग तन्मात्र अहंकार से उत्पन्न होकर वायु (महाभूत) को उत्पन्न करता है तथा गन्ध तन्मात्र भी अहंकार से उत्पन्न होकर पृथ्वी महाभूत को उत्पन्न करता है। अतः ये पाँचों तन्मात्र भी अहंकार का कार्य तथा पञ्चमहाभूतों का कारण होने के कारण प्रकृति-विकृति दोनों हैं।

षोडकशस्तु विकारः—षोडशकः = सोलह तत्त्वों का समुदाय। सोलह तत्व हैं—आकाश, वायु, पृथ्वी, तेज तथा जल पाँच महाभूत, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन। पञ्च महाभूत क्रमशः पञ्च तन्मात्राओं से उत्पन्न होते हैं अतः विकार कार्य है और किसी को उत्पन्न नहीं करते अतः प्रकृति (कारण) नहीं है, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन सभी अहंकार से उत्पन्न होते हैं अतः विकार (कार्य) है तथा किसी को उत्पन्न नहीं करते अतः प्रकृति (कारण) नहीं है। इस प्रकार से सोलहों तत्व विकार हैं कारण नहीं।

NOTES

न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः—पुरुष तो स्वतन्त्र है वह न तो किसी को उत्पन्न करता है न ही किसी से उत्पन्न होता है, इस कारण वह न तो विकार है और न ही प्रकृति है।

सांख्यकारिका (4)

प्रसङ्ग—किसी भी शास्त्र अथवा ग्रन्थ की प्रवृत्ति—उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा त्रिधा होती है। वर्ण्यविषय का नामोल्लेख कर वर्णन करना उद्देश्य, उदिद्ष्ट की परिभाषा करना उसका लक्षण और लक्षण का सदोष-निर्दोष विचार करना परीक्षा कहलाता है, यहाँ पूर्वकारिका में वर्ण्य विषयों का नामोल्लेख हो चुका है। अब उद्दिष्ट अर्थ की प्रामाणिकता को प्रतिपादित करने के उद्देश्य से सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण प्रस्तुत कारिका में वर्णन कर रहे हैं—

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।।

अन्वय—सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् दृष्टम् अनुमानम् आप्तवचनम् च त्रिविधम् प्रमाणम् इष्टम्। प्रमाणात् हि प्रमेयसिद्धिः।

शब्दार्थ—सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् = सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव होने से, सभी प्रमाणों के कार्य के सिद्ध होने से। दृष्टम् = प्रत्यक्ष। आप्तवचनम् = आप्त या प्रामाणिकों के वचन, शब्द। त्रिविधम् = तीन प्रकार का। इष्टम् = अभीष्ट या मान्य। प्रमाणात्= प्रमाण से। प्रमेयसिद्धिः = प्रमेयों का ज्ञान, ज्ञेय पदार्थों की सत्ता की सिद्धि।

हिन्दी अर्थ—सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव होने से प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये तीन प्रमाण अभीष्ट या मान्य हैं, प्रमाण इसलिए अभीष्ट या मान्य हैं कि प्रमाण से ही प्रमेय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ की सिद्धि अर्थात् ज्ञान या सत्ता की सिद्धि होती है।

टिप्पणी

दृष्ट—दृष्ट प्रमाण से पञ्च ज्ञानेन्द्रियों श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण के द्वारा क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और विषयों का ग्रहण, प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाणजन्य प्रमा भी प्रत्यक्ष कही जाती है।

प्रमाण—प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम्। तथा 'प्रमाकरणं प्रमाणम्।'

प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि का अर्थ है—प्रमाण से प्रमा के विषय अर्थात् प्रमेय को प्राप्त किया जाता है। प्रमाण से यथार्थानुभव रूप प्रमा को जाना जाता है। प्रमाण कभी संशय, विपर्यय, स्मृतिरूपी ज्ञान नहीं हो सकते हैं।। प्रमाण भी एक प्रकार से ज्ञान और अज्ञान के कारण होते हैं। अतएव प्रमाण संशय, भ्रम और स्मृति के साधन भी नहीं हो सकते, वस्तुतः वाचस्पति के अनुसार प्रमाण वह चित्तवृत्ति है जिसका विषय निश्चित रूप से ज्ञान हो रहा है, बाधित होने वाला न हो तथा पूर्व से ज्ञात न हो। चित्तवृत्ति तथा उसके द्वारा उत्पन्न पौरुषेय बाध दोनों ही प्रमा है। प्रथम का पर्यवसान दूसरे प्रकार की प्रमा में होता है। फल होने के कारण दूसरी प्रमा ही मुख्य है। राजेश्वर शास्त्री, शिवनारायण शास्त्री, बालराम और श्रीकृष्ण बल्लभाचार्य द्विविध प्रमा होने से प्रमाण भी द्विविध कहते हैं किन्तु वाचस्पति एक ही प्रमा तथा एक ही प्रमाण मानते हैं। सांख्यसूत्र में उभयविध प्रमा तथा प्रमाण कहे गये हैं किन्तु

विज्ञान भिक्षु ने व्यासभाष्य का समर्थन करते हुए एक प्रकार का प्रमाण माना है और चित्तवृत्ति को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

त्रिविधम्—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये लौकिक प्रमाण हैं। ऊर्ध्वरिता योगियों का तो केवल आर्ष प्रमाण होता है। प्रमाणों के विषय में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने विभिन्न संख्या दी हैं। जैसे—चार्वाक ने एक-प्रत्यक्ष। बौद्ध ने दो—प्रत्यक्ष और अनुमान। नैयायिक ने चार—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान। प्राभाकर मीमांसक ने पाँच—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति। भाट्ट मीमांसक तथा वेदान्ती ने छः—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव। पौराणिक ने आठ—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव और ऐतिह्य।

सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्—सांख्य ने अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान में, सम्भव, अभाव, ऐतिह्य और उपमान का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव कर लिया है। इसीलिए उसने 'त्रिविधम् प्रमाणमिष्ट' कहा है। पतञ्जलि आदि महर्षियों ने भी तीन ही प्रमाण माने हैं।

प्रमेयसिद्धि—प्रमेय अर्थात् प्रधान बुद्धि, अहंकार पाँच तन्मात्रायें, ग्यारह इन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत और पुरुष—ये पच्चीस तत्त्व हैं। इनमें से कुछ प्रत्यक्ष से सिद्ध होते हैं, कुछ अनुमान से और कुछ आगम से।

भारतीय दर्शनों ने यह धारणा स्वीकार की है कि प्रमाण के बिना प्रामाणिक अर्थात् यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। प्रमाणों से ही किसी तत्त्व की सत्ता सिद्ध की जा सकती है। जिस प्रकार पदविद्या व्याकरणशास्त्र कहलाता है, वाक्यविद्या मीमांसा शास्त्र कहलाता है उसी प्रकार प्रमाण विद्या न्यायशास्त्र कहलाता है तथा सांख्य, योग एवं वेदान्त तो प्रेमय विद्या कहे जाते हैं। फिर भी यहाँ पर प्रमाणों का विवेचन किया जा रहा है क्योंकि प्रमेयों की भी सिद्धि बिना प्रमाणों के नहीं होती है।

सांख्यकारिका (5)

प्रसङ्ग—भारतीय दर्शनों ने प्रमा से विविध स्वरूपों के अनुसार उनकी उपलब्धि के लिए विविध प्रकार के प्रमाण स्वीकार किये हैं। सांख्य ने छः प्रमाण स्वीकार किये हैं। सांख्यकारिकाकार प्रमाण सामान्य का लक्षण एवं स्वरूप निर्धारित कर अब प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अलग-अलग लक्षण कह रहे हैं। समस्त प्रमाणों में पूर्ववर्ती ज्येष्ठ, श्रेष्ठ एवं अनुमान तथा शब्द प्रमाण का आधार होने से तथा सभी दर्शनों द्वारा एकमत स्वीकृत होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का कथन कारिकाकार कर रहे हैं—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ।।5।।

अन्वय—प्रतिविषयाध्यवसायः दृष्टम् अनुमानम् त्रिविधम् आख्यातम् तत् लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् (भवति), आप्तश्रुतिः तु आप्तवचनम्।

शब्दार्थ—प्रतिविषयाध्यवसायः = विषय या प्रमेय से साक्षात् सम्बन्ध की स्थिति में होने वाला अध्यवसाय या निश्चयात्मक ज्ञानरूप बुद्धिव्यापार। दृष्टम् = प्रत्यक्षः। त्रिविधम् = तीन प्रकार का। आख्यातम् = कहा गया, प्रसिद्ध। तत् = वह अर्थात् अनुमान। लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् = वह जिसके पूर्व में लिङ्ग और लिङ्गी का ज्ञान हो चुका हो अर्थात् लिङ्ग हेतु और लिङ्गी साध्य के ज्ञान के बाद होने वाला। आप्तश्रुतिः = आप्त अर्थात् प्रामाणिक या यथार्थ बात करने वाले व्यक्ति या शास्त्र के सुने हुए वाक्य या वचन के अर्थ का ज्ञान। आप्तवचनम् = शब्द या आगम प्रमाण।

हिन्दी अर्थ—विषय या प्रमेय से साक्षात् सम्बन्ध रहते हुए जो अध्यवसाय अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञानरूप बुद्धिव्यापार होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। अनुमान तीन प्रकार का कहा गया है—पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट।

वह अनुमान लिङ्ग अर्थात् हेतु या व्याप्य और लिङ्गी अर्थात् साध्य या व्यापक के ज्ञान के बाद होने वाला बुद्धि व्यापार या ज्ञान होता है, आप्त अर्थात् प्रामाणिक या यथार्थ बात कहने वाले व्यक्ति या शास्त्र के सुने हुए वचन के अर्थ का ज्ञान आप्तवचन अर्थात् शब्द यां आगम प्रमाण होता है।

टिप्पणी

प्रतिविषयाध्यवसाय—श्रोत्रादि प्रत्येक इन्द्रिय का, शब्दादि प्रत्येक स्व-स्व विषय में जो अध्यवसाय (निश्चय) है, वह प्रत्यक्ष है। विषयी (बुद्धि) को अपने आकार से रंगकर तदनुरूप बना देने वाले विषय कहलाते हैं। पृथ्वी आदि और सुखदुखादि विषय हैं। विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय प्रतिविषय है। अध्यवसाय बुद्धि का व्यापार कहा जाता है। इस प्रकार इन्द्रियों द्वारा सम्पर्क में आए हुए शब्दादि विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह बुद्धि का धर्म है, इन्द्रियों द्वारा विषय का ग्रहण करने पर बुद्धि में तम को अभिभूत कर जो सत्वोद्रेक होता है, वही अध्यवसाय है। प्रकृति का अंश होने से बुद्धि अचेतन है। अत: बुद्धि का अध्यवसाय एवं बुद्धि परिणाम सुख-दु:ख भी अचेतन है। ये सब पुरुष पर जब आरोपित होते हैं तो उनमें चेतना आ जाती है और अनुभव के विषय हो जाते हैं। बुद्धि विषयाकार होकर अपने में प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष को विषय समर्पित कर देती है। अन्त:करण इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषयों को स्वामी आत्मा को समर्पित कर देता है—

गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने य: प्रयच्छति।
अन्त:करणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नम:।। (वि. पु.)

चेतन पुरुष की छाया पड़ने पर बुद्धि चेतनवत् हो जाती है।

प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष प्रमाण को सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है—

(1) **बौद्ध**—'कल्पना' भ्रान्ति और संशय से रहित वस्तु प्रकाश्य निर्विकल्प ज्ञान प्रत्यक्ष है।

(2) मीमांसक—विद्यमान विषय में इन्द्रियों के साथ प्रयोग से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है।

(3) नैयायिक—इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न निर्विकल्पक और सविकल्पक उभयविध ज्ञान प्रत्यक्ष है।

अनुमान—सांख्य में तीन प्रकार का अनुमान कहा गया है—(1) पूर्ववत्, (2) शेषवत्, (3) सामान्यतोदृष्ट।

अनुमान लिङ्ग अर्थात् व्याप्त अर्थात् अपेक्षाकृत कम स्थानों में व्याप्त होने वाला तथा लिङ्गीय अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक स्थानों में व्याप्त होने वाला, इन दोनों के ज्ञान से उत्पन्न होता है। व्याप्त स्वभाव से ही व्यापक से साहचर्य सम्बन्ध रखता है। जैसे—'यत्र-यत्र धूम: तत्र तत्र वह्नि:' में धूम का वह्नि के साथ साहचर्य सम्बन्ध स्वाभाविक है क्योंकि वह वह्नि का कार्य है। उसका और वह्नि का अविनाभाव सम्बन्ध है यही व्याप्ति है। धूमादि व्याप्त है और वह्नि इत्यादि व्यापक हैं। धूमादि दर्शन से पर्वतादि में वह्नि आदि का अनुमान होता है।

न्यायशास्त्र में अनुमान सर्वप्रथम दो प्रकार का बतलाया गया है—बीत और अबीत।

अन्वय व्याप्ति के द्वारा वह्नि आदि की पर्वत पक्ष में सत्ता सिद्ध करने वाला अनुमान बीत कहलाता है। व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा व्यापक के निषेध के साथ व्याप्य का पक्ष निषेध करने वाला अनुमान अबीत कहलाता है। बीत के ही दो प्रकार होते हैं—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। अबीत को ही शेषवत् कहते हैं। गौडपाद के अनुसार पूर्व जिसका है उसे पूर्ववत् कहते हैं अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान जैसे—मेघ को देखकर वर्षा का अनुमान। शेषवत् वह है जिसमें बचा हुआ अनुमान का विषय हो, इसमें कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे—समुद्र से एक चुल्लू जल लेकर देखा गया तो वह खारा था। इससे अनुमान हो गया कि शेष जल भी खारा होगा। सामान्यतोदृष्ट में कार्य तथा कारण से भिन्न लिङ्ग द्वारा अनुमान है। जैसे—आम के एक वृक्ष में बौर आया देखकर सामान्यत: समझ लिया जाता है बौर आने का समय है। अत: सभी आमों में बौर आ गया होगा।

NOTES

. अनुमान कभी लिङ्गपूर्वक होता है और कभी लिङ्गीपूर्वक। लिङ्गपूर्वक में लिङ्ग से लिङ्गी का अनुमान किया जाता है। जैसे—दण्ड देखकर सन्यासी का अनुमान। लिङ्गीपूर्वक उसे कहते हैं जहाँ लिङ्गी से लिङ्ग का अनुमान किया जाता है। जैसे—सन्यासी से दण्ड का अनुमान लिङ्ग व्याप्य अर्थात् हेतु और लिङ्गी व्यापक अर्थात् साध्य है। साध्य के साथ हेतु का सम्बन्ध दो प्रकार से होता है। 1. उपाधि सहित और 2. उपाधि रहित। केवल निरूपाधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है। धूम और वह्नि का सम्बन्ध निरूपाधिक अर्थात् स्वाभाविक है, किन्तु अग्नि और धूम का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है। यहाँ पर गीले ईंधन का संयोग उपाधि है। इसीलिए यत्र तत्र धूम: तत्र-तत्र वह्नि, यह तो व्याप्ति है, यत्र-यत्र वह्नि, तत्र-तत्र धूम:, यह व्याप्ति नहीं है।

कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्तिक में कहा है कि व्याप्य-व्यापक भाव की परीक्षा दो प्रकार से होती है—अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति। अन्वय व्याप्ति में साधन व्याप्य तथा साध्य व्यापक होता है। व्यतिरेक व्याप्ति में यह क्रम उलट जाता है।

विश्वनाथ न्याय पञ्चानन ने पूर्ववत् को केवलान्वयी, शेषवत् को केवल व्यतिरेकी तथा सामान्यतोदृष्ट को अन्वयव्यतिरेकी का अनुमान कहा है।

सांख्यकारिका (6)

प्रसङ्ग—व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ ही सांख्यशास्त्र के प्रमेय विषय हैं। इनकी सिद्धि के लिए अपेक्षित प्रमाणों का विवेचन पूर्वकारिकाओं में हो चुका है। अब तीनों अनुमान के प्रभेदों एवं प्रमाणों में कौन किसका विषय है, इसका निरूपण प्रस्तुत कारिका में ईश्वरकृष्ण करते हैं—

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम्।।

अन्वय—सामान्यतोदृष्टात् अनुमानात् तु अतीन्द्रियाणाम् प्रतीति:, तस्मात् अपितु च असिद्धम् परोक्षम् आप्तागमात् सिद्धम्।

शब्दार्थ—सामान्यतोदृष्टात् अनुमानात् = सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान से। अतीन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों के अगोचर या अप्रत्यक्ष विषयों की। प्रतीति: = सत्ता की सिद्धि, ज्ञान। तस्मात् = सामांन्यतोदृष्ट अनुमान से। असिद्ध = अज्ञात। परोक्षम् = अप्रत्यक्ष। आप्तागमात् = यथार्थ प्रतिपादन करने वाले आगम (शब्द) प्रमाण से। सिद्धम् = सिद्ध, ज्ञात।

हिन्दी अर्थ—सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान से तो अतीन्द्रिय या अप्रत्यक्ष विषयों की प्रतीति या सत्ता की सिद्धि होती है और उससे भी अज्ञात परोक्ष या अप्रत्यक्ष विषय यथार्थ प्रतिपादन करने वाले आगम (शब्द) प्रमाण से सिद्ध या ज्ञात होता है।

टिप्पणी

ज़िस जातीय विषय को प्रत्यक्ष कर लिया है उसके द्वारा समस्त जाति के कार्यों का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। सामांन्यतोदृष्ट में बिना कारण के कार्य की अनुपपत्ति भी आती है जैसे—जहाँ-जहाँ कार्य होगा वहाँ-वहाँ कारण भी अवश्य होगा। यथा—रूप का ज्ञान होने में अनेक कारण है, प्रकृति और पुरुष का भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ही बोध होता है, क्योंकि सुख-दु:ख आदि कार्य महत्तत्व से उत्पन्न हुए हैं, महत्तत्व भी कार्य है अतएव उसका भी कारण प्रकृति अवश्य माननी होगी। प्रकृति जड़ है अतएव वह किसी चैतन्य की शक्ति के कदापि चैतन्य कार्यों का कारण नहीं हो सकती, इसी से सामान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रकृति पुरुष की सिद्धि स्पष्ट है।

अतीन्द्रिय पदार्थ मूल प्रकृति आदि अनुमान प्रमाण से सिद्ध होते हैं। किन्तु परोक्ष और अतीन्द्रिय स्वर्ग-अपवर्ग आदि अनुमान से अगम्य है, अत: उनका ज्ञान आगम (शब्द) प्रमाण से होता है। गौडपाद, माठर और वाचस्पति

मिश्र ने भी अतीन्द्रिय प्रकृति पुरुष का ज्ञान सामान्यतोदृष्ट अनुमान से स्वीकार किया है किन्तु चन्द्रिकाकार नारायण तीर्थ ने इस कारिका का अर्थ किया है—सर्वसामान्य विषयों अर्थात् इन्द्रियग्राह्य विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से, अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से और इससे भी न ज्ञात होने वाले याग आदि की स्वर्ग-साधनता का ज्ञान शब्द प्रमाण से होता है किन्तु बंशीधर मिश्र ने 'सांख्यतत्त्वविभाकर' में नारायण तीर्थ का खण्डन कर दिया है।

यहाँ पर अतीन्द्रिय का अर्थ यही है कि वे वस्तु या विषय कभी भी इन्द्रियगोचर नहीं होते हैं यद्यपि सांख्यकारिका के सभी टीकाकारों ने इस सन्दर्भ में प्रकृति पुरुष का ही उल्लेख किया है पर महत् अहंकार एवं तन्मात्रायें भी इस श्रेणी में आती हैं। इनमें भी परोक्ष विषय स्वर्ग एवं अपवर्ग है जिनकी प्रतीति आगम या शब्द प्रमाण से होती है।

सांख्यसूत्र और सांख्यकारिका दोनों सामान्यतोदृष्ट से प्रकृति और पुरुष की सिद्धि स्वीकार करते हैं। तो फिर शब्द प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता? वस्तुतः सांख्य सर्वोत्कृष्ट अपवर्ग स्वीकार करता है जिसकी सिद्धि के लिए आगम (शब्द) प्रमाण अपेक्षित है। साथ ही स्वर्गापवर्ग की सिद्धि के साथ ही महर्षि कपिल आदि आचार्यों के वचनों की प्रामाणिकता हेतु भी हमें आगम (शब्द) प्रमाण मानना होगा।

सांख्यकारिका (7)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार ने प्रस्तुत कारिका उन आशंका करने वालों के उत्तर में लिखी है जिनका कहना था कि जैसे आकाश में पुष्प, कच्छप के रोम तथा शशक के शृंग आदि नहीं होते हैं उसी प्रकार प्रकृति आदि भी न दिखाई देने के कारण नहीं होने चाहिए । उनकी सिद्धि कैसे किया जाता रहा है।

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च।। 7।।

अन्वय—अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातात् मनोऽनवस्थानात् सौक्ष्म्यात् व्यवधानात् अभिभवात् समानाभिहारात् च (अर्थानामनुपलब्धिर्भवती)।

शब्दार्थ—अतिदूरात् = अत्यधिक दूरी के कारण। सामीप्यात् = अत्यधिक समीपता के कारण। इन्द्रियघातात् = इन्द्रियों के नाश के कारण। मनोऽनवस्थावात् = मन के अव्यवस्थित या विक्षिप्तता के कारण। सौक्ष्म्यात् = सूक्ष्मता के कारण। व्यवधानात् = बीच में किसी वस्तु का व्यवधान होने के कारण। अभिभवात् = उत्कृष्ट से तिरस्कृत होने के कारण। समानाभिहारात् = सदृश वस्तु के साथ मिश्रित हो जाने के कारण।

हिन्दी अर्थ—अत्यधिक दूरी, अत्यधिक समीपता, इन्द्रियों के नाश या वैकल्य, मन की अशान्ति या बेचैनी, सूक्ष्मता, बीच में किसी वस्तु का व्यवधान आने से, किसी अन्य शक्तिशाली पदार्थ की स्थिति में दब जाने एवं समान रूप वाली वस्तु के साथ मिश्रित हो जाने के कारण कोई भी वस्तु होते हुए भी प्रत्यक्षतः उपलब्ध या इन्द्रियगोचर नहीं होती या दिखाई नहीं पड़ती।

टिप्पणी

'विषयोऽविषयोप्यति दूरादेव हानोपादानाभ्याम् इन्द्रियस्य' अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय के सम्बन्ध और असम्बन्ध से प्रत्यक्ष भी परोक्ष हो जाता है, इसमें कारण है पदार्थ का दूर हो जाना, पदार्थ ज्ञानक इन्द्रिय में दोष होना, पदार्थ का सूक्ष्म होना या मध्य में किसी दूसरी वस्तु का व्यवधान होना, इसलिए जो पदार्थ प्रत्यक्ष न हो उसका अभाव नहीं कहा जा सकता है।

प्रधान और पुरुष की सत्ता के विरोध में लोक व्यवहार का आश्रय लेकर विरोधी ने जो यह तर्क प्रस्तुत किया है कि जो वस्तु नहीं होती है उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता है, अतः प्रकृति पुरुष नहीं है। इसके उत्तर में सांख्यकारिकाकार ने आठ ऐसे कारण दिये हैं जिससे विद्यमान पदार्थ भी प्रत्यक्ष नहीं होते हैं।

NOTES

अतिदूरात्—आकाश में उड़ता पक्षी अत्यधिक दूर होने से प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता।

सामीप्यात्—यहाँ पर भी अति पद पहले जोड़ना होगा। जिस प्रकार आँख में लगा हुआ अञ्जन अधिक समीप होने के कारण नहीं दिखाई देता।

इन्द्रियघातात्—इन्द्रियों की अपनी कार्य करने की शक्ति का नाश हो जाना, यथा—बहरे शब्द सुन नहीं सकते तथा अन्धे रूप नहीं देख पाते।

मनोऽनवस्थानात्—मन की विक्षिप्तता के कारण कही हुई बात को भी लोक ग्रहण नहीं कर पाते हैं, जैसे—कामार्त शकुन्तला, दुर्वासा को नहीं देख पाती है।

सौक्ष्म्यात्—स्थिरचित्त व्यक्ति भी धूमजलहिमादि परमाणुओं को नहीं देख पाता है।

व्यवधानात्—बीच में किसी वस्तु का व्यवधान होने से, जैसे—दीवार की आड़ में छिपी हुई राजमहीषियों को कोई नहीं देख पाता है।

अभिभवात्—उत्कृष्ट से तिरस्कृत होने पर भी, यथा—दिन में सूर्य के तेज से ग्रह और नक्षत्र नहीं दिखाई देते हैं।

समानाभिहारात्—सदृश वस्तु के साथ मिश्रित हो जाने से, जैसे—जल में जल, दूध में दूध, मूँग में मूँग, आदि मिल जाने से कोई नहीं अलग-अलग प्रत्यक्ष कर पाता है।

सांख्यकारिका (8)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका में प्रकृति की अनुपलब्धि के कारणों का सामान्य रूप से उपन्यास करने के कारण सांख्यकारिकाकार इस कारिका में यह बताना चाहते हैं कि प्रधान एवं पुरुष की अनुपलब्धि का पूर्वोक्त कारणों में से कौन सा कारण है?

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ।।8।।

अन्वय—सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः न अभावात् कार्यतः ततदुलब्धेः तत् कार्यमहदादि च प्रकृतिसरूपं विरूपं च (अस्ति)।

शब्दार्थ—सौक्ष्म्यात् = सूक्ष्मता के कारण। तदनुपलब्धिः = उस प्रधान का दृष्टिगोचर या उपलब्ध न होना। न = नहीं। अभावात् = अभाव के कारण। कार्यतः = कार्य से। तदुपलब्धेः = उस प्रधान की उपलब्धि या सत्ता की जानकारी होने के कारण। महदादि = महत्तत्व आदि। प्रकृति सरूपम् = प्रकृति के समान। विरूपम् = असमान या विलक्षण।

हिन्दी अर्थ—उस प्रधान की अनुपलब्धि सूक्ष्मता के कारण है, अभाव के कारण नहीं, क्योंकि उसके कार्य से उसकी उपलब्धि या उसकी सत्ता की जानकारी होती है अर्थात् इससे उत्पन्न होने वाले कार्यों को देखकर उसके विषय में अनुमिति रूप ज्ञान प्राप्त होता है और वह कार्य महत्तत्व आदि है जो प्रकृति के समान और उसके असमान अर्थात् उससे विलक्षण भी है।

टिप्पणी

सौक्ष्म्यात्—प्रकृति के अत्यन्त सूक्ष्म होने से, जैसे धूम, जल, हिम आदि के परमाणु सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष होते हुए भी वह दिखाई नहीं देती है। इस स्थिति में प्रकृति की सत्ता है, इस कारण को भी कैसे मान लिया जाय?

सांख्यकारिकाकार तर्क देते हैं कि कार्यतः कार्य के कारण का अनुमान होता है, यह सारा संसार कार्य है, जिसका प्रकृति कारण है। महदादि-बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत, ये तो उस प्रकृति के कार्य हैं।

प्रकृतिसरूपं विरूपं च—महदादि कार्य प्रकृति के असदृश और सदृश (समान रूप वाले)) भी है जैसे कि जगत् में देखा जाता है कि पुत्र पिता के सदृश भी होता है और असदृश भी।

सांख्यकारिकाकार ने प्रकृति और पुरुष दोनों की सिद्धि के लिए अनुमान का आधार लिया है। किन्तु दोनों में भिन्नता है क्योंकि प्रकृति का अनुमान महदादि कार्यों से लगाया जाता है जबकि पुरुष का कोई कार्य ही नहीं होता, जो कि लिङ्ग बन सकता। नैयायिक जगत का मूल कारण परमाणु को, वेदान्ती ब्रह्म को और सांख्यशास्त्री प्रकृति को स्वीकार करते हैं।

दर्शनों के विविधवाद अन्तिम कारण के विषय में अनेक मत प्रस्तुत करते हैं। जैसे—बौद्ध असत् से सत् तत्त्वों की उत्पत्ति मानते हैं। वेदान्ती संसार को सत् ब्रह्म का विवर्त मानकर सदसदविलक्षण कहते हैं। न्यायवैशेषिक जगत् के उपादान कारण परमाणुओं को सत् स्वीकार करते हैं, किन्तु परमाणुओं से उत्पन्न होने वाले घटादि कार्य को, उत्पत्ति से पूर्व कारण में स्थित न मानकर नई उत्पत्ति अर्थात् असत् स्वीकार करते हैं। सांख्य प्रत्येक कार्य को सत् अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान स्वीकार करता है। यह कार्य की न तो उत्पत्ति मानता है और न ही विनाश ही स्वीकार करता है, वह तो कार्य का आविर्भाव एवं तिरोभाव प्रतिपादित करता है। उसका मत सत्कार्यवाद कहा जाता है।

सांख्यकारिका (9)

प्रसङ्ग—भारतीय दार्शनिकों ने कारण-कार्य सिद्धान्त पर अनेक मत विस्तार के साथ प्रस्तुत किए हैं किन्तु व्यास, कणादि, गौतम आदि सत्कारण से असत्कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। अतः उनके मत में कार्य से कारण रूप प्रधान की सिद्धि नहीं हो सकती, अतएव सांख्यकारिकाकार प्रधान की सिद्धि के लिए प्रस्तुत कारिका में सत्कार्यवाद की स्थापना करते हैं।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।९।।

अन्वय—असद्करणात्, उपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाभावात्, शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावात् च कार्यम् सत् (अस्ति)।

शब्दार्थ—असद्करणात् = असत् या अविद्यमान की उत्पत्ति न किये जाने के कारण। उपादानग्रहणात् = विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति के लिए उससे सम्बद्ध विशिष्ट उपादान कारण को ग्रहण करने के कारण। सर्वसम्भवाभावात् = सभी कारणभूत पदार्थों से सभी कार्यों की उत्पत्ति न होने के कारण। शक्तस्य = समर्थ के अर्थात् किसी विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ कारण के। शक्यकरणात् = जिस कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है, उस कार्य को ही उत्पन्न करने के कारण। कारणभावात् = कार्य के कारणात्मक या कारण से अभिन्न होने के कारण। कार्यम् = कार्य, उत्पन्न होने वाला। सत् = उत्पन्न रूप में दृष्टिगोचर होने से पहले भी कारण रूप से विद्यमान है।

हिन्दी अर्थ—अविद्यमान या असत् या असत् की उत्पत्ति न किए जाने, विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति के लिए उससे असम्बद्ध विशिष्ट उपादान कारण को ग्रहण करने अथवा तत्तत् विशिष्ट कार्यों से तत्तत् विशिष्ट कारणों का सम्बन्ध होने, सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति न होने अथवा चाहे किसी कारण से चाहे किसी कार्य की उत्पत्ति न होने, किसी कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ कारण के शक्य अर्थात् अपनी सामर्थ्य से उत्पन्न करने योग्य कार्य के करने एवं कार्य के कारणात्मक या कारण से अभिन्न होने के कारण कार्य 'सत्' है अर्थात् कारण व्यापार से पहले भी अथवा उत्पन्न रूप में दिखाई पड़ने से पहले भी कारण रूप से विद्यमान है।

टिप्पणी

नासदुत्पादोन श्रृङ्गवत् (सा. सूत्र 114), 'उपादाननियमात्' (सां. सूत्र 115), 'सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्' (सां सूत्र 116), 'शक्तस्य शक्यकरणात्' (सां. सूत्र 117) और 'कारणभावाच्च' (सां. सूत्र 118) अर्थात् सांख्य दर्शन सूत्र का कथन है कि असत् पदार्थ किसी उत्पत्ति का कारण नहीं कहा जा सकता है। जैसे—मनुष्य की सींगों का वाद्य नहीं हो सकता है। उपादान नियमानुसार भी सदुपादान से ही सत्कार्य होगा तथा मिट्टी से घट ही उत्पन्न होगा पर नहीं। सांख्य सूत्र का कहना है कि 'असत: सत् जायते' और 'सत् असत् जायते'। इस विषय पर अन्त मत आरम्भवाद, विवर्तवाद और अभाववाद के हैं।

सांख्यकारिकाकार ने सत्कार्यवाद के समर्थन में पाँच युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं—

असत्करणात्—असदकरण का तात्पर्य यह है कि जो जहाँ असत् या अविद्यमान रहता है, उसे वहाँ से किया नहीं जा सकता अर्थात् उसे वहाँ से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार बालुका में तैल नहीं है, अत: किसी [illegible] साधन से उसे वहाँ से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, यदि असत् या अविद्यमान का कारण या उत्पादन सम्भव होता तो बालुका से तैल निकाल लिया जाता। इस प्रकार जो कार्यरूप पदार्थ जहाँ पहले सत् या विद्यमान नहीं है, उसे वहाँ से उत्पन्न नहीं किया जा सकता और फलत: यही मानना होगा कि कारण रूप पदार्थ में कार्यरूप पदार्थ पहले से अव्यक्त रूप में सत् या विद्यमान होता है, जिसे विभिन्न कारणों या साधनों के द्वारा व्यक्त कर लिया जाता है या जो अनुकूल साधनों या परिस्थितियों को पाकर स्वयं व्यक्त हो जाता है। उदाहरण के लिए, तिलों में तैल पहले से ही अव्यक्त रूप से सत् या विद्यमान होता है, जिसे कि यन्त्र आदि द्वारा तिलों से तैल निकाल लिया जाता या व्यक्त कर लिया जाता है। इसी प्रकार जल या मिट्टी का तैल जमीन में पहले से रहता है जिसे कि अवरोधक मिट्टी को हटाकर प्रकट कर लिया जाता है।

उपादानग्रहणात्—उपादान से भी यह सिद्ध होता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व सत् है। किसी विशिष्ट तैल आदि कार्य को उत्पन्न करने के लिए तत्सम्बद्ध विशिष्ट तिल आदि उपादान को ग्रहण किया जाता है और विशिष्ट उपादान कार्य ग्रहण या चयन इस आधार पर किया जा सकता है कि उस उपादान में अपेक्षित कार्य रूप पदार्थ पहले से अव्यक्त रूप से सत् या विद्यमान है जिसे कि व्यक्त रूप में उत्पन्न किया जा सकता है। यदि असत् या अविद्यमान को ही उत्पन्न करना है तो किसी विशिष्ट उपादान का चयन करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि फिर तो अपेक्षित कार्य को चाहे किसी से उत्पन्न कर लिया जाता है, किन्तु यत: ऐसा नहीं होता, अपितु विशिष्ट उपादान को ही ग्रहण किया जाता है, अत: सिद्ध है कि कोई विशिष्ट कार्य किसी विशिष्ट उपादान में पहले से सत् है जिसे कि उत्पन्न करने के लिए उसे विशिष्ट उपादान को ग्रहण किया जाता है। जिस पदार्थ से कार्यरूप पदार्थ उत्पन्न किया जाता है उसे उपादान या उपादानकारण कहते हैं, जैसे—तेल का उपादान तिल, दही का उपादान दूध एवं मृण्मय घट का उपादान मृत्तिका है। सत्कार्यवादी इस कारण को उपादानकारण कहते हैं, क्योंकि उसके अनुसार कार्य के उसमें या उसके रूप में सत् होने के कारण उस कार्य को उत्पन्न करने के लिए उसका कारण उपादान या ग्रहण किया जाता है अर्थात् उससे कार्य को व्यक्त रूप में उत्पन्न किया जाता है। असत्कार्यवादी इस कारण को 'समवायिकारण' कहते हैं, क्योंकि इसमें समवेत होता हुआ अर्थात् इससे समवाय सम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध होता हुआ कार्य उत्पन्न होता है।

सर्वसम्भवाभावात्—सर्वसम्भवाभाव का तात्पर्य यह है कि चाहे किसी पदार्थ से चाहे किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है अत: सिद्ध है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् न होकर सत् है क्योंकि यदि पहले से असत् रहने वाले कार्य की उत्पत्ति सम्भव होती तो असत् रूप से कहीं अन्तर न होने से चाहे किसी पदार्थ से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति की जा सकती थी और इस प्रकार बालु से तैल और तैल से दही को भी उत्पन्न किया जा सकता था, किन्तु ऐसा होता नहीं, जिससे सिद्ध है कि किसी कारण में पहले से सत् या विद्यमान कार्य की ही उस कारण से उत्पत्ति होती है।

शक्तस्य शक्यकरणात्—उसी कारण से वही कार्य उत्पन्न हो सकता है जिस कार्य को जो कारण उत्पन्न कर सकता है, जैसे कि दही वाला दूध से ही दही बना सकता है मिट्टी से नहीं, क्योंकि विशिष्ट कारणों में विशिष्ट कार्यों के उत्पन्न करने की ही शक्ति होती है। किसी भी वस्तु से किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। अत: कार्य सत् है।

कारणभावात्—कारणभाव का तात्पर्य यह है कि कार्य कारण से भिन्न न होकर कारणात्मक या कारण का ही एक रूप होता है और कारण कार्य रूप में आने से पहले भी सत् है, अत: स्वत: सिद्ध है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने मूल रूप अर्थात् कारण रूप से सत् है। कार्य और कारण दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। किसी को तभी कारण कहा या माना जाता है, जब उसका कोई कार्य होता है, इस कार्य की अपेक्षा से ही वह कारण माना जाता है, इसी कारण किसी को तभी कार्य कहा जाता है जब उसका कोई कारण होता है और इस कारण की अपेक्षा से ही उसे कार्य माना जाता है। परस्पर सापेक्ष ये कारण और कार्य एक वस्तु के दो रूप हैं, जिनमें कार्य रूप की अपेक्षा से अविकसित रूप कारण है और कारण रूप की अपेक्षा से से विकसित रूप कार्य है। दूसरे शब्दों में, कारण ही अपने मूल या अविकसित रूप में कारण और विकसित रूप में कार्य है। इस प्रकार कार्य के कारण का एक विकसित रूप होने से वह अपने इस रूप को प्राप्त करने से पूर्व भी अपने मूल या कारण रूप से सत् है। उदाहरण के लिए, दही अपने मूल या कारण दूध का विकसित रूप है, वह अपने इस विकसित रूप को प्राप्त करने से पूर्व भी अपने मूल या कारण दूध रूप से सत् है। इस प्रकार उक्त असदकरण आदि हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी सत् है और यही मानना सत्कार्य वाद है।

सांख्यकारिका (10)

प्रसङ्ग—प्रकृति अर्थात् प्रधान की सिद्धि में सहायक एवं आधार सत्कार्यवाद का महत् कारण व्यापार में पूर्व भी विद्यमान रहते हैं, प्रतिपादन करके प्रधान को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने के लिए सर्वप्रथम विवेक ज्ञान में उपयोगी महदादि के अतीन्द्रिय कारण प्रकृति के व्यक्त एवं अव्यक्त दो रूपों का तथा उनके सादृश्य एवं वैषम्य का निरूपण प्रस्तुत कारिका में सांख्याकारिकाकार ईश्वरकृष्ण कर रहे हैं।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्।।10।।

अन्वय—व्यक्तम् हेतुमत्, अनित्यम्, अव्यापि, सक्रियम्, अनेकम्, आश्रितम्, लिङ्गम्, सावयवम्, परतन्त्रम्, हेतुमदादिभ्य: विपरीतम्।

शब्दार्थ—व्यक्तम् = व्यक्तित्व या प्रकट रूप से युक्त महत् आदि। हेतुमत् = अपने कारण से युक्त अर्थात् अपने किसी कारण से उत्पन्न, कार्य। अनित्यम् = विनाशशील, अपने वर्तमान रूप में हमेशा नहीं रहने वाला। अव्यापि = अव्यापक, सर्वत्र न रहकर सीमित क्षेत्र में रहने वाला, सीमित व्यक्तित्व या रूप वाला। सक्रियम् = क्रियाओं से युक्त। अनेकम् = संख्या में बहुत। आश्रितम् = अपने वर्तमान रूप में अपने मूलरूप या कारण पर अवलम्बित। लिङ्गम् = अपने वर्तमान रूप में, अपने मूल रूप या कारण की सत्ता का सूचक। सावयवम् = अवयवों या हिस्सों वाला। परतन्त्रम् = पराधीन, किसी कार्य को उत्पन्न करने में अपने कारण की सहायता की अपेक्षा रखने वाला। अव्यक्तम् = व्यक्तित्व या प्रकट रूप में विहीन प्रधान या प्रकृति । विपरीतम् = विषम्, प्रतिकूल, उल्टा।

हिन्दी अर्थ—व्यक्त अर्थात् व्यक्तित्व या प्रकट रूप से युक्त अपने किसी कारण से उत्पन्न अर्थात् कार्य, अनित्य अर्थात् विनाशशील या अपने वर्तमान रूप में हमेशा नहीं रहने वाला, अव्यापक अर्थात् सर्वत्र न रहकर सीमित प्रदेश में रहने वाला, सीमित व्यक्तित्व या रूप वाला, क्रियाओं से युक्त, संख्या में अत्यधिक, अपने वर्तमान रूप में अपने मूल रूप या कारण पर अवलम्बित, अपने मूल रूप या कारण की सत्ता का सूचक, सावयव अर्थात् अवयवों या हिस्सों वाला, पराधीन अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने में अपने कारण की सहायता की अपेक्षा रखने वाला है और अव्यक्त अर्थात् व्यक्तित्व या प्रकट रूप से विहीन प्रधान या प्रकृति इसके विपरीत या उल्टा है अर्थात्

अहेतुमत् या स्वयं मूल कारण, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय या क्रियाविहीन, एक अनाश्रित या स्वाधार, अलिङ्ग या असूचक, निरवयव एवं स्वतन्त्र हैं।

टिप्पणी

हेतुमत्—हेतु अर्थात् कारण जिसका होता है उसे हेतुमत कहते हैं। हेतु के उपादान, कारण, निमित्त आदि पर्याय हैं, अर्थात् व्यक्त हेतुमत है। यथा—बुद्धि प्रकृति से हेतुमान् है। अहंकार बुद्धि से, पञ्चतन्मात्रा एकादश इन्द्रियाँ अहंकार से हेतुमान हैं। आकाश शब्दतन्मात्रा से हेतुमान् है। यही क्रम है। सारा व्यक्त समुदाय हेतुमत् है।

अनित्यम्—व्यक्त जगत् अनित्य है। अपने कारण अन्य तत्त्व से उत्पन्न होने वाला अनित्य होता है। जैसे—मृत्पिण्ड से उत्पन्न होने वाला घट अनित्य है और व्यक्त है। यह अपने कारण में तिरोभूत होने वाला भी है। वेदान्त में अनित्य का अर्थ विनाशशील होता है किन्तु सांख्य में अनित्य का अर्थ सूक्ष्म रूप से अपने कारण में रहना होता है।

अव्यापि—सर्वत्र न रहने वाला अर्थात् व्यक्त प्रधान और पुरुष की भाँति सर्वत्र व्याप्त नहीं रहता। कार्य कारण में व्याप्त-व्यापक सम्बन्ध होता है। कारण अधिक देशवृत्ति होने से व्यापक है। कार्य कर्म देशव्यापी होने से व्याप्य है। कार्य कारण को व्याप्य नहीं करता है अपितु कारण से कार्य व्याप्त होता है, इसी से कार्य अव्यापी है।

सक्रियम्—व्यक्त कार्य क्रियाशील है अर्थात् संसार में जीवन एवं मरण रूप से संसरण करता है। त्रयोदश तत्त्वों से युक्त सूक्ष्म तत्त्व शरीर को लेकर उत्पन्न एवं विनष्ट होने के कारण सक्रिय है। सक्रियता प्रवेश और निस्सरण के रूप में सांख्य में स्वीकार की गई है। क्रियाशीलता व्यक्त प्रकृति का गुण है। प्रकृति में क्षोभरूप क्रिया होती है किन्तु गमनागमन रूप क्रिया नहीं होती, क्योंकि परम व्यापक तत्त्व संसरण नहीं कर सकता। विज्ञानभिक्षु ने सक्रियता का अर्थ आलोचन, संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय रूप किया है।

अनेकम्—प्रत्येक पुरुष में बुद्धि इत्यादि के भिन्न होने से सूक्ष्म व्यक्त अनेक हैं। सूक्ष्म व्यक्त, पृथिवी इत्यादि शरीर घट आदि के भेद से अनेक हैं। बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ, तन्मात्रायें एवं महाभूत—ये सब व्यक्त एवं अनेक हैं। प्रकृति भी त्रिगुणात्मिका है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार सर्गभेद से भिन्नता की अनेकता है।

आश्रितम्—व्यक्त अपने कारण में आश्रित रहता है जैसे बुद्धि प्रधान के आश्रित, अहंकार बुद्धि के आश्रित तथा ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्रायें अहंकार के आश्रित तथा पाँच महाभूत पञ्चतन्मात्राओं के आश्रित हैं। व्यक्त आश्रित है, अव्यक्त अनाश्रित। यद्यपि कारण और कार्य में अभेद है फिर भी व्यवहारार्थ उनमें आश्रय-आश्रयीभाव की कल्पना की जाती है।

लिङ्गम्—लिङ्ग का अर्थ है प्रधान के अनुमान में हेतु। गौडपाद और शंकर ने व्यक्त को लिङ्ग इसलिए कहा है कि वह अन्त में लय को प्राप्त हो जाता है। प्रलयकाल में महाभूत अपनी-अपनी तन्मात्राओं में, तन्मात्रायें अहंकार में और अहंकार महत्तत्व में तथा महत्तत्व प्रधान अर्थात् प्रकृति में लय हो जाता है।

सावयव—व्यक्त अवयवों से युक्त है। सावयव का अर्थ है—अपने ही प्रकार के अन्य भेदों के साथ जो मिश्रित हो सके, जैसे—पृथ्वी, जल, आकाशादि तत्त्व परस्पर संयुक्त रहते हैं, इनके विपरीत मूल प्रकृति निरवयव है। प्रधान का गुणों से सम्बन्ध नहीं बनता सजातीय होने के कारण। प्रधान और बुद्धि में समवाय सम्बन्ध होने से उनमें भी सावयवता नहीं होती है।

परतन्त्रम्—व्यक्त पराधीन होता है। वह अपने कारण की सहायता से अपने कार्य को उत्पन्न कर सकता है, न कि स्वतन्त्र रूप से। त्रिगुणात्मिका प्रकृति की सहायता से ही महदादि अपने कार्यों को उत्पन्न कर सकते हैं, इसीलिए व्यक्त परतन्त्र है, अव्यक्त प्रकृति स्वतन्त्र है।

विपरीतम्—व्यक्त के पूर्वोक्त गुणों से विपरीत अव्यक्त है। अव्यक्त कारण रहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, अनाश्रित, अलिङ्ग निरवयव तथा महदादि के उत्पादन में सर्वथा स्वतन्त्र है।

अव्यक्त प्रधान किसी से उत्पन्न नहीं होता है इसलिए अहेतुमत् है। घटादि की भाँति किसी से उत्पन्न न होने के कारण वह नित्य है। अव्यक्त सर्वगत है, अतः व्यापी है। अव्यक्त अक्रिय इसलिए है क्योंकि सर्वगत होने से उसमें क्रियाशीलता अपेक्षित नहीं। अव्यक्त एक है क्योंकि वह मूल कारण है। अव्यक्त किसी का कार्य न होने से अनाश्रित है। अव्यक्त अलिङ्ग है क्योंकि उसका प्रलय काल में लय नहीं होता है क्योंकि उसका कारण भी नहीं है। अव्यक्त निरवयव है क्योंकि उसमें शब्दस्पर्श, रूपरस-गन्ध ये अवयव नहीं होते हैं, यह स्वतन्त्र है क्योंकि वह स्वयं अपने में समर्थ है।

सांख्यकारिका (11)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकार ईश्वरकृष्ण पूर्वकारिका के ही व्यक्त और अव्यक्त रूपों का आपस में वैषम्य अर्थात् वैधर्म्य बतलाकर अब प्रस्तुत कारिका में उनके आपस में साधर्म्य अर्थात् साम्य का वर्णन और पुरुष में उनके वैधर्म्य का विवेचन करते हैं।

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।। 11।।

अन्वय—व्यक्तम् तथा प्रधानम् त्रिगुणम् अविवेकि, विषयः सामान्यम् अचेतनम्, प्रसवधर्मि (स्तः), पुमान् तद्विपरीतः तथा च (अस्ति)।

शब्दार्थ—व्यक्त = व्यक्तित्व से युक्त, महत्तत्व आदि तेईस पदार्थ। प्रधानम् = अव्यक्त, प्रकृति। त्रिगुणम् = सत्त्व, रजस एवं तमस्, इन तीनों गुणों वाले। अविवेकि = अविविक्त अर्थात् संहत या संघटित स्वरूप वाले। विषयः = ज्ञेय या अनुभाव्य ज्ञान या अनुभव के द्वारा ग्राह्य। सामान्यम् = साधारण, अनेकों के द्वारा ग्राह्य। अचेतनम् = जड़, अचित्। प्रसवधर्मि = विकासशील या परिणामशील, रूपान्तर प्राप्त करने वाले, प्रसूत या उत्पन्न करने वाले। पुमान् = पुरुष। तद्विपरीतः = व्यक्त और अव्यक्त से विपरीत। तथा च = वैसा भी, व्यक्त और अव्यक्त के समान भी।

हिन्दी अर्थ—व्यक्त और प्रधान, ये दोनों सत्त्व, रजस् एवं तमस्, इन तीनों गुणों वाले, अविविक्त अर्थात् संहत या संघटित स्वरूप वाले, विषय अर्थात् ज्ञेय या अनुभाव्य (ज्ञान या अनुभव के द्वारा ग्राह्य), जड़ या अचित् एवं विकासशील या परिणामशील है, पुरुष व्यक्त और अव्यक्त से विपरीत है, किन्तु अन्य कुछ बातों में समान भी है।

टिप्पणी

त्रिगुणम्—व्यक्त और अव्यक्त में अन्तर होते हुए भी वे कई अंशों में समान भी हैं। दोनों तीन गुणों से युक्त हैं। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। पुरुष केवल निर्गुण है। प्रकृति सत्त्व, तम, रज धर्म वाली नहीं है अपितु प्रकृति के ये रूप ही हैं। प्रकृति गुणों का आधार नहीं है, इसीलिए सांख्य सूत्र में भी कहा गया है—

'सत्त्वादीनां अतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' (6/39)

व्यक्त तो तीनों गुणों का आधारभूत हो सकता है। मूल प्रकृति तो सुखादि धर्मों का आधार है। सुखादि गुणों के धर्म हैं एवं उनमें रहते हैं। सुखादि वस्तुतः गुण नहीं अपितु गुणों के धर्म हैं। व्यक्त का विशेषण त्रिगुण निम्नलिखित विग्रहानुसार होगा—

त्रयो गुणाः सन्ति अस्मिन् इति। 'त्रयाणां गुणानां समाहारः' इस व्युत्पत्ति से त्रिगुण अव्यक्त या विशेषण होगा। विद्वानों का कहना है कि तीनों गुणों की सत्ता यद्यपि काल्पनिक है तथापि अत्यन्त प्रचलित है। गुणों की सत्ता विज्ञान से सिद्ध नहीं होती।

NOTES

अविवेकि—वाचस्पति के अनुसार अविवेकि का अर्थ है कि जैसे प्रधान अपने से अभिन्न या अपृथक है उसी प्रकार महदादि व्यक्त भी प्रधान से अभिन्न होने के कारण उससे अपृथक है जैसे प्रधान महदादि अपने कार्यों से अपृथक है उसी प्रकार महत् अपने प्रधान कारण मूल से अलग नहीं हो सकता है। इसीलिए ये अविवेकि अर्थात् अलग होने में समर्थ नहीं कहे जाते हैं। वस्तुत: गुण और व्यक्त को 'यह गाय है या घोड़ा है', ऐसा अलग से विवेच्य नहीं बनाया जा सकता क्योंकि जो व्यक्त है वही गुण है और जो गुण है वही व्यक्त है।

विषय—'विषय' का अर्थ है सबके द्वारा उपभोग योग्य। विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान को ही सुखदु:खादि में परिणत स्वीकार करते हैं। जिसे खण्डित कर सांख्य ने व्यक्त और लोगों को सुख-दु:खादि का भिन्न-भिन्न ज्ञान होता है, अत: विषय के रूप में वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता है।

सामान्य—व्यक्त और अव्यक्त रूप प्रकृति साधारण रूप से अनेक पुरुषों द्वारा गृहीत होती है जैसे वेश्या को ज ा

धन देता है उसी की हो जाती है उसी प्रकार यह व्यक्त भी सर्व साधारण का उपभोग है।

अचेतन—व्यक्त और अव्यक्त जड़ भी है। व्यक्त सुख, दु:ख और मोह को प्रकाशित नहीं कर सकता। अपने आपको विद्यमान या उपस्थित या प्रकाशित करने का सामर्थ्य चेतन में होती है। व्यक्त और अव्यक्त उभयात्मिका प्रकृति स्वयं प्रकाश करने में असमर्थ है इसलिए अचेतन है।

प्रसवधर्मि—व्यक्त और अव्यक्त उत्पन्न करने के स्वभाव वाला है। जैसे बुद्धि से अहंकार, अहंकार से इन्द्रियाँ तथा इनसे पञ्चतन्मात्रायें एवं उनसे पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। महदादि जिस प्रधान का कार्य है वह अवश्य ही त्रिगुण होता है। क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में आते हैं। व्यक्त भी प्रसवधर्मी है और प्रधान भी प्रसवध र्मी है। प्रधान से बुद्धि उत्पन्न होती है। प्रसवधर्मी का एक दूसरा अर्थ परिणामी होता है। प्रकृति में वैषम्य और सादृश्य दोनों परिणाम होते रहते हैं। महाप्रलय के समय वैषम्य परिणाम नहीं होते अपितु तीनों गुणों की साम्यावस्था होती है, यही सरूप परिणाम है। व्यक्त अथवा अव्यक्त कभी भी परिणाम से अलग नहीं होते हैं।

तद्विपरीत—पुरुष प्रसवधर्म एवं परिणाम से रहित होता है अत: वह भिन्न है। पुरुष व्यक्त और अव्यक्त से इसलिए अलग होता है कि व्यक्त और अव्यक्त त्रिगुण होते हैं। किन्तु पुरुष निर्गुण होता है। व्यक्त और अव्यक्त अविवेकी होते हैं पुरुष विवेकी होता है। व्यक्त और अव्यक्त साधारण होने से विषय हैं किन्तु पुरुष असाधारण होने से विषय है, व्यक्त तथा अव्यक्त सामान्य हैं किन्तु पुरुष असामान्य है। व्यक्त और अव्यक्त अचेतन है किन्तु पुरुष चेतन है। व्यक्त और प्रधान प्रसवधर्मी है किन्तु पुरुष अप्रसवधर्मी है।

तथा च पुमान—इसका अर्थ है कि जैसे व्यक्त हेतुमत् और अनित्य है किन्तु प्रधान अर्थात् अव्यक्त अहेतुमत् और नित्य है, वैसे ही पुरुष भी अहेतुमत् और नित्य है, व्यक्त अव्यापी है अव्यक्त व्यापी है उसी प्रकार पुरुष भी व्यापी है क्योंकि वे दोनों व्यक्त और अव्यक्त सर्वगत हैं। व्यक्त सक्रिय है किन्तु प्रधान अक्रिय है उसी प्रकार पुरुष भी सर्वगत होने से अक्रिय है। व्यक्त अनेक हैं, प्रधान एक है पुरुष भी वस्तुत: एक है। व्यक्त कारणाश्रित है प्रधान अनाश्रित उसी प्रकार पुरुष भी अनाश्रित है क्योंकि प्रकृति और पुरुष का कोई कारण नहीं है। व्यक्त लिङ्ग है, प्रधान अलिङ्ग है एवं पुरुष भी लिङ्ग है क्योंकि इनका कोई कारण नहीं है जिसमें यह लीन हो, व्यक्त सावयव है अव्यक्त निरवयव है उसी प्रकार पुरुष भी निरवयव है। व्यक्त परतन्त्र है, प्रधान स्वतन्त्र है उसी प्रकार पुरुष भी स्वतन्त्र अर्थात् अपने में समर्थ है।

सांख्यकारिका (12)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने एकादश कारिका में तीन गुणों का कथन किया है। ये तीनों गुण कौन से हैं और उनका लक्षण क्या है? इसका विवेचन आवश्यक समझकर प्रस्तुत कारिका में वे करते हैं। ये तीनों

गुण व्यक्त और अव्यक्त दोनों में पाये जाते हैं तथा पहली बार इनका उल्लेख यहाँ पर हुआ है। इनके स्वरूप, प्रयोजन, कार्य तथा सम्बन्ध की व्याख्या ईश्वरकृष्ण प्रस्तुत कारिका में कर रहे हैं—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।।12।।

अन्वय—गुणाः प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयः च।

शब्दार्थ—गुणाः = सत्त्व, रजस् एवं तमस्, ये तीन गुण। प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः = प्रीति या सुख, अप्रीति या दुःख एवं विषाद या मोह स्वभाव वाले। प्रकाशप्रवृत्ति-नियमार्थाः = प्रकाशन, प्रवर्तन एवं नियमन या नियन्त्रण रूप प्रयोजन या कार्य वाले। अन्योन्याभिभवश्रयजननमिथुनवृत्तयः = एक दूसरे का अभिभव करने, आश्रय बनने, उद्भव या आविर्भाव करने एवं मिलकर कार्य करने के व्यवहार वाले।

हिन्दी अर्थ—सत्त्व, रजस् एवं तमस्, ये तीन गुण क्रमशः सुख, दुःख एवं मोह स्वभाव वाले हैं अर्थात् सुख, दुःख एवं मोह देने वाले हैं और इस रूप में सुखदुःखमोहात्मक है, ये प्रकाश या प्रकाशन प्रवृत्ति या प्रवर्तन और नियमन या नियन्त्रण रूप प्रयोजन या कार्य वाले हैं, और ये एक-दूसरे का अभिभव करने अर्थात् दबाने, आश्रय बनने, उद्भव या आविर्भाव करने एवं मिलकर कार्य करने की वृत्ति अर्थात् व्यवहार वाले हैं।

टिप्पणी—

'प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यै गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्।। (सा० सू० 127)

सत्व, रज और तम, इन तीनों गुणों का सुख, दुःख, मोह-इनसे अन्योऽन्य वैधर्म्य दिखाई देता है। पञ्चशिखाचार्य ने आदि शब्द से सतोगुण में तितिक्षा, सन्तोष आदि सुखात्मक अनेक कार्य लिये हैं। रजोगुण से शोक आदि सुखात्मक धर्म वाले कार्य लिए हैं एवं तमोगुण से निद्रा आदि अनेक मोहात्मक कार्य उत्पन्न होना लिया है।

प्रकाश के सामर्थ्यवाला सत्त्व गुण होता है। प्रवृत्ति की सामर्थ्यवाला रजोगुण होता है। रोकने की सामर्थ्यवाला तमोगुण होता है गौडपाद ने प्रकाश प्रवृत्तिनियमार्थाः में 'अर्थ' का अर्थ सामर्थ्य लिया है।

अन्योन्याः—तीनों गुण अन्योन्याभिभव, अन्योन्याश्रय, अन्योन्यजनन, अन्योन्यमिथुन और अन्योन्य वृत्ति होते हैं। अन्योन्याभिभव का अर्थ है—परस्पर गुणों को अभिभूत कर लेना, अर्थात् जब सत्त्व गुण प्रबल होता है तो वह अन्य गुणों के गुणी को दबा देता है और प्रीति यथा प्रकाशात्मक रहता है। जब रजोगुण उत्कट होता है तब वह सत्त्व और तम को दबा लेता है। ये गुण द्वयणुक, त्रयणुक की भाँति परस्पर आश्रित भी रहते हैं। सत्व नियम के आश्रय से प्रकाश करता है, रज प्रकाश और नियम के आश्रय से प्रवृत्त करता है तथा तम प्रकाश और प्रवृत्ति से रोकता है। अन्योन्यजनन का का अर्थ है कि ये एक दूसरे को उत्पन्न भी करते हैं। अन्योन्य मिथुन से अभिप्राय यह है कि ये गुण एक दूसरे के साथ रहते हैं जैसे स्त्री पुरुष दोनों एक दूसरे के साथ रहते हैं। स्त्री पुरुष के समान ये एक दूसरे के सहचर हैं और परस्पर साथ रहने, सहचर होने के कारण जैसे स्त्री पुरुष से सृष्टि होती है उसी प्रकार इन गुणों का भी संसार चलता है, सृष्टि कार्य होता है। देवी भागवत में इनका विस्तार के साथ वर्णन है। ये परस्पर एक दूसरे के सहायक भी होते हैं तथा एक दूसरे में रहने वाले भी हैं, अन्योन्यवृत्ति है। लोक में कहा जाता है—गुण-गुणों में रहते हैं। गीता में भी कहा गया है—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'। जैसे एक सुन्दर स्त्री अपने सौन्दर्य से सबको आनन्दित करती है किन्तु वह सपत्नियों के लिए दुःखदायी होती है तथा दुष्टों के लिए वही मोह उत्पादयित्री होती है।

वैशेषिक दर्शन में गुणों का जो स्वरूप मिलता है वह यहाँ अभिप्रेत नहीं। सांख्य के गुण धर्मी रूप है एवं इनमें संयोग विभाग तथा गुरुत्व-लघुत्व भी होता है जो कि वैशेषिक के गुणों में नहीं होता है। वैशेषिक के अनुसार तो सत्त्व, रज एवं तम गुण न होकर द्रव्य हैं। प्रस्तुत कारिका में प्रीति, अप्रीति और विषाद से केवल गुणों के स्वभाव का संक्षेप में वर्णन किया गया है। गुणों के स्वभाव के अनन्त भेद हैं। यहाँ मुख्य एवं प्रतीक रूप से कथन हुआ है।

कारिका में आया 'आत्म' शब्द गुणों के स्वभाव की आवश्यकता को सूचित करता है। 'आत्म' शब्द का अर्थ स्वरूप है। 'आत्म' शब्द का अर्थ यहाँ पर वस्तुत: स्वरूप है। वस्तुत: सतोगुण प्रकाशशील, रजोगुण क्रियाशील एवं तमोगुण स्थितिशील है। अभिभववृत्ति से ही सतोगुण रज एवं तम को तिरस्कृत कर शान्त वृत्ति को प्राप्त करता है। रजोगुण सत्त्व एवं तम को तिरस्कृत कर घोरा वृत्ति को जन्म देता है। इसी प्रकार तम सत्त्व एवं रज का अभिभव कर मूढ़ वृत्ति को जन्म देता है। अन्योन्याश्रय वृत्ति में आधाराधेय भाव नहीं है। अपितु परस्पर अपेक्षा का भाव है। गौण रूप से परस्पर आश्रित होने की बात कही जा सकती है, किन्तु यह सदृश परिणाम की स्थिति है। विसदृशपरिणाम में तो गुणों को परस्पर आश्रयण करना ही होगा, क्योंकि विसदृश परिणाम में कोई गुण अपने से भिन्न रूप में परिणत होता है। अन्योन्यजनन वृत्ति में उत्पत्ति का अर्थ नहीं है अपितु परिणाम ग्रहण का अर्थ है, क्योंकि सांख्य का सत्कार्यवाद उत्पत्ति नहीं स्वीकार करता है। ये तीनों गुण परस्पर हेतु नहीं है अर्थात् कोई किसी का कारण नहीं है क्योंकि ये तीनों गुण अनित्य नहीं है तथा अव्यापी भी नहीं है अतएव जनन का अर्थ परिणाम है। मिथुन वृत्ति का यह भी अभिप्राय है कि इनका परस्पर न तो संयोग होता है और न वियोग। योग भाष्य में कहा गया है कि ये गुण एक-दूसरे के आश्रय से सुख, दु:ख एवं मोह का अनुभव कराते हैं और इस प्रकार ये सब सभी रूप में परिणत होते रहते हैं।

सांख्यकारिका (13)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण प्रस्तुत कारिका में पूर्व कारिका में कहे गये गुण व्यापारों के सन्दर्भ में जो विवेचन किया है, उसमें यह न्यूनता थी कि उन्होंने गुणों के नामों का उल्लेख नहीं किया एवं उनके स्वरूप तथा परस्पर कार्य करने के आधार का विवेचन भी नहीं किया था। इन दोनों न्यूनताओं को पूरा करने के लिए प्रस्तुत कारिका में ईश्वरकृष्ण ने गुणों के नाम, स्वरूप एवं कार्य करने की पद्धति तथा प्रयोजन का निरूपण किया है।

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रज:।
गुरु वरणकमेव तम: प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति:।।13।।

अन्वय—सत्त्वम् लघु प्रकाशकम् इष्टम्, रज: चलम् उपष्टम्भकम् च,(इष्ट्म) तम: गुरु वरणकम् एव (इष्टम्) अर्थत: च (एषाम्), प्रदीपवत् वृत्ति: (अस्ति)।

शब्दार्थ—सत्त्वंम् = सत्व। लघु = हल्का। प्रकाशकम् = प्रकाशित करने वाला। चलम् = क्रियाशील। उपष्टम्भकम् = प्रेरक या प्रवर्तक, चलाने वाला। गुरु = भारी। वरणकम् = नियामक या अवरोधक, रोकने वाला, आवृत्त करने वाला। अर्थत: = प्रयोजनवश, कार्यसिद्धि के हेतु से। प्रदीपवत् = दीपक के समान। वृत्ति: = व्यवहार, कार्य।

हिन्दी अर्थ—सत्वगुण हल्का और प्रकाशक है। रजोगुण संश्लेषजनक तथा क्रियाशील होता है। तमोगुण भारी एवं नियामक या अवरोधक, रोकने वाला, आवृत्त करने वाला होता है। यही सांख्याचार्यों को सम्मत है। ये तीनों परस्पर विरोधी स्वभाव के होते हुए भी पुरुष के प्रयोजन के अनुसार दीपक के समान तीनों मिलकर कार्य करते रहते हैं।

टिप्पणी

लघ्वादिधर्मै: साधर्म्यवैधर्म्यञ्च गुणानाम्। (सां. सू. 1/128)

लघुत्वादि धर्मों से सत्वादि गुणों का साधर्म्य वैधर्म्य है। सत्व गुण की मात्रा अधिक होने पर शरीर लघु अर्थात् हल्का होता है तथा बुद्धि भी नवप्रकाशवती होती है। वही गुण ऊर्ध्वगमन का कारण होता है। यह गुण अग्नि के ऊध र्वगमन और वायु के तिर्यक गमन का कारण है। इन्द्रियाँ भी इसी गुण के कारण विषय प्रकाशन में शीघ्र कार्यकारिणी होती हैं। रजोगुण के कारण ही एक साण्ड दूसरे साण्ड को देखकर उत्तेजित हो उठता है और लड़ने का

उपक्रम करता है। रजोगुणी पुरुषों में भी यही बात देखी जाती है। रजोगुणी पुरुष चञ्चल वृत्ति भी होता है। तमोगुण की प्रधानता में शरीर भारी एवं इन्द्रियाँ भी आच्छन्न हो जाती हैं।

सुन्द और उपसुन्द राक्षसों की भाँति, विरोधी होने के कारण पारस्परिक अभिघात से ये तीनों गुण विनष्ट नहीं होते हैं। क्योंकि एक प्रयोजन की सिद्धि के लिए अग्नि, बत्ती और तेल की भाँति विरोधी होने पर भी कार्य करते हैं। विरुद्ध कपास की बत्ती, तेल एवं आग वस्तुओं को प्रकाशित करने के लिए मिलकर प्रकाश देने का कार्य करते हैं, और भी देखा जाता है कि परस्पर विरोधी बात, पित्त एवं कफ शरीर को धारण करने का कार्य करते हैं, इसी प्रकार सत्व, रज और तम परस्पर विरुद्ध होते हुए भी पुरुषार्थ साधन कार्य में समर्थ होते हैं। गुण कैसे अपने स्वभाव के विपरीत कार्य करते रहते हैं इसे वाचस्पति मिश्र ने एक सुन्दर उदाहरण से समझाया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार एक सुन्दर स्त्री स्वसमर्पण द्वारा प्रिय को सुखी सपत्नी को दु:खी एवं अन्य कामियों को विषण्ण कर देती है उसी प्रकार इन गुणों की भी वृत्ति होती है। देखा जाता है कि सुख-दु:ख मोह भिन्न आश्रय से भी घटित होते हैं। माठर, गौणपाद और जयमंगलाकार ने सत्व का दृष्टान्त, सुन्दरी, रज का योधा तथा तम को मेघ दिया है। सूर्यनारायण शास्त्री का कहना है कि जैसे तेल और अग्नि से दीप प्रज्ज्वलित होता है वैसे ही तीनों गुणों से अन्त: एवं बाह्यकरण प्रकाशित होते रहते हैं। कारण के त्रिगुणात्मक होते हुए भी कार्य में गुणों की अभिव्यक्ति अलग-अलग होती है जैसे—नीम में पहुँचा जल कटु रस बनाता है, खट्टे नींबू के वृक्ष में पहुँचा जल खट्टा रस बनाता है और सन्तरे के वृक्ष में प्राप्त हुआ जल मीठा रस बनाता है उसी तरह लोक में भी स्रक् चन्दनादि में केवल सुखात्मकता, सर्प, बिच्छू कण्टकादि में केवल दु:खात्मकता ही पायी जाती है।

सांख्यकारिका (14)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने व्यक्त तथा अव्यक्त की प्रकृति की चर्चा करते हुए उसमें अविवेकी, विषय सामान्यादि धर्मों की चर्चा की है और ये अविवेकिता आदि धर्म पृथ्वी आदि तत्वों में अनुभव का विषय भी बनते हैं, किन्तु सत्त्व, रज तथा तम आदि गुण जो अनुभव के विषय नहीं हैं उनमें इन अविवेकिता आदि धर्मों की सिद्धि के लिए कारिकाकार प्रस्तुत कारिका कहते हैं। प्रस्तुत कारिका से महदादि व्यक्त एवं अव्यक्त प्रध ाान में भी अविवेकिता आदि धर्मों की सिद्धि के प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं—

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्।। 14।।

अन्वय—त्रैगुण्यात् तद्विपर्याभावात् (च) अविवेक्यादेः सिद्धिः कार्यस्य कारणगुणात्मकत्वात् (कार्यस्य) अव्यक्तमपि सिद्धम्।

शब्दार्थ—त्रैगुण्यात् = त्रिगुणत्व या त्रिगुणात्मकता से। तद्विपर्ययाभावात् = उनके अर्थात् अविवेकित्व आदि धर्मों के अभाव में त्रिगुणत्व के अभाव से। अविवेक्यादेः = पूर्व (कारिका 11) में वर्णित अविवेकित्व आदि धर्मों की। सिद्धिः = सत्ता की सिद्धि या प्रतीति। कार्यस्य = कार्य का। कारणगुणात्मकत्वात् = कारण के गुणों के स्वभाव वाला होने के कारण। अव्यक्तम् = सांख्याभिमत मूल जड़ तत्त्व, प्रकृति, प्रधान। सिद्धम् = सिद्ध होता है अर्थात् सत्ता की सिद्धि या प्रतीति होती है।

हिन्दी अर्थ—चूँकि मूल प्रकृति में भी तीनों गुण हैं इसलिए वह भी अविवेकिनी, विषय, सामान्य, अचेतन एवं प्रसवधर्म से युक्त है। इस बात की सिद्धि इससे भी होती है कि प्रकृति से विपरीत तत्व पुरुष में अविवेकिता आदि उक्त धर्मों का सर्वथा अभाव होता है। चूँकि कार्य, कारण के गुणानुरूप ही होता है इसलिए महत् से लेकर स्थूल-भूतपर्यन्त समग्र व्यक्त प्रकृति में उपलभ्यमान अविवेकित्वादि गुणों के आधार पर अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति की भी सत्ता सिद्ध हो जाती है।

NOTES

टिप्पणी

कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात् (सां. सू. 135) 'अव्यक्त' त्रिगुणात् लिङ्गात् (सां. सू. 136) कार्य से कारण का अनुमान होता है, क्योंकि जहाँ-जहाँ कार्य होता है वहाँ कारण भी होता है। यही अनुमान गौतम के अनुसार सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। महदादि भी अपने कार्यों के उपादान कारण हैं, जैसे कि पाषाण प्रतिमा का कारण है। महदादि की अपेक्षा मूल कारण प्रकृति अव्यक्त है अर्थात् सूक्ष्म है। क्योंकि महद् आदि के कार्य सुखादि का प्रत्यक्ष होता है किन्तु सूक्ष्मता के कारण प्रकृति का कोई गुण प्रत्यक्ष नहीं होता।

व्यक्त और अव्यक्त त्रिगुणात्मक तो हैं किन्तु अविवेकि कैसे हैं? इसके उत्तर में प्रस्तुत कारिका में ईश्वर कृष्ण का अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों व्याप्तियों के आधार पर कहना है कि प्रधान महत् या अहंकार आदि सभी अविवेकिता आदि धर्मों से युक्त है, क्योंकि प्रधानादि त्रिगुणात्मक है। जो त्रिगुणात्मक होता है वह अविवेकता आदि धर्मों से युक्त होता है जैसे पृथ्वी त्रिगुण से युक्त है और अविवेकतादि धर्म से भी युक्त है। अव्यक्त की सत्ता में प्रमाण देते हुए कारिका में तद्विप कहा है। अर्थात् जहाँ तन्तु है वहीं पट भी है। तन्तु भिन्न है ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनके विपर्यय का अभाव है अर्थात् जो तन्तु है वही पट है। वस्तुत: तन्तु के बिना पट नहीं हो सकता। इसी प्रकार व्यक्त भी अव्यक्त से भिन्न नहीं होता। प्रधान अप्रत्यक्ष और व्यक्त प्रत्यक्ष है। जो व्यक्त को देखता है वह प्रध ाान को भी देखता है क्योंकि उनका विपर्यय नहीं होता। देखा जाता है कि जो अविवेकी भी नहीं है वह त्रिगुण युक्त भी नहीं है और जो त्रिगुण युक्त नहीं वह अविवेकी भी नहीं है। जैसे पुरुष । इसमें व्यक्त और अव्यक्त दोनों को पक्ष मानकर व्यतिरेक व्याप्ति, व्यतिरेकी हेतु का उपन्यास किया गया है। अनुमान की प्रक्रिया यह है कि व्यक्त और अव्यक्त अविवेकितादि धर्मों से रहित नहीं है, क्योंकि उसमें तीनों गुणों के अभाव का अभाव है। जो अविवेकातादि धर्मों से रहित होता है उसमें तीनों गुणों का भी अभाव होता है। जैसे पुरुष। इस प्रकार उभयविध अनुमान से यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि अविवेकितादि केवल स्थूल सूक्ष्मभूतों में ही नहीं है, अपितु इन्द्रिय मन, बुद्धि अहंकार और व्यक्त में भी ये सब वर्तमान हैं, क्योंकि ये सभी त्रिगुणात्मक हैं। अविवेकिता, विषयता, सामान्यता, अचेतनता एवं प्रसवधर्मिता का उपादान कारण तीनों गुणों की सत्ता है। माठर और गौणपाद ने लिखा है—प्रधान में अविवेकिता आदि धर्म अवश्य रहते हैं, क्योंकि उसमें त्रैगुण्य का कभी अभाव नहीं होता है।

लोक में देखा जाता है कि जैसा कारण का स्वरूप वैसा कार्य का भी होता है जैसे काले सूत्र में काला ही वस्त्र बनता है। कार्य के गुणों से कारण के गुणात्मक होने की बात नैयायिक एवं वैशेषिकों को मान्य नहीं है। उनका कहना है कि व्यक्त से ही अव्यक्त की उत्पत्ति सम्भव है। परमाणु अर्थात् व्यक्त से द्वणुकादि क्रम से पृथ्वी आदि सभी व्यक्त कार्य उत्पन्न होते हैं, अत: व्यक्त से सही व्यक्त की उत्पत्ति सम्भव है। अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती है, अत: स्वीकार नहीं की जा सकती है। वस्तुत: जब महदादि अर्थात् व्यक्त, लिङ्गरूप, कार्य, अविवेकि, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी है तो उसका कारण रूप प्रधान अर्थात् व्यक्त भी अवश्य इन्हीं गुणों से युक्त होगा। केवल यह व्यक्त प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्राह्य नहीं है, अत: उसे अव्यक्त कहते हैं। इस प्रकार त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरूपी अव्यक्त की सिद्धि हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन में अन्वय व्याप्ति का स्पष्ट व्याख्यान नहीं किया गया है क्योंकि वह अत्यन्त स्पष्ट है।

सांख्यकारिका (15)

प्रसङ्ग—वैशेषिक एवं नैयायिकों की व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति मान्य होने के कारण तथा उनके द्वारा अव्यक्त को सर्वथा अप्रामाणिक कहे जाने के कारण सांख्यकारिकाकार ने अव्यक्त की प्रामाणिकता का वर्णन कारिका में कर रहे हैं। उनका मानना है कि लोक में भी जो नहीं पाया जाता है वह नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। जैसे पाषाण के साथ रहते हुए भी नहीं प्रतीत होती है। अत: अव्यक्त है।

भेदानां परिमाणात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ।। 15।।

NOTES

अन्वय—भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेः च कारणकार्यविभागात् वैश्वरूप्यस्य अविभागात् (अव्यक्तं कारणम् अस्ति)।

शब्दार्थ—भेदानां = कार्यों के। परिमाणात् = परिमाण से, परिमित होने से। समन्वयात् = कारण के कार्य में समन्वय या अनुप्रवेश से समन्वित या अनुस्यूत अर्थात् अनुप्रविष्ट होने से। शक्तितः = शक्ति से। प्रवृन्तेः = प्रवृत्ति के कारण। कारणकार्यविभागात् = कारण से कार्य के विभक्त या उद्‌भूत होने से। वैश्वरूप्यस्य = विविध रूप वाले समस्य कार्यों के। अविभागात् = अविभक्त या लीन होने से। अव्यक्तम् = जो व्यक्त न हो, व्यक्तित्व या व्यक्त रूप से रहित।

हिन्दी अर्थ—कार्यों के परिमित होने से, कारण के अपने कार्य में समन्वित होने अर्थात् समनुगत होने या अनुप्रविष्ट होने से, कार्य को अपने में अव्यक्त रूप से रखने की शक्ति से कार्योत्पत्ति होने के लिए प्रवृत्त होने से, कारण से कार्य के विभक्त या उद्‌भूत होने से एवं विविध रूपों वाले समस्त कार्यों के अपने कारण में अविभक्त या लीन होने से यह सिद्ध होता है कि उक्त त्रिगुणात्मक कारण स्वरूपतः अव्यक्त है।

टिप्पणी

प्रकृति और पुरुष इन दोनों से महदादि अन्य है अतएव वे कार्य हैं। प्रकृति और पुरुष परिमित भाव से रहते हैं, वे घटते-बढ़ते नहीं, अतः वे कार्य नहीं हैं। बुद्धि आदि तत्व अन्नादि के समन्वय से बढ़ते रहते हैं और उपवास से क्षीण होते हैं, अतः महदादि का कार्यत्व विदित होता है क्योंकि जो नित्य होता है, वह घटता-बढ़ता नहीं। महदादि करण है, क्योंकि बिना पुरुष के नेत्र में जड़ होने के कारण देखने की शक्ति नहीं हो सकती है और बिना नेत्र के पुरुष देख भी नहीं सकता है। अतः चक्षु कार्य है, कार्य से कारण का अनुमान सिद्ध है।

भेदानां परिमाणात्—महत् से लेकर भूमिपर्यन्त जो व्यक्त प्रकृति, उसे ही भेद कहा जाता है, क्योंकि उसके अनेक प्रकार होते हैं, वह कार्य है, अतः उसका कारण मूल प्रकृति भी है। आचार्य शंकर अव्यक्त प्रकृति को संसर्गी कहते हैं क्योंकि उससे भी सभी भेद सम्बन्धित हैं। अव्यक्त रूप कारण से साक्षात् अथवा परम्परया सम्बन्धित हैं। अव्यक्त रूप कारण से साक्षात् अथवा परम्परया सम्बद्ध समस्त कार्य समूह आविर्भूत होकर पृथक प्रतीत होता है। संसार में भी जहाँ कर्ता है उसका परिमाण देखा जाता है जैसे कुम्हार परिमित मृत्पिण्डों से परिमित घड़ों को बनाता है, इसी प्रकार अव्यक्त भी भेद से परिमित महदादि कार्यों को उत्पन्न करता है। भेदों के इस प्रकार परिमाण से ज्ञात होता है कि प्रधान अर्थात् अव्यक्त अवश्य ही कारण है जो इस परिमित व्यक्त को उत्पन्न करता है। परिमित व्यक्त है—एक बुद्धि, एक अहंकार, पाँच तन्मात्रायें, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच महाभूत।

समन्वयात्—समन्वय से अर्थात् जैसे लोक में व्रतधारी बटु को देखकर लोग समझ जाते हैं कि यह ब्राह्मण माता-पिता का पुत्र है। इसी प्रकार त्रिगुणात्मक महदादि कार्य को देखकर कारण के अवश्य होने का अनुमान सिद्ध होता है।

शक्तितः प्रवृत्तेः—जो जिस कार्य को करने में समर्थ होता है वही उसमें प्रवृत्त होता है। जैसे कुलाल घट को बनाने में समर्थ है, अतः वह घट बनाने में प्रवृत्त होता है, पट बनाने में नहीं। तेल के कारण तिलों की बालुका से भी यही विशिष्टता है कि तिलों में ही अव्यक्त रूप से तेल है, बालुका में नहीं। अतः तिलों से ही तेल निकलता है।

कारणकार्यविभागात्—जो कर्त्ता है वह कारण है, जो किया जाता है वह कार्य है। कारण कार्य से पृथक् होता है अर्थात् कारण और कार्य का विभाग है। मृत्पिण्ड घड़े को उत्पन्न कर सकता है, किन्तु घड़ा मृत्पिण्ड को उत्पन्न नहीं कर सकता है, अतः कारण कार्य का भेद स्वाभाविक है। कारणभूत मिट्टी के पिण्ड से ही घट और सुवर्ण के पिण्ड से ही मुकुट आदि कार्य उत्पन्न होकर विभक्त रूप से स्थित होते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी कार्य अपने कारण तन्मात्राओं से, तन्मात्रायें अहंकार से, अहंकार महत् से , महत् अव्यक्त से आविर्भूत होते हैं। वस्तुतः परम अव्यक्त कारण से ही साक्षात् अथवा परम्परया सम्बद्ध सभी कार्यों का विभाग होता है।

वैश्वरूप्यस्य अविभागात्—विश्व अर्थात् संसार उसका रूप है, उसके अविभाग से सिद्ध है कि अव्यक्त है। क्योंकि त्रैलोक्य के पाँच पृथिव्यादि महाभूतों का परस्पर विभाग नहीं है। महाभूतों में ही तीनों लोक अन्तर्भूत हैं। पाँच महाभूत प्रलयकाल में अपनी उत्पत्ति के क्रम से ही परिणामी तन्मात्राओं में अविभाग को प्राप्त होते हैं। तन्मात्रायें तथा ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकार में, अहंकार-बुद्धि में तथा बुद्धि प्रधान में लीन होती है, इस प्रकार तीनों लोक प्रलयकाल में प्रकृति में अविभाग को प्राप्त हो जाते हैं। इस अविभाग से सिद्ध है कि अव्यक्त कारण है। गौडपाद, माठर और वाचस्पति ने 'अविभाग' पद का अर्थ लय किया है। जय मंगलाकार ने अविभक्त अर्थ लिया है। कारण कार्य का अव्यक्तावस्था का नाम लय है। अव्यक्तावस्था में जो कारण है, व्यक्तावस्था में वही कार्य कहलाता है।

सांख्यकारिका (16)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार अव्यक्त की सत्ता सिद्ध कर देने के उपरान्त प्रस्तुत कारिका में अव्यक्त की प्रवृत्ति के प्रकार का वर्णन कर रहे हैं—

कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्।।

अन्वय—त्रिगुणतः समुदयात् च प्रवर्तते, परिणामतः सलिलवत्, प्रतिप्रति-गुणाश्रयविशेषात् (अव्यक्तं कारणम् अस्ति)।

शब्दार्थ—अव्यक्तम् = जो व्यक्त न हो, व्यक्तित्व या व्यक्त रूप से रहित। त्रिगुणतः = तीनों गुणों के अपने सदृश या समान रूप में। समुदयात् = किसी एक गुण या किन्हीं गुणों के आधिक्य या अधिक उद्‌भूत होने के साथ तीनों गुणों के मिश्रण के रूप में। सलिलवत् = जल के समान। प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् = एक-एक या भिन्न-भिन्न गुण के आश्रय की विशेषता या भेद से। परिणामतः = परिणाम से, परिणाम रूप में, परिणत होते हुए। प्रवर्तते = प्रवृत्त होता है।

हिन्दी अर्थ—वह कारण अपने तीनों गुणों के अपने सदृश या समान रूप में और अपने किसी एक गुण या किन्हीं गुणों के आधिक्य या अधिक उद्‌भूत होने के साथ तीनों गुणों के मिश्रण के रूप में जल के समान एक-एक या भिन्न-भिन्न गुण के आश्रय की विशेषता या भेद से परिणाम के रूप में प्रवृत्त होता है अर्थात् विभिन्न कार्यों के रूप में परिणत होता है।

टिप्पणी

सत्व, रज और तम मिलकर त्रिगुण बनते हैं, इनकी साम्यावस्था ही प्रकृति है। इनके आपस के सम्मिश्रण से यह प्रकृति लगातार क्रियाशील बनी रहती है। जिस प्रकार भगवती गंगा की तीन धारायें शंकर की जटाओं में गिरने के पश्चात् एक प्रवाह के रूप में होकर बहती हैं उसी प्रकार त्रिगुणात्मक अव्यक्त एक व्यक्त को उत्पन्न करता है। इस प्रकार त्रिगुण होने से तथा समुदाय अर्थात् एक रूप होने से व्यक्त जगत् प्रवृत्त होता है। अव्यक्त की यह प्रकृति दो प्रकार की होती है—1. सृष्टिकालीन तथा 2. प्रलयकालीन। प्रलयकाल में तीनों गुण एक समान परिणामशील होते हैं। यही गुणों की साम्यावस्था है। वैषम्यावस्था में गुणों की प्रवृत्ति समुदाय अर्थात् परस्पर मिलकर उदय होने से होती है। यही सृष्टि की दशा है। पुरुष के सन्निधान से प्रकृति विक्षुब्ध हो उठती है, गुण की विषमावस्था में सक्रिय हो जाते हैं और महदादि की सृष्टि हो जाती है।

परिणाम—गुणों के अपने निश्चित स्वरूप हैं, उनसे बनी प्रकृति एक है, तब प्रकृति से उत्पन्न होने वाला व्यक्त एक रूप क्यों नहीं है? एक ही प्रधान से उत्पन्न देवता सुखयुक्त, मनुष्य दुःखयुक्त तथा पशुपक्षी मोहयुक्त हैं। जिस प्रकार मेघयुक्त जल एक ही होता है तथा पृथ्वी के विविध विकारों को पाकर नारियल, ताड़ी, नींबू, आम और आँवला में विभिन्न रसों में बदल जाता है। इसी प्रकार विभिन्न वस्तुओं के आश्रयण से प्रकृति के गुण भी परिणाम भेद से बदलते रहते हैं। एक ही प्रधान से प्रवृत्त तीनों लोक एक ही स्वभाव वाले नहीं है।

NOTES

सांख्यकारिका (17)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार ने अव्यक्त प्रवृत्ति की सत्ता प्रबल प्रमाणों एवं तर्कों से सिद्ध करके अब पुरुष की सत्ता की सिद्धि के लिए प्रस्तुत कारिका का निर्वचन करते हैं। कुछ व्यक्ति अव्यक्त, महत्, अहंकार, इन्द्रिय या स्थूल महाभूतों को ही आत्मा मानते हुए इन्हीं की उपासना करते हैं। मूल प्रकृति तथा उसके विकारों के अतिरिक्त किसी अन्य चेतन तत्त्व की सत्ता में विश्वास नहीं करते हैं। उनके मत का खण्डन करते हुए ईश्वरकृष्ण ने अगली कारिका का निर्माण किया है।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।। 17।।

अन्वय—संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययात् अधिष्ठनात् भोक्तृभावात् कैवल्यार्थम् प्रवृत्तेः । च पुरुषः अस्ति।

शब्दार्थ—संघातपरार्थत्वात् = संघात या संघटनात्मक वस्तुओं के दूसरों के लिए होने के कारण। त्रिगुणादिविपर्ययात् = त्रिगुणत्व आदि धर्मों से विपरीत धर्म वाले के रूप में अपेक्षित होने से। अधिष्ठानात् = अधिष्ठान या नियन्त्रण के लिए किसी की अपेक्षा होने से। भोक्तृभावात् = किसी भोक्ता की अपेक्षा होने से। कैवल्यार्थ प्रवृत्तेः = कैवल्य या मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होने से। पुरुषः अस्ति = अव्यक्त आदि से भिन्न अर्थात् अलग पुरुष की सत्ता है।

हिन्दी अर्थ—संघात या संघटनात्मक वस्तुओं के परार्थ दूसरे के लिए होने, त्रिगुणत्व आदि धर्मों से विपरीत धर्म वाले के रूप में अपेक्षित होने, अधिष्ठान या नियन्त्रण के लिए किसी की अपेक्षा होने, किसी भोक्ता की अपेक्षा होने एवं कैवल्य या मोक्ष के लिए अर्थात् शास्त्रों एवं मनीषियों की प्रवृत्ति होने के कारण यह सिद्ध होता है कि अव्यक्त के अतिरिक्त पुरुष की सत्ता है।

टिप्पणी

संघातपरार्थत्वात्—सभी समुदायों के किसी अन्य के लिए होने से। अव्यक्त महत् तथा अहंकार आदि समुदाय होने के कारण अन्य के लिए है जैसे—शयन, आसन, उपधान, अङ्गराग आदि की परस्पर एक दूसरे के लिए कोई उपयोगिता नहीं होती। ये सभी समुदायगत हैं, इसे देखकर अनुमान होता है कि कोई इस पर सोयेगा। अव्यक्त आदि संघात है, क्योंकि उनमें सुख, दुःख, मोह, तीनों विद्यमान हैं—संहन्यन्ते मिश्रीभवन्ति अनेके विशेषा यत्रासौ संघातः। (विद्वतो प. 223)। 'संहन्यन्ते मिश्रीभवन्त्यनेके सुखादयो यत्रेति संघातः।' (किरणावती)

त्रिगुणादिविपर्ययात्—तीनों गुण एवं अविवेकिता आदि का विपर्यय होने से। संसार की सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मक हैं किन्तु उस त्रिगुण में भी तारतम्य है। कहीं कोई गुण न्यून है कहीं अधिक है। इससे यह भी निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कहीं इसका नितान्त अभाव भी। वही तत्त्व पुरुष है। एक समुदाय का प्रयोजन यदि हम दूसरे संघात को मानते हैं तो फिर उसका भी प्रयोजन कोई अन्य होगा तथा उसका भी प्रयोजन कोई अन्य होना चाहिए। इससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। अतः यह मानना कि त्रिगुणत्व अविवेकित्व, विषमता, सामान्यता, अचेतनत्व तथा प्रसवधर्मित्व आदि भी सभी गुण संघात के हैं, उसका प्रयोजन उससे इतर है, अतः अवश्य ही वह त्रिगुणादिविरहित होगा। वही पुरुष है।

अधिष्ठनात्—जैसे—कूदने, लाँघने, दौड़ने आदि क्रियाओं में सामर्थ्यवान घोड़ों से युक्त रथ पर जब सारथि बैठता है तभी वह रथ चलता है। उसी प्रकार आत्मा के अधिष्ठान से ही शरीर भी सञ्चालित होता है। षष्टितन्त्र के अनुसार—'पुरुषाधिष्ठित ही प्रधान प्रवृत्त होता है क्योंकि शरीरादि तत्त्व जड़ है। बिना चेतन के अधिष्ठान के वे सञ्चालित नहीं हो सकते। इससे भी इस त्रिगुणात्मक शरीरादि का अधिष्ठाता पुरुष है' इसलिए पुरुष की सत्ता सिद्ध है।

NOTES

भोक्तृभावात्—भोग्य और भोक्ता भाव भी किसी भोक्ता के भाव की सिद्धि करता है। सुख-दुःख दोनों ही योग्य हैं। प्रत्येक व्यक्ति इनका अनुभव करता है। महत्, अहंकार एवं मन स्वयं सुख-दुःखात्मक है, इसलिए अपने ही में अपना व्यापार नहीं कर सकते, स्वात्मवृत्तिनिरोधात्। अग्नि कभी अपने को नहीं जलाती और न ही तलवार की धार अपने को काटती है। प्रकृति स्वयं-स्व अनुकूल या प्रतिकूल वेदना को नहीं उद्भूत कर सकती, इसलिए जो अनुकूल या प्रतिकूल वेदनीय है वही पुरुष है, बुद्धि भोग्य अथवा दृश्य है। बिना द्रष्टा के उसमें दृष्यत्व नहीं हो सकता है। इसलिए दृश्यत्वादि से भिन्न उनका दर्शक पुरुष है जो अनुमान से प्राप्य है—'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुशयः' (योगसूत्र)।

कैवल्यार्थ प्रवृत्तेः—शास्त्रों, महर्षियों एवं दिव्यज्ञानियों की कैवल्य अर्थात् मोक्ष के प्रति प्रवृत्ति देखी जाती है। माठर इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—प्रधान अर्थात् प्रकृति की व्यक्तरूप में प्रवृत्ति का लक्ष्य पुरुष को अन्त में मोक्ष प्रदान करना ही है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही कैवल्य कहलाती है। शास्त्रों तथा महर्षियों की कैवल्य के लिए चेष्टा होने से यह सिद्ध है कि बुद्धि इत्यादि सुख-दुःख युक्त तत्त्वों से अलग कोई 'पुरुष' तत्त्व है।

अतः इन हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि आत्मा अर्थात् पुरुष अवश्य है और वह शरीरादि से अलग है।

सांख्यकारिका (18)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका में विभिन्न हेतुओं से पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि हो जाने पर इस सन्देह का स्वयं प्रादुर्भाव होता है कि मणि शृंखला सूत्र के समान सभी शरीरों पर अधिष्ठाता-वह पुरुष एक ही है अथवा शरीरों के भिन्न-भिन्न अधिष्ठाता होने से अनेक है। सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण इसी सन्देह का निवारण करते हुए प्रति शरीर के अधिष्ठाता पुरुषों की विभिन्नता तथा अनेकता का प्रतिपादन इस कारिका में करते हैं।

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।। 18।।

अन्वय—जननमरणकरणानाम् प्रतिनियमात् अयुगपत् प्रवृत्तेः च त्रैगुण्यविपर्ययात् च पुरुषबहुत्वम् सिद्धम् एव।

शब्दार्थ—जननमरणकरणानाम् = जन्म, मरण एवं इन्द्रियों की। प्रतिनियमात् = व्यवस्था से। अयुगपत् = पृथक्-पृथक् रूप से। प्रवृत्ते = प्रवृत्ति या प्रयत्न से। त्रैगुण्यविपर्ययात् = तीनों गुणों की स्थिति के भेद से। पुरुषबहुत्वम् = पुरुषों का बहुत्व या अनेकत्व।

हिन्दी अर्थ—जन्म, मरण तथा इन्द्रियों के प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने से, सबकी एक साथ कार्यों में प्रवृत्ति के अभाव से तथा सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के विपर्यय अर्थात् भेद से पुरुष का बहुत होना अर्थात् एक न होना ही सिद्ध होता है।

टिप्पणी

'जननमादिव्यवस्यातः पुरुषबहुत्वम्' (सां. सूत्र 1/149) लोक में जन्मादि व्यवस्था अनेक दिखाई देती है इससे ही सिद्ध होता है कि पुरुष अनेक है, क्योंकि यदि सभी बुद्धि वृत्तियों का आकार एक ही पुरुष होता तो वह घट है, इस घट को मैं जानता हूँ, ऐसी अनुभूति जिस समय एक बुद्धि को होती है उसी समय में सब बुद्धियों को होनी चाहिए क्योंकि सबका आश्रय एक ही है, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता, अतः पुरुष अनेक हैं।

जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्—जन्म, मरण तथा करणों अर्थात् इन्द्रियों की व्यवस्था के कारण, नूतन शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि एवं वेदना के समुदाय के साथ पुरुष का सम्बन्ध ही जन्म है न कि उसका परिणाम क्योंकि वह पुरुष तो अपरिणामी है। उन पूर्व प्राप्त शरीरादि का परित्याग ही मरण है न कि पुरुष का विनाश क्योंकि वह तो कूटस्थ नित्य है। कारण अर्थात् तेरह इन्द्रियाँ, बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच

कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन जन्म, मरण तथा इन्द्रियों की व्याख्या सभी शरीरों में एक ही पुरुष होने पर संगत नहीं हो सकती क्योंकि यदि ऐसा होता तो एक के पैदा होने पर सभी पैदा होते तथा एक के मरने पर सभी मर जाते। एक के अन्ध ो या बहरे होने पर सब अन्धे या बहरे हो जाते, परन्तु ऐसा होता नहीं, अत: सिद्ध है कि पुरुष प्रत्येक शरीर में अलग-अलग होने से बहुत हैं।

अयुगपत्प्रवृत्तेश्च—सभी प्राणियों के एक साथ प्रवृत्त न होने से प्रवृत्ति यद्यपि अन्त:करण में होती है। तथापि उपचार से वह पुरुष की ही मानी जाती है। इस प्रकार पुरुष के किसी एक शरीर में प्रवृत्त होने पर सभी शरीरों में एक होने से उसे सर्वत्र प्रवृत्त होना चाहिए तथा फिर उसे सभी शरीरों को एक साथ प्रवर्तित करना चाहिए परन्तु यह नहीं होता। श्वेताश्वतर उपनिषद भी कहता है कि—जब एक पुरुष भोग करता है तो दूसरा उसका त्याग, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते। जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य:। अत: पुरुष एक नहीं अनेक हैं। माठर वृत्ति में पूर्व पक्ष के रूप में अद्वैतवेदान्तियों का समर्थन करते हुए कहा है कि मणिसूत्रसदृश एक ही पुरुष सभी शरीरों में व्याप्त है उसे ही परमात्मा भी कहते हैं अथवा अनेक प्रकार के नदी, तडागादि में प्रतिबिम्बित चन्द्र की भाँति एक ही पुरुष सभी शरीरों में व्याप्त है। प्रति शरीर पुरुष भिन्न नहीं है। इसी प्रकार सोमानन्द सांख्यतत्त्वविवेचन में कहते हैं कि आकृति, गर्भाशय, भावसंगति एवं शरीर के प्रति पुरुष पृथक-पृथक होने से कपिल, आसुरि, पंचशिख तथा पतञ्जलि आदि आचार्य पुरुष की बहुलता प्रतिपादित करते हैं जबकि हरिहर, हिरण्यगर्भ एवं व्यास आदि वेदवादी आचार्य सभी में एक ही आत्मा के होने को प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार प्राणिमात्र में एक आत्मा वैसे ही व्यवस्थित है जैसे एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब अनेक तालाबों में अनेक दिखाई देता है। श्रुतियाँ भी इसी का समर्थन करती हैं—एक एव हि भूतात्माभूते व्यवस्थित:। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्। किन्तु सांख्यशास्त्रानुसार पुरुष के अनेकत्व के सिद्धान्त का वेदों में प्रतिपादित एकात्मवाद से कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वेदों में आत्मा की एकता जाति की दृष्टि से प्रतिपादित हुई है। ''नाद्वैतश्रुतिविरोधी जातिपरत्वात्''। (सा. सूत्र 1/154)

त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव—तीनों गुणों के न्यूनाधिक्य भाव के कारण। तीनों गुणों को संघात रूप से त्रैगुण्य कहते हैं, सम अनुपात में न रहना ही उनका विपर्यय है। संसार में किसी में सत्त्व की बहुलता है जैसे 'उर्ध्वरेता ऋषि', तो किसी में रजोगुण की अधिकता है जैसे सामान्य मनुष्य। पशुपक्षियों में तमोगुण की अधिकता होती है। यदि सबका अधिष्ठाता एक ही पुरुष होता तो प्राणियों में तीनों गुणों का इस प्रकार विपर्यय न होता। पुरुषों को परस्पर मित्र मानने पर उनकी प्रकृति के अनुसार उनमें गुणों का अल्पत्व-बहुत्व स्वाभाविक हो जाता है।

कारिका में अन्त में 'एक' शब्द के प्रयोग से निश्चयार्थ द्योतित होता है। अत: प्रति शरीर के अधिष्ठाता पुरुष एक नहीं है अनेक ही है, यही सांख्य शास्त्र का अभीष्ट मन्तव्य है।

सांख्यकारिका (19)

प्रसङ्ग—पुरुष की अनेकता पूर्व कारिका में सिद्ध करके अब विवेक ज्ञान में उपयोगी होने के कारण उस पुरुष के अन्य धर्मों का प्रवचन प्रस्तुत कारिका में सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण करते हैं—

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वकर्तृभावश्च।।

अन्वय—तस्मात् विपर्यासात् च अस्य पुरुषस्य साक्षित्वम् सिद्धम् (तथैव) द्रष्टृत्वम् कैवल्यम् माध्यस्थ्यम् अकर्तृभाव: च (अपि)।

शब्दार्थ—तस्मात् = उससे, त्रिगुणत्व आदि धर्मों से युक्त अव्यक्त और तन्मूलक व्यक्त से। विपर्यासात् = विपरीतता या वैषम्य के कारण। साक्षित्वम् = साक्षात् रूप से देखना रूप धर्म। कैवल्यम् = दु:खत्रय का आन्तरिक रूप से अभाव। माध्यस्थ्यम् = तटस्थता या उदासीनता। द्रष्टृत्वम् = देखना रूप धर्म। अकर्तृभाव: = कर्तृत्व का अभाव या निष्क्रियता।

NOTES

हिन्दी अर्थ—त्रैगुण्यादि अर्थात् अविवेकिता, विषयत्व, साामन्यत्व, अचेतनता तथा प्रसवधर्मिता से सर्वथा विपरीत होने से ही इस पुरुष में प्रकृति के कर्तृतव के प्रति साक्षीपन, त्रिविध दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप कैवल्य, उपकार एवं अपकार की शक्ति से रहित होने की स्थिति मध्यस्थता, अपने निर्लिप्त रूप के ज्ञानस्वरूप द्रष्टृत्व तथा कर्तृत्व के अभावात्मक अकर्तृत्व प्रभृति धर्मों की सिद्धि हो जाती है।

टिप्पणी

तस्माच्चविपर्यासात्—'तस्माच्च' में प्रयुक्त 'च' समुच्चर्य अर्थ वाला अव्यय है, जो पुरुष अनेक मात्र नहीं है, अपितु कई अन्य धर्मों का उपचारक भी है, इस बाता को सूचित करता है जो वस्तुत: पुरुष के न होने पर भी उसके कहे जाते हैं। कारिकाकार ने 'विपर्यासाद अस्माद्' न कहकर 'तस्माच्चविपर्यासात्' में अस्मात् के स्थान पर तस्मात् का जो प्रयोग किया है वह दूरस्थ त्रिगुणमविवेकी कारिका से इस कारिका को सम्बद्ध करने के लिए किया है। अतएव इसका अर्थ यह है कि यह पुरुष व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के प्रकृति के त्रिगुणादि धर्मों से सर्वथा विपरीत निर्गुण विवेकी अविषय, असामान्य चेतन तथा अप्रसवधर्मी है।

साक्षित्वम् दृष्टत्वम्—चेतनत्व तथा अविषयता धर्मों के कारण ही उस पुरुष में साक्षित्व तथा दृष्टत्व धर्म बने रहते हैं। क्योंकि चेतन ही देख सकता है अचेतन नहीं और जिसने विषय का दर्शन कर लिया है वही साक्षी कहला सकता है अथवा जिसे विषय दर्शन कराया जाय वह साक्षी है। लोक में वादी प्रतिवादी द्वारा अपने विवादास्पद विषय की साक्षी प्रस्तुत करने के समान बुद्धि रूप में परिणत प्रकृति भी अपने द्वारा गृहीत विषय स्वप्रतिबिम्बित पुरुष को दिखाने की भावना से समर्पित करती है, अत: पुरुष उसका साक्षी होता है, महदादि अचेतन है अपितु किसी चेतन के बोध के विषय हैं, अन्य का दर्शन करने में समर्थ नहीं होते। इस प्रकार.चेतनत्व तथा अविषयत्व से ही पुरुष बुद्धि आदि विषयों का साक्षी होता है—'साक्षात्सम्बन्धात्साक्षित्वम्'। (सां. सू. 1/161)। इसीलिए द्रष्टा भी कहा जाता है।

कैवल्य—पुरुष के त्रिगुणत्व के अभाव से ही कैवल्य सूचित होता है। त्रिविध आध्यात्मिक तथा आधि दैविक एवं आधिभौतिक दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही कैवल्य कहलाती है। एक बार निवृत्त दु:ख का पुन: न होना सर्वथा निरोध दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही कैवल्य कहलाती है। एक बार निवृत्त दु:ख का पुन: न होना सर्वथा निरोध ा दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति है। यह कैवल्य वस्तुत: पुरुष को ही प्राप्त है।

माध्यस्थ्यम्—मध्यस्थ वही होता है जो परस्पर विरुद्ध पक्षों में से किसी का न होकर अपने को तटस्थ कर दे। यहाँ इस पद का प्रयोग उदासीन भाव के लिए हुआ है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग भागवत् में भी हुआ है—

'श्रुत्वा युद्धोद्यमं राम: कुरुणा सह पाण्डवै:। तीर्थाभिषेक व्याजेन मध्यस्थ: प्रययौ किल।।' सुख से सुखी तथा दु:ख से त्रस्त कभी मध्यस्थ नहीं हो सकता। दोनों से ही रहित मध्यस्थ हो सकता है। उसी को उदासीन भी कहते हैं—

पश्यति श्रणोति, सर्व करोति स्थितिं प्रसङ्गं च। नापिस्वतो न परतो नोभयतश्चाप्युदासीन:।। (जय मंगलाटीका से उद्धृत)।

अकर्तृत्वम्—पुरुष विवेकी तथा अप्रसवधर्मी है। अविवेकिता से ही कर्तृत्व आता है और जो अन्य तत्वों के उत्पादन में असमर्थ है वही कर्त्ता हो सकता है। वे दोनों अविवेकित्व तथा प्रसवधर्मिता गुणों के ही धर्म हैं। अत: जहाँ गुणी का अभाव है उस (निर्गुण पुरुष) में इन दोनों धर्मों का भी अभाव ही होगा। अत: वह कर्त्ता नहीं अपितु अकर्ता ही सिद्ध है।

अस्तु साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, दृष्टत्व एवं अकर्तृत्व आदि पुरुष के ही धर्म हैं। यहाँ कर्ता न होकर भोक्ता कैसे हो सकता है, यह शंका उठती है। उसका समाधान जय-मंगला टीका में हुआ है जैसे बालक अग्नि और वृक्ष अपने द्वारा असम्पादित फल का उपभोग करते हैं वैसे पुरुष भी स्वयं न किए गये विषयों का फलोपभोग करता है—

बालहुताशनतत्त्वः स्वयमकृतानां यथाहि भोक्तारः।
पुरुषोऽपि विषयफलानां स्वयमकृतानां तथैव भोक्ता। (जयमंगलाटीका से)

सांख्यकारिका (20)

प्रसङ्ग—प्रमाता प्रमाणों से कर्तव्य ज्ञान करके 'चेतन में कर्तव्य करने की इच्छा होने पर उसे करने जा रहा हूँ' ऐसा सोचता है। इसमें कर्तृभाव तथा चैतन्य दोनों को सामानाधिकरण्य अनुभव से सिद्ध है, किन्तु यह बात चेतन पुरुष को अकर्ता तथा कर्ता प्रकृति को अचेतन मानने से इस मत के परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती है। इसके समाधान के लिए सांख्यकारिकाकार प्रस्तुत कारिका का अवतरण आवश्यक समझते हुए कह रहे हैं—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्व च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।।20।।

अन्वय—तस्मात् तत्संयोगात् अचेतनम् लिङ्गम् चेतनावत् इव तथा च गुणकर्तृत्वे उदासीनः (पुरुषः) कर्ता इव भवति।

शब्दार्थ—तस्मात् = इसलिए, उक्त प्रकार से पुरुष के स्वरूपतः अकर्ता और प्रकृति के स्वरूपतः अचेतन होने से। तत्संयोगात् = उनके (प्रकृति और पुरुष के) संयोग से। अचेतनम् = जड़। लिङ्गम् = बुद्धि आदि से घटित सूक्ष्म शरीर। चेतनावत् = चेतन। इव = समान। गुणकर्तृत्वे = प्रकृति के गुणों के कर्त्ता होने पर। उदासीनः = तटस्थ, निष्क्रिय या अकर्ता।

हिन्दी अर्थ—इसलिए अर्थात् उक्त प्रकार से पुरुष के स्वरूपतः अकर्ता और प्रकृति के स्वरूपतः अचेतन होने से उनके अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संयोग के कारण अचेतन या जड़ लिङ्ग अर्थात् बुद्धि आदि से संघटित सूक्ष्म शरीर चेतन के समान हो जाता है और प्रकृति के गुणों के कर्ता होने पर भी उदासीन अर्थात् निष्क्रिय या अकर्ता पुरुष कर्ता के समान हो जाता है।

टिप्पणी

तस्मात्—पुरुष चेतनावान् है, इसलिए चेतना की प्रतीति से संयुक्त महदादि कार्य समूह चेतना जैसा प्रतीत होता है। यद्यपि गुण ही अध्यवसाय करते हैं पुरुष नहीं। पुरुष अकर्ता ही है। त्रिगुण तथा परिणामी होने से महदादि में कर्तृत्व है तथा निर्गुण एवं अपरिणामी होने से पुरुष में दृष्टत्व है, कर्तृत्व नहीं। पुरुष में कर्तृत्व मानना भ्रान्ति है, क्योंकि चैतन्य और कर्तृत्व तर्क के द्वारा विभिन्न आश्रयों में सिद्ध हो चुके हैं।

तत्संयोगात्—वस्तुतः पुरुष में कर्तृत्व की भ्रान्ति का मूल प्रकृति अर्थात् बुद्धि और पुरुष का संयोग अर्थात् परस्पर सामीप्य है। यही कारण है कि महत् से लेकर सभी तत्त्व अचेतन हैं, लेकिन वे उसी प्रकार चेतन प्रतीत होने लगते हैं जिस प्रकार चुम्बक के सम्पर्क से लोहा चंचल प्रतीत होने लगता है।

जयमंगला ने प्रकृति में चैतन्य के आधान का उदाहरण अग्नि और लोहे के गोले से दिया है। माठर ने घड़े का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार लोहा और घड़ा अग्नि के स्पर्श से गरम हो जाते हैं उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष संविधान से सचेतन लगने लगती है। बुद्धि में चैतन्य और चैतन्य में कर्तृत्व उपाधि के कारण प्रतीत होते हैं, वस्तुतः होते नहीं।

पुरुष चेतन है उसमें भोक्ता होने की योग्यता है। योग्यता होने के कारण प्रकृति एवं पुरुष का यह संयोग अनादि है जो अज्ञान की वासना से उत्पन्न हुआ है।

जयमंगला के अनुसार विपरीत दर्शन अर्थात् संयोग के कारण प्रकृति के तमोगुण से अभिभूत होकर पुरुष समझने लगता है कि गुणों का कर्ता मैं ही हूँ। यद्यपि वह एक तिनके को भी टेढ़ा नहीं कर सकता। अनात्मा प्रकृति में आत्मा पुरुष का आरोप ही अविद्या है जिसमें अस्मिता का प्रादुर्भाव होता है और जिसके कारण पुरुष सुख-दु:ख की अनुभूति का आश्रय बन जाता है। अत: सुखदु:ख विशिष्ट अनात्मा प्रकृति में आत्मा पुरुष का आरोप ही अस्मिता है।

गुणकर्तृत्वे—गुणों के कर्ता होने पर उदासीन अर्थात् तटस्थ भी पुरुष कर्ता जैसा प्रतीत होता है यद्यपि वह कर्ता नहीं है जैसे चोरों के साथ पकड़ा गया निर्दोष व्यक्ति भी चोर ही कहा जाता है। इसी प्रकार कर्ता गुणों से संयुक्त पुरुष कर्ता न होते हुए भी कर्ता मान लिया जाता है।

यहाँ तक व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) इनकी समीक्षा की गई है। सांख्य के अनुसार इनके विभाग एवं स्वरूप को ठीक से जानने पर मोक्ष प्राप्त होती है।

सांख्यकारिका (21)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका में सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति-पुरुष संयोग में पुरुष को कर्तृत्व का भ्रमात्मक अनुभव होता है, प्रतिपादित किया है, किन्तु प्रकृति पुरुष का संयोग परस्पर आकांक्षा के बिना नहीं होता और आकांक्षा परस्पर उपकार के बिना नहीं होती। इसीलिए उपकारक और उपकार्य आदि की स्पष्टता के लिए प्रस्तुत कारिका की अवधारणा की गई है। इस कारिका में प्रकृति और पुरुष के संघात (संयोग) का कारण प्रस्तुत किया गया है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृत: सर्ग:।। 21।।

अन्वय—(पुरुषेण) प्रधानस्य दर्शनार्थम् तथा (प्रधानेन) पुरुषस्य कैवल्यार्थम् पङ्ग्वन्धवत् उभयो: अपि संयोग: (भवति) तत्कृत: (च) सर्ग: (भवति)।

शब्दार्थ—प्रधानस्य = प्रधान के। दर्शनार्थम् = (पुरुष के द्वारा) दर्शन या भोग के लिए। पुरुषस्य = पुरुष के। कैवल्यार्थम् = दु:खत्रयाभाव रूप कैवल्य या मोक्ष के लिए। पङ्ग्वन्धवत् = लंगड़े और अंधे के समान। उभयो: = दोनों का अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संयोग के द्वारा की हुई। सर्ग: = सृष्टि।

हिन्दी अर्थ—पुरुष के द्वारा प्रधान का दर्शन करने के लिए और प्रधान के द्वारा पुरुष का कैवल्य सम्पन्न करने के लिए पुरुष और प्रधान का संयोग होता है। जिस प्रकार लंगड़े और अन्धे दोनों का आपस में श्रेय प्राप्ति के लिए सम्बन्ध होता है। इन दोनों का संयोग इसी प्रकार का है और उससे सृष्टि होती है।

टिप्पणी

प्रकृति और पुरुष के संयोग का मुख्य कारण अनादि अविद्या है। अविद्या के अनादि होने के कारण प्रकृति पुरुष संयोग भी अनादि है। ये संयोग तब तक बना रहता है जब तक इससे भोग सम्पन्न होता रहता है। संयोग के अन्त के लिए कैवल्य अपेक्षित है। कैवल्य के लिए प्रकृति और पुरुष का विवेक आवश्यक है। इस प्रकार से प्रकृति को अपना रूप दिखाने के लिए पुरुष की आवश्यकता है। उसी प्रकार पुरुष को अपने कैवल्य के लिए प्रकृति की अपेक्षा है।

पुरुषस्य—यहाँ करण में षष्ठी है तथा प्रधानस्य में भी करण में षष्ठी है। पुरुष का प्रधान के साथ संयोग दर्शन के लिए होता है अर्थात् प्रकृति से लेकर महाभूत पर्यन्त सबको पुरुष देखता है इसलिए उसका संयोग कहा जाता है। बिना भोक्ता के भोग्य की सत्ता नहीं होती। पुरुष भोक्ता है और प्रकृति भोग्या। सुखदु:ख का अनुभव भोग है। प्रकृति सुख दु:ख मोहात्मिका है। वह स्वयं सुखदु:खादि का अनुभव नहीं कर सकती। अपने में अपनी क्रिया कभी नहीं होती। प्रकृति के जड़ होने से भी अपने अनुभव के लिए उसे चेतन पुरुष की आवश्यकता है। क्योंकि भोग तो पुरुष से ही सम्भव है, वस्तुत: यही पुरुष के द्वारा प्रकृति का दर्शन है।

कैवल्यार्थम्—प्रधान से संयुक्त पुरुष तद्गत दु:खत्रय को अपना समझने लगता है और पीड़ित होता है एवं उनसे एकान्तिक एवं आत्यन्तिक मुक्ति चाहता है। इसी को कैवल्य कहते हैं। निवृत्ति कहते हैं। भोग के लिए प्रकृति से संयुक्त पुरुष कैवल्य के लिए पुन: प्रकृति से संयुक्त होता है। यही पुरुष की प्रकृति की अपेक्षा है। कारिका में क्रमभङ्ग वाचस्पति मिश्र ने किया है। गौडपाद आदि कारिका का वही क्रम रखते हैं। वाचस्पति प्रकृति के दर्शन एवं पुरुष के कैवल्य, गौडपाद पुरुष के दर्शन एवं प्रकृति के कैवल्य-अर्थ करते हैं। विज्ञान भिक्षु ने भी कैवल्य को प्रकृति से सम्बद्ध माना है। ईश्वरकृष्ण ने भी 62वीं कारिका में यही कहा है। संक्षेप में प्रधान एवं पुरुष के संयोग से ही भोग एवं कैवल्य दोनों की सिद्धि होती है।

पङ्ग्वन्ध—इन दोनों का ये संयोग अन्धे और लंगड़े के समान है, जैसे—एक लंगड़ा और और एक अन्धा चले जा रहे थे, भटक रहे थे, भाग्य से दोनों के मिल जाने पर एवं एक दूसरे की बातों पर विश्वास कर लेने पर उन दोनों का संयोग गमन और दर्शन के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। अन्धे ने लंगड़े को कन्धे पर चढ़ा लिया। लंगड़ा मार्ग बतलाता था और अन्धा उसे मार्ग पर ले चलता था। इस प्रकार दोनों ने गन्तव्य पा लिया। पुरुष में दर्शन शक्ति तो है पर क्रिया शक्ति नहीं। प्रकृति में क्रिया शक्ति है पर दर्शन शक्ति नहीं। दोनों मिलकर कृतार्थ होकर पृथक् हो जाते हैं।

तत्कृत: सर्ग:—महर्षि से लेकर स्थूलभूत पर्यन्त सृष्टि इन दोनों के संयोग का गौण फल है, क्योंकि केवल संयोग ही कैवल्य के लिए पर्याप्त नहीं होता है, इसलिए भोगापवर्ग के लिए प्रकृति संयोग सृष्टि रचता है।

सांख्यकारिका (22)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण प्रस्तुत कारिका में सृष्टिक्रम का विभाग दिखाते हैं। सृष्टिक्रम का विभाग प्रकृति एवं पुरुष के संयोग के कारण होता है। पुरुष निमित्त कारण है, प्रकृति उपादान कारण है।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशक:।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्य: पञ्चभूतानि।।

अन्वय:—प्रकृते: महान् (अभिव्यज्यते) तत: अहंकार, तस्मात् च षोडशक: गण: तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्य: पञ्चभूतानि।

शब्दार्थ—प्रकृते: = प्रकृति से। महान् = महत्तत्व बुद्धि। तत: = उससे, महत्तत्व से। षोडशक: गण: = सोलह तत्त्वों का समुदाय। तस्मात् षोडशकात् = उस सोलह तत्त्वों के समुदाय में से। पञ्चभ्य: = पाँच से, पाँच तन्मात्राओं से। पञ्चभूतानि = पाँच स्थूलभूत या महाभूत।

हिन्दी अर्थ—प्रकृति से महत्तत्व या बुद्धितत्व उत्पन्न होता है, महत्तत्व से अहंकार नामक तत्व उत्पन्न होता है और उस अहंकार से सोलह तत्त्वों (पाँच तन्मात्रायें और ग्यारह इन्द्रियों) का समुदाय उत्पन्न होता है। उन सोलह तत्त्वों के समुदाय में से भी पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत होते हैं।

टिप्पणी

महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम् (2/10 सं. सूत्र) 'एकादशपञ्च तन्मात्रं यत्कार्यम्' (2/17 सां. सूत्र)। महत् आदि क्रम से पञ्चमहाभूतों तक सृष्टि की उत्पत्ति हुई। महत् से अभिमान और अभिमान से एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्रायें उत्पन्न हुई हैं।

प्रकृते—प्रकृति के प्रधान, कारण, अव्यक्त गुणसाम्य, अव्याकृत आदि पर्याय प्राप्त होते हैं। गौडपाद ने तो प्रकृति-प्रधान, ब्रह्म, अव्यक्त, बहुधाक, माया—ये पर्यायवाची शब्द दिये हैं। प्रकृति से महान् की उत्पत्ति कही गई है जिसके पर्याय महान्, बुद्धि, मति, प्रत्यय और उपलब्धि प्राप्त होते हैं। गौडपाद ने महान्, बुद्धि, आसुरि, मति, ख्याति, ज्ञान और प्रज्ञा पर्याय दिये हैं। महत् से अहंकार उत्पन्न होता है। भूतादि वैकृत-तैजस-अभिमान ये पर्याय गौडपाद ने दिये हैं। जयमंगला के अनुसार सुपर्ण-पणि अथवा समर्णबन्य और तत्पुरुष इसके पर्यायवाची हैं।

तस्माद् गणश्च—उस अहङ्कार से सोलह रूपों वाला समूह उत्पन्न होता है। पाँच तन्मात्रायें—शब्दस्पर्शरू-परसगन्ध ये तन्मात्रायें सूक्ष्म पर्यायवाची हैं। इन्हें अतिशय अणु विषय भी कहते हैं। पाँच बुद्धीन्द्रियाँ श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। उभयात्मक मन यह एकादश इन्द्रिय है। मन को हृषीक भी कहते हैं। यहाँ पर षोडशकात् एकवचनान्त का, पञ्चभ्य: बहुवचनान्त का समानाधिकरण्य उपयुक्त नहीं है। तन्मात्राओं को योगभाष्य में महत् का परिणाम कहा गया है। गौडपाद और माठर तन्मात्राओं से पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रीति से महाभूतों का जन्म कहते हैं। जयमंगलाकार एवं वाचस्पति आदि से पूर्व-पूर्व तन्मात्राओं से युक्त होकर ही कोई तन्मात्रा अपने विशेष महाभूत को उत्पन्न करने में समर्थ होती है—स्वीकार करते हैं। जैसे—शब्द तन्मात्रा से आकाश, शब्द और स्पर्श तन्मात्रा से वायु, शब्द, स्पर्श तथा रूप तन्मात्रा से तेज, शब्द, स्पर्श रूप और रस तन्मात्रा से जल तथा शब्दस्पर्शरूपरस एवं गन्ध तन्मात्रा से पृथिवी उत्पन्न होती है।

सांख्यकारिका (23)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण कारिका दस एवं तेरह में अव्यक्त का सामान्य एवं विशेष उभयत: लक्षण करने के उपरान्त व्यक्त का सामान्य लक्षण दसवीं कारिका में हो चुकने से अब व्यक्त का विशेष लक्षण करने के प्रयत्न में सबसे पहले महत् का लक्षण करते हैं जो कि विवेक ज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्।। 23।।

अन्वय:—अध्यवसाय: बुद्धि: धर्म: ज्ञानम् विराग: ऐश्वर्यम् एतत् (अस्या:) सात्त्विकम् रूपम् अस्मात् विपर्यस्तम् तामसम्।

शब्दार्थ—अध्यवसाय: = निश्चय, नियामक तत्त्व। बुद्धि: = बुद्धि। धर्म: = धर्म। ज्ञानम् = ज्ञान। विराग: = वैराग्य। ऐश्वर्यम् = ऐश्वर्य। सात्विकम् = सात्त्विक । रूपम् = रूप। विपर्यस्तम् = विपरीत।

हिन्दी अर्थ—निश्चय अर्थात् निश्चय करने वाला तत्त्व बुद्धि है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से बुद्धि के सात्त्विक रूप हैं और इनसे विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य बुद्धि के तामस रूप हैं।

टिप्पणी

अध्यवसाय अन्तिम कर्म निश्चय को कहते हैं। जिस प्रकार बीज में होने वाला अंकुर निश्चित होता है, उसी प्रकार घट पदार्थों में 'यह घट है'' निश्चय होता है। जो निश्चय करता है, वही बुद्धि है। यह बुद्धि सात्विक एवं तामस भेदों से आठ प्रकार की होती है। बुद्धि एक प्रकार की क्रिया है। क्रिया और क्रियावान् से भेद होता है। अध्यवसाय क्रिया है, बुद्धि क्रियावान् अत: अध्यवसायवती बुद्धि कहना उचित है न कि अध्यवसायो बुद्धि:। वाचस्पति ने समाधान करते हुए कहा है कि किसी वस्तु के निकट होने पर व्यक्ति में चार प्रकार की क्रियायें हो सकती हैं।

आलोचन, मनन, अभिमान तथा अवधारण। आलोचन इन्द्रिय व्यापार है, मनन मन का, अभिमान अहंकार का तथा अवधारण बुद्धि का व्यापार है। सन्निहित पुरुष अर्थात् चेतन का प्रतिबिम्ब जब बुद्धि में पड़ता है तब उसमें चैतन्य आरोपित हो उठता है। चैतन्यारोपित बुद्धि में ही अध्यवसाय सम्भव है। अध्यवसाय से भिन्न बुद्धि कोई वस्तु नहीं। इसीलिए अध्यवसायो बुद्धिः कहना ठीक है। बुद्धि के सात्विक रूपों में दया, दान, यम, नियम लक्षण होते हैं। धर्म वह है जो लौकिक सुख या पारलौकिक कल्याण का कारण बनता है। यज्ञादि से सम्पादित धर्म लौकिक कल्याण करता है और अष्टाङ्गयोग से सम्पादित धर्म निःश्रेयस का कारण होता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति और पुरुष का विवेक ही ज्ञान है। राग अर्थात् आसक्ति का अभाव वैराग्य है। ये यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार चार संज्ञायें रखता है। अणिमा, महिमा इत्यादि शक्तियाँ ऐश्वर्य हैं। योगसूत्र के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये यम हैं और शोच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्राणिधान ये नियम हैं। बुद्धि के कुछ पर्याय हैं—ज्ञान, प्रकाश,अवगम और भान। ज्ञान दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर और बाह्य। बाह्य वैराग्य में सांसारिक विषयों पर होने वाली आसक्ति और हिंसादि दोषों के कारण उत्पन्न हुआ विरक्त भाव होता है। आभ्यान्तर वैराग्य प्रकृति को स्वप्न समझकर मोक्षार्थी को हुआ करता है। यह स्थायी होता है। ऐश्वर्य में सामर्थ्य का भाव है। अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावशायित्व आदि प्रकार ऐश्वर्य के हैं। वाचस्पति मिश्र ने ऐश्वर्य के नौ प्रकार कहे हैं, माठर ने भी यही स्वीकार किया है। गौडपाद और जयमंगलाकार ने 'गरिमा' को छोड़ दिया है। अणिमा सूक्ष्मता से अभिप्राय है, इससे योगी सूर्य की किरणों के सहारे सूर्य लोक में पहुँच जाता है। गरिमा भारीपन का अभिप्राय है, महिमा में बड़े परिणाम का अभिप्राय है, प्राप्ति से योगी अंगुलि से चन्द्रमा को स्पर्श कर लेता है। प्राकाम्य इच्छा साफल्य है। योगी पृथिवी से जल की भाँति ऊपर निकलता और पुनः प्रविष्ट हो सकता है। वशित्व से अभिप्राय है—यह वह है जिससे सभी पदार्थ वशीभूत हो जाते हैं। ईशित्व वह है जिससे योगी सभी भूतों और पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश में प्रभु हो जाता है। आत्मावशायित्व सङ्कल्प का सत्य होना है।

सांख्यकारिका (24)

प्रसङ्ग—व्यवस्थित ढंग से बुद्धि का निरूपण करने के पश्चात् सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण क्रमप्राप्त अहङ्कार का लक्षण करते हैं।

अभिमानोऽङ्कारः तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव।। 24।।

अन्वय—अभिमानः अहङ्कार तस्मात् एव द्विविधः सर्गः प्रवर्तते एकादशकः गणः च तन्मात्रपञ्चकश्च।

शब्दार्थ—अभिमानः = अभिमान रूप वाला। सर्गः = सृष्टि। प्रवर्तते = होती है। एकादशकः गणः = ग्यारह इन्द्रियो का समुदाय। तंन्मात्रपञ्चकः = पाँच तन्मात्रायें।

हिन्दी अर्थ—'मैं' इस प्रकार के अभिमान (अनुभूति) को ही अहङ्कार कहते हैं, इससे दो प्रकार की सृष्टि होती है ग्यारह इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन) का समूह और पाँच तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध आदि) का समुदाय।

टिप्पणी—अभिमान 'अहङ्कार' नामक तत्त्व का असाधारण व्यापार होते हुए उसका स्वरूप निरूपक धर्म है, अतः अभिमान रूप क्रिया और अहङ्कार रूप क्रियावान् में अभेद मानते हुए अहङ्कार का लक्षण या स्वरूप-परिचय अभिमान के रूप में दिया गया है। इस प्रकार अहङ्कार का काम अभिमान करना है। इससे ही पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन, ये ग्यारह इन्द्रिय उत्पन्न होती हैं और इससे ही शब्द तन्मात्रा आदि पाँच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं।

सांख्यकारिका (25)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण अहङ्कार से उत्पन्न होने वाले दो प्रकार के जड़तन्मात्रायें प्रकाशक चैतन्य इन्द्रिय-तत्वों की उत्पत्ति के वैषम्य को दूर करने के लिए समाधान करते हुए प्रस्तुत कारिका की रचना करते

NOTES

हैं, क्योंकि एक ही अभिमान के कारण से दो प्रकार के जड़ और चेतन तत्वों की विलक्षण उत्पत्ति शंका उत्पन्न करती है। इसका समाधान आपेक्षित है।

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्।। 25।।

अन्वय—वैकृतात् अहङ्कारात् सात्विकः एकादशकः (गणः) प्रवर्तते भूतादेः अहङ्कारात् तन्मात्रः स तामसः तैजसात् उभयम्।

शब्दार्थ—वैकृतात् = 'वैकृत' नामक सात्विक से। अहङ्कारात् = अहङ्कार से। सात्विकः = सात्विक। एकादशकः = एकादशक अर्थात् ग्यारह इन्द्रिय। भूतादेः = 'भूतादि' नामक तामस से। तैजसात् = 'तैजस्' नामक राजस से। उभयम् दोनों अर्थात् इन्द्रियाँ और तन्मात्राएँ।

हिन्दी अर्थ—सात्विक एकादशक अर्थात् ग्यारह इन्द्रियों का सात्विक समुदाय 'वैकृत' नामक सात्विक अहङ्कार से उत्पन्न होता है, 'भूतादि' नामक तामस अहङ्कार से तन्मात्राओं का समुदाय उत्पन्न होता है, जो कि तामस है, 'तैजस' नामक राजस् अहङ्कार से दोनों समुदाय उत्पन्न होते हैं अर्थात् राजस अहङ्कार दोनों समुदायों की उत्पत्ति में सहायक होता है।

टिप्पणी

'सात्त्विकम् एकादशकं प्रवर्तते वैकृतात् अहङ्कारात्' (2/18 सां.सू.) वैकृत अर्थात् विकार को प्राप्त हुए अहङ्कार से सात्त्विक ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

सात्त्विक—जब सत्त्व प्रबल होता है और रजस् तमस् उससे निर्बल होते हैं तब वह सात्त्विक अहङ्कार कहलाता है, इसी को वैकृत भी कहा जाता है। उससे सात्त्विक विशुद्ध एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं जिनमें अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने की शक्ति होती है।

तामस—जब तमोगुण से सात्त्विक और राजस अहङ्कार अभिभूत रहते हैं तब वह तामस अहङ्कार कहा जाता है, इसे भूतादि भी कहते हैं। इससे पाँच तन्मात्राओं का समूह उत्पन्न होता है। क्योंकि वह आकाशादि भूतों में आदि में अर्थात् पहले होता है। इसीलिए यह भूतादि कहलाता है और तम प्रधान होने से तामस भी होता है।

तैजस—रजोगुण से जब सात्त्विक और तामस अहंकार दबे रहते हैं तब वह तैजस अहंकार कहा जाता है। उससे दोनों प्रकार का सर्ग उत्पन्न होता है। मन्तव्य यह है कि तैजस अहङ्कार इन्द्रियों की उत्पत्ति में सात्त्विक अहंकार की सहायता करता है क्योंकि क्रियाशीलता राजस में ही होती है। इस प्रकार तन्मात्राओं की उत्पत्ति में तैजस अहङ्कार तामस की सहायता करता है।

सांख्यकारिका (26)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने पूर्व कारिका में अहङ्कार के सात्त्विक अंश से उत्पन्न एकादश इन्द्रियों का कथन किया है इनमें मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय हैं, प्रस्तुत कारिका में इन्हीं का विवेचन कर रहे हैं—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः।।

अन्वय—चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि आहुः।

शब्दार्थ—चक्षु: = नेत्र। श्रोत्र = कान। घ्राण = नासिका। रसनत्व = जिह्वा। त्वक् = त्वचा। बुद्धीन्द्रियाणी = ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। वाक् = वाणी। पाणि = हाथ। पाद = पैर। पायु = गुदा। उपस्थ = जननेन्द्रिय। कर्मेन्द्रियाणि = कर्मेन्द्रिय।

हिन्दी अर्थ—नेत्र, कान, नाक, जिह्वा तथा त्वचा नामक ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वाणी, हाथ, पैर, गुदा तथा उपस्थ, ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं।

टिप्पणी

इन्द्रिय—'इन्द्र' शब्द का अर्थ आत्मा है। उसकी सत्ता में साधक हेतु होने से 'इन्द्रस्य इदम् इन्द्रियम्' संज्ञा हुई है। आत्मा की सत्ता की सिद्धि में अनुमापक होने से 'इन्द्रिय' कहा जाता है। इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं- अन्तरिन्द्रिय तथा बाह्य इन्द्रिय। अन्तरिन्द्रिय मन है, जो बाह्य इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के विषय में सङ्कल्प-विकल्प करता है। ज्ञान के साधक होने से चक्षु श्रोत्रादि को बुद्धीन्द्रिय कहा गया है। ज्ञान से यहाँ पर प्रत्यक्ष ज्ञान लिया जायेगा। अनुमान और शब्द इसके अन्तर्गत नहीं आयेंगे। शंकर कहते हैं कि बुद्धिपूर्वक पर्यालोचन को ही सांख्याचार्यों ने बुद्धीन्द्रिय कहा है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच होती हैं।

1.चक्षु—जो रूप की उपलब्धि का साधन है—रूपं चष्टे अनेनेति चक्षुः।

2. श्रोत्र—यह शब्दोपलब्धि का साधन है—शब्द शृणोति अनेन।

3. घ्राण—गन्ध की उपलब्धि का साधन है—जिघ्रति अनेनेति।

4. रसना—'रस्यति अनेन' इस विग्रह से यह इन्द्रिय षट् रसों का ज्ञान कराती है।

5. त्वक् या त्वचा—स्पर्श का बोध त्वगिन्द्रिय से होता है। —'स्पृश्यतेऽनेन'। इन्द्रियों का क्रम श्रोत्र, त्वक्, चक्षुरसनाघ्राण होना चाहिए था। अहङ्कार से निष्कृष्ट सत्त्व की प्रधानता होने पर कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है। ये पाँच हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ तथा इनके कार्य हैं—वचनादानविहरणोत्सर्गानन्द। जिससे बोलने की क्रिया सम्पन्न होती है, गमनागमन कत्री इन्द्रिय पैर है, पायु से मल—मूत्र का उत्सर्जन होता है, उपस्थ से आनन्द एवं जनन कार्य सम्पन्न होता है।

सांख्यकारिका (27)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण बाह्येन्द्रिय पाँच बुद्धीन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों का निरूपण करके अब अन्तरिन्द्रिय मन का निरूपण करते हैं।

उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च।। 27।।

अन्वय—अत्र मनः उभयात्मकम् संकल्पकम् च इन्द्रियम् साधर्म्यात् (च इव) गुण परिणाम विशेषात् नानात्वम् बाह्यभेदाः च।

शब्दार्थ—अत्र = इनमें अर्थात् इन्द्रियों में। उभयात्मकम् = दोनों प्रकार का अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। सङ्कल्पकम् = सङ्कल्प या विचार करने वाला। साधर्म्यात् = समानता के कारण। गुणपरिणामविशेषात् = गुणों के परिणामों के भेद के कारण। नानात्वम् = अनेकता या अनेकरूपता। बाह्यभेदाः = बाह्य या बाहरी अर्थात् शब्द तन्मात्रा या आकाश आदि भेद। च = समान।

हिन्दी अर्थ—इनमें अर्थात् इन्द्रियों में मन दोनों प्रकार का अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय हैं, यह सङ्कल्प करने वाला और अन्य इन्द्रियों की समानता के कारण इन्द्रिय है। गुणों के परिणामों के भेद के कारण इन इन्द्रियों की

अनेकता या अनेकरूपता उसी प्रकार है जिस प्रकार गुणों के परिणाम भेद के कारण बाह्य या बाहरी शब्दतन्मात्रा आदि या आकाश आदि भेद हैं।

टिप्पणी

मनः उभयात्मकम्—मन ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों दोनों के साथ कार्यशील रहता है। चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वागादि कर्मेन्द्रियाँ मन से अधिष्ठित होकर ही स्व-स्व विषयों में प्रवृत्त हो सकती हैं। मन का 'सङ्कल्पकं मनः' असाधारण लक्षण है। मन ही इन्द्रियों द्वारा आलोचित पदार्थ के बारे में 'यह ऐसा है' या 'यह ऐसा नहीं है' आदि की सम्यक् कल्पना करता है। विद्वज्जन मनो व्यापार के पश्चात् उसमें सामान्य विशेष की कल्पना कर लेते हैं—सम्मुग्ध ां हि प्राग्गृहणात्यविकल्पितम्। तत्सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः। (कुमारिलभट्ट श्लोक वार्तिक)।

अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिवि ज्ञानसदृश शुद्ध वस्तुजम्।
ततः परं पुनर्वस्तु ज्ञानसदृश शुद्ध वस्तुजम्।
ततः परं पुनर्वस्तु धर्मेर्जात्याभिर्यया।
बुद्धध्यावसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता।

इन्द्रिय तथा वस्तु के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, जो एकमात्र वस्तु से पैदा होता है, बालकों तथा गूँगों के ज्ञान के समान होता है, वह पहले निर्विकल्पक होता है। बाद में जिस बुद्धि से पदार्थ की जाति आदि धर्म निध ारित होता है वह प्रत्यक्ष कहा गया है। इस भाँति इन्द्रिय द्वारा गृहीत वस्तु के बारे में विशेषण विशेष्यभाव रूप से विवेचना ही संकल्प है, जो मन की क्रिया व्यापार है। गौडपाद ने संकल्पक का अर्थ 'प्रवृत्तिं कल्पयति' किया है जो बुद्धीन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों के व्यापारों का निर्धारण करता है। वाचस्पति मिश्र 'विशेषणविशेष्यभावेन कल्पयति' इसका अर्थ करते हैं, वह सम्बद्ध पदार्थ के गुणों का साक्षात्कार कराने वाला है। सूर्य नारायण शास्त्री के अनुसार मन तो एक माध्यम का कार्य करता है। इन्द्रियाँ पदार्थ के जिस स्वरूप को ग्रहण करती हैं, मन उसमें कुछ बुद्धि या लघुता नहीं करता। श्लोक वार्तिक के अनुसार तो मन में वस्तु के स्वरूप तथा गुणों में विशेषत्व का आध ान होता है।

निर्विकल्पकबोधोऽपि द्वयात्मकस्यापि वस्तुनः।

ग्रहणं लक्षणाख्येयं ज्ञात्रा शुद्धं तु गृह्यते। (श्लोक वार्तिक 1/8)

कुमारिलभट्ट का अभिप्रायं यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी पदार्थ के साधारण एवं असाधारण उभयात्मक रूप का ग्रहण हो सकता है, परन्तु वह शुद्ध होता है, संकीर्ण नहीं।

इन्द्रियं च—अनियत विषय वाला तथा सर्वविषयक होने से महत् तथा अहङ्कार इन्द्रिय नहीं है। मन भी सर्वविषयक है, अतः यह भी इन्द्रिय नहीं कहा जा सकता। इसीलिए कारिकाकार ने कारिका में 'इन्द्रियं च' का समावेश कर मन की सभी विषयों का ग्राहक होते हुए भी इन्द्रिय कहा है। क्योंकि इसका ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के साथ साधर्म्य है। साधर्म्य इसलिए है कि ये सात्त्विक अहङ्कार से ही अन्य उभयविध इन्द्रियों की तरह उत्पन्न होता है।

गुणपरिणामविशेषात्—धर्म-अधर्म रूप जो गुण परिणाम है उसके विशेष अर्थात् विभिन्नत्व से वैकृत, भूतादि तथा तैजस् अहङ्कार के तथा पूर्व कथित ग्यारह इन्द्रियों के भेद होते हैं। एक ही इन्द्रिय से शब्दादि सभी विषय उत्पन्न नहीं हो सकते, अतः विषयानुसार उनको अनेक ग्राहकत्व ही स्वाभाविक है। इस प्रकार अहंकार ही अनेक इन्द्रियों के रूप में परिणत हो जाता है। इन्द्रियों के नानात्व की बात उनके बाह्यभेदों के नानात्व से भी सम्भव हो सकती है इसी भाँति सात्त्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होना सम्भव हो सकता है।

बाह्यभेदात च—कारिका में कहा हुआ बाह्यभेदाश्च में प्रयुक्त च का अर्थ 'समान' है अर्थात् जिस प्रकार अहङ्कार के एक ही भेद से अनेक बाहरी विषय उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उसके दूसरे भाग में अनेक इन्द्रियों की उत्पत्ति भी उचित ही है। माठर 'बाह्यभेदात्' के स्थान पर 'ग्राह्यभेदात्' पाठ स्वीकार करते हैं। क्योंकि ग्राहक इन्द्रियों के बाह्य विषय बहुत हैं। अत: यही अधिक उपयुक्त है।

सांख्यशास्त्र में इन्द्रियों के निक्षेप का कारण अहंकार स्थित सत्त्व रजस् तथा तमस् माना है अत: इनके नानात्व के कारण हैं गुणों के अनेक अनुपात में मिश्रण परिणाम तथा बाह्य विषय भी, क्योंकि वे 11 है अत: इनके ग्राहक भी ग्यारह होंगे।

सांख्यकारिका (28)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका में मन तथा उसके असामान्य धर्म संकल्प का विवेचन किया गया। प्रस्तुत कारिका में शिष्ट दश इन्द्रियों की स्वस्व असामान्य वृत्तियों का निरूपण कारिकाकार ईश्वरकृष्ण करते हैं—

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्ति :।

वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ 28 ॥

अन्वय—रूपादिषु आलोचनामात्रम् पञ्चानाम् (ज्ञानेन्द्रियाणाम्) वृत्ति: इष्यते। वचनदानविहरणोत्सर्गानन्दा: च पञ्चानाम् कर्मेन्द्रियाणाम् (वृत्ति : इष्यते)।

शब्दार्थ—रूपादिषु = रूप आदि विषयों में। आलोचनामात्रम् = संवेदन मात्र, विशेषता रहित अनुभव। पञ्चानाम् = पाँच ज्ञानेन्द्रियों का। वृत्ति: = व्यापार। वचनदानविहरणोत्सर्गानन्दा: = वचन (बोलना), आदान (ग्रहण), गमन, मल-त्याग एवं आनन्द (रमण)। पञ्चानाम् = पाँच कर्मेन्द्रियों का।

हिन्दी अर्थ—रूप रस आदि पाँचों विषयों का आलोचन मात्र पाँच ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार कहा जाता है। बोलना, ग्रहण करना, गमनागमन, उत्सर्ग तथा आनन्द ये पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार माने जाते हैं।

टिप्पणी

रूपादिरसमलान्त उभयो: (2/28 सां. सूत्र) रूप आदि से लेकर मल-त्यागपर्यन्त ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय के विषय हैं, जिसके आश्रय से ये इन्द्रिय कहे जाते हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शशब्दादि ज्ञानेन्द्रियों के विषय अवसर के अनुसार अपने प्रकाशक इन्द्रिय के सन्निकर्ष को प्राप्त होते हैं तथा इन्द्रियाँ उनके आकार में परिणत होकर विषय का प्रकाशन करती हैं। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों का व्यापार स्वरुप विषयों का प्रकाशन मात्र है।

प्रस्तुत कारिका में 'मात्र' शब्द विशेष के ग्रहणार्थ हुआ है, जिसका तात्पर्य है-चक्षु केवल रूप का प्रकाशक है रस का नहीं। कर्मेन्द्रियों में क्रमानुसार मुख का व्यापार शब्दार्थ प्रतिपादन रूप भाषण है। ग्रहण करना हाथों का व्यापार है। गमन पाद का व्यापार है। उत्सर्ग पायु का तथा आनन्द उपस्थ इन्द्रिय का व्यापार है। माठर के अनुसार 'मात्र का प्रयोग इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए हुआ है कि ज्ञानेन्द्रियाँ केवल स्वविषय का ही बोध कराने में समर्थ हैं। जयमंगलाकार ने 'मात्र' का अर्थ किया है कि ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार स्वविषयों का प्रकाशन मात्र है न कि कोई विशेष विवेचन प्रस्तुत करना। गौड़पाद भी माठर का ही समर्थन करते हैं। यहाँ यह शंका हो सकती है कि आनन्द तो बुद्धि धर्म है जो कि ज्ञानात्मक है तो वह उपस्थिेन्द्रिय का व्यापार कैसे हो सकता है? यह उचित भी है, अत: यहाँ गौडपाद उसे सुतोत्पत्ति सम्बन्धी वृत्ति 'उपस्थस्यानन्द: सुतोत्पत्तिविषया वृत्ति:' कहते हैं।

सांख्यकारिका (29)

प्रसङ्ग—ज्ञान के दस बाह्य और तीन अन्त:करण मिलाकर तेरह माने गये हैं जिनमें दस इन्द्रियों का साक्षात् सम्बन्ध बाह्य विषयों से होता है। इन बाह्य दस वृत्तियों का वर्णन पूर्व कारिका में किया जा चुका है। अब प्रस्तुत कारिका में सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण तीन प्रकार के अन्त: करण के व्यापारों का निरूपण करने के लिए अवतारणा करते हैं।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्य।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्याः वायवः पञ्च ॥ 29 ॥

अन्वय—त्रयस्य स्वालक्षण्यं वृत्तिः सा एषा असामान्या प्राणाद्याः भवति, सामान्यकरणवृत्तिः पञ्च वायवः (सन्ति)।

शब्दार्थ—त्रयस्य = तीन की, महत्तत्व (बुद्धि), अहङ्कार एवं मन, इन तीन अन्त:करणों की। स्वालक्षण्यम् = अपने-अपने लक्षण। वृत्तिः = व्यापार। सा एषा = वह यह। असामान्य = असाधारण। प्राणाद्याः = प्राण आदि, प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान। वायवः = वायु का प्राण। सामान्यकरणवृत्तिः = तीनों का समान या साधारणकरण व्यापार अर्थात् तीनों अन्त:करण का मिलकर एक ही समान या साधारण व्यापार।

हिन्दी अर्थ—तीन अन्त:करणों का अपना-अपना लक्षण ही व्यापार है अर्थात् बुद्धि का अध्यवसाय या निश्चय, अहङ्कार का अभिमान और मन का संकल्प व्यापार है और उनका अपना असाधारण व्यापार है। प्राण आदि पाँच या प्राणों का धारण अर्थात् जीवन धारण तीनों अन्त: करणों का समान यह करण व्यापार है अर्थात् तीनों अन्त:,करणों का मिलकर जीवन-धारण रूप एक ही समान या साधारण व्यापार है।

टिप्पणी

स्वालक्षण्यम्—स्वलक्षण + ष्यञ् = स्वालक्षण्यम् अर्थात् अपने-अपने लक्षण के समान होना। महत् (बुद्धि), अहङ्कार तथा मन, इन सबका अपना-अपना-अलग भी तथा सम्मिलित रूप से भी व्यापार होता है। महत् का लक्षण अध्यवसाय है अत: उसकी वृत्ति निश्चयात्मक ही है। अहंकार अभिमान लक्षण वाला है यही इसकी अपनी विशेष वृत्ति भी है। इसी प्रकार मन 'संकल्प' लक्षणवान है यही संकल्प मन का अपना असामान्य व्यापार भी है। असामान्य का अर्थ विशेष है। इन तीनों अन्त:करणों का सामान्य व्यापार भी होता है तथा वह है पञ्च प्राण।

प्राणाद्या—प्राणादि पाँच वायु अन्त:करण की वृत्ति हैं क्योंकि जहाँ अन्त:करण है वहीं इनका व्यापार भी होता है। पाँच वायु हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। प्राणन से ही प्राण कहा जाता है। अपनयन करने के कारण अपान, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त तथा अभ्यान्तर की विभागकर्त्री व्यान, ऊपर की ओर आरोहण करने उदान तथा आहारादि की एकरसता को प्राप्त कराने वाली वायु समान कहलाती है।

'सामान्यकरणवृत्ति' में 'करण' से तात्पर्य अन्त:करण से है। विज्ञानभिक्षु भी इसी का समर्थन करते हैं। वाचस्पति मिश्र तथा शेष सभी टीकाकार तेरह करणों को ग्रहण करते हैं। क्रिया का क्रियावान से भेद वास्तविक न होकर औपचारिक होता है। अत: क्रियाशक्ति प्रधान अन्त:करण का एक विशेष व्यापार ही प्राण है ऐसा सभी दार्शनिक का मानना है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि न वाणी, न नेत्र, न श्रोत्र, न मन बाह्यविषयों को सूचित करते हैं, अपितु यह प्राण ही सभी कार्य करता है। इस प्रकार वाक्चक्षु आदि के समान मन भी प्राण के प्रति अप्रधान है।

NOTES

सांख्यकारिका (30)

प्रसङ्ग—तीन अन्त:करणों तथा दस बाह्य करणों के स्व स्व विशेष व्यापार का विवेचन पूर्व कारिकाओं में किया जा चुका है। अब प्रस्तुत कारिका में सभी करणों के विशेष व्यापारों का क्रमश: तथा एक साथ होना सोदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं।

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ 30॥

अन्वय—दृष्टे तस्य चतुष्टयस्य (करणचतुष्टयस्य) वृत्तिः तु युगपत् क्रमश: च निर्दिष्टा तथापि (युगपत् क्रमश: च) अदृष्टे त्रयस्य अन्त:करणस्य वृत्तिः तत्पूर्विका (निर्दिष्टा)।

शब्दार्थ—दृष्टे = प्रत्यक्षगोचर पदार्थ के विषय में। तस्य = उस पूर्वोक्त। चतुष्टयस्य = चार प्रकार के कारणों (इन्द्रिय, मन, अहंकार एवं बुद्धि) की। वृत्तिः = व्यापार। युगपत् = एक साथ। क्रमश: = क्रम से। निर्दिष्टा = बताई जाती है, होती है। अदृष्टे = परोक्ष पदार्थ के विषय में। त्रयस्य = तीन अन्त:करणों (मन, अहंकार एवं बुद्धि) की। तत्पूर्विका = प्रत्यक्षपूर्वक।

हिन्दी अर्थ—प्रत्यक्षगोचर पदार्थ के विषय में उन चार प्रकार के कारणों (इन्द्रिय, मन, अहंकार एवं बुद्धि) का व्यापार तो कभी एक साथ और कभी क्रम से होता है और परोक्ष पदार्थ के विषय में तीन प्रकार के अन्त:करणों (मन, अहंकार एवं बुद्धि) का व्यापार प्रत्यक्षपूर्वक होता है।

टिप्पणी

'क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः' (2/32 सां. सूत्र)। इन्द्रियों की वृत्ति क्रम से भी होती है और अक्रमश: भी होती है।

इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थों के विषय में अन्त: तथा बाह्य दोनों प्रकार की इन्द्रियों की प्रवृत्ति एक साथ तथा क्रम से सम्भव है। बुद्धि, अहंकार, मन जब एक-एक इन्द्रिय से संयुक्त होते हैं तो चार हो जाते हैं। इन चारों के प्रत्येक के विषय का निश्चय करने में वृत्ति एक साथ ही होती है जैसे महत् (बुद्धि), अहंकार, मन, और, चक्षुरिन्द्रिय एक ही काल में रूप को देखकर निश्चय करते हैं कि यह स्थाणु है। इसी प्रकार बुद्धि, अहंकार, मन तथा जिह्वा एक साथ रस का ग्रहण कर निश्चय करते हैं कि यह मधुर है, यह अम्ल है। इसी प्रकार एक-एक इन्द्रिय तीनों अन्त:करणों से संयुक्त होकर एक साथ स्वविषय का निश्चय करते हैं।

विषय के अदृष्ट होने पर बाह्य इन्द्रियों की वृत्तियाँ सम्भव न होने से वहाँ केवल मन, बुद्धि तथा अहंकार अर्थात् तीनों अन्त:करण के ही व्यापार होते हैं। अदृष्ट यहाँ अनुमान, शब्द-प्रमाण से सिद्ध स्वर्ग, अपूर्व एवं देवादि तथा स्मृति के विषय पितरादि का सूचक है। तत्पूर्विका 'प्रत्यक्ष पूर्विका' वृत्ति अभिप्राय के लिए है।

इस कारिका में निर्दिष्ट पद से यह घोषित हो रहा है कि अन्त: करण से इन्द्रियों की एक साथ क्रियाकारिका का मत सांख्याचार्यों को मान्य है। नैयायिकों का मत इससे विपरीत है।

सांख्यकारिका (31)

प्रसङ्ग—चार प्रकार के कारणों की एक साथ और क्रम से वृत्तियों के सम्पन्न होने का मत स्वीकार कर लेने पर यह प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष व्यापार में केवल महदादि को तद्हेतु मानने पर महदादि अन्त: तथा बाह्य करण तो निरन्तर स्थित रहते हैं तो उनकी प्रकाशन, संकल्प, अभिमान और अध्यवसायात्मिका वृत्तियाँ क्यों नहीं होती रहती हैं ? इसी का निरूपण प्रस्तुत कारिका में सांख्यकारिकाकार कर रहे हैं—

NOTES

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥ 31 ॥

अन्वय—(करणानि) स्वां स्वां परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम् प्रतिपद्यन्ते (अत्र) पुरुषार्थः एव हेतुः अस्ति करणम् केनचित् न कार्यते।

शब्दार्थ—स्वां स्वाम् = अपनी-अपनी को। परस्पराकूतहेतुकां = एक दूसरे के अभिप्राय को जानने के कारण होने वाली। वृत्तिम् = व्यापार को। प्रतिपद्यन्ते = प्राप्त करते हैं, अपनाते हैं। पुरुषार्थः = पुरुष का प्रयोजन। हेतुः = प्रेरक या प्रयोजक। केनचित् = किसी के द्वारा। कार्यते = कराया जाता है।

हिन्दी अर्थ—चारों प्रकार के कारण अर्थात् इन्द्रिय मन, अहंकार एवं बुद्धि एक दूसरे के अभिप्राय को जानने के कारण होने वाले अपने-अपने व्यापार को अपनाते हैं, इसमें अर्थात् अपने-अपने व्यापार को करने में पुरुषार्थ अर्थात् पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि ही प्रेरक या प्रयोजक है, पुरुषार्थ को छोड़ अर्थात् अन्य किसी के द्वारा करणों से कार्य नहीं कराया जाता है।

टिप्पणी

जिस प्रकार आयुधविशिष्ट अर्थात् शक्ति, लाठी, धनुष तथा तलवार आदि धारण करने वाले पुरुष एक दूसरे के संकेत से शत्रुदमनार्थ प्रवृत्त होकर एक-दूसरे का अभिप्राय समझकर ही प्रवृत्त होते हैं तथा इस एक साथ प्रवृत्ति में शक्ति चलाने वाला ही व्यक्ति शक्ति लेता है, लाठी आदि नहीं, लठैत लाठी ही लेता है, अन्य अस्त्र नहीं उसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के स्वकायोन्मुखत्व से दूसरी इन्द्रियाँ भी अपने कार्य-व्यापार में प्रवृत्त होती हैं। खड़खड़ाहट सुनकर आँख इधर-उधर देखने लगती हैं। दण्डाकृति किसी चीज को देखकर मन साँप आदि का संकल्प-विकल्प स्वयं ही करने लगता है। हानि लाभ का ज्ञान जागृत होने पर महत् अर्थात् बुद्धि यह निश्चय करती है कि क्या हो सकता है ? दोनों प्रकार के कारण अपनी प्रवृत्ति का हेतु स्वयं नहीं हो सकते क्योंकि वे अचेतन हैं अपितु पुरुषार्थ ही अनागत रूप में स्थित हो इन कारणों को स्वस्व वृत्तियों में प्रवृत्त कराता है। पुरुषार्थ व्यक्तिरिक्त ईश्वर या जीव किसी के द्वारा भी प्रवृत्त नहीं कराये जाते।

'आकूत' शब्द का अर्थ माठर के अनुसार 'अभिप्राय' है। जयमंगलाकार' स्ववृत्तिभोग' अर्थ करते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार इसका अर्थ 'स्वकार्य करने में अभिमुख होना' है। इस प्रकार इसका तात्पर्य यह हुआ है—एक-दूसरे के संकेत को समझते हुए स्व विशेष क्रिया को कहते हुए और 'अहमहमिकया' अपने कार्य के प्रति अग्रसर होते हुए गौड़पाद इसे 'आदस्सभ्रम' कहते हैं। कॉलब्रुक के अनुसार 'परस्परामन्त्रण से उत्तेजित होना' है। विल्सन आ + कूङ (क) + वत = आकूत, इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ 'क्रियार्थ होने वाली उत्तेजना' करते हैं।

कारण स्वयं जड़ है अतः प्रकाशन, संकल्प, अभिमान तथा अध्यवसाय क्रियायें कैसे कारणों के द्वारा सम्पादित हो सकती हैं? न्यायदर्शन के अनुसार ईश्वर इनका प्रेरक है तथा उसी की इच्छा से ये स्व क्रियाओं में संलग्न होती हैं। वेदान्ती इनका प्रेरक तत्व जीव को मानते हैं। सांख्यकारिकाकार इन दोनों ही पक्षों का निराकरण करते हुए 'न केनचित् कार्यते करणम्' कहते हैं अर्थात् इन्द्रियों की स्व स्व क्रियाओं में प्रवृत्तिकर्ता ईश्वर तथा जीव कोई नहीं है। अपितु पुरुषार्थ ही कारण है। जयमंगलाकार कहते हैं कि प्रधान अर्थात् प्रकृति से भिन्न कोई दूसरी शक्ति महदादि करणों को तत्तत्क्रियाओं में संलग्न नहीं करती।

'केनचित्' की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि वह इन्द्रिय स्वयं किसी क्रिया में संलग्न नही हो सकती, इनका कोई अधिष्ठाता होगा जो इनके कार्यकरण की सामर्थ्य तथा विधि को जाकर इन्हें उपयोग में लाये। इसी के समाधान के लिए सांख्यकारिकाकार ने कहा है कि पुरुषार्थ ही हेतु तथा प्रयोजन है।

NOTES

सांख्यकारिका (32)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार पूर्व कारिका में जिन इन्द्रियों की स्वतः प्रवृत्ति का विवेचन हो चुका है, उनके विभाग, प्रयोजनादि तथा कार्यों का निरूपण इस कारिका में कर रहे हैं।

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥ 32 ॥

अन्वय—करणं त्रयोदशविधम् तत् (करणं पुनः) आहरणधारणप्रकाशकरम् (अस्ति) तस्य च आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च कार्यं दशधा (भवति)।

शब्दार्थ—करणम् = करण। त्रयोदशविधम् = तेरह प्रकार के। तत् = करण। आहरणधारण प्रकाशकरम् = आहरण (व्याप्त करना), धारण और प्रकाश करने वाला। आहार्यम् = व्याप्त करने योग्य। धार्यम् = धारण करने योग्य। प्रकाश्यम् = प्रकाशित करने योग्य। कार्यम् = विषय। दशधा = दश प्रकार का। भवति = होता है।

हिन्दी अर्थ—करण तेरह प्रकार के हैं। ये विषयों का आहरण अर्थात् व्याप्त करना, धारण और प्रकाशन करते हैं। उनके आहार्य अर्थात् व्याप्त करने योग्य, धार्य अर्थात् धारण करने योग्य एवं प्रकाश्य अर्थात् प्रकाशित करने योग्य कार्य या विषय इस प्रकार के हैं।

टिप्पणी

त्रयोदशविधम्—पुरुषार्थ क्रिया की सिद्धि में अत्यधिक उपकारक होने से पाँच बुद्धीन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, अहंकार और बुद्धि की 'करण' संज्ञा है—ये तेरह हैं।

कारकत्व व्यापार शून्य नहीं होता, कारकत्व का तो कहना ही दूर की बात है। इसलिए करण शब्द से व्यापार का बोध स्वयं ही हो जाता है। इनमें से एक वृत्ति अर्थात् व्यापार आहरण है जिसका अभिप्राय है—स्वविषयोपादान। यह कर्मेन्द्रियों द्वारा किया जाता है। ज्ञानेन्द्रियाँ विषय का बोध कराती हैं उसके पश्चात् कर्मेन्द्रियाँ स्वव्यापार से उस विषय की वस्तु की उपलब्धि करती है। चाहे वह वचन द्वारा हो, आदान, विहरण द्वारा, उत्सर्ग द्वारा या आनन्दोत्पत्ति द्वारा है। महत् अध्यवसाय से, अहंकार अभिमान से तथा मन संकल्प से प्राणादि द्वारा शरीर धारण करते हैं। इस भाँति धारण वृत्ति उत्पन्न होती है। बाह्यवस्तु का सन्निकर्ष होने पर ज्ञानेन्द्रियों से, धारणकारित्व महदादि में तथा प्रकाशकारित्व ज्ञानेन्द्रियों में हैं। यह वाचस्पति मिश्र का कथन है।

गौडपाद कहते हैं कि विषयों का आहरण तथा धारण दोनों व्यापार कर्मेन्द्रियाँ ही कर लेती हैं। ज्ञानेन्द्रियों से प्रकाशित कार्य ही कर्मेन्द्रियों से आहरण तथा धारण होता है। माठर वृत्ति के अनुसार ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा मन से ये ग्यारह इन्द्रियाँ विषयों की अहर्त्ता, अहंकार धारक या महत् अर्थात् बुद्धि का प्रकाशक हैं। 'तत्र कर्मेन्द्रियाण्याहरणं कुर्वन्ति बुद्ध्यहङ्कारमनांसि धारणं बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशमिति' (जयमंगला)। इस जयमंगला टीका के द्वारा जयमंगलाकार वाचस्पति मिश्र के ही मत का समर्थन करते हैं।

आहरण, धारण तथा प्रकाशन क्रियाओं के सकर्मक होने से इनके कार्य क्या हैं? यह प्रश्न उठता है तथा वह कितने प्रकार का है, यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है। इसी के उत्तर स्वरूप कारिकाकार में 'कार्य च तस्य दशधा' कहा गया है। वचन, आदान, विहरण तथा आनन्द ये विषय कर्मेन्द्रियों द्वारा विशेष रूप से प्रापनीय हैं। ये दिव्य तथा अदिव्य दस प्रकार के होते हैं। दिव्यवचनादानादि देवताओं के योग्य है तथा अदिव्य वचनादान आदि सांसारिक प्राणियों के योग्य है। माठर, गौडपाद तथा जयमंगलाकार ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों के विषयों को मिलाकर दशध ा मानते हैं। वाचस्पति मिश्र कर्मेन्द्रिय के विषयों को ही लौकिकालौकिक भेद से दस प्रकार का मानते हैं।

महत्, अहङ्कार, मन तीनों अन्तःकरण ही प्राणपानसमानोदान व्यान रूप वृत्ति से शरीर धारक हैं। ये पाँचों प्राणादि भी दिव्यादिव्य भेद से दस हैं। दिव्य प्राणादि दिव्य शरीरों का धारक है, वह पाँच भौतिक है।

NOTES

तृतीय कार्य प्रकाशन, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सम्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रकाश्य विषय हैं। ये भी दिव्यादिव्य भेद से दस प्रकार के होते हैं। इस भाँति करण तथा उनके द्वारा सम्पन्न होने वाला व्यापार तथा उनका भी विषय प्रस्तुत कारिका में व्याख्यायित हुआ है। माठर कहते हैं कि यहाँ दिव्यादिव्य भेद अपेक्षित नहीं है। दसों इन्द्रियों के विषय ही प्रकाश्य, आहार्य तथा धार्य हैं।

सांख्यकारिका (33)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका में सांख्यकारिकाकार ने अन्तः तथा बाह्य दोनों प्रकार से तेरह प्रकार की इन्द्रियों द्वारा सम्पन्न होने वाले क्रिया व्यापारों का विवेचन किया। अब प्रस्तुत कारिका में इन्हीं कारणों के अवान्तर भागों तथा उनमें रहने वाले धर्मों का विवेचन कर रहे हैं।

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ 33 ॥

अन्वय—अन्तःकरणम् त्रिविधिम्, त्रयस्य विषयाख्यम् बाह्यम् दशधा बाह्यम् (करणम) साम्प्रतकालम् अभ्यन्तरम् करणं त्रिकालम्।

शब्दार्थ—अन्तःकरणम् = भीतरी करण। त्रिविधम् = तीन प्रकार के। त्रयस्य = तीन अन्तःकरणों के। विषयाख्यम् = विषयों को उपस्थित करने वाले। बाह्यम् = बाहरी करण। दशधा = दश प्रकार के। बाह्यम् करणम् = बाहरी करण। साम्प्रतकालम् = वर्तमानकालिक, वर्तमान काल के पदार्थों को विषय बनाने वाले। आभ्यन्तरम् = भीतरी। त्रिकालम् = त्रैकालिक भूत, भविष्यत एवं वर्तमान, इन तीनों कालों के पदार्थों को विषय बनाने वाले।

हिन्दी अर्थ—अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि, अहंकार एवं मन के रूप में तीन प्रकार के होते हैं। इन तीन अन्तः करणों के विषयों को उपस्थित करने वाले बाहरी करण (पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं पाँच कर्मेन्द्रियों के रूप में) दस प्रकार के होते हैं। बाहरी करण वर्तमानकालिक होते हैं अर्थात् वर्तमान काल के पदार्थों को विषय बनाते हैं और भीतरी करण या अन्तःकरण त्रैकालिक होते हैं। अर्थात् भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान, इन तीनों कालों के पदार्थों को विषय बनाते हैं।

टिप्पणी—महत् अर्थात् बुद्धि, अहंकार तथा मन के भेद से अन्तःकरण तीन प्रकार के हैं। ये शरीरान्तर्गत होने से अन्तःकरण कहे जाते हैं। ये बाह्य विषयों के सम्बन्ध में होने वाले स्वस्व निश्चय, अभिमान तथा संकल्प आदि व्यापारों के लिए बाह्यकरणों पर ही आश्रित होते हैं। किसी भी प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के विषय में मन के संकल्प व्यापार का प्रादुर्भाव होने के लिए उनकी पहले श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन तथा प्राणेन्द्रियों का विषय बनाना जरूरी है। क्योंकि मन बाह्यकरणों से ही उन बाह्य विषयों को ग्रहण करता है। ये बाह्यकरण ही मन के बाह्यविषयों तक पहुँचने में साधन हैं तथा मन में पहुँचकर संकल्प करने पर ही अहंकार उनका अभिमान करता तथा महत् अर्थात् बुद्धि अध्यवसाय करती है। इस प्रकार बाह्यकरण अन्तःकरणों के संकल्पादि व्यापारों में सहायक हैं

श्रोत्रादि बाह्येन्द्रियाँ वर्तमान काल विषयक ही होती हैं क्योंकि चक्षु वर्तमान रूप को ही देख सकती है, भविष्य या भूत को नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञान या कर्म इन्द्रिय वर्तमान विषयक स्वविषय का ही ग्रहण कर सकती है, भविष्यत् या भूतविषयक पदार्थों का नहीं। किन्तु अन्तःकरण तीनों कालों के विषय हैं। बुद्धि वर्तमान घट को भी जानती है, भूत के घटकों तथा भविष्यत् घट को भी। अहंकार वर्तमान में भी ज्ञान का अभिमान करता है, भूत या भविष्यत् में भी। इसी प्रकार मन वर्तमान में भी संकल्प करता है तथा भूत और भविष्यत् में भी, इस प्रकार अन्तः करण त्रिकाल विषयक है। यद्यपि काल नामक कोई तत्व सांख्यसिद्धान्तानुसार नहीं है तथापि वैशेषिक के अनुसार जैसे काल एक होते हुए भी अतीत, अनागत आदि उपाधियों से मात्र रूप में उच्चरित होता है, उसी प्रकार यहाँ भी इन उपाधियों से मात्र रूप में उच्चरित होता है, उसी प्रकार यहाँ भी इन उपाधियों से व्यावहारिक सत्ता मानकर ही 'साम्प्रतम्' तथा 'त्रिकालम्' पदों का प्रयोग हुआ है।

सांख्यकारिका (34)

NOTES

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका में बाह्येन्द्रियों का वर्तमान कालिक तथा अन्तरिन्द्रियों का त्रिकालक रूप से विषयों का वर्णन करने के अनन्तर प्रस्तुत कारिका में उन्हीं विषयों का व्याख्यान किया जा रहा है।

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि।
वाग् भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥ 34॥

अन्वय—तेषां (दशानां बाह्यकरणानां मध्ये) पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि विशेषाविशेष-विषयाणि, वाक् शब्दविषया, भवति, शेषाणि तु पञ्चविषयाणि (भवति)।

शब्दार्थ—तेषाम् = उनमें, बाह्य इन्द्रियों में। पञ्च = पाँच। बुद्धिन्द्रियाणि = ज्ञानेन्द्रियाँ। विशेषाविशेषविषयाणि = विषयों अर्थात् स्थूलभूतों एवं अविशेषों अर्थात् सूक्ष्म भूतों या तन्मात्राओं को विषय बनाने वाली। वाक् = वाणी। शब्दविषयां = शब्द को विषय बनाने वाली। शेषाणि = अवशिष्ट कर्मेन्द्रियाँ अर्थात् हाथ, पैर, गुदा, एवं जननेन्द्रिय। पञ्चविषयाणि = शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध, इन पाँचों को विषय बनाने वाली।

हिन्दी अर्थ—उनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ विशेषों अर्थात् स्थूल भूत एवं अविशेषों अर्थात् सूक्ष्म भूतों या तन्मात्राओं को विषय बनाती हैं, कर्मेन्द्रियों में वाणी शब्द को विषय बनाती है एवं अवशिष्ट कर्मेन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध, इन पाँचों को विषय बनाती हैं।

टिप्पणी

विशेषाविशेषविषयाणि—यह बुद्धीन्द्रियाणि का विशेषण है जिसका अभिप्राय है—जिनके विषय विशेष तथा अविशेष दोनों हैं। 'विशेष' शब्द यहाँ कार्यवाची है। इसलिए उससे यहाँ पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि स्थूल तत्वों को लिया जाता है। अविशेष शब्दादि तन्मात्रायें हैं। जो सूक्ष्म हैं। मार वृत्ति इस पद का विलक्षण अर्थ प्रस्तुत करती है। शान्त, धीर तथा मूढ भाव ही विशेष हैं। उनसे युक्त होने से स्थूलभूत सविशेष तथा उनसे विहीन होने के कारण सूक्ष्मभूत निर्विशेषया अशेष कहे जाते हैं। तन्मात्रायें सूक्ष्मभूत हैं तथा निर्विशेष कही जाती हैं। ये दुःखी तथा मोह से सर्वथा विहीन अनुभूत की जाती हैं। देवों के बुद्धीन्द्रियों का विषय ये तन्मात्रायें ही हैं। इसी से केवल सुख का अनुभव करते हैं दुःख तथा मोह का नहीं। शान्त, घोर तथा मूढात्मक साधारण व्यक्तियों की ज्ञानेन्द्रियों से स्थूल विषय ही ग्रहण किये जा सकते हैं।

शब्दविषया वाक्—वाक् शब्दविषया होती है। यह शब्द का जनक होने से स्थूल शब्द ही उसका विषय है। सूक्ष्म तन्मात्र तो अहंकार से उत्पन्न होता है तथा वाक् भी अहंकार की ही विकृति है, अतः वह सूक्ष्म शब्द तन्मात्र को नहीं ग्रहण करता। देवों तथा मनुष्यों की वाक् इन्द्रिय उच्चरित होने से देवों तथा मनुष्यों की समान है।

शेषाणि—शेष, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों वाली होती हैं जैसे—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध प्राणी में होते हैं। शब्दादि पञ्चलक्षणवती भूमि में पाद विहरण करते हैं। पाँचों से युक्त पायु उत्सर्ग करता है तथा पाँच लक्षणों वाला उपस्थ शुक् को आनन्दित करता है।

सांख्यकारिका (35)

प्रसङ्ग—पूर्व में वर्णित तेरह प्रकार की इन्द्रियों में मुख्यतः, तो कुछ अप्रधान भी होते हैं। इसी प्रधान गुण भाव का निरूपण प्रस्तुत कारिका में सांख्यकारिकाकार कर रहे हैं।

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयवगाहते यस्मात्
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ 35॥

NOTES

अन्वय—यस्मात् सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वम् विषयम् अवगाहते तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, शेषाणि (बाह्यकरणानि) द्वाराणि।

शब्दार्थ—यस्मात् = यत्ः, चूँकि। सान्तः करणा = अन्तःकरणों के सहित। अवगाहते = अवगाहन करती है, यथार्थ स्वरुप या निश्चय करती है। तस्मात् = इसलिए। त्रिविधम् = तीन प्रकार का। द्वारि = द्वार या साधन वाला, प्रधान। शेषाणि = अवशिष्ट। द्वाराणि = द्वार या साधन।

हिन्दी अर्थ—क्योंकि (अहङ्कार तथा मन) अन्तःकरण सहित महत् (बुद्धि) ही सब विषयों का ग्रहण करती है, अतः तीन प्रकार के (मन, महत् तथा अहङ्कार) द्वारि (प्रधान) तथा शेष दस इन्द्रियाँ द्वार (गौण) हैं।

टिप्पणी

द्वाराणि, द्वारि—बाह्य इन्द्रियाँ किसी घर के द्वार के समान हैं, जिनके द्वारा बाह्य विषयों की सूचना अन्तः करणों को प्राप्त होती है तथा अन्तःकरण सदन की भाँति हैं जिनमें सभी सूचनायें एकत्र होकर स्थित होती हैं। तदनन्तर अहङ्कार तथा मन सहित महत् (बुद्धि) इन्हें अपने अध्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) व्यापार का विषय बना लेती हैं। इसीलिए अन्तःकरण द्वार युक्त घर के समान है तथा जिसमें बाह्य इन्द्रिय रूप द्वार है। घर तथा द्वार में जैसे घर ही प्रधान होता है क्योंकि वहीं लक्ष्य स्थान होता है उसी भाँति अन्तरिन्द्रिय तथा बाह्य इन्द्रियों के मध्य बाह्य इन्द्रियाँ गौण तथा अन्तरिन्द्रिय युक्त बुद्धि मुख्य है। क्योंकि बुद्धि के अपेक्षाकृत मन तथा अहङ्कार गौण है तथा मन और अहंकार की तुलना में इन्द्रियाँ अप्रधान हैं। कारिका से सिद्ध होता है कि महत् की प्रधानता सभी इन्द्रियों में सर्वाधिक है। यह प्रधानतम इन्द्रिय है।

सांख्यकारिका (36)

प्रसङ्ग—महत् मन तथा अहंकार की अपेक्षा प्रधानता है—यह पूर्व कारिका में प्रतिपादित करने के पश्चात् प्रस्तुत कारिका में सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण इसी का निरूपण कर रहे हैं—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ 36 ॥

अन्वय—प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणाः एते गुणविशेषाः पुरुषस्य कृत्स्नम् अर्थम् प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति।

शब्दार्थ—प्रदीपकल्पाः = दीपकों के समान। परस्परविलक्षणाः = एक-दूसरे से विलक्षण। गुणविशेषाः सत्त्व रजस तमस् गुणों के विकार रूप। कृत्स्नम् = समग्र। अर्थात् अभीष्ट को, प्रयोजन को। प्रकाश्य = प्रकाशित कर। प्रयच्छन्ति = देते हैं, समर्पित करते हैं।

हिन्दी अर्थ—ये तेरह इन्द्रियाँ दीपकों के सामन, परस्पर विलक्षण गुणों के ही विकार अर्थात् विषयों को प्रकाशित करती हैं। ये सम्पूर्ण पुरुषार्थ को प्रकाशित कर बुद्धि को समर्पित कर देती हैं।

टिप्पणी

जिस प्रकार ग्रामणी सभी गृहणियों से कर गृहीत कर क्रमशः जनपदाध्यक्ष को, प्रान्ताध्यक्ष एवं प्रदेशाध्यक्ष को तथा वह सम्राट को सौंपता है वैसे ही बाह्य इन्द्रियाँ विषयों को गृहीत कर मन को, मन संकल्प करके अहङ्कार को, अहङ्कार अभिमान करके सभी करणों में मुख्य महत् अर्थात् बुद्धि को समर्पित करता है। इसी से—ये इन्द्रियाँ पुरुष के सम्पूर्ण अर्थ को प्रकाशित करके महत् को सौंपते हैं।

बाह्य करण, मन तथा अहङ्कार 'गुणों के विशेष—सत्व, रजस् तथा तमस् के विकार हैं, ये विकार ही विशेष हैं। गुण तो उनका सामान्य रूप है।

परस्पर एक दूसरे के समान नहीं होते अर्थात् इनके अलग-अलग विषय होते हैं, अतः ये आपस में विलक्षण हैं। जैसे—तेल, बत्ती तथा अग्नि आपस में विरोधी होकर भी अन्धकार को दूर कर रूप को प्रदर्शित करने के लिए संयुक्त होकर दीप बन जाते हैं। उसी प्रकार गुणों के विभिन्न परिणाम रूप ये इन्द्रियाँ भी आपस में विलक्षण होते हुए भी परस्पर सहकारिता को प्राप्त होती हैं।

सांख्यकारिका (37)

प्रसङ्ग—सभी अन्तःकरण तथा बाह्य करण अपने-अपने विषय सम्बन्धी ज्ञान को बुद्धि को ही क्यों सौंपते हैं? इस प्रकार का उत्तर सांख्यकारिकाकार प्रस्तुत कारिका में दे रहे हैं—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ 37॥

अन्वय—यस्मात् पुरुषस्य सर्वं (विषयं) प्रति (जायमानम्) उपभोगम् बुद्धिः साधयति सा एव च पुनः सूक्ष्मम् प्रधान पुरुषान्तरम् विशिनष्टि। (तस्मात् उक्तवैशिष्ट्येन सर्वाणि करणानि विषयम् प्रकाश्च बुद्धौ प्रयच्छन्ति।)

शब्दार्थ—यस्मात् = चूँकि। पुरुषस्य = पुरुष का। सर्व प्रति = समस्त शब्द आदि विषयों के सम्बन्ध में उपभोगम् = उपभोग या भोग को। बुद्धिः = बुद्धि। साधयति = साधती है, सम्पादित करती है। प्रधानपुरुषान्तरम् = प्रकृति और पुरुष के भेद को। विशिनष्टि = प्रकट करती है या उभारती है।

हिन्दी अर्थ—चूँकि बुद्धि पुरुष के समस्त शब्द आदि के सम्बन्ध में होने वाले भोग को साधती या सम्पादित करती है और फिर वही प्रकृति और पुरुष के सूक्ष्म भेद को प्रकट करती या उभारती है, इस प्रकार बुद्धि ही सभी करणों में प्रधान है और परिणामतः उसे ही सब करण विषयों को सौंपते हैं।

टिप्पणी

'समानकर्मयोः बुद्धेः प्राधान्यम् लोकवल्लोकवता' (2/47) सां सूत्र)। यद्यपि पुरुष का सभी करणों के साथ समान कर्म योग है यथापि बुद्धि की प्रधानता है जैसे—एक राजा की सभी प्रजा है किन्तु ग्रामाध्यक्ष की अपेक्षा मन्त्री का प्राधान्य है।

सुखदुःखानुभव रूप भोग बुद्धि में ही होता है तथा बुद्धि पुरुषरूपा है। फलतः बुद्धि में होने वाला सुखदुःखात्मक विषयोपभोग पुरुष को स्वयं ही हो जाता है। यही बुद्धि द्वारा पुरुष के उपभोग के लिए सामग्री सम्पादित करना है। बुद्धि के ही सर्वविषयोपभोगसाधिका होने पर मोक्ष नहीं हो सकता जिसके लिए सांख्यशास्त्र का आरम्भ हुआ है। इसके निवारणार्थ कारिका में उत्तर भाग में कहा गया है कि बुद्धि ही भोगसाधन के उपरान्त पुरुष में प्रकृति तथा पुरुष के सभी प्रकार भिन्न होने से अति सूक्ष्म सिद्धान्त का भी विवेक करा देती है। बुद्धि पुरुष में यह विवेक जागृत करती है कि 'मैं भिन्न हूँ' यह सम्पूर्ण संसार प्रकृति की विकृतिमात्र है, ऐसा जो विवेक है वह किसी का कार्य न होकर यह यथार्थ ही है। बुद्धि उसका बोधमात्र कराती है।

'पुनः' के स्थान मर माठर वृत्ति में 'ततः' का प्रयोग हुआ है जो यह विशेषार्थ द्योतित करता है कि बुद्धि प्रकृति तथा पुरुष के बीच के भेद को प्रकाशित करने के पहले उसके उपभोग की प्राप्ति अनिवार्य रूपेण कराती है। अर्थात् विवेक भोग के बाद ही सम्भव है। 'पुनः' का प्रयोग भी इस भाव को व्यञ्जित करता है कि बुद्धि ही पुरुष के भोग की सम्पादिका है, वही उसको अपवर्ग का विवेक कराती है।

सांख्यकारिका (38)

प्रसङ्ग—इन्द्रियों के विशेषाविशेष दो प्रकार के विषयों का पूर्व कारिकाओं में निरूपण करने के पश्चात् स्थूल या सूक्ष्म विषयों का विभाग विवेचन करते हैं—

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ 38॥

NOTES

अन्वय—तन्मात्राणि अविशेषाः तेभ्यः पञ्चभ्यः (तन्मात्रेभ्यः) पञ्चभूतानि (संभवन्ति), एते विशेषाः स्मृताः, च (यत) शान्ताः घोराः मूढ़ाः च (अस्ति)।

शब्दार्थ—तन्मात्राणि = शब्द तन्मात्रा आदि पाँच तन्मात्रायें या सूक्ष्मभूत। अविशेषाः = अविशेष अर्थात् शान्तत्व आदि विशेषताओं से रहित। तेभ्यः तेभ्यः = उन तन्मात्राओं से। विशेषाः = शान्तत्व आदि विशेषताओं से युक्त। स्मृताः = कहे गये या कहे जाते हैं। शान्ताः शान्त, सुखात्मक। घोराः = घोर या भयंकर, दुःखात्मक। मूढ़ाः = स्तब्ध, मोहात्मक।

हिन्दी अर्थ—तन्मात्रायें या सूक्ष्मभूत अविशेष हैं अर्थात् शान्तत्व आदि विशेषताओं से रहित हैं, इन पाँच तन्मात्राओं अर्थात् शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गन्धतन्मात्रा ये पाँच स्थूल भूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी उत्पन्न होते हैं। ये स्थूल भूत विशेष कहे जाते हैं, क्योंकि ये शान्त, घोर एवं मूढ स्वभाव वाले होते हैं। अर्थात् शान्तत्व आदि विशेषताओं से युक्त होते हैं।

टिप्पणी

सुख-दुःख तथा मोह से युक्त अनुभवनीय धर्मवान् ही विशेष है। महाभूत अनुभवनीय सुख-दुःख तथा मोह से युक्त धर्म वाले हैं अतः ये विशेष कहे गये हैं। ये आकाश, वायु, जल, तेज, पृथिवी क्रमशः शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओं से उत्तरोत्तर योग से प्रादुर्भूत होते हैं अर्थात् शब्द से आकाश, शब्द तथा स्पर्श से वायु, शब्द स्पर्श और रूप से तेज, शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस जल तथा शब्द-स्पर्श-रूप-रस एवं गन्ध से पृथ्वी उत्पन्न होती है। क्योंकि ये शान्त, घोर एवं मूढ होते हैं अतः ये विशेष कहे जाते हैं। आकाश स्थूल में भूतों में सत्त्वगुणप्राधान्य के कारण शान्त, प्रसन्न तथा लघु होते हैं। वायु रजोगुण प्राधान्य से घोर तथा अनवस्थित होते हैं। कुछ स्थूलभूत तमोगुण प्रधानता से मूढ़ तथा वजनी होते हैं। ये परस्पर भिन्न होने से विशेष तथा स्थूल कहे जाते हैं। तन्मात्रायें (सूक्ष्म) ठीक इनके विपरीत हैं अतः अविशेष कही जाती हैं तथा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ये तन्मात्रा कहे गये हैं।

माठर तथा गौडपाद तन्मात्राओं को दुःख तथा मोह से रहित तथा मात्र सुखात्मक मानते हैं तथा इन्हें देवानुभव का विषय कहते हैं। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के अनुसार इनमें उपभोग्य शान्तता, घोरत्व तथा मूढता धर्म नहीं होते जिन्हें विशेष कहा गया है, 'यही मात्र' पद का अभिप्राय है तथा यही सर्वाधिक उचित ज्ञात होता है।

सांख्यकारिका (39)

प्रसङ्ग—विशेषाविशेष का स्वरूप तथा संख्या पूर्व कारिका में निरूपित करने के अनन्तर यहाँ विशेष के अर्थान्तर भागों का निरूपण करते हुए ये इतने ही हैं या अधिक हैं, इसका वर्णन कर रहे हैं—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते॥ 39॥

अन्वय—(एते) विशेषाः सूक्ष्माः मातापितृजाः प्रभूतैः सह (इति) त्रिधाः स्युः, तेषाम् (त्रयाणां मध्ये) सूक्ष्माः नियताः, मातापितृजाः, (च) निवर्तन्ते।

शब्दार्थ—विशेषाः = विशेष भूत। सूक्ष्माः = सूक्ष्म शरीर। मातापितृजाः = माता और पिता से उत्पन्न होने वाले। प्रभूतैः सह = पाँच महाभूतों के साथ। त्रिधा = तीन प्रकार के। स्युः = होते हैं। तेषाम् = उन तीनों के बीच में। सूक्ष्माः = सूक्ष्म शरीर। नियताः = नियत, प्रलयपर्यन्त रहने वाले। निवर्तन्ते = निवृत्त हो जाते हैं, मृत्यु के साथ अलग हो जाते हैं या विनष्ट हो जाते हैं।

हिन्दी अर्थ—सूक्ष्म शरीर, माता और पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर एवं पाँच आकाश आदि महाभूत, ये तीन प्रकार 'विशेष' होते हैं। इनमें से सूक्ष्म शरीर नियत रहते हैं अर्थात् प्रलयपर्यन्त पुरुष के साथ रहते हैं और माता एवं पिता से उत्पन्न होने वाले स्थूल शरीर मृत्यु के साथ निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं या विनष्ट हो जाते हैं।

NOTES

टिप्पणी

'मातापितृजं स्थूल प्रायश इतरन्न तथा' (सां. सू. 3/7)। स्थूल शरीर योनिज तथा अयोनिज दो प्रकार का है। बहुशः स्थूल शरीर माता-पिता से ही उत्पन्न होता है तथा स्थूल शरीर अयोनिज भी होता है।

सूक्ष्म शरीर—सांख्यशास्त्रानुसार प्रत्येक व्यक्ति के स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर भी होता है, जिसे लिङ्ग शरीर भी कहा गया है। यह महत् अहंकार, मन, पाँच बुद्धीन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच तन्मात्रायें, कुल मिलाकर अट्ठारह तत्वों के योग से बनता है तथा सृष्टि प्रारम्भ से लेकर प्रलयपर्यन्त स्थित रहता है। यह सर्वत्र अवरुद्ध गति वाला होता है। यही सूक्ष्म (लिंग) शरीर पूर्व-पूर्व स्थूल शरीरों को त्यागता और उत्तरोत्तर नव-नव स्थूल शरीरों को धारण करता है। इसके बिना स्थूल शरीर भोग नहीं हो सकता। इसी के द्वारा पुरुष संसार में आता है।

स्थूल शरीर—स्थूल शरीर माता-पिता के रजवीर्य योग से उत्पन्न होता है। माता के रज से त्वक्, रक्त तथा मांस और पिता से स्नायु मण्डल, अस्थियाँ तथा मज्जा आदि प्राप्त होते हैं। तीन माता के तथा तीन पिता के इन छहों निमित्त होने के कारण इसे षाट्कौशिक शरीर भी कहते हैं।

'प्रभूतैः' में बहुवचन विभक्ति से पञ्चमहाभूतों सहित इनसे निमित्त घट आदि सभी वस्तुओं का ग्रहण होता है।

सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर तथा पञ्चमहाभूत—ये तीनों विशेष प्रकार वाले हैं। इनमें लिङ्गरूप सूक्ष्म शरीर नित्य है क्योंकि ये सृष्टि से प्रलय पर्यन्त स्थित रहते हैं। जो इस लोक में जन्म लेते हैं तथा मरते हैं, वे स्थूल शरीर हैं, जो यहीं निवृत्त हो जाते हैं।

सांख्यकारिका (40)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका में वर्णित सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर तथा पञ्च महाभूतों में से सूक्ष्म शरीर का प्रस्तुत कारिका में सांख्यकारिकाकार विस्तार से वर्णन कर रहे हैं।

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरूपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥ 40॥

अन्वय—पूर्वोत्पन्नम् असक्तं नियतम् महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् निरूपभोगम् भावैः अधिवासितम् लिङ्गम् संसरति॥ 40॥

शब्दार्थ—पूर्वोत्पन्नम् = सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न। असक्तम् = अप्रतिहत रूप से सर्वत्र प्रवेश करने वाला। नियतम् = महप्रलयपर्यन्त एक ही बना रहने वाला। महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् = महत्तत्व से लेकर तन्मात्रा पर्यन्त तत्वों (महत्तत्व, अहंकार, मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्राओं) से संघटित होने वाला। निरुपभोगम् = स्थूल शरीर के बिना उपभोग रहित। भावैः = धर्म, अधर्म आदि भावों से। अधिवासितम् = संस्कृत, संस्कार या वासना से युक्त। लिङ्गम् = सूक्ष्म शरीर। संसरति = संसरण करता है अर्थात् विभिन्न जन्मों में गमन करने के रूप में विभिन्न स्थूल शरीरों को ग्रहण करता है और छोड़ता है।

हिन्दी अर्थ—सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने वाला, अप्रतिहत रूप से सर्वत्र बना रहने वाला, महत्तत्व से लेकर तन्मात्रापर्यन्त तत्वों से संघटित होने वाला, स्थूल शरीर के बिना उपभोग रहित, धर्म, अधर्म आदि भावों से

वासित अर्थात् इन भावों के संस्कार से युक्त होता हुआ सूक्ष्म शरीर संसरण करता है अर्थात् विभिन्न जन्मों में गमन करने के रूप में विभिन्न स्थूल शरीरों को ग्रहण करता है और छोड़ता है।

NOTES

टिप्पणी

लिङ्गम्—लिङ्ग एक वचनान्त है अत: कुछ टीकाकारों के अनुसार सर्गारम्भ में समाविष्ट रूप से एक ही लिङ्ग शरीर की सत्ता है। ये कर्म विशेष अलग-अलग व्यक्ति भेद से होते हैं।

पूर्वोत्पन्नः—इसका आशय यह है कि अनादि कालोत्पन्न। इससे यह बोद्धव्य है कि महाप्रलयोपरान्त प्रथम बार सृष्टि होने पर ही सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होते हैं। प्रकृति आदि सृष्टि में ही प्रतिपुरुष के लिए एक-एक लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीर निर्मित कर देती है।

नियतम्—यह सूक्ष्म शरीर आदि सृष्टि से महाप्रलय तक स्थित रहता है, अत: परमार्थत: अनित्य होते हुए भी यह नियत कहा गया है जयमंगलाकार के अनुसार इसकी स्थिति ज्ञानोद्भव के पूर्व तक ही होती है। वाचस्पति मिश्र महदादि-सूक्ष्म पर्यन्त का अभिप्राय 'इन सबका समूह' करते हैं। किन्तु जयमंगलाकार के अनुसार सूक्ष्म शरीर इनके परिणाम हैं।

निरुपभोगम्—लिङ्ग शरीर से विषयभोग साक्षात् नहीं हो सकता अपितु स्थूल शरीर न हो वह विषयोपभोग करता है क्योंकि स्थूल शरीर भोग करता है इसलिए जब तक वह स्थूल शरीर नहीं पाता तब भोग किए बिना इतस्तत: तीनों लोकों में विचरण करता है। कर्मोपभोग पूर्ण होने तक सूक्ष्म शरीर रहता है तथा नाना योनियों में स्थूल शरीर धारण करता है।

भावैरधिवासितम्—भाव शब्द धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान और राग-विराग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य का बोधक है। क्योंकि ये बुद्धि धर्म हैं इसलिए बुद्धि इनके साथ सूक्ष्म शरीर से संयुक्त होती है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर इन आठों भावों से उसी प्रकार उपयुक्त होता है जैसे सुवासित चम्पा पुष्पों से वस्त्र भी सुवासित हो जाते हैं।

सांख्यकारिका (41)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका के वर्णन के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि अहंकार तथा इन्द्रियों से युक्त बुद्धि को ही संसरणकर्त्री क्यों नहीं मानते? उन तत्वों में नहीं गिनाये गये अत: अप्रामाणिक सूक्ष्म शरीर को क्यों माना गया? इसी का समाधान प्रस्तुत कारिका में सांख्यकारिकाकार कर रहे हैं।

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाणवादिभ्यो विना यथाच्छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ 41 ॥

अन्वय—यथा आश्रयम् ऋते चित्रम, तथा स्थाण्वादिभ्य: विना छाया (च) न तिष्ठति, तदवत् अविशेषै: विना लिङ्गम् निराश्रयम् न तिष्ठति।

शब्दार्थ—यथा = जिस प्रकार। आश्रयम् ऋते = आश्रय या आधार के बिना। चित्रम् = चित्र। न तिष्ठति = नहीं ठहरता है या स्थित रहता है। स्थाण्वादिभ्य: विना = स्तम्भ आदि के बिना। तदवत् = उसी प्रकार। अविशेषै: विना = तन्मात्राओं या सूक्ष्म भूतों के बिना। लिङ्गम् = सूक्ष्म शरीर। निराश्रयम् = निराधार होता हुआ। न तिष्ठन्ति = स्थिर नहीं रहता।

हिन्दी अर्थ—जिस प्रकार आश्रय या आधार के बिना चित्र नहीं रह सकता है और जिस प्रकार स्तम्भ आदि के बिना छाया नहीं रुक सकती, उसी प्रकार अविशेष अर्थात् तन्मात्राओं या सूक्ष्म भूतों के बिना सूक्ष्म शरीर अर्थात् तन्मात्राओं से अतिरिक्त अवशिष्ट बुद्धि आदि तेरह संघटक तत्वों का समुदाय निराश्रय या निराधार होता हुआ स्थित नहीं रह सकता है।

NOTES

टिप्पणी

न स्वातन्त्र्यात् तद्वते छायावच्चित्रवच्च' (3/12 सां. सूत्र)। वह लिङ्गशरीर बिना किसी आश्रय के नहीं रह सकता है जैसे बिना आश्रय के छाया तथा चित्र नहीं रहते।

प्रकृति से ज्ञापक हेतु होने से महदादि लिङ्ग है। यह बिना किसी आश्रय के नहीं रह सकता। महदादि मृत्यु तथा भावी जन्म, दोनों के मध्य समय में स्थूल शरीर स्थिति महदादि के समान निश्चय ही किसी पूर्व प्रस्तुत अर्थात् प्रत्युत्पन्न शरीर के आश्रित रहते हैं क्योंकि ये ऐसे महदादि हैं, अपने से पहले उत्पन्न पञ्चतन्मात्राओं से युक्त हैं।

विनाविशेषै:—इसका अर्थ कई प्रकार से यहाँ किया गया है। गौडपाद तथा माठर ने 'बिना अविशेषै:' पाठ किया है। गौडपाद के अनुसार अविशेष पाँच तन्मात्राओं के बिना इन्द्रियाँ नहीं रह सकतीं। वाचस्पति मिश्र तथा चन्द्रिकाकार इसका विग्रह बिना विशेषै: करते हैं और 'विशेष' का अर्थ सूक्ष्म शरीर करते हैं। किन्तु चन्द्रिकाकार 'विशेष' का अर्थ स्थूल शरीर करते हैं। यहाँ लिङ्ग से सूक्ष्म शरीर तथा विशेष से स्थूल शरीर का ग्रहण किया गया है।

इस विषय में आगम प्रमाण इस प्रकार है—तब यम ने सत्यवान् के शरीर से पाशबद्ध तथा अपने वशीभूत अंगूठी के बराबर आकृति वाले व्यक्ति को बल सहित निकाल लिया। यहाँ 'अंगुष्ठ मात्र' का अभिप्राय लक्षणा से सूक्ष्म शरीर है आत्मारूप पुरुष का निष्कर्ष सम्भव न होने से सूक्ष्म शरीर ही यहाँ पुरुष है क्योंकि यह स्थूल शरीर रूपी पुर में स्थित है।

सांख्यकारिका (42)

प्रसङ्ग—इस कारिका में सांख्यकारिकाकार सूक्ष्म शरीर के संसरण का कारण तथा एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर को प्राप्त होने के प्रकार का वर्णन कर रहे हैं।

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ 42॥

अन्वय—इदम् पुरुषार्थहेतुकम् लिङ्गम् निमित्तैमित्तिकप्रसङ्गेन प्रकृते: विभुत्वयोगात् नटवत् व्यवतिष्ठते।

शब्दार्थ—इदम् = यह। पुरुषार्थहेतुकम् = पुरुषार्थ के लिए उत्पन्न और कार्यरत। लिङ्गम् = सूक्ष्म शरीर। निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन = धर्म, अधर्म आदि निमित्तै या कारण और स्थूल शरीर का ग्रहण रूपी नैमित्तिक या कार्य के प्रसङ्ग या सम्बन्ध की परम्परा से प्रकृते: = प्रकृति के। विभुत्वयोगात् = विभु या व्यापक होने के कारण। नटवत् = नट के समान। व्यवतिष्ठते = व्यवस्थित होता या व्यवहार करता है।

हिन्दी अर्थ—यह पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए उत्पन्न और कार्यरत यह सूक्ष्म शरीर धर्म-अधर्म आदि निमित्त या कारण और स्थूल शरीर का ग्रहण रूपी नैमित्तिक या कार्य के प्रसङ्ग या सम्बन्ध की परम्परा से प्रकृति के व्यापक होने के कारण नट के समान व्यवस्थित होता या व्यवहार करता है अर्थात् विविध रूपों को धारण करता है।

टिप्पणी

'पुरुषार्थसंसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञ:' (सां. सू. 3/16)। लिङ्ग शरीर की उत्पत्ति पुरुष के लिए हैं जैसे रसोइयों का पाकशाला में जाना राजा के लिए है।

जैसे नट अनेक प्रकार की वेशभूषा धारण करके परशुराम, युधिष्ठिर या उद्यन आदि बन जाता है उसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर भी अनेक प्रकार के स्थूल शरीर ग्रहण करके देव, मानव, पशु तथा वृक्षादि बनता रहता है।

निर्मित्त पद बुद्धि के धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, राग, विराग, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य नामक आठ गुणों को सूचित करता है, नैमित्तिक पद स्थूल शरीर का बोध कराता है। इन दोनों में प्रसङ्ग तद्‌विषयक अनुराग है। जयमंगलाकार तथा गौडपाद दोनों ही नैमित्तिक का अर्थ 'ऊर्ध्वगमन' करते हैं।

'विभुत्व' का वाचस्पति मिश्र विश्वरूपता अर्थ करते हैं। जयमंगलाकार इसका अर्थ 'जगत्कर्तृत्व' करते हैं। प्रकृत ....योगात् का तात्पर्य है कि यह प्रधान की महिमा ही है कि वह विश्व के अणु-अणु में व्याप्त है। उसी की शक्ति से सूक्ष्म शरीर भी अनेक योनियों में विहरण करता है।

सूक्ष्म शरीर की प्रवृत्ति का हेतु पुरुषार्थ द्विविध है—भोग तथा अपवर्ग, उसी की सिद्धि के लिए वह विविध योनियों में स्थूल शरीर धारण करता है। इस प्रकार स्थूल शरीर का उद्देश्य भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ है। धर्मादि से स्थूल शरीर का ग्रहण तथा स्थूल शरीर से धर्मादि बोध में प्रवृत्ति, यही सूक्ष्म शरीर का संसरण है, जो विवेक प्राप्ति पर्यन्त चलता रहता है।

सांख्यकारिका (43)

प्रसङ्ग—प्रस्तुत कारिका में सांख्यकारिकाकार निमित्त तथा नैमित्तिक का विभाग करते हुए वर्णन कर रहे हैं।

सांसिद्धिकाश्च भावा: प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्या:।
दृष्टा: करणाश्रयिण: कार्याश्रयिणश्च कललाद्या:॥ 43 ॥

अन्वय—सांसिद्धिका: प्राकृतिका: च वैकृता: च धर्माद्या: भावा: करणाश्रयिण: दृष्टा: कललाद्या (भावा:) कार्याश्रयिण: (दृष्टा:)।

शब्दार्थ—सांसिद्धिका: = स्वभाव सिद्ध, जन्मसिद्ध। प्राकृतिका: = स्वाभाविक। वैकृता: = नैमित्तिक या उपायों से उत्पन्न। धर्माद्या: = धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य। भावा: = अवस्थायें परिणाम। करणाश्रयिणा: = बुद्धि पर आश्रित। दृष्टा: = देखे जाते हैं, अनुभूत होते हैं। कललाद्या = रजस् और वीर्य का मिश्रण, माँस, मज्जा आदि। कार्याश्रयिण: = स्थूल शरीर पर आश्रित।

हिन्दी अर्थ—स्वभावसिद्ध या जन्मसिद्ध, प्राकृतिक या स्वाभाविक और वैकृत अर्थात् नैमित्तिक उपायों से उत्पन्न धर्म आदि भाव अर्थात् अवस्थायें या परिणाम बुद्धि पर आश्रित देखे जाते या अनुभूत होते हैं। अर्थात् उक्त भाव बुद्धि में होने वाली उसकी अवस्थायें या परिणाम हैं और कलल अर्थात् रजस या शोणित और वीर्य का मिश्रण आदि भाव (अवस्था या परिणाम) स्थूल शरीर पर आश्रित देखे जाते हैं अर्थात् कलल आदि भाव स्थूल शरीर की अवस्थाएँ या परिणाम हैं।

टिप्पणी—

'न सांसिद्धिकं चैतन्य प्रत्येकादृष्टे:' (सां. सू. 3/20)। जब पृथिव्यादि पञ्चभूतों को अलग-अलग करके देखते हैं तब इनमें चेतनत्व दिखाई नहीं पड़ती, इसी से सिद्ध है कि देह-स्वभाव से चैतन्य नहीं है किन्तु दूसरे चैतन्य के संसर्ग से चैतन्य है।

धर्मादिभाव द्विविध होते हैं—सांसिद्धिक तथा असांसिद्धिक। उदाहरणार्थ सांख्यानुसार भगवान कपिल इस सृष्टि के प्रथम विद्वान हुए जिन्होंने जन्मजात रूप से धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य भावों को प्राप्त किया था। ये भाव जन्मजात होने से सांसिद्धिक हुए तथा इसके विपरीत वाल्मीकि ने इन्हें तप से अर्जित किया, जन्म से विद्यमान नहीं थे अत: ये प्रयास जन्य है।

वस्तुत: भावों के भेद प्राकृत या वैकृत हैं। प्राकृतिक का अर्थ स्वाभाविक तथा वैकृत का अर्थ कृत्रिम है। सांसिद्धिक ही प्राकृतिक है। गौडपाद के अनुसार भाव तीन प्रकार के हैं। 1. सांसिद्धिक, 2. प्राकृतिक तथा, 3. वैकृत।

(1). जो जन्म के साथ स्वतः सिद्ध है वे सांसिद्धिक।

(2). जो पूर्व जन्म में सम्पादित कर्मों के कारण सोलहवर्षावस्था में उत्पन्न होते हैं वे प्राकृतिक।

(3). जो प्रयास से जन्म होते हैं वे वैकृत कहलाते हैं।

बुद्धि ही कारण है तथा उसके आश्रित रहने वाले भाव करणाश्रयी कहे जाते हैं। कललादि जो माता-पिता से उत्पन्न है, बुद्‌वुद् मांसपेशी तथा कौमार यौवनादि भाव अन्नपान के रस से निष्पन्न होने से कार्याश्रयी कहे जाते हैं।

सांख्यकारिका (44)

प्रसङ्ग—किस निमित्ति से कौन सा नैमित्तिक कार्य सम्पन्न होता है, प्रस्तुत कारिका में सांख्यकारिकाकार इसका निरूपण कर रहे हैं।

धर्मेण गगनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ 44॥

अन्वय—धर्मेण ऊर्ध्वम् गमनं भवति, अधर्मेण अधस्तात् गमनं (भवि), ज्ञानेन च अपवर्गः इष्यते विपर्ययात् बन्धः इष्यते।

शब्दार्थ—धर्मेण = धर्म से। ऊर्ध्वम् = ऊपर अर्थात् स्वर्ग आदि ऊपर के लोकों को गमनम् = गनमन। भवति = होता है। अधर्मेण = अधर्म से। अधस्ताद् = नीचे को। अतल, वितल, आदि नीचे के लोकों। को गमनम् = गमन। भवति = होता है। ज्ञानेन = ज्ञान से। अपवर्गः = मोक्ष। इष्यते = माना जाता हैं विपर्ययात् = विपरीत से, अज्ञान से। बन्ध = बन्धन। इष्यते = माना जाता है।

हिन्दी अर्थ—धर्म से ऊपर स्वर्ग आदि ऊपर के लोकों का गमन होता है, अधर्म से नीचे को अर्थात् अतल, आदि नीचे के लोकों को गमन होता है, ज्ञान अर्थात् तत्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है और उसके विपरीत से अर्थात् अज्ञान अर्थात् अतत्वज्ञान से बन्धन माना जाता है।

टिप्पणी

'ज्ञानान् मुक्तिः' (3/24) तथा 'बन्धो विपर्ययात्' (3/25) सांख्य सूत्र। ज्ञान से मुक्ति मोक्ष तथा इसके विपरीत अविवेक (अज्ञान) से बन्धन होता है।

वाचस्पति मिश्र धर्म को अभ्युदय तथा निःश्रेयस के साधक यज्ञादि, अनुष्ठान एवं अष्टाङ्ग योग से निरूपित करते हैं जबकि जयमंगलाकार धर्म से यम नियम का ग्रहण करते हैं।

ऊर्ध्व कहने से आठ स्थान ब्राह्म, प्राजापत्य, सौम्य, ऐन्द्रः गान्धर्व, यक्ष तथा राक्षस एवं पैशाच ग्रहण किये जाते हैं। धर्म से सूक्ष्म शरीर इन्हीं लोकों में जाता है, पशु मृगपक्षिसर्पादि योनियों में जाने को अधोगमन कहा गया है, अध र्म से इनकी प्राप्ति होती है।

जयमंगलाकार के अनुसार प्रकृति पुरुष के भेद ज्ञान हो जाने से सूक्ष्म शरीर से निवृत्ति प्राप्त हो जाती है तथा केवल पुरुष ही रह जाता हैख यही उसका अपवर्ग है।

विपर्यय अर्थात् अज्ञान से बन्धन होता है। यह तीन प्रकार का होता है—प्राकृतिक, वैकृतिक तथा दाक्षिणिक। जो प्रकृति को ही आत्मा समझकर उसी की उपासना करते हैं, उन्हें प्राकृतिक बन्धन मिलता है। जो पृथिवी आदि महाभूतों, इन्द्रियों, अहङ्कार तथा महदादि प्रकृति के विकारों की ही पुरुषभाव से उपासना करते हैं उन्हें वैकृतिक बन्धन प्राप्त होता है। जिन्हें वैकृतिक बन्धन प्राप्त होता है वे विदेह भी कहलाते हैं। पुरुष तत्व का अज्ञानी, स्वर्गादि

की इच्छा से इष्ट तथा पूर्तकर्म करता हुआ बन्धन में पड़ता है उसे दाक्षिणिक बन्धन प्राप्त होता है। ये सभी पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होते हुए अन्य सत्वों में मोह में लीन हो जाते हैं अत: बन्धन को प्राप्त होते हैं।

सांख्यकारिका (45)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका में धर्म-अधर्म तथा ज्ञान-अज्ञान के भावों के फल का निरूपण करने के अनन्तर अब विराग-राग तथा ऐश्वर्य-अनैश्वर्य के भावों के फल का वर्णन करते हैं।

वैराग्यात् प्रकृतिलय: संसारो भवति राजसाद् रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यास: ॥ 45 ॥

अन्वय—वैराग्यात् प्रकृतिलय: भवति, राजसात् रागात् संसार: (भवति), ऐश्वर्यात् अविघात: (भवति), विपर्ययात् तद्विपर्यास: (च भवति)।

शब्दार्थ—प्रकृतिलय: = प्रकृति में लय, प्रकृति रूप हो जाना। वैराग्यात् = वैराग्य से। भवति = होता है। राजसात् = रजोगुण से उत्पन्न या रजोगुण प्रधान से। अविघात: = इच्छा की पूर्ति में बाधा या रुकावट का अभाव, सफलता। संसार: = संसार अर्थात् जन्म-मरण। ऐश्वर्यात् = ऐश्वर्य से। विपर्ययात् = विपरीत से, अनैश्वर्य से। तद्विपर्यास: = उससे (अविघात से) विपरीत, विघात, बाधा या रुकावट, विफलता।

हिन्दी अर्थ—वैराग्य से प्रकृति में लय होता है, राजस राग या अवैराग्य से संसार (जन्म-मरण) होता है। ऐश्वर्य से किसी इच्छा की पूर्ति में बाधा या रुकावट नहीं होती, उसके विपरीत से अर्थात् अनैश्वर्य से उसकी विपरीतता अर्थात् इच्छा की पूर्ति की बाधा या रुकावट होती है।

टिप्पणी

योगशास्त्रानुसार दृष्ट तथा आनुश्रविक विषयों के प्रति मोह नष्ट हो जाने पर चित्त या वारीत्व ही वैराग्य है—दृष्टानुश्रविक विषयावितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।' जब यह वैराग्य पुरुष ज्ञानपूर्वक होता है तो मोक्ष की प्राप्ति कराता है और जब पुरुष ज्ञानपूर्वक नहीं होता तो मोक्ष का स्थान प्रकृति में लय होता है।

वैराग्य के विपरीत राग है, फल प्राप्ति की कामना से कर्म करने से स्वयं उत्पन्न होता है। राग रजोगुणा की विकृति है अत: वह सर्वदा राजस ही होता है, सात्विक या तामस नहीं। रजोगुण दु:खात्मक है अत: रजोगुण के कार्य राग से उत्पन्न होने वाला संसार भी दु:खमय होता है। अर्थात् विषयों में राग के कारण ही मनुष्य पुन: जन्म लेता है तथा विविध योनियों में संसरण करता हुआ अनेक स्थूल शरीर धारण करता है।

ऐश्वर्य का अर्थ अणिमादि शक्तियों की उपलब्धि है। उनसे इच्छाओं की पूर्ति होती है। मनुष्य जब जो चाहता है अणिमादि शक्तियों से उन्हें सिद्ध कर लेता है। संसार में हम जो चाहते हैं उसे प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं इसका कारण यही है कि हम ऐश्वर्य से युक्त नहीं हैं।

अणिमादि शक्तियों अर्थात् ऐश्वर्य का अभाव होने से इच्छापूर्ति का भी अभाव रहता है अर्थात् इन शक्तियों की सिद्धि सर्वसामान्य मनुष्य को न होने से मनुष्य अपनी इच्छाओं को पूर्त नहीं कर पाता। सांख्यशास्त्रानुसार विश्व में व्याप्त योनिगत, जातिगत तथा गुणगत विषमता की यही व्याख्या है कि हम प्रत्येक को समझने तथा कार्य शक्तियों के अल्पत्व बहुत्व के रूप में होता है, उसका कारण बुद्धित्व के ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, विराग-राग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य आठ भाव हैं।

सांख्यकारिका (46)

प्रसङ्ग—निमित तथा नैमित्तिक कार्यों का पूर्व कारिका में वर्णन हो जाने पर मोक्षेच्छुकों के लिए इनमें से कौन ग्रहणीय है तथा कौन त्याज्य है, इसका सम्पूर्ण रूप से व्याख्यान इस कारिका में सांख्यकारिकाकार करते हैं।

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्॥ 46॥

अन्वय—विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः एषः प्रत्ययसर्गः (अस्ति)। गुण—वैषम्यविमर्दात् तस्य तु पञ्चाशत् भेदाः (भवन्ति)।

शब्दार्थ—एषः = यह, पूर्व वर्णित। प्रत्ययसर्गः = बौद्धिक सृष्टि, बौद्धिक परिणाम। विपर्ययाशक्तितुष्टि-सिद्ध्याख्यः = विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नामों वाला। गुणवैषम्याविमर्दात् = गुणों की विषमता या न्यूनाधिक्य के कारण एक-दूसरे गुण के दब जाने से। पञ्चाशत् = पचास। भेदाः = भेद। भवन्ति = होते हैं।

हिन्दी अर्थ—यह अर्थात् धर्म, अधर्म आदि के रूप में पूर्वोक्त बौद्धिक सर्ग (सृष्टि या परिणाम) विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि नामों वाला है अर्थात् धर्म, अधर्म आदि बुद्धि के भावों या परिणामों का विपर्यय आदि चार वर्गों में विभाजन या वर्गीकरण किया जाता है और उस विपर्यय आदि वर्गों वाले बौद्धिक सर्ग के गुणों की विषमता या न्यूनाधिक्य के कारण एक-दूसरे गुण के दब जाने से तो पचास भेद हो जाते हैं।

टिप्पणी

प्रत्ययसर्ग—'प्रतीयतेऽनेनेति' विग्रहानुसार प्रत्यय का अर्थ बुद्धि ही है। सृष्टि द्विविध भौतिक और भावमर्य। घटादि की सृष्टि भौतिक तथा धर्माधर्मादिभाव एवं सूक्ष्मस्थूल शरीर बौद्धिक सृष्टि है क्योंकि ये बुद्धि से ही उत्पन्न तथा स्थित होते हैं।

विपर्यय—'विपर्ययो मिथ्याज्ञानयतद्रूपप्रतिष्ठम्' योगसूत्र में पतञ्जलि ने कहा है कि ज्ञान से भिन्न रूप में स्थित मिथ्या ज्ञान ही विपर्यय कहलाता है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश पाँच प्रकार वाली अविद्या रूप में वेदान्त में इसका व्याख्यान हुआ है। यह बुद्धि धर्म है जो तमोगुण से प्रभावित होकर परिणमित होती है अतः विपर्यय अज्ञान को ही कहते हैं। जयमंगला में भी 'तत्र विपर्ययज्ञानम्' के द्वारा समर्थन हुआ है।

अशक्ति—किसी के निश्चय तथा उसे क्रियान्वित करने की असामर्थ्य को ही अशक्ति कहते हैं जो अन्तः तथा बाह्य तेरह करणों में एक या अधिक की विकलता से उत्पन्न होता है। मन की विकलता से संकल्प कैसे हो सकेगा? यही नहीं ऐसा होने पर इन्द्रियगोचर विषय की सत्कल्पना नहीं हो सकती। करणों की इसी विकलता का नाम अशक्ति है।

तुष्टि—प्रकृति के पुरुष की भिन्नता जानकर भी श्रवणादि द्वारा उसके विवेकरूपी साक्षात्कार के लिए दुरुपदेश के कारण अप्रवृत्ति ही तुष्टि नौ प्रकार की कही गयी है।

सिद्धि—परमपुरुषार्थ की निष्पन्नता ही सिद्धि है। जयमंगलाकार ने 'ज्ञान की प्राप्ति ही सिद्धि है।' ऐसा कहा है उसके उपाय भिन्न-भिन्न होने के कारण सिद्धि आठ प्रकारों वाली कही गयी है, विपर्यय, अशक्ति तथा तुष्टि, इस सिद्धि के विघातक हैं, इसलिए ये अंकुश भी कही जाती है।

गौडपाद के अनुसार संशयज्ञान ही विपर्यय है। किसी स्थान को अच्छी प्रकार से देखकर संशय निवृत्ति कर सकना ही अशक्ति है। उसी के विषय में यह विचार करके कि ये मेरे मतलब का नहीं, ज्ञान की चेष्टा न करना तुष्टि ही है। किसी वस्तु को देखकर प्रसन्न मन से यथार्थ जान लेना ही सिद्धि है। इस प्रत्यय सर्ग के 50 उपभेद हैं 5विपर्यय, 28 अशक्ति, 9 तुष्टि तथा 8 सिद्धियाँ।

NOTES

सांख्यकारिका (47)

प्रसङ्ग—प्रत्यय सर्ग के जिन पचास भेदों का उल्लेख किया गया है उन्हीं का प्रस्तुत कारिका में वर्णन कर रहे हैं—

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।

अष्टाविंशतिभेदा तुष्ठिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥ 47 ॥

अन्वय—विपर्ययभेदा पञ्च भवन्ति, करणवैकल्यात् अशक्तिः च अष्टाविशंति भेदा (भवति), तुष्टिः नवधा (भवति), सिद्धि अष्टधा (भवति)।

शब्दार्थ—विपर्ययभेदा = विपर्यय के भेद। पञ्च = पाँच। भवन्ति = होते हैं। करणवैकल्यात् = करणों की कमी अर्थात् विकलता या असमर्थता से। अशक्तिः = अशक्ति। अष्टाविंशति भेदा = अट्ठाइस भेदों वाली। तुष्टिः = तुष्टि। नवधा = नव प्रकार की। सिद्धिः = सिद्धि। अष्टधा = आठ प्रकार की। भवति = होती है।

हिन्दी अर्थ—विपर्यय अर्थात् अज्ञान या अविद्या के पाँच भेद होते हैं, करणों की विकलता अर्थात् कमी अथवा असमर्थता से होने वाली अशक्ति अट्ठाईस प्रकार की होती है, तुष्टि नौ प्रकार की होती है और सिद्धि आठ प्रकार की होती है।

टिप्पणी

तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र विपर्यय अर्थात् अज्ञान के पाँच भेद हैं जिन्हें योग शास्त्र में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश नाम से उल्लिखित किया गया है।

सत्रह प्रकार के बुद्धिदोषों सहित इन्द्रियवध, कुल मिलाकर अट्ठाईस भेदों वाली अशक्ति कही गई है।

तुष्टियाँ नौ प्रकार वाली हैं, प्रकृति, उपादान, काल तथा भाग चार आध्यात्मिक तथा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-पाँच, कुल मिलाकर नौ हैं।

सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तीन प्रकार के दु:खों का उच्छेद तीन सिद्धियाँ तथा अध्ययन, शब्द, ऊह, सुहृत्प्राप्ति तथा दान।

सांख्यकारिका (48)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका में विपर्यय अर्थात् अविद्या के पाँच भेद बताये गये हैं, प्रस्तुत कारिका में उसका तथा उसके अवान्तर भेदों का उल्लेख यहाँ कर रहे हैं।

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवन्त्यन्धतामिस्रः ॥ 48 ॥

अन्वय—तमसः मोहस्य च अष्टविधः (अस्ति) भेदः दशविधः महामोहः (भवति) तामिस्रः अष्टादश (अस्ति) प्रथा (अष्टादशधा) अन्धतामिस्रः भवति।

शब्दार्थ—तथा = वैसा ही अर्थात् अठारह प्रकार का।

हिन्दी अर्थ—तमस् और मोह के आठ प्रकार के भेद होते हैं, महामोह दश प्रकार का होता है, तामिस्र अठारह प्रकार का होता है और अन्धतामिस्र भी वैसा ही अर्थात् अठारह प्रकार का होता है।

NOTES

टिप्पणी

जिनमें अणिमा, महिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्य की प्राप्ति कर इन्द्रादिदेव मोक्ष को नहीं प्राप्त होते उस अणिमादि के नष्ट होने पर जन्मते-मरते रहते हैं, वह मोह आठ प्रकार का है।

अज्ञान से प्रलय विभक्त होता है, वह प्रधान, बुद्धि, अहङ्कार तथा पाँच तन्मात्रायें इन आठ प्रकृतियों में विलीन हो जाता है, इन आठ आत्मरहित पदार्थों में विलीन आत्मा से ही समझता है 'मैं मुक्त हूँ।' आठ प्रकृतियों में लीन होने से इनके आठ भेद माने गये हैं।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, ये पाँच दिव्यादिव्य भेद से दश हैं। इन्हीं दस भेदों से महामोह दस प्रकार का है। लौकिक तथा दिव्य शब्दादि विषयों में चित्त की आसक्ति ही 'राग' या महामोह है।

अणिमादि आठ, ऐश्वर्य तथा दिव्यादिव्य भेद से शब्दादि मिलकर दस विषय, इन अठारहों के रहने पर प्रसन्न होना तथा न होने पर दु:खी होना ही अठारह प्रकार का तामिस्र है।

आठ अणिमादि, ऐश्वर्य तथा इस दिव्यादिव्य विषय भेद से तामिस्र अठारह प्रकार वाला होता है, ऐसे ही अन्धतामिस्र भी अठारह प्रकार का होता है। दोनों में भेद यह है कि शब्दादि विषयभोग भोगने में जी भर जाता है या ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है वह अत्यन्त दु:खी होता है। वह मृत्यु या भ्रष्ट होने का भय ही अन्धतामिस्र कहलाता है।

सांख्यकारिका (49)

प्रसङ्ग—पाँच विपर्यय के भेदों के उपभेदों का विवेचना करने के पश्चात् प्रस्तुत कारिका में अशक्ति के भेदों का वर्णन कर रहे हैं।

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश वधा बुद्धोर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ 49॥

अन्वय—बुद्धिवधैः सह एकादश इन्द्रियवधाः अशक्तिः उद्दिष्टा, तुष्टीसिद्धीनाम् विपर्ययात् बुद्धेः सप्तदश वधाः (भवन्ति)।

शब्दार्थ—बुद्धिवधैः सह = बुद्धि के उपघातों के साथ। एकादश = ग्यारह। इन्द्रियवधाः = इन्द्रियों के उपघात। अशक्तिः = अशक्ति। उद्दिष्टा = बताई गई है। तुष्टिसिद्धीनाम् = नौ तुष्टियों और आठ सिद्धान्तों के। विपर्ययात् = वैपरीत्य से। बुद्धेः = बुद्धि। सप्तदश = सत्रह। वधाः = वध या उपघात। (भवन्ति = होते हैं।)

हिन्दी अर्थ—बुद्धि के वधों या उपघातों के साथ इन्द्रियों के ग्यारह उपघात (विनाश या विकलता) 'अशक्ति' बताए गए हैं। नौ तुष्टि और आठ सिद्धियों के वैपरीत्य या अभाव से बुद्धि के सत्रह वध या उपघात होते हैं।

टिप्पणी

असमर्थता ही अशक्ति है, वह दो प्रकार की होती है—इन्द्रियों की तथा बुद्धि की। नौ प्रकार की तुष्टि तथा आठ प्रकार की सिद्धि, कुल सत्रह का अभाव बुद्धिवध है तथा ग्यारह इन्द्रियों की विकलता अशक्ति का कारण है, वे हैं—वाधिर्य, कुष्ठिता, अन्धता, जड़ता, अजिघ्रता, मूकता, कौण्ड्य, पंगुत्व, क्लैव्य, उदावर्त तथा कन्दता, ये क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना, घ्राण, वक्र, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ तथा मन इन्द्रियों में दोष उत्पन्न होने से इन्द्रिय वध हैं।

नौ प्रकार की तुष्टियों के विपरीत नौ प्रकार की अतुष्टियाँ हैं—असुवर्णा अतुष्टि, अज्ञान, मलिना अतुष्टि, मनोज्ञा अतुष्टि, अदृष्टि, अपरा, सुपरा, असुनेत्रा, वसुनाडिका तथा अनुत्तमाम्भसिका।

आठ सिद्धियों के विपरीत आठ असिद्धियाँ हैं, वे हैं—अप्रतार, असुतार, अतारतार, अरम्यक, असदामुदित, अप्रमोद, अमुदित तथा अमोदमान।

इन्द्रियवधों का ग्रहण इस कारण किया गया है कि वे बुद्धिवधों के कारण है न कि अशक्ति भेदों को पूर्ण करने के लिए। कारणभूत इन्द्रिय वध तथा उसके कार्यभूत बुद्धिवध का समानाधिकरण (अभिन्न) रूप में उल्लेख कारण और कार्य में अभेद की कल्पना से हुआ है। इन्द्रिय दोषों के द्वारा उत्पन्न बुद्धि की अशक्ति उसकी साक्षात् अशक्तियाँ हैं। बुद्धि के स्वरूपगत दोष सत्रह हैं।

सांख्यकारिका (50)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिकाओं में विपर्यय तथा अशक्ति का वर्णन हो चुका है, प्रस्तुत कारिका में तुष्टि के भेद-उपभेदों का वर्णन सांख्यकारिकाकार कर रहे हैं।

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ 50॥

अन्वय—प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः चतस्रः आध्यात्मिक्यः विषयोपरमात् च पञ्च बाह्याः (इति) नव तुष्टयः अभिमताः।

शब्दार्थ—प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः = प्रकृति, उपादान, काल एवं भाग्य नामों वाली। चतस्रः = चार। आध्यात्मिक्यः = आध्यात्मिक या आन्तरिक। विषयोपरमात् = विषयों से उपरित या विरक्ति के कारण। बाह्याः = बाहरी। अभिमताः = मानी जाती है।

हिन्दी अर्थ—प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य, इन नामों वाली चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं तथा पाँच विषयों से उपरित या विरक्ति के कारण होने वाली पाँच बाह्य तुष्टियाँ हैं, इस प्रकार कुल नौ तुष्टियाँ मानी जाती हैं।

टिप्पणी

जैसे किसी व्यक्ति के क्योंकि विवेक ज्ञान प्रकृति का ही विशिष्ट परिणाम है और उसे प्रकृति ही उत्पन्न करती है अतः आत्मा के ध्यान का अभ्यास बेकार है, अतः श्रवणादि के वियुक्त रहो-ऐसे उपदेश से शिष्य की प्रकृति सम्बन्धी जो तुष्टि होती है उसका नाम 'प्रकृति' तुष्टि है यही 'अम्भ' भी कहलाती है।

प्रकृति का परिणाम विशिष्ट होकर भी विवेक ज्ञान केवल प्रकृति से नहीं होता, नहीं तो सबके लिए प्रकृति के समान रूप होने से सभी को हमेशा विवेक ज्ञान होने लगेगा। इसके विपरीत वह संन्यास से पैदा होता है अतः 'संन्यास ही ग्रहण करो तुम्हारा ध्यानाभ्यास बेकार है', ऐसे उपदेश से जो तुष्टि प्राप्त होती है वह उपादान नाम की तुष्टि है, इसे ही सलिल भी कहा जाता है।

'संन्यास शीघ्र मोक्षप्रद नहीं है वह कुछ काल बाद परिपक्व होकर ही तुम्हें विवेक ज्ञान करायेगा, तुम्हारे उद्विग्न होने से कोई फायदा नहीं, ऐसे उपदेश से जो तुष्टि उत्पन्न होती है, वह 'काल' नाम की तुष्टि है, यह 'ओध ा' भी कही जाती है।

'न प्रकृति से', न काल से तथा न संन्यास लेने से विवेक ज्ञान होता है अपितु भाग्य से ही होता है। अतः मदालसा की सन्तति अतिबाल होने पर भी माँ के उपदेश से ही विवेक ज्ञानवान् होकर मुक्त हो गई इसलिए भाग्य ही हेतु है और कुछ नहीं ऐसे उपदेश से जो तुष्टि मिलती है उसका नाम भाग्य है तथा वृष्टि भी कही जाती है। ये चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं। इसके अतिरिक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध, इन पाँच विषयों के वैराग्य से होने वाली पाँच बाह्य तुष्टियाँ हैं। इन विषयों से अर्जन, रक्षण, क्षय, अंग तथा हिंसा इन दोषों के कारण विरक्ति होती है।

जैसे सेवादि धनार्जन के साधक उपाय हैं किन्तु सेवक को बहुत कष्ट होता है। इसी प्रकार अर्जन के दूसरे उपाय भी दु:खदायक हैं, अत: अर्जन के कारण विषय से विरक्ति होती है, इसे ही पार कहते हैं।

अर्जित धन की रक्षा करने में भी बड़ा कष्ट होता है कि कहीं चोर आदि चुरा न ले जायें। इस कारण रक्षण दोष से विरक्ति होती है। इससे उत्पन्न होने वाली तुष्टि सुपार कहलाती है।

बड़े परिश्रम से जो धन कमाया जाता है, उसके क्षीण होने के डर से धन के प्रति विराग पैदा होता है, जिसे पारपार तुष्टि कहा गया है।

विषयोपभोग से इच्छाओं में भी वृद्धि होती है और फिर इच्छा करने वाले को दु:खी करती है। इस प्रकार भोग के दोष के ध्यान आने पर जो विराग होता है उसे अनुत्तमाम्भ कहते हैं।

प्राणियों को दु:खी किए बिना विषयोपभोग सम्भव नहीं, ऐसा देखकर विषयोपभोग के प्रति उत्पन्न होने वाली विराग की भावना भी एक प्रकार से तुष्टि ही है, यह उत्तमाम्भ कहलाती है।

सांख्यकारिका (51)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिकाओं में क्रमशः प्रत्यय सर्ग के चार सर्गों में से तीन विपषर्यय, आशक्ति तथा तुष्टि को भेदोपभेद सहित वर्णन करने के बाद इस कारिका में सिद्धियों का परिगणन करते हुए सांख्यकारिकाकार कहते हैं कि—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधिः॥51॥

अन्वय—ऊहः शब्दः अध्ययनम्, त्रयः दुःखविघाताः सुहृत्प्राप्तिः दानम् च (इति) अष्टौ सिद्धयः (सन्ति) पूर्वः सिद्धेः त्रिविधिः अङ्कुशः अस्ति।

शब्दार्थ—**ऊहः** = शास्त्रानुकूल तर्कों द्वारा अधीत विषय का परीक्षण, मनन। **शब्दः** = अध्यात्म विद्या के गृहीत किये हुए शाब्दिक स्वरूप का अर्थज्ञान प्राप्त करना। **अध्ययनम्** = गुरुमुख से विधिवत् अध्यात्म विद्या के शाब्दिक स्वरूप को ग्रहण करना। **त्रयः** = तीन। **दुःखविघाताः** = आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक, इन तीन प्रकार के दु:खों के तीन विघात या विनाश। **सहृत्प्राप्तिः** = अधीत और मनन किए हुए विषय का सहृदों अर्थात् गुरु, सहपाठी एवं शिष्यों से सम्वाद करना अर्थात् मेल बिठाना। **दानम्** = विवेक ज्ञान की शुद्धि। **पूर्वः** = विपर्यय, अशक्ति तथा तुष्टि। **त्रिविधः** = तीन प्रकार के। **अङ्कुशः** = विरोधी या घातक।

हिन्दी अर्थ—अध्ययन अर्थात् गुरुमुख से विधिपूर्वक अध्यात्म विद्या के शाब्दिक स्वरूप को ग्रहण करना, शब्द अर्थात् अध्यात्म विद्या के गृहीत किए हुए शाब्दिक स्वरूप का अर्थ-ज्ञान प्राप्त करना, ऊह अर्थात् मनन या शास्त्रानुकूल तर्कों द्वारा अधीत विषय का परीक्षण, सुहृत्प्राप्ति अर्थात् अधीत और मनन किए गए विषय का सुहृदों अर्थात् सहपाठी आदि से सम्वाद करना या मेल बिठाना, दान अर्थात् विवेक-ज्ञान की शुद्धि तथा तीन दु:खविघाता अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक, इन तीन दु:खों के तीन विघात या विनाश, ये आठ सिद्धियाँ हैं। पूर्व वर्णित वर्ग अर्थात् विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि सिद्धि के तीन प्रकार के विरोधी या बाधक हैं।

टिप्पणी

ऊह—'ऊह' तर्क अर्थ वाली धातु से निष्पन्न होने से तर्क को ही ऊह कहते हैं। जो आगम विरोधी न हो ऐसे न्याय से आगम के प्रतिपादनीय विषय की परीक्षा करना तर्क कहा जाता है जैसा कि न्यायसूत्र में भी कहा गया है—'अविज्ञात तत्त्वेऽयं कारणोपपत्तिन्तस्तत्त्व-ज्ञानार्थमृहस्तर्कः।' ऊह अर्थज्ञानमूलक होता है इसलिए यह अर्थज्ञान रूप शब्द नामक सिद्धि का कार्य भी है।

शब्द—शब्द यहाँ शब्दोत्पादित अर्थज्ञान का उपलक्षक है। अर्थज्ञान अज्ञान का निवारण करते हुए विवेक ख्याति का प्रापक है। इसके होने पर संसार-सागर का पार होना निश्चित हो जाता है।

अध्ययन—गौण सिद्धियों में अध्ययन प्रमुख स्थान रखता है क्योंकि यह एक मात्र कारण है। शिष्ट शब्द एवं ऊहादि इसके कार्य तथा अपने वाद होने वाली सिद्धि के हेतु हैं। गुरुमुख से विधि के अनुसार अध्यात्म विद्याओं के परमप्रतिपादनीय पुरुषतत्त्व का ग्रहण ही अध्ययन है।

सुहृत्प्राप्ति—सुहृत् पद का अर्थ गुरु, शिष्य तथा साथ में अध्येता सहपाठियों से है। उनकी प्राप्ति भी एक सिद्धि है जो व्यवधानरहित पूर्व अध्ययन नामक सिद्धि का फल है। अध्येता को यह सम्यक् सुलभ हो सकता है। इसी सिद्धि का दूसरा नाम रम्यक है।

दान शोधन अर्थ वाली 'दा' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण 'दान' का अर्थ किसी वस्तु का वितरण न होकर विवेक ज्ञान की शुद्धि है। यह 'दान' पाँचवी सिद्धि है जिसका अन्य नाम सदामुदित है। आध्यात्मिक दु:ख की उच्छित्ति स्वरूप होने वाली छठी सिद्धि 'प्रमोद' सिद्धि है। आधिभौतिक दु:ख की निवृत्ति से उत्पन्न 'मुदित' नामक सातवीं सिद्धि है। आधिदैविक दु:ख के विघात रूप आठवीं सिद्धि का नाम मोदमान है।

जयमंगलाकार तथा कुछ अन्य लोगों ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है। बिना किसी उपदेश के जन्म-जन्मान्तर के संस्कार के कारण पुरुष का ज्ञान या प्रकृति पुरुषान्यता विवेक का उदय होना 'ऊह' है। दूसरे द्वारा समपादित सांख्यपाठ सुनकर किसी का ज्ञान होना 'शब्द' नामक सिद्धि हैं। गुरु शिष्य सम्बन्ध से सांख्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का विधिवत अध्ययन से प्राप्त सिद्धि अध्ययन है। मित्र प्राप्ति से होने वाली प्रेरणा से उत्पन्न होने वाली ज्ञानरूप सिद्धि सुहृत्प्राप्ति कही जाती है। सिद्धयर्थ धनादि दान पाकर ज्ञानी को किसी ज्ञान का दान ही 'दान' नामक सिद्धि है। गौडपाद इससे भी अन्य प्रकार की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार—'कोई नित्य तर्क करता है कि इस संसार में सत्य क्या है ? असत्य क्या है ? मोक्ष क्या है ? ऐसा विचार करते-करते उसे ज्ञान हो जाता है कि पुरुष प्रधान से, बुद्धि इससे भी, अहंकार भी इससे, तन्मात्रायें तथा इन्द्रियाँ भी इससे, पञ्चमहाभूत इससे भिन्न हैं, इस प्रकार उसे तत्त्वज्ञान होता है जिससे उसका मोक्ष हो जाता है। यही ऊह नामक सिद्धि है। शब्द ज्ञान से जो प्रकृति, पुरुष, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्र, इन्द्रिय तथा महाभूत विषयक ज्ञान होता है तथा इससे मोक्ष होता है यह शब्दाभिधाना दूसरी सिद्धि है। गुरुमुख से वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करके 25 तत्त्वों का ज्ञान होने से जो मोक्ष होता है वह अध्ययन तीसरी सिद्धि है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दु:खों का नाश करने के लिए गुरु के पास जाकर उपदेश से होने वाला मोक्ष चौथी सिद्धि है। इन तीन को मिलाकर 6 सिद्धियाँ हुई। कोई ज्ञानी मित्र मिलने से भी तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करना है। यह सुहृत्प्राप्ति सिद्धि है। तत्त्वज्ञानियों को आश्रय, औषधि आदि देकर बदले में तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्ति आठवीं दान नामक सिद्धि है। सिद्धि से ही तत्त्वज्ञान होकर मोक्ष प्राप्त करता है। विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि। सिद्धि के विरोधी या बाधक हैं।'

सांख्यकारिका (52)

प्रसङ्ग—लिङ्ग, भावों से अधिवासित होकर अनेक प्रकार की योनियों में तथा लोक—लोकान्तर में संसरण करता है, यह पूर्व में कहा गया है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि पहले लिङ्ग उत्पन्न होता है या भाव। इसी के निराकरणार्थ इस कारिका में भी ईश्वर कृष्ण वर्णन करते हैं।

न विना भावैलिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः॥52॥

अन्वय—लिङ्गम् भावैः बिना न (भवति) भावनिर्वृत्तिः लिङ्गेन बिना न (भवति), तस्मात् (कारणात्) लिङ्गाख्यः भावाख्यः द्विविधः सर्गः प्रवर्तते।

शब्दार्थ—लिङ्गम् = तन्मात्राओं से उत्पन्न होने वाली भौतिक सृष्टि। **भावैः बिना** = धर्म, अधर्म या विपर्यय, अशक्ति आदि बुद्धि के भावों के बिना अर्थात् बौद्धिक सर्ग या सृष्टि के बिना। **भावनिर्वृत्तिः** = बुद्धि के भावों या परिणामों का होना या अस्तित्व प्राप्त करना। **लिङ्गेन बिना** = भौतिक सर्ग या सृष्टि के बिना। **न** = नहीं। **तस्मात्** = इसलिए। **लिङ्गाख्यः** = लिङ्ग नामक भौतिक सर्ग। **भावाख्यः** = भाव नामक बौद्धिक सर्ग। **द्विविधः** = दो प्रकार का। **सर्गः** = सृष्टि। **प्रवर्तते** = प्रवृत्त होता है।

हिन्दी अर्थ—धर्म, अधर्म आदि या विपर्यय, अशक्ति और बुद्धि के भावों के बिना अर्थात् बौद्धिक सर्ग या सृष्टि के बिना लिङ्ग अर्थात् तन्मात्राओं से होने वाला भौतिक सर्ग अर्थात् सृष्टि सम्भव नहीं और भौतिक सर्ग के बिना भावों की निवृत्ति अर्थात् भौतिक सर्ग सम्भव नहीं। इसलिए बौद्धिक सर्ग और भौतिक सर्ग, ये दोनों प्रकार के सर्ग प्रवृत्त होते हैं।

टिप्पणी

लिङ्गम् शब्द से यहाँ तन्मात्र परिणाम तथा 'भावैः' से बुद्धि परिणाम उपलक्षित होते हैं। बुद्धि परिणाम के बिना न तो स्वरूप से सिद्ध होगा और न पुरुषार्थ में ही साधन होगा। इसी प्रकार तन्मात्र परिणाम रहित बुद्धि परिणाम भी स्वरूपतः सिद्ध न होगा तथा न पुरुषार्थ में साधन ही होगा। अतः दोनों प्रकार की ही सृष्टि होती है। 'भोग' नामक पुरुषार्थ पद इत्यादि भोग्य विषयों तथा दो प्रकार के स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर रूप भोगायतनों के बिना असम्भव है। अतः तन्मात्र परिणाम की अपेक्षा है इसी भाँति पूर्व वर्णित भोग स्वसाधनरूप इन्द्रियों तथा अन्तःकरणों के बिना भी सम्भव नहीं है यथा ये इन्द्रिय भी धर्मादिभावों के बिना नहीं हो सकते। अपवर्ग नामक दूसरा पुरुषार्थ का साधन विवेक-ज्ञान भी दो प्रकार की सृष्टि के बिना असम्भव है। इस प्रकार दोनों ही सर्ग अपेक्षित हैं।

बीज तथा अंकुर के समान ही इनके भी अनादि होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। उपनिषद् अनुसार भी इस दृष्टि का वही रूप नहीं है जो दृष्टिगत होता है, यही नहीं, अपितु यह अनादि, अनन्त तथा अन्याश्रयरहित है।

भोग के साधक अन्तः तथा बह्य रूप त्रयोदशकरण हैं। भोक्ता सूक्ष्म शरीर से अविष्ट बद्ध पुरुष है। क्योंकि सृष्टि में कुछ भोग तत्त्व हैं और अन्य भोगसाधक तत्त्व हैं। भोग्य तत्त्वों में पञ्च तन्मात्राओं तथा उनके विकास रूप पञ्चमहाभूतों तथा उनसे रचित सम्पूर्ण दृष्ट सर्ग है।

सांख्यकारिका (53)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका में बुद्धि परिणाम का विभाग करने के पश्चात् अब तन्मात्र परिणाम के विभाग का वर्णन सांख्यकारिकाकार कर रहे हैं।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥53॥

अन्वय—दैवः अष्टविकल्पः तैर्यग्योनः च पञ्चधा मानुषकः च एकविधः भवति (इति) समासतः भौतिकः सर्गः (अस्ति)।

शब्दार्थ—दैवः = देव सम्बन्धी। **अष्टविकल्पः** = आठ प्रकार का। **तैर्यग्योनः** = तिर्यग्योनि सम्बन्धी। **मानुषः** = मनुष्य सम्बन्धी। **एकविधः** = एक प्रकार का। **पञ्चधा** = पाँच प्रकार का। **समासतः** = संक्षेप में। **भौतिकः सर्गः** = भूतों से उत्पन्न होने वाली सृष्टि।

हिन्दी अर्थ—दैवी सृष्टि आठ प्रकार की होती है अर्थात् देव योनियाँ आठ होती हैं, तिर्यग्योनियों अर्थात् पशु-पक्षी आदि से सम्बद्ध सृष्टि पाँच प्रकार की होती है। मनुष्य सम्बन्धी सृष्टि एक प्रकार की होती है। इस प्रकार यह संक्षेप में भौतिक सर्ग अर्थात् पञ्च भूतों से उत्पन्न होने वाली सृष्टि है।

NOTES

टिप्पणी

देव सर्ग आठ प्रकार का है—ब्राह्म, प्रजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस तथा पैशाच। ब्रह्मलोक में निवास करने वाले ब्राह्म, प्रजापति लोक में बसने वाले प्राजापत्य, स्वर्गलोक वासी ऐन्द्र, पितृलोक निवसिता पैत्र, गन्धर्व लोक के निवासी गान्धर्व, यक्ष लोकवासी याक्ष, राक्षस लोक में रहने वाले राक्षस तथा पिशाच लोक में रहने वाले पैशाच कहलाते हैं। जयमंगलाकार के अनुसार ऐन्द्र तथा पैत्र देवसर्ग न होकर सौर तथा आसुर नामक हैं।

तिर्यग्योनि पाँच प्रकार की है—पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप तथा स्थावर। गाय से गदहे तक पालतु जानवर पशु, सिंह से हिरणादि वन्य पशु, मृग, पक्षवाम्, गीधादि पक्षी, सर्प से कीट पर्यन्त सरकने वाले प्राणी सरीसृप तथा वृक्ष से ठूंठ पर्यन्त स्थावर कहे जाते हैं। मनुष्य मात्र एक प्रकार का है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये उनके अवान्तर भेद हैं। माठर के अनुसार भौतिक सर्ग त्रिधात्व का आधार तुल्यलिङ्गत्व है। जयमंगला में ब्राह्मण से चाण्डाल तक मनुष्याकृति में अभिन्नता होने से ही उसके केवल एक प्रकार का माना जाता है। दूसरे शास्त्रों में प्रतिपादित सृष्टि के जरायुज, अण्डज, ऊष्मज तथा उद्भिज्ज नामक चार भेदों से एक कम होने से ही इस व्यवस्था को संक्षेप में कहा गया है।

सांख्यकारिका (54)

प्रसङ्ग—पूर्व कारिका में यह वर्णन किया गया है कि वह सब तन्मात्र सर्ग एक ही प्रकार का है तो इस संसार में सुखदु:खतारतम्य क्यों दिखलाता है। इसी के उत्तर का वर्णन इस कारिका में सांख्यकारिकाकार कर रहे हैं।

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः॥54॥

अन्वय—सत्त्वविशालः सर्गः ऊर्ध्वं तमोविशालः च मूलतः रजोविशालः मध्ये (अस्ति) (इति) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः (सृष्टि उक्तः)।

शब्दार्थ—**सत्त्वविशालः** = सत्वप्रधान। **सर्गः** = सृष्टि। **ऊर्ध्वं** = ऊपर को, ऊपर के लोकों में, देवयोनियों में। **तमोविशालः** = तमः प्रधान। **च** = तथा। **मूलतः** = नीचे को, निम्न योनियों में। **रजोविशालः** = रज प्रधान। **मध्ये** = बीच में। **ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः** = ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त जो भौतिक सर्ग है, वह ऊपर के लोकों में या देवयोनियों में सत्त्वप्रधान है, नीचे के लोकों में या पशु आदि निम्न या निकृष्ट योनियों में तमः प्रधान है, मध्यलोक अर्थात् मनुष्य लोक या मनुष्य योनि में रजः प्रधान है।

टिप्पणी

स्वर्ग से ब्रह्मलोक तक लोकों में रहने वाले जीवों में सत्त्व गुण की बहुलता रहती है अर्थात् रजोगुण और तमोगुण न्यून मात्रा में रहते हैं।

'मूलतः' शब्द निम्नार्थवाची है अतः इसके नीचे के लोकों में रहने वाले प्राणियों पशु से स्थावर पर्यन्त जीवों में तमोगुण अधिक मात्रा में रहता है, इसीलिए उनमें मोह की अधिकता रहती है। मध्यसृष्टि अर्थात् जो न उच्च तथा न निम्न है, मनुष्य सृष्टि है, इसमें रजोगुण अधिक मात्रा में रहता है।

स्तम्ब के ग्रहण से वृक्षादि का ग्रहण किया है।

इस प्रकार लिङ्ग सर्ग अर्थात् तन्मात्र सर्ग तथा भाव सर्ग अभौतिक तथा दैव, तिर्यग् एवं मानुष सर्ग भौतिक सर्ग कहे जाते हैं। यही प्रकृति से उत्पन्न पाँच तन्मात्रायें, आठ भाव तथा तीन योनि, कुल मिलाकर सोलह प्रकार की सृष्टि है।

सांख्यकारिका (55)

प्रसङ्ग—इस कारिका में ईश्वरकृष्ण वर्णन कर रहे हैं कि दु:ख क्या है तथा वह तीनों लोकों में क्यों व्याप्त है?

तत्र जरामरणकृतं दु:खं प्राप्नोति चेतन: पुरुष:।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दु:खं स्वभावेन॥55॥

अन्वय—तत्र चेतन: पुरुष: लिङ्गस्य अविनिवृत्ते: जरामरणकृतम् दु:खम् प्राप्नोति, तस्मात् स्वभावेन दु:खम् (विद्यते)।

शब्दार्थ—**तत्र** = वहाँ, इस संसार में, विभिन्न योनियों में। **चेतन:** = चेतनायुक्त। **पुरुष:** = पुरुष। **लिङ्गस्य** = लिङ्ग शरीर के। **अविनिवृत्ते:** = निवृत्ति तक। **जरामरणकृतम्** = बुढ़ापे और मृत्यु से होने वाले को। **प्राप्नोति** = प्राप्त करता है। **तस्मात्** = इसलिए। **दु:खम्** = दु:ख। **स्वभावेन** = स्वभाव से।

हिन्दी अर्थ—इस संसार में या उक्त विभिन्न योनियों में चेतन या चेतनायुक्त पुरुष लिङ्ग शरीर की निवृत्ति तक बुढ़ापे और मृत्यु से होने वाले दु:ख को प्राप्त करता है, इसलिए दु:ख लिङ्ग शरीर की निवृत्ति पर्यन्त स्वभाव से ही है।

टिप्पणी

'तत्र' का तात्पर्य उन योनियों से है जिनमें प्राणी नाना प्रकार के शरीरों को धारण करता है। माठर 'तत्र' के स्थान पर 'अत्र' पाठ मानकर पूर्वविवेचित 'तीनों लोकों में' अर्थ करते हैं। वाचस्पति के अनुसार प्राणी अनेकधा विशिष्ट आनन्दों का भोग करता है फिर भी जरा अर्थात् बुढापा तथा मरण (मृत्यु) कृत दु:ख सर्वसाधारण है। यहाँ तक कि कीट भी मृत्यु के भय से आशंकित रहता है। भय हेतु दु:खातिरिक्त अन्य कुछ नहीं, अत: मरण भी निश्चित ही दु:ख है।

दु:ख सूक्ष्म शरीर में रहता है अत: पुरुष के साथ अभिन्नता की प्रतीति से प्राणिभूत पुरुष मन, बुद्धि और अहङ्कार से दु:खानुभूति करता है। मन, बुद्धि तथा अहङ्कार लिङ्ग शरीर के अभिन्न अंग होते हैं, इसलिए जब तक सूक्ष्म शरीर निवृत्त नहीं हो जाता तब तक रजोगुण के परिणामभूत उसमें संतत वर्तमान दु:खानुभूति पुरुष को होती रहती है। पुरुष पक्ष में लिङ्ग शरीर की निवृत्ति अर्थात् अन्त ही दु:खावसान है। इसीलिए 'आविनिवृत्ते:' कारिका में प्रयोग किया गया है।

माठरवृत्ति में 'स्वभावेन' के स्थान पर 'समासेन' का पाठ हुआ है। जिसका अभिप्राय संक्षेप में है।

सांख्यकारिका (56)

प्रसङ्ग—यह सृष्टि प्रकृति के द्वारा प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए की गई है। इस कारिका में इसी का वर्णन ईश्वरकृष्ण कर रहे हैं।

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्त:।

प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ: इव परार्थ: आरम्भ:॥56॥

अन्वय—इति एष: महदादिविशेषभूतपर्यन्त: प्रकृतिकृत: आरम्भ: प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम् स्वार्थ: इव परार्थ: (अस्ति)।

शब्दार्थ—**इति** = पूर्व वर्णित। **एष:** = यह। **प्रकृतिकृत:** = प्रकृति के द्वारा किया हुआ। **महदादिविशेषभूतपर्यन्त:** = महत्तत्व से लेकर स्थूल भूतों तक। **आरम्भ:** = सृष्टि कार्य। **प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्** = प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए। **स्वार्थ इव** = अपने लिए प्रतीत होता हुआ। **परार्थ:** = दूसरे के लिए।

हिन्दी अर्थ—पूर्व वर्णित यह प्रकृति द्वारा किया हुआ महत्तत्व से स्थूलभूत पर्यन्त सृष्टि-कार्य प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के होने से अपने लिए अर्थात् प्रकृति के लिए प्रतीत होता हुआ भी वस्तुत: दूसरे के लिए अर्थात् पुरुष के लिए है।

टिप्पणी

'विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके' (3/63 सां० सू०)। अव्यक्तदशा से व्यक्तावस्था में आकर महदादि तत्त्वों में प्रकृति के परिणमित होने का विशेष प्रयोजन है—प्रत्येक पुरुष को मोक्ष रूप अपवर्ग प्रदान करना। पुरुष हमेशा से लिङ्ग शरीर से आविष्ट है। उसकी लिङ्ग शरीर से तब तक मुक्ति असम्भव है जब तक वह उन संस्कारों का भोग प्राप्त कर ले जिससे लिङ्ग शरीर अधिवासित है। प्रकृति की यह क्रिया उस रसोइये के समान है जो भोजन तैयार कर ही निवृत्त हो जाता है, भोजन का उपभोग दूसरे लोग करते हैं।

सांख्यसूत्र वाले रसोइये के उदाहरण में यह दोष है कि वह तो चेतन है तथा दूसरों के लिए भोजन बनाने में उसका जीविकोपार्जन होता है यह उसका स्वार्थ है। इसीलिए गौडपाद घट का उदाहरण देते हैं। घट जलादि के आग्रहणादि का साधन होते हुए भी व्यक्ति द्वारा प्रक्षिप्त कर दिये जाने पर काम में नहीं आता उसी प्रकार अचेतन जड़ प्रकृति है।

महदादि विशेष भूत पर्यन्त में विशेष पद लाक्षणिक होकर स्थूल अर्थ करता है। माठर वृत्ति में 'विशेष' के स्थान पर 'विषय' पाठ प्राप्त होता है।

आरम्भ का अर्थ सृष्टि है। 'इत्येषः' के द्वारा द्विविध सर्ग तन्मात्र सर्ग तथा प्रत्यय सर्ग उपलक्षित होता है।

'प्रकृतिकृतः' का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। नैयायिकों के अनुसार सृष्टि ईश्वरकृत, वेदान्ती लोगों के अनुसार ब्रह्म उपादानकारणकृत, चार्वाकों के अनुसार किसी द्वारा कृत न होकर अदृष्ट तथा अज्ञात तत्त्व का विकार और परिणाम है। सांख्यदर्शनकार किसी भी पक्ष को न स्वीकार करके महद् से महाभूत पर्यन्त सृष्टि प्रकृति का कार्य है। प्रकृति द्वारा सृष्टि होने का प्रयोजन पुरुष का मोक्ष ही है जैसा कि प्रतिपुरुष विमोक्षार्थ से स्पष्ट है, ज्यों ही किसी पुरुष के विषय में यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है त्यों ही प्रकृति उस पुरुष के विषय में स्वकार्य समाप्त कर उसे उसी भाँति निवृत्ति हो जाती है जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने प्रयोजनार्थ किये कार्य को उस प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर बन्द करके उससे निवृत्त हो जाता है।

सांख्यकारिका (57)

प्रसङ्ग—स्वार्थ या परार्थ में चेतन ही प्रवृत्त होता है, जड़ प्रकृति तो इस भाँति प्रवृत्त हो ही नहीं सकती, इसलिए प्रकृति का कोई चेतन अधिष्ठाता होगा। जीव तो चेतन होते हुए भी प्रकृति स्वरूप से अज्ञात होने के कारण उसके नियामक नहीं हो सकते, अतः प्रकृति का अधिष्ठाता कोई सर्वज्ञानी पुरुष होगा और वह ईश्वर ही है। इसी का उत्तर सांख्यकारिकांकार इस कारिका में दे रहे हैं।

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥५७॥

अन्वय—यथा वत्सविवृद्धिनिमित्तम् अज्ञस्य क्षीरस्य प्रवृत्तिः (भवति), तथा पुरुष-विमोक्षनिमित्तम् (अज्ञस्य) प्रधानस्य प्रवृत्तिः (भवति)।

शब्दार्थ—**यथा** = जिस प्रकार। **वत्सविवृद्धिनिमित्तम्** = बच्चे या बछड़े की वृद्धि या पुष्टि के लिए। **अज्ञस्य** = अचेतन की। **क्षीरस्य** = दूध की। **प्रवृत्तिः** = प्रवृत्ति। **(भवति** = होती है) **तथा** = उसी प्रकार। **पुरुषविमोक्षनिमित्तम्** = पुरुष के मोक्ष के लिए। **अज्ञस्य** = अचेतन की। **प्रधानस्य** = प्रधान अर्थात् प्रकृति की। **प्रवृत्तिः** = प्रवृत्ति। **(भवति** = होती है)।

हिन्दी अर्थ—जिस प्रकार बच्चे या बछड़े की वृद्धि या पुष्टि के लिए अचेतन दूध की प्रवृत्ति होती है अर्थात् दूध की इस रूप में प्रवृत्ति होती है कि वह स्तनों में आ जाता है, उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए अचेतन प्रधान अर्थात् प्रकृति की सृष्टि कार्य में प्रवृत्ति होती है।

टिप्पणी

'अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य' (३/५९ सां० सू०)। बछड़े के लिए दुग्ध के समान अचेतन होने पर भी प्रधान की प्रवृत्ति दूसरे के लिए होती है।

गौड़पाद तथा माठर गाय के दूध की प्रवृत्ति की उपमा को गाय के द्वारा अशित घासादि तथा पीत जलादि का दुग्ध रूप में बनाया अर्थ मानकर इसका दोहरा प्रयोजन बताते हैं। कारिका में तो क्षीर तथा प्रधान के प्रवृत्ति का ही विधान है लेकिन उनकी निवृत्ति का अर्थ भी इससे ही निकलता है। जैसे गो वत्स के लिए अपेक्षित होने पर गाय का अशित पीत दुग्ध रूप में परिणत होने लगता है। आवश्यकता पूर्ति हो जाने पर दूध बनने की क्रिया भी निष्क्रिय हो जाती है उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के भोग के लिए स्वयं प्रवृत्त होती है तथा भोगपूर्ति हो जाने पर स्वयं ही निवृत्त भी हो जाती है। गौडपाद तथा जयमंगलाकार इसका दोनों अर्थ ग्रहण करते हैं जब कि वाचस्पति मिश्र को केवल प्रवृत्तिपरक अर्थ ही मान्य है।

अचेतन प्रकृति के प्रवृत्ति की बात युक्ति तथा तर्क विपरीत नहीं है। वास्तव में तो रजोगुणशील होने से क्रियाशीलता उसका नित्य धर्म है। इसलिए सृष्टि के रूप में प्रवृत्ति उसका स्वभाव है। वृद्ध पुरुष का भोगापवर्गरूप प्रयोजन प्रकृति की इस प्रवृत्ति से स्वयं सिद्ध हो जाता है। प्रकृति में उसे सम्पादित करने की इच्छा या विवेक नहीं होता। यदि पुरुष भावरूप संस्कारों का स्थूल शरीर से विवेकपूर्वक फलोपभोग करता है तो फिर संस्कार प्रादुर्भूत नहीं होते। फलत: उसके द्वारा उपभोग सिद्ध भी नहीं होती, यही प्रकृति की निवृत्ति है।

सांख्यकारिका (58)

प्रसङ्ग—प्रकृति की सर्जनातमक प्रवृत्ति किसी स्वार्थ के लिए न होकर पुरुष के भोगापवर्ग भूत प्रयोजन की सिद्धि के लिए क्यों होती है ? इसी को ग्रन्थकार एक उदाहरण के द्वारा समझा रहे हैं।

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥58॥

अन्वय—यथा औत्सुक्यनिवृत्यर्थम् लोकः क्रियासु प्रवर्तते तदवत् पुरुषस्य विमोक्षार्थम् अव्यक्तम् प्रवर्तते।

शब्दार्थ—यथा = जिस प्रकार, जैसे। **औत्सुक्यनिवृत्यर्थम्** = उत्सुकता की निवृत्ति के लिए, इच्छा की पूर्ति के लिए। **लोकः** = व्यक्ति, संसार के लोग। **क्रियासु** = कार्यों में। **प्रवर्तते** = प्रवृत्त होता है। **तद्वत्** = उसी प्रकार। **पुरुषस्य** = पुरुष का। **विमोक्षार्थम्** = मोक्ष के लिए। **अव्यक्तम्** = प्रकृति, प्रधान। **प्रवर्तते** = प्रवृत्त होती है।

हिन्दी अर्थ— जिस प्रकार संसार के लोग या व्यक्ति उत्सुकता की निवृत्ति के लिए अर्थात् अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए कार्यों में प्रवृत्त होता है उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के मोक्ष के लिए मोक्ष के साधन भूत सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होती है।

टिप्पणी

हमारे बहुत से कार्य मूल प्रवृत्ति से सञ्चारित होते हैं जिनमें कोई निश्चित उद्देश्य नहीं होता। किसी विषय की जिज्ञासा भी हमारी एक मूल प्रवृत्ति है। कभी-कभी हम चाहे कितने जरूरी कार्य से कहीं जा रहे हों लेकिन बीच में भीड़ देखकर जिज्ञासु हो उठते हैं कि क्या हुआ तथा बिना किसी कारण के उस भीड़ में प्रवेश करने के लिए

NOTES

प्रयत्नशील हो उठते हैं या लोगों से पूछताछ करने लगते हैं। यह उदाहरण एकपक्षीय है जो केवल लोक पर ही घटता है तथा बहुत से कार्य मूलप्रवृत्तिवश हो जाते हैं। उनके पीछे कोई विशेष प्रयोजन नहीं होता। प्रकृति में होने वाली प्रवृत्ति की प्रवृत्ति पुरुष के औत्सुक्य निवारणार्थ होती है। यह अर्थ लगाना यहाँ उचित नहीं क्योंकि जड़ होने से प्रकृति में इस प्रकार की इच्छा नहीं हो सकती। सांख्य का पुरुष भी इच्छादि धर्मों से रहित होता है इसलिए नैयायिकों की जीवात्माधर्मभूत इच्छा सांख्यदर्शन की उत्सुकता है।

सांख्यकारिका (59)

प्रसङ्ग—एक बार प्रवृत्त हुई प्रकृति की निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इसी के लिए दूसरा उद्धरण ग्रन्थकार ईश्वरकृष्ण दे रहे हैं।

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥59॥

अन्वय—यथा नंतकी रङ्गस्य दर्शयित्वा नृत्यात् निवृत्तते तथा प्रकृतिः पुरुषस्य आत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते।

शब्दार्थ—**यथा** = जिस प्रकार। **नर्तकी** = नाचने वाली। **रङ्गस्यः** = रङ्गशाला को, रङ्गशाला में उपस्थित दर्शकों को। **दर्शयित्वा** = दिखाकर। **नृत्यात्** = नाच से। **निवर्तते** = निवृत्त हो जाती है, विरत हो जाती है। **तथा** = उसी प्रकार। **प्रकृतिः** = प्रकृति। **पुरुषस्य** = पुरुष के सामने। **आत्मानं** = अपने को। **प्रकाश्य** = प्रकाशित करके। **विनिवर्तते** = निवृत्त हो जाती है।

हिन्दी अर्थ—जिस प्रकार नर्तकी रङ्गशाला में उपस्थित दर्शकों के सामने अपने को नाचती हुई दिखाकर नृत्य से निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकाशित कर निवृत्त हो जाती है अर्थात् उस पुरुष के सामने फिर अपना कोई प्रपञ्च प्रदर्शित नहीं करती।

टिप्पणी—

'नर्तकीवत् प्रवृत्तस्थापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् (3/69 सां०सू०) जैसे नर्तकी का यद्यपि नाचना स्वभाव है तथा वह सभा को नृत्य दिखाती है तथापि जब नृत्य करते-करते उसका अभिप्राय पूर्ण हो जाता है तब वह नृत्य करने से निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति का सृष्टि करना यद्यपि सामान्यतः स्वभाव है परन्तु सृष्टि करने का जो प्रयोजन है वह विवेक के उत्पन्न होने से निवृत्त हो जाता है इसलिए उससे निवृत्त भी हो जाता है।'

पुरुष के सामीप्य से ही सृष्टि विकास होता है जो पुरुष का प्रयोजन होना सम्भव है क्योंकि विकसित सृष्टि में ही स्थूल शरीर से संस्कारों का भोग हो सकता है। नर्तकी प्रकृति है तथा नृत्य ही उससे सम्पादित सृष्टि है। यदि नृत्य लगातार गतिमान रहे तो पुरुषमुक्ति नहीं हो सकती है। वास्तव में तो प्रकृति का यह नृत्य कभी समाप्त नहीं होता। नये-नये नृत्य देखने वाले आते हैं उनके सामने वही नृत्य प्रस्तुत होता रहता है। जो नृत्य दर्शन कर चुके होते हैं केवल उन्हीं को विरक्ति होती है। प्रकृति का सर्ग कार्य भी उस पुरुष के लिए नहीं होता जो उसका भोग करके उसके तथा स्वयं के अन्तर को समझ चुका है।

सांख्यकारिका (60)

प्रसङ्ग—प्रकृति पुरुष के कार्य के लिए प्रवृत्त होती है, किन्तु उपकृत पुरुष से प्रकृति का भी तो प्रत्युपकार होता होगा तथा ऐसा होने पर प्रकृति का कार्य परार्थ ही होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी का निराकरण ग्रन्थकार प्रस्तुत कारिका द्वारा कर रहे हैं।

नानाविधैरुपायैरूपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतः तस्यार्थमपार्थकं चरित ॥६०॥

अन्वय—उपकारिणी गुणवती (प्राकृतिः) नानाविधैः तस्य अनुपकारिणः अगुणस्य सतः पुंसः अर्थम् अपार्थकम् चरति।

शब्दार्थ—**उपकारिणी** = उपकार करने वाली। **गुणवती** = गुणयुक्त, त्रिगुणात्मक। **पुंसः** = पुरुष के। **अनुपकारिणः** = प्रत्युपकार न करने वाले। **अगुणस्य** = गुणविहीन, निर्गुण। **सतः** = होते हुए के। **अर्थम्** = अभीष्ट को, कार्य को। **नानाविधैः** = अनेक प्रकार के। **अपार्थकम्** = व्यर्थ ही, बिना किसी स्वार्थ के। **चरित** = करती है, साधती है।

हिन्दी अर्थ—उपकारिणी, गुणवती अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृति अनेक प्रकार के उपायों से उस अनुपकारी, निर्गुण, नित्य पुरुष के प्रयोजन का स्वार्थरहित होकर सम्पादन करती है।

टिप्पणी—

'उपाय' का अर्थ जयमंगलाकार बुद्धि के आठ भाव करते हैं जिनमें से धर्म, विराग, राग, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान नामक भाव से अपवर्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

माठर ने 'उपायैः' का अर्थ 'शब्दस्पर्शादिभिः' किया है। उपकार किसी न किसी विषय से ही किया जाता है। उपायों से यहाँ विषय तथा उनके साधक उपकरण—दोनों अभिप्रेत हैं। यहाँ प्रकृति सर्वगुणात्मिका दासी से उपमित की गई है तो नर्तकी तथा दुग्ध आदि उपमानों से विलक्षण है। माठर ने शिखिपिच्छ न्याय को उद्धृत किया है अर्थात् जिस भाँति मोर पंख के एक ही ओर चित्र अंकित रहता है तथा दूसरी ओर भी उसकी झलक चित्रित प्रतीत होती है, चित्र के एक ही ओर होने पर भी पूरी पूँछ चित्रांकित प्रतीत होती है।

जैसे सर्वगुणसम्पन्न तथा उपकारी होने पर भी सेवक निर्गुण तथा प्रत्युपकार रहित स्वामी से अपनी सेवा का कुछ भी फल प्राप्त नहीं करता उसी प्रकार वह गुणवती तथा उपकारिणी प्रकृति अनुपकारी अर्थात् गुणों से रहित होने के कारण उपकार करने में असमर्थ पुरुष के लिए प्रयास या कार्य करने पर भी स्वयं फलहीन ही रहती है। इस भाँति प्रकृति पुरुष के लिए ही प्रवृत्त होती है, अपने लिए नहीं।

सांख्यकारिका (61)

प्रसङ्ग—नर्तकी तो नृत्य से एक बार विरत होकर भी पुनः पुनः अपना नृत्य दर्शकों को दिखाती है किन्तु क्या प्रकृति भी बार-बार पुरुष को अपना स्वरूप प्रदर्शित कर निवृत्त होकर पुनः प्रवृत्त होती है। नहीं तो क्यों ? इसी का सांख्यकारिकाकार प्रस्तुत कारिका में समाधान कर रहे हैं।

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥६१॥

अन्वय—प्रकृतेः सुकुमारतरं किञ्चित् न अस्ति इति में मतिः भवति (यतो हि) या दृष्टा अस्मि इति पुनः पुरुषस्य दर्शनम् न उपैति।

शब्दार्थ—**प्रकृतेः** = प्रकृति से। **सुकुमारतरम्** = अधिक सुकुमार या लज्जाशील। **किञ्चित्** = अन्य कोई। **न** = नहीं। **अस्ति** = है। **इति** = ऐसी। **मे** = मेरी। **मतिः** = धारणा, विचार। **भवति** = होती है। **दृष्टा** = देखी गई। **अस्मि** = हूँ। **पुनः** = फिर, एक बार निवृत्त होने के बाद। **पुरुषस्य** = पुरुष का। **दर्शनम्** = दृष्टि में, दृष्टिगोचर को। **उपैति** = प्राप्त होती है।

हिन्दी अर्थ—प्रकृति से अधिक सुकुमार या लज्जाशील अन्य कोई नहीं है, ऐसी मेरी धारणा होती है क्योंकि जो (प्रकृति) **'मैं देख ली गई हूँ'** यह जानते ही फिर पुरुष को दृष्टिगोचर नहीं होती अर्थात् पुरुष के द्वारा देख लिए जाने पर झट उससे निवृत्त हो जाती है और एक बार निवृत्त होने के बाद फिर कभी उस पुरुष के विषय में प्रवृत्त नहीं होती।

NOTES

टिप्पणी—

'दोष दोषेऽपि नोपसर्पणम् ? प्रधानस्य कुलवधुवत्' (३/७० सा०सू०)। 'पुरुष को मेरे साथ दु:ख होगा' इस बात में प्रकृति अपना दोष जान कर भी क्या उसका संसर्ग नहीं करती ? किन्तु अवश्य ही करती है, जैसे—कुलवधु के यदि कोई दोष हो जाय और उससे स्वामी को कष्ट हो जाय तो क्या वह अपने पति के पास नहीं जायेगी ? वह अवश्य ही जायेगी।

परपुरुष के दर्शन को न सहन करना ही प्रकृति की सुकुमारता है।

'मे मति' में 'मे' से क्या ग्राह्य है पुरुष ? जो प्रकृति की सुकुमारता का अनुभव करता है या प्रकृति स्वत: अपनी सुकुमारता का निरूपण करती है। जयमंगलाकार के अनुसार यह प्रकृति की ही स्वविषयक अनुभूति है। वाचस्पति मिश्र तथा गौड़पाद इसे ग्रन्थकार का कथन कहते हैं। माठर इसे पुरुष से सम्बद्ध कर पुरुष की अनुभूति कहते हैं।

'पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य' की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र का कथन है कि कुलवधू अन्य पुरुष से देख लिए जाने पर सावधान रहती है कि कहीं कोई पर पुरुष उसे देख न ले, प्रकृति के पक्ष में यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस पुरुष के द्वारा देखी जाती है उसी से पुन: देखे जाने से सावधान रहती है न कि पर पुरुष से। गौड़पाद तथा जयमंगलाकार के अनुसार—जिस पुरुष से देख ली जाती है, उसी के पुन: दर्शन का परिहरण होता है न कि पर पुरुष के दर्शन का। व्याख्या सर्वाधिक उचित है।

सांख्यकारिका (62)

प्रसङ्ग—सर्ग की उत्पत्ति तथा विकास के विवेचन में बार-बार यह कहा गया कि प्रत्यय तथा तन्मात्र दोनों सर्ग पुरुष के भोगापवर्ग के लिए हैं तो क्या यथार्थत: पुरुष बद्ध है तथा मुक्त होता है ? यदि हाँ, तो वह निर्गुण कैसे रह सकता है ? क्योंकि बन्धन तथा मोक्ष भी तो गुण ही हैं। इसी प्रकार अनेक योनियों में संसरण करते हुए पुरुष का जन्म तथा मृत्यु उसका ही धर्म है। इसी का वर्णन प्रस्तुत कारिका में सांख्यकारिकाकार कर रहे हैं।

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति:॥६२॥

अन्वय—तस्मात् अद्धा न बध्यते, न मुच्यते, न अपि कश्चित् संसरति नानाश्रया प्रकृति: संसरति, बध्यते मुच्यते च, (इति)।

शब्दार्थ—तस्मात् = इसलिए। **अद्धा** = वास्तव में, सचमुच। **न** = नहीं। **बध्यते** = बंधता है। **न** = नहीं। **मुच्यते** = मुक्त होता है। **न** = नहीं। **अपि** = भी। **कश्चित्** = कोई पुरुष। **संसरति** = संसरण करता या जन्म-मरण प्राप्त करता है। **नानाश्रया** = अनेक आश्रयों वाली या अनेक आश्रयों में रहने वाली।

हिन्दी अर्थ—इसलिए वास्तव में न तो कोई पुरुष बँधता है, न मुक्त होता है और न संसरण करता या जन्म-मरण प्राप्त करता है, अपितु अनेक आश्रयों वाली या अनेक पुरुष रूप आश्रयों में रहने वाली प्रकृति ही संसरण करती है या जन्म मरण प्राप्त करती है तथा वही बँधती और मुक्त होती है।

टिप्पणी—

संसार में व्यवहार दृष्टि से लोग कहते हैं—पुरुष बद्ध है, पुरुष मुक्त होता है तथा पुरुष संसार में आवागमन करता है। यह सब वह अप्राप्त प्रापण से करता है। किन्तु सत्त्व पुरुषान्तर ज्ञान से अर्थात् बुद्धयादि से पुरुष पृथक है ऐसा ज्ञान हो जाने से पुरुष की वास्तविकता प्रकट होती है। उसका शुद्ध मुक्त स्वरूप बोध में आता है। बद्ध न होने वाला पुरुष मुक्त भी नहीं होता है। वस्तुत: प्रकृति ही पुरुष को बद्ध और मुक्त करती है, वह प्रकृति के संसर्ग से बन्ध

ान का अपने में आरोप कर लेता है और उसी प्रकार मुक्ति का भी, जैसे सेना के हारने से राजा की हार मानी जाती है और सेना के जीत जाने से राजा की जीत कही जाती है। उसी प्रकार प्रकृति भोग और अपवर्ग का विवेकाग्रह से पुरुष के साथ सम्बन्ध होने के कारण पुरुष बद्ध है तथा 'पुरुष मुक्त है' ऐसा व्यवहार होता है। वस्तुत: जिस योनिविशेष में महदादि त्रिविध करणों वाला तथा तन्मात्रा वाला सूक्ष्म शरीर तीन प्रकार के बन्धन से बन्धन में पड़ता है उसी में पुरुष भी अपने को बद्ध समझता है। सूक्ष्म शरीर धर्म-अधर्म से संयुक्त होता है। तीन बन्धन हैं—प्राकृत बन्धन, वैचारिक बन्धन और दक्षिण बन्धन।

लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीर बुद्धि के धर्म-अधर्म आदि भावों से संस्कारित होकर बनता है। यही सूक्ष्म शरीर संसरण करता है और संस्कारों का भोग समाप्त हो जाने पर भंग हो जाता है। योग भाष्य और तत्त्व कौमुदी ने सेना के जय पराजय के परिणाम का आरोप शासक पर जैसे होता है वैसे ही पुरुष के संसरण, बन्धन और मोक्ष को कहा गया है। वाचस्पति मिश्र ने बध्यते, संसरति और मुच्यते क्रम रखा है। जयमंगलाकार ने संसरति, बध्यते और मुच्यते क्रम रखा है। गौड़पाद में भी बध्यते, मुच्यते और संसरति क्रम प्राप्त होता है।

सांख्यकारिका (63)

प्रसङ्ग—प्रस्तुत कारिका में कारिकाकार ने प्रकृति के बन्धन, संसरण और मोक्ष आदि के विषय में प्रकृति के ये किस प्रयोजन से होते हैं तथा इनकी प्रक्रिया क्या है ? इसमें विवेचन कर रहे हैं।

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥६३॥

अन्वय—प्रकृतिः तु आत्मना सप्तभिः रूपैः आत्मानम् एव बध्नाति सा एव च एकरूपेण पुरुषार्थम् प्रति विमोचयति।

शब्दार्थ—प्रकृतिः = प्रकृति। **आत्मना** = अपने द्वारा। **सप्तभिः** = सातों (अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य)। **रूपैः** = रूपों या भावों से। **आत्मानम्** = अपने को। **एव** = ही। **बध्नाति** = बाँधती है। **एकरूपेण** = एक रूप या भाव से अर्थात् ज्ञान से। **पुरुषार्थम् प्रति** = पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए। **विमोचयति** = मुक्त करती है, छुड़ाती है।

हिन्दी अर्थ—प्रकृति अपने सातों (अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य) ही रूपों या भावों से अपने द्वारा अपने को बाँधती है और वही पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए एक रूप या भाव से अर्थात् ज्ञान से अपने को मुक्त करती या छुड़ाती है।

टिप्पणी—

'रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नानि प्रधानं कोशकारवद्विमोचयत्येकरूपेण' (३/६३ सां० सूत्र), धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य, इन सात रूपों से प्रकृति पुरुष का बन्धन करती है, जैसे तलवार के म्यान निर्माता की कला कुशलता तलवार से आवृत्त रहती है इसी भाँति पुरुष को प्रकृति से आवृत समझना चाहिए तथा वही प्रकृति एक रूप से अर्थात् ज्ञान से आत्मा को दु:ख से मुक्त कर देती है।

'रूप' शब्द से प्रस्तुत कारिका में तेइसवीं कारिका में निरूपति बुद्धि के धर्म-अधर्म आदि का ग्रहण होता है। आठ भावों में केवल ज्ञान संज्ञक भाव विवेक द्वारा मोक्ष प्रदान करता है तथा शिष्ट सातों भाव बन्धन करने वाले हैं। यह बन्धन पुरुष का नहीं होता अपितु सूक्ष्म शरीर रूप में प्रकृति का ही होता है। पुरुष केवल ज्ञान से ही उसके यथार्थ स्वरूप कैवल्य की प्रतीति कर पाता है जो प्रकृति का ही भाव है। तात्पर्य यह है कि भोग रूप पुरुषार्थ के प्रति धर्मादि सात भावों से प्रकृति अपने को बन्धन में डालती है तथा अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के प्रतिज्ञान भाव से अपने को जगत् से मुक्ति दिलाती है। इससे यह स्पष्ट है कि वैराग्यादि के अभाव में भी केवल ज्ञान ही मुक्ति दान में समर्थ है।

सांख्यकारिका (64)

NOTES

प्रसङ्ग—तत्त्वविषयक ज्ञान या चिन्तन के अभ्यास से विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है, इसका वर्णन प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार कर रहे हैं।

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥६४॥

अन्वय—एवम् तत्त्वाभ्यासात् न अस्मि, न मे, न अहम्, इति अपरिशेषम् अविपर्ययात् विशुद्धम् ज्ञानम् उत्पद्यते।

शब्दार्थ—**एवम्** = इस प्रकार से अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से। **तत्त्वाभ्यासात्** = तत्त्वविषयक ज्ञान के अभ्यास या बारम्बार आवृत्ति से। **न अस्मि** = नहीं हूँ। **न मे** = मेरे नहीं है। **न अहम्** = मैं नहीं। **इति** = इस रूप में। **अपरिशेषम्** = सम्पूर्ण अर्थात् ऐसा कि जिसमें फिर कुछ ज्ञातव्य अवशिष्ट न रहे। **अविपर्ययात्** = विपर्यय अर्थात् भ्रम या मिथ्या ज्ञान और संशय के अभाव के कारण। **विशुद्धम्** = निर्मल अर्थात् भ्रम एवं संशय आदि रहित। **केवलम्** = अनादि मिथ्या ज्ञान की वासना या संस्कार से भी रहित। **ज्ञानम्** = तत्त्वज्ञान। **उत्पद्यते** = उत्पन्न होता है।

हिन्दी अर्थ—पूर्वाक्त प्रकार से तत्त्वविषयक ज्ञान के अभ्यास या बारम्बार आवृत्ति से 'नहीं हूँ' अर्थात् जैसा मैं अपने को शरीरवान व्यक्तित्व के रूप में अनुभूत कर रहा हूँ वैसा मैं नहीं हूँ, अपितु प्रकृति और प्राकृतिक शरीर आदि विकारों से व्यतिरिक्त 'पुरुष हूँ' मेरे नहीं है' अर्थात् प्रकृति और प्राकृतिक शरीर आदि विकारों के अनुबन्धी गुण, व्यापार, पदार्थ, सम्बन्धी, भोग, बन्ध एवं मोक्ष आदि जिनको मैं अपना समझता रहा हूँ, मेरे नहीं है, 'मैं नहीं' अर्थात् जैसा कि मैं अपने को 'अहम्' (मैं), इस प्रत्यय या अनुभूति का विषय समझता रहा हूँ वैसा मैं नहीं, अपितु वस्तुत: प्रकृतिजन्य ज्ञान के कारण होने वाले 'अहन्त्व' से विहीन चिन्मात्र पुरुष हूँ, इस रूप में सम्पूर्ण अर्थात् ऐसा कि जिसमें फिर कुछ ज्ञातव्य अवशिष्ट न रहे, विपर्यय अर्थात् भ्रम या मिथ्या ज्ञान और संशय के अभाव के कारण निर्मल अर्थात् भ्रम एवं संशय आदि से रहित एवं अनादि मिथ्या ज्ञान की वासना या संस्कार से भी रहित ज्ञान या तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है।

टिप्पणी—

'तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेक सिद्धिः' (३/७५ सां० सू०), देह आत्मा नहीं, पुत्र आत्मा नहीं है, इन्द्रिय आत्मा नहीं है, मन आत्मा नहीं है, इस प्रकार नेति नेति करके त्याग से तथा तत्वों का अभ्यास करने से विवेक सिद्धि हो जाती है।

गौड़पाद, माठर तथा जयमंगलाकार 'तत्त्वाभ्यासात्' को पच्चीस तत्वों का अभ्यास मानते हैं। वाचस्पति मिश्र तथा चन्द्रिकाकार इसे तत्त्व के विषय में ज्ञानाभ्यास कहते हैं जो अन्त में प्रकृति तथा पुरुष के भिन्न होने के ज्ञान में बदल जाता है।

'विशुद्ध' का अर्थ 'संशय तथा विपर्यय से विहीन' है क्योंकि ज्ञान इन्हीं दोनों से संकीर्ण हो जाता है। इसीलिए 'अविपर्ययात्' 'विशुद्धम्' के हेतु रूप में प्रयुक्त हुआ है। अभ्यासोत्पन्न तत्वज्ञान में मिथ्याज्ञान का संस्कार भी नहीं होता, इस भाव को स्पष्ट करने के लिए ज्ञान के विशेषार्थ 'केवलम्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जो विपर्यय ज्ञान के संस्कार से शून्य अर्थ वाला है। संशय तथा मिथ्या ज्ञान से मिला हुआ न होने से ही सांख्यशास्त्रीय तत्वज्ञान यहाँ विशुद्ध कहा गया है तथा विपर्यय ज्ञान की अनादि वासना से भी सर्वथा विनिर्मुक्त होने से केवल कहा है, जो 'मात्रपुरुष' अर्थ अभिव्यक्त करता है।

गौड़पाद के अनुसार 'नास्मि' का अर्थ नाहमेवंभवामि है। इसका अभिप्राय है कि सृष्टि के मन, बुद्धि, अहंकार आदि तत्व उत्पन्न होते हैं, जो तत्व कभी नहीं उत्पन्न होता वह केवल पुरुष है। जयमंगलाकार कहते हैं कि

नास्मि का अर्थ है कि जो स्थूल या सूक्ष्म शरीर है, वह मैं नहीं हूँ अपितु प्रकृति हूँ। माठर के अनुसार—'नास्मि तत्त्वानि' मैं मन, बुद्धि, अहंकारादि तत्त्वों में नहीं हूँ। वाचस्पति मिश्र ने क्योंकि कृं, भू अस् धातु किसी भी क्रिया का वाची है अत: 'नास्मि' से आत्मा क्रियामात्र प्रतिषेध ही अभिप्रेत होता है ऐसा माना है तथा 'नास्मि' का तात्पर्य मैं क्रियावान् नहीं हूँ व्यक्त किया है।

गौड़पाद के अनुसार 'न मे' का अर्थ है कि यह मेरा शरीर नहीं है क्योंकि मैं भिन्न हूँ तथा मेरा शरीर भिन्न है। जयमंगलाकार कहते हैं कि 'न ममेदम्' अपितु 'प्रकृते:' यही 'न मे' का अर्थ है। माठर 'न मे का 'न मे' तत्त्वानि' अर्थ करते हैं। वाचस्पति इसका तात्पर्य 'न मे स्वामितास्ति' अर्थात् मैं किसी क्रिया कलाप का स्वामी नहीं हूँ व्यक्त करते है।

गौड़पाद 'नाहम्' की व्याख्या 'अहङ्काररहितोऽहम्' 'मैं अहङ्कार हीन हूँ' करते हैं। जयमंगलाकार के अनुसार नाहं प्रकृति: अर्थात् मैं प्रकृति नहीं हूँ, है। माठर के अनुसार 'मैं' महदादि तत्त्वों की नहीं हूँ तथा वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'मैं कर्ता नहीं हूँ,' है।

इन सभी तत्वों तथा प्रकृति पुरुष के भेद को जानने के पश्चात् भी हो सकता है कि कुछ जानना अभी शिष्ट हो जो अब तक विदित न हो तथा सम्भव है कि वह अज्ञान प्राणियों के बन्ध का कारण हो। इसी सम्भावना के निराकरणार्थ ही प्रस्तुत कारिका में विशुद्ध तथा केवल के साथ ज्ञान का एक अन्य विशेषण अपरिशेष भी प्रयोग किया गया है। अपरिशेषम् का तात्पर्य यह है कि सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार जो तत्त्व गिनाये गये हैं उनसे भिन्न अन्य कोई तत्व नहीं हो सकता है जिसका अज्ञान बन्ध के कारण हो सके।

सांख्यकारिका (65)

प्रसङ्ग—प्रस्तुत कारिका में सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण तत्त्व ज्ञान क्या होता है, इसका वर्णन कर रहे हैं।

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्।
प्रकृति पश्यति पुरुष: प्रेक्षकवदवस्थित: स्वच्छ: ॥65॥

अन्वय—तेन प्रेक्षकवत् अवस्थित: स्वच्छ: पुरुष: अर्थवशात् निवृत्तप्रसवाम् सप्तरूप-निवृत्ताम् प्रकृतिम् पश्यति।

शब्दार्थ—**तेन** = उससे। **प्रेक्षकवत्** = निरपेक्ष दर्शन के समान। **अवस्थित:** = स्थित। **स्वच्छ:** = निर्मल। **पुरुष:** = पुरुष। **अर्थवशात्** = विवेकज्ञान रूप अर्थ या प्रयोजन के सम्पन्न होने की सामर्थ्य से। **निवृत्तप्रसवाम्** = निवृत्त या बन्द हो गया है, प्रसव या उत्पादन जिसका ऐसी को। **सप्तरूपनिवृत्ताम्** = अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य, ये सात रूप जिसके निवृत्त हो गए हैं, ऐसी। **प्रकृतिम्** = प्रकृति को। **पश्यति** = देखता है।

हिन्दी अर्थ—उस तत्त्वज्ञान से जिसका प्रसव या उत्पादन निवृत्त या बन्द हो गया है तथा विवेकज्ञान रूप प्रयोजन के सम्पन्न होने की सामर्थ्य से जिसके अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य ये सात रूप निवृत्त हो गए हैं, ऐसी प्रकृति को निरपेक्ष दर्शक के समान स्थित निर्मल पुरुष देखता है।

टिप्पणी—

अवस्थित:—जैसे रंगमंच का दर्शक नर्तकी को ही नृत्य में प्रवृत्त तथा उससे निवृत्त होते हुए देखता है—उसी प्रकार पुरुष प्रकृति को सर्ग में प्रवृत्त तथा अन्त में उसको संकुचित करते हुए देखता अर्थात् निष्क्रिय रहता है।

अर्थवशात्—इसका अर्थ 'विवेक ज्ञान रूप प्रयोजन सामर्थ्य से' है।

निवृत्तप्रसवाम्—प्रकृति के भोगापवर्ग प्रसव हैं, विवेक ज्ञान होने तक भोग क्रियान्वित होता रहता है। विवेक हो जाने पर अपवर्ग सिद्ध होता है तथा भोगावसान होता है। विवेक ज्ञानभूत प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर अपवर्ग भूत प्रसव पुन: नहीं अपेक्षित होता।

सप्तरूपविनिवृत्ताम्—धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य, अज्ञान, अधर्म, अविराग तथा अनैश्वर्य, ये आठ बुद्धि के भाव हैं जो रूप भी कहे जाते हैं। इनमें से ज्ञान से अपवर्ग सिद्धि तथा शेष से भोग सिद्धि होती है। शेष सात विवेक ज्ञान हो जाने पर नहीं रहते। कारण के निवृत्त हो जाने से ही ये निवृत्त हो जाते हैं।

स्वच्छः—गौड़ पाद तथा जयमंगलाकार 'स्वस्थ:' पाठ स्वीकार करते हैं तथा उसका अर्थ 'अपने में स्थित' करते हैं। कुछ स्थानों पर 'सुस्थ:' पाठ मिलता है। जिसका अर्थ है सात्विक बुद्धि से स्थित किया गया है। तत्त्वज्ञान की स्थिति में पुरुष स्वच्छ या निर्मल रहता है अर्थात् उसका रजस् या तमस् की वृत्तियों से कलुषित होने वाली बुद्धि से सम्पर्क नहीं रहता, अपितु निर्मल सात्विक बुद्धि से सम्पर्क रहता है। इस निर्मल सात्त्विक बुद्धि के माध्यम से ही पुरुष प्रकृति का दर्शन करता है तथा साथ ही जहाँ वह यह समझता रहता है कि वह प्रकृति से भिन्न है, वहाँ वह यह भी समझता रहता है कि जिस बुद्धि रूप माध्यम से प्रकृति का दर्शन कर रहा है, उससे भी भिन्न है।

सांख्यकारिका (66)

प्रसङ्ग—प्रकृति का जड़स्वरूप भोग्यत्व योग्यता तथा पुरुष का चेतन स्वरूप भोक्तृत्व योग्यता ही इनका संयोग है। इस संयोग की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि इनका जड़त्व तथा चेतनत्व निवृत्त नहीं होना है। प्रकृति पुरुष दोनों नित्य हैं इसलिए उनका संयोग भी नित्य होगा तब तक सर्गोत्पत्ति भी अवश्यभामिनी होगी। निवृत्त प्रसवा पुरुष को कैसे देखती है प्रस्तुत कारिका में ईश्वरकृष्ण कैसे कहाँ का उत्तर दे रहे हैं।

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयो: प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य॥६६॥

अन्वय—एक: मया दृष्टा इति उपेक्षक: अन्या अहम् दृष्टा इति उपरमति (अत:) तयो: संयोगे सति अपि सर्गस्य प्रयोजनम् नास्ति।

शब्दार्थ—**एक:** = एक। **मया** = मैंने। **दृष्टा** = देख ली। **इति** = इसलिए। **उपेक्षक:** = उपेक्षा करने वाला। **अन्या** = दूसरी अर्थात् प्रकृति। **अहम्** = मैं। **दृष्टा** = देख ली। **इति** = इसलिए। **उपरमति** = विरत हो जाती है। **तयो:** = उन दोनों के अर्थात् प्रकृति और पुरुष के। **संयोगे सति अपि** = संयोग के होने पर भी। **सर्गस्य** = सर्ग का। **प्रयोजनम्** = प्रयोजन। **नास्ति** = नहीं रहता है।

हिन्दी अर्थ—मैंने देख ली, इसलिए एक अर्थात् पुरुष (प्रकृति की) अपेक्षा करता है, मैं देख ली, यह जानकर दूसरी अर्थात् प्रकृति (पुरुष से) विरत हो जाती है। परिणामत: इन दोनों के अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संयोग होने पर भी सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता।

टिप्पणी—

'विमुक्तस्य बोधान्न सृष्टि: प्रधानस्य लोकवत्'। (६/४३ सां० सूत्र)। जब प्रकृति यह जान लेती है कि यह पुरुष मुक्त हो गया तब उसके लिए सृष्टि नहीं करती जैसे लोक में भी दृष्टिगत होता है कि कोई व्यक्ति जब किसी को छुड़ाने का प्रयास करता है तथा जब छूट जाता है तब उस प्रयत्न से निवृत्त हो जाता है क्योंकि जिसके लिए प्रयत्न किया था वह कार्य पूर्ण हो गया।

प्रकृति पुरुष में विवेक ख्याति उत्पन्न करने तक शब्दादि विषयों का पुन: पुन: भोग भले ही कराये किन्तु एक बार विवेक ख्याति उत्पन्न हो जाने पर वह पुन: भोग उत्पन्न नहीं करती क्योंकि भोग तो अविवेकवश ही होता है,

उसके अभाव में नहीं। जैसे अंकुर बीज के अभाव में नहीं होता। प्रकृति से अपने को भिन्न मानने के कारण पुरुष सुख-दु:ख मोह उत्पादक शब्दादि प्रकृति परिणामों को—ये मेरे हैं—ऐसा अभिमान करता हुआ उनका भोग करता है। इसी प्रकार प्रकृत्युत्पन्न विवेक ज्ञान को भी यह मेरे लिए है ऐसा समझता है। परन्तु विवेक हो जाने पर अविवेकशून्य हो जाने के कारण वह न तो शब्दादि का उपभोग करता है और प्रकृत्युत्पादित विवेकज्ञान को स्वार्थ में समझता है तथा भोग और विवेक ज्ञान तभी तक प्रकृति द्वारा रचित सृष्टि में कारण बनते हैं जब तक ये पुरुषार्थ प्रापनीय विषय रहते हैं। ज्यों ही ये पुरुषार्थ नहीं रहते त्यों ही ये प्रकृति सृष्टि के प्रयोजन नहीं रहते। जैसे लेन-देन के लिए उत्तमर्ण तथा अधमर्ण का संयोग होता है किन्तु लेन-देन हो जाने पर पुन: मिलने पर भी कोई अर्थ सम्बन्ध ा नहीं रह जाता इसी प्रकार प्रकृति पुरुष भी मिलते हैं पर सृष्टि सम्बन्ध नहीं होता।

सांख्यकारिका (67)

प्रसङ्ग—प्रस्तुत कारिका में कारिकाकार ईश्वरकृष्ण वर्णन कर रहे हैं कि तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर भी पुरुष शरीर को धारण किये रहता है।

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीर:॥६७॥

अन्वय—सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनाम् अकारणप्राप्तौ संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवत् धृतशरीर: तिष्ठति।

शब्दार्थ—सम्यग्ज्ञानाधिगमात् = तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने से। **धर्मादीनाम्** = धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य के। **अकारणप्राप्तौ** = अकारणत्व को प्राप्त करने पर अर्थात् कारण न रह जाने पर। **संस्कारवशात** = प्रारब्ध कर्मों के संस्कार के कारण। **चक्रभ्रमिवत्** = चाक के घूमने के समान। **धृतशरीर:** = शरीर को धारण किए हुए। **तिष्ठति** = रहता है।

हिन्दी अर्थ—सम्यग्ज्ञान या तत्वज्ञान की प्राप्ति होने से धर्म आदि के अर्थात् धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य एवं अनैश्वर्य के अकारणत्व को प्राप्त करने पर अर्थात् किसी फल को देने के प्रति कारण न रह जाने पर अर्थात् तत्त्वज्ञान प्राप्त पुरुष प्रारब्ध कर्मों के संस्कार के कारण कुम्हार के चाक के घूमने के समान शरीर को धारण किए हुए रहता है।

टिप्पणी—

'चक्रभ्रमणवद् धृतशरीर:' (३/८२ सां० सूत्र) तथा 'संस्कारलेशतस्तात्सिद्धि:' (३/८३ सां० सूत्र)। जैसे कुम्हार का चक्र ऊपर से घटादि बनकर उतर जाने पर भी कुछ देर तक अपने आप पूर्व वेग से घूमता रहता है उसी प्रकार ज्ञान के उत्पन्न होते ही यद्यपि नये कर्म नहीं उद्भूत होते तब भी प्रारब्ध कर्मों के वेग से शरीर धारण किए हुए जीवन्मुक्त रहता है। रागादि के संस्कार का लेश रहने के कारण उसी के सहारे उपभोग की सिद्धि जीवन्मुक्त को हो जाती है। वास्तविक राग जीवन्मुक्त को नहीं रहते।

उपनिषदों में इस जीवन्मुक्ति की स्थिति को स्वीकार करके इसे जीवन्मुक्ति ही कहा गया है—'तस्य तावदेवचिरं यावद् न विमोक्ष्येऽथसम्पत्स्ये'। वेदान्त के अनुसार प्रारब्ध कर्मों के बाद ही मुक्ति प्राप्त होती है।

अप्रारब्ध फल भोग वाले पुण्य पाप का फल भोग आरम्भ हो गया है उसकी समाप्ति भोग के द्वारा होने के बाद ही जीव ब्रह्मपद को प्राप्त करता है। गौड़पाद तथा जयमंगलाकार 'चक्रभ्रमवत्' पाठ मानते हैं तथा वाचस्पति मिश्र 'चक्रभ्रमिवत्' पाठ प्रमाणित करते हैं। पाठान्तर से अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता।

ज्ञान तो आगे किए जाने वाले कर्मों का नाश करता है। वर्तमान शरीर से क्रियमाण कर्म तो प्रारब्धानुसार होते हैं तथा प्रारब्ध भोग किए बिना क्षय नहीं होता। 'भोग बिना शरीर असम्भव है' अत: शरीर से वह सभी प्रारब्धों का नाश कर

लेता है। ज्ञान हो जाने से वह अविहित कर्म नहीं करता, अत: आगे शरीर धारण असम्भव रहता है, संस्कारों का नाश होने पर शरीर की भी मुक्ति हो जाती है।

NOTES

सांख्यकारिका (68)

प्रसङ्ग—सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण वर्णन कर रहे हैं कि शरीर के छूट जाने पर तत्त्वज्ञानी कैवल्य प्राप्त करता है।

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥६८॥

अन्वयशब्दार्थ—शरीरभेदे प्राप्ते चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ (पुरुष:) एकान्तिकम् आत्यन्तिकम् उभयम् कैवल्यम् आप्नोति।

शब्दार्थ—शरीरभेदे प्राप्ते = शरीर पात या शरीर का वियोग होने पर। **चरितार्थत्वात्** = चरितार्थ होने के कारण या प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने के कारण। **प्रधानविनिवृत्तौ** = प्रकृति की निवृत्ति होने पर। **ऐकान्तिकम्** = अनिवार्य या अवश्यम्भावी। **आत्यन्तिकम्** = अविनाशी, हमेशा विद्यमान रहने वाला। **कैवल्यम्** = मोक्ष, दु:खत्रय का अभाव। **आप्नोति** = प्राप्त करता है।

हिन्दी अर्थ—शरीर का पात या वियोग होने पर तथा चरितार्थ होने या प्रयोजनों के सिद्ध होने के कारण प्रकृति की निवृत्ति होने पर तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐकान्तिक अर्थात् अनिवार्य या अवश्यम्भावी और आत्यन्तिक अर्थात् अविनाशी या सदा बना रहने वाला, इन दोनों प्रकार के कैवल्य अर्थात् मोक्ष या दु:खत्रय के अभाव को प्राप्त करता है।

टिप्पणी—

'शरीर भेद' का अर्थ शरीर का निवृत्त हो जाना अर्थात् मुक्त हो जाना है। तत्त्वज्ञान से उस कर्माश्रित फलों को उत्पन्न कराने वाली शक्ति क्षीण हो जाती है जिनका विपाक अभी शुरू हुआ नहीं होता है। स्वफल प्राप्ति समारम्ध ा कर्मों का भोग तो होकर ही रहता है चाहे वह केवल अभिधान मात्र क्यों न हो, उसमें भेद इतना ही आता है, ये भोग पुन: कर्म संस्कार को उत्पन्न नहीं करते।

जिनका फलभोग प्रारम्भ हो गया था, भोग द्वारा उन कर्मों के क्षीण हो जाने पर जब सूक्ष्म तथा स्थूल अर्थात् द्विविध शरीर नष्ट हो जाता है तब चरितार्थ अर्थात् भोग और अपवर्ग भूत दो प्रकार का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, अत: ज्ञानी पुरुष के विषय में प्रवृत्ति हीन प्रकृति के हो जाने पर वह पुरुष ऐकान्तिक अर्थात् नियत रूप से तथा आत्यन्तिक अर्थात् नित्य कैवल्य (तीनों प्रकार के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दु:खों से मोक्ष) प्राप्त कर लेता है।

सांख्यकारिका (69)

प्रसङ्ग—प्रमाणों द्वारा सभी शास्त्रार्थ सिद्ध हो जाने पर भी उसमें आत्यन्तिक (नित्य) श्रद्धा उद्भूत करने के लिए कहते हैं कि यह महर्षि कपिल का उपदिष्ट ज्ञान है, इसी का वर्णन कर रहे हैं।

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्॥६९॥

अन्वय—इदम् गुह्यम् पुरुषार्थज्ञानम् परमर्षिणासमाख्यातम् यत्र भूतानां स्थित्युत्पत्तिप्रलया: चिन्त्यन्ते।

शब्दार्थ—इदम् = यह, पूर्व चर्चित। **गुह्यम्** = गूढ़, दुर्बोध। **पुरुषार्थज्ञानम्** = पुरुषार्थविषयक ज्ञान। **परमर्षिणा** = महर्षि कपिल ने। **समाख्यातम्** = कहा है, प्रकट किया है। **यत्र** = जिसमें। **भूतानाम्** = प्राणियों के। **स्थित्युत्पत्तिप्रलया:** = स्थिति अर्थात् जीवन-पालन, उत्पत्ति और प्रलय। **चिन्त्यन्ते** = चिन्तित या विचारित होते हैं, चिन्तन या विचार किया जाता है।

हिन्दी अर्थ—इस गूढ़ या दुर्बोध पुरुषार्थ विषयक ज्ञान अर्थात् पुरुष के प्रयोजनों को बताने वाले ज्ञान को परमर्षि कपिल ने कहा या प्रकट किया है, जिसमें प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति अर्थात् जीवन-यापन एवं प्रलय का चिन्तन या विचार किया जाता है।

टिप्पणी—

'पुरुषार्थ' शब्द से प्रस्तुत कारिका में परम पुरुषार्थ, मोक्ष अभिप्रेत हैं। यह पुरुष का प्रयोजन तथा ज्ञान दोनों ही है।

गौड़पाद तथा जयमंगलाकार 'गुह्य' शब्द का अर्थ क्रमशः रहस्य और अप्रकाश्य करते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार इसका अर्थ दुर्बोध्य है।

सांख्यकारिका में कपिल मुनि का नाम नहीं लिया गया है परन्तु 'परमर्षिणा' शब्द से तथा अग्रिम कारिका में मुनि शब्द प्रयोग किया जाने से कपिल मुनि का ग्रहण होता है। क्योंकि उन्हीं के द्वारा यह शास्त्र (सांख्यशास्त्र) प्रवर्तित हुआ है।

गौड़पाद की इसी कारिका तथा इस ग्रन्थ की कारिकाओं की टीका प्रस्तुत की गई है। इसके बाद उनकी सत्तर से बहत्तर तक कारिकाओं पर टीका प्राप्त नहीं होती जो सम्भवतः की ही नहीं गई है।

गौड़पाद स्थिति को अवस्थान, उत्पत्ति को आविर्भाव और प्रलय को तिरोभाव कहते हैं। जयमंगलाकार के अनुसार—पुरुष का बन्धन रूप में रहना स्थिति है, तन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति ही उत्पत्ति है तथा प्रलय-सबका अपने-अपने कारण (प्रकृति) में संहृत हो जाना है। इसमें आदि महाभूत अपने-अपने कारण में विलय को प्राप्त होते हुए मूल प्रकृति रूप में ही शिष्ट रह जाते हैं।

वाचस्पति 'भूतानां' का अर्थ 'प्राणियों' का तथा गौड़पाद एवं जयमंगलाकार 'प्रकृति की सभी विकृतियों का' करते हैं।

सांख्यकारिका (70)

प्रसङ्ग—कपिल महर्षि से लेकर इस ग्रन्थ के रचयिता ईश्वरकृष्ण तक आचार्य परम्परा का वर्णन इस कारिका द्वारा प्रस्तुत कर रहे हैं।

एतत्पवित्रमग्रयं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥७०॥

अन्वय—एतत् पवित्रम् अग्रयं मुनिः अनुकम्पया आसुरये प्रददौ आसुरिः अपि, पञ्चशिखाय तेन च तन्त्रं बहुधाकृतम्।

शब्दार्थ—**एतत्** = इस। **पवित्रम्** = पवित्र। **अग्रयम्** = प्रमुख को। **मुनिः** = कपिल मुनि ने। **अनुकम्पया** = कृपा से। **आसुरये** = आसुरि नामक शिष्य के लिए। **प्रददौ** = दिया। **पञ्चशिखाय** = 'पञ्चशिख' नामक शिष्य के लिए। **तेन** = उसने, पञ्चशिख ने। **तन्त्रम्** = ज्ञान को, ज्ञान प्रदायक शास्त्र को। **बहुधा** = अनेक रूपों में विस्तृत। **कृतम्** = किया।

हिन्दी अर्थ—कपिल मुनि ने कृपा करके इस पवित्र एवं प्रमुख ज्ञान को अपने 'आसुरि' नामक शिष्य को दिया, आसुरि ने भी इसे 'पञ्चशिख', नामक शिष्य के लिए दिया और पञ्चशिख ने इस तन्त्र अर्थात् ज्ञान या अज्ञान प्रदायक शास्त्र को अनेक रूपों में विस्तृत किया।

NOTES

टिप्पणी—

यह ज्ञान दु:खत्रय के कारण भूत अर्थात् अविद्या रूपी पाप को दूर करके साधक को पवित्र करता है अत: 'पवित्रम्' कहा गया है। इसीलिए इस व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान को अभ्रच कहा गया है क्योंकि दु:खनिवारक के सब प्रकार के उपायों में यह श्रेष्ठ है।

'अनुकम्पा' का अभिप्राय यह है कि मुनि कपिल ने धर्म, ज्ञान, विराग तथा ऐश्वर्य आदि चारों भावों को जन्म से ही सिद्ध कर लिया था। ज्ञान भाव से संसार को अज्ञानतम में डूबे हुए अनेक प्रकार से पीड़ित देखकर करुणा उत्पन्न से प्रेरित होकर ही आसुरि को यह ज्ञान प्रदान किया।

जयमंगलाकार कहते हैं कि यह आसुरि कपिल के सगोत्र ब्राह्मण थे तथा विरक्तिमान से कपिलमुनि की अनुकम्पा के पात्र हो गये और आसुरि ने इस ज्ञान को अपने शिष्य पंचशिख को प्रदान कर दिया जिन्होंने इस शास्त्र में निपुणत्व प्राप्त कर षष्ठितन्त्र नामक ग्रन्थ रचा।

सांख्यकारिका (71)

प्रसङ्ग—ईश्वरकृष्ण ने साक्षात् रूप से सांख्यशास्त्र का ज्ञान नहीं प्राप्त किया अपितु शिष्य परम्परा से उपलब्ध किया, इसी का वर्णन प्रस्तुत कारिका में कर रहे हैं।

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभि:।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥७१॥

अन्वय—शिष्यपरम्परया आगम् एतत् सिद्धान्तम् सम्यग्विज्ञाय आर्यमतिना ईश्वरकृष्णेन आर्याभि: संक्षिप्तम्।

शब्दार्थ—शिष्यपरम्परया = शिष्य परम्परा से। **आगतम्** = आए हुए को, प्राप्त हुए को। **सिद्धान्तम्** = सारभूत तत्त्व को, प्रमुख प्रतिपाद्य को। **सम्यग्विज्ञाय** = अच्छी तरह जानकर। **आर्यमतिना** = श्रेष्ठ बुद्धि वाले ने। **ईश्वरकृष्णेन** = ईश्वरकृष्ण ने। **आर्याभि:** = आर्याओं के द्वारा, 'आर्या' नामक छन्दों के द्वारा। **संक्षिप्तम्** = संक्षिप्त कर दिया है।

हिन्दी अर्थ—शिष्य परम्परा से आए हुए तंत्र या ज्ञान को श्रेष्ठ बुद्धि वाले ईश्वर कृष्ण ने ज्ञान में निहित सिद्धान्त को अच्छी तरह जानकर आर्या नामक छन्दों के द्वारा संक्षिप्त कर दिया है।

टिप्पणी—

सांख्यशास्त्र का यह ज्ञान ईश्वरकृष्ण को पञ्चशिख से न प्राप्त होकर पंचशिख के शिष्यों, प्रशिष्यों की परम्परा से प्राप्त हुआ था। इनके साक्षात् गुरु कौन थे ? इसका यहाँ उल्लेख न होने से किसी एक विशेष व्यक्ति के द्वारा ज्ञान न प्राप्त होना तथा स्वयं अध्यवसाय तथा पञ्चशिख के ग्रन्थ षष्ठितत्र तथा तत्कालीन सांख्यशास्त्र के विद्वानों के सम्पर्क से ही शास्त्र में इतना गतिमान होना सूचित होता है।

आर्यमिति—वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि तत्वों के समीप जाने वाली बुद्धि ही आर्या है तथा उससे युक्त ही आर्यमति है।

आर्या एक छन्द है जिसके पहले और तीसरे चरण में बारह तथा दूसरे में अठारह और चौथे में पन्द्रह मात्रायें होती है।

सांख्यकारिका (72)

प्रसङ्ग—यह ग्रन्थ समस्त सांख्य शास्त्र के विषयों का ज्ञान कराने से 'शास्त्र' है, प्रकरण ग्रन्थ नहीं। इसी का वर्णन प्रस्तुत कारिका में कारिकाकार कर रहे हैं।

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्था: कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिता: परवादविवर्जिताश्चापि॥72॥

अन्वय—सप्तत्याम् ये अर्थाः ते कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताः च अपि अर्थाः किल (सन्ति)।

शब्दार्थ—सप्तत्याम् = प्रस्तुत ग्रन्थ की सत्तर कारिकाओं में। **अर्थाः** = प्रतिपाद्य विषय। **कृत्स्नस्य** = समस्त के। **षष्ठितन्त्रस्य** = षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ के। **आख्यायिका विरहिताः** = आख्यायिकाओं से रहित। **परवादविवर्जिताः** = दूसरे मतों के खण्डन से रहित। किल = वास्तव में (सन्ति = है)।

हिन्दी अर्थ— प्रस्तुत ग्रन्थ सांख्यकारिका की सत्तर कारिकाओं में जो प्रतिपाद्य विष्य है वे वास्तव में समस्त 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ के आख्यायिकाओं और दूसरे मतों के खण्डन से रहित विषय है।

टिप्पणी—राजवार्तिककार सांख्य ग्रन्थ 'राजवार्तिक' में लिखते हैं—प्रधान या पुरुष का अस्तित्व, प्रधान का पुरुष एकत्व के लिए प्रधान की सार्थकता, प्रधान का पारार्थ्य, पुरुष का बहुत्व, प्रकृति तथा पुरुष का वियोग, संयोग, शेषवृत्ति (प्रधान का व्यक्ताव्यक्त रूप में वर्तमान होना) तथा पुरुष का अकर्तृत्व—ये दस मुख्य पदार्थ हैं। पाँच प्रकार के अज्ञान, नौ प्रकार की तुष्टियाँ, इन्द्रियों की अट्ठारह प्रकार की अशक्तियाँ तथा आठ प्रकार की सिद्धियाँ, ये साठ पदार्थ हैं। ये साठों पदार्थ इस ग्रन्थ में निरूपित हैं इसलिए सांख्यशास्त्र के सम्पूर्ण तत्वों का विवेचन करने के कारण यह शास्त्र है—प्रकरण नहीं-यह सिद्ध है।

यहाँ यह सिद्ध होता है कि सांख्यकारिका षष्टितन्त्र का ही एक रूप है। उसमें दृष्टान्त रूप में उद्धृत आख्यान तथा मतमतान्तर का निरूपण नहीं है तथा इस भाँति यह सांख्यकारिका विशुद्ध रूप से सांख्यसिद्धान्तों की ही प्रतिपादिका है।

सारांश :

त्रिविध दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) के द्वारा किये गये प्रहार से पीड़ित होने के कारण उन तीन प्रकार के दुःखों के नाश हेतु या उपाय के सम्बन्ध में जानने की इच्छा उत्पन्न होती है।

लौकिक उपायों से दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं देखी जाती। इन्हीं लौकिक उपायों की भाँति वेद निरूपित उपायों से भी आत्यन्तिक निवृत्ति असम्भव है। व्यक्त (कार्य) का ज्ञान होने पर, उसके कारणभूत अव्यक्त (प्रकृति) का ज्ञान होता है। इन दोनों के पारार्थ्य के कारण दोनों से भिन्न आत्मा का ज्ञान होताा है। पुरुष तो स्वतन्त्र है वह न तो किसी को उत्पन्न करता है न ही किसी से उत्पन्न होता है, इस कारण वह न तो विकार है और न ही प्रकृति है। सांख्य ने अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान में, सम्भव, अभाव, ऐतिह्य और उपमान का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव कर लिया है। इसीलिए उसने 'त्रिविधम् प्रमाणमिष्ट' कहा है। पतञ्जलि आदि महर्षियों ने भी तीन ही प्रमाण माने हैं। अनुमान लिङ्ग अर्थात् व्याप्त अर्थात् अपेक्षाकृत कम स्थानों में व्याप्त होने वाला तथा लिङ्गीय अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक स्थानों में व्याप्त होने वाला, इन दोनों के ज्ञान से उत्पन्न होता है। व्याप्त स्वभाव से ही व्यापक से साहचर्य सम्बन्ध रखता है।

प्रधान और पुरुष की सत्ता के विरोध में लोक व्यवहार का आश्रय लेकर विरोधी ने जो यह तर्क प्रस्तुत किया है कि जो वस्तु नहीं होती है उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता है, अतः प्रकृति पुरुष नहीं है। सांख्य प्रत्येक कार्य को सत् अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान स्वीकार करता है। यह कार्य की न तो उत्पत्ति मानता है और न ही विनाश ही स्वीकार करता है, वह तो कार्य का आविर्भाव एवं तिरोभाव प्रतिपादित करता है। उसका मत सत्कार्यवाद कहा जाता है।

कारणभाव का तात्पर्य यह है कि कार्य कारण से भिन्न न होकर कारणात्मक या कारण का ही एक रूप होता है और कारण कार्य रूप में आने से पहले भी सत् है, अतः स्वतः सिद्ध है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने मूल रूप अर्थात् कारण रूप से सत् है। कार्य और कारण दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। सत्त्व, रजस् एवं तमस्, ये तीन गुण क्रमशः सुख, दुःख एवं मोह स्वभाव वाले हैं अर्थात् सुख, दुःख एवं मोह देने वाले हैं और इस रूप में सुखदुःखमोहात्मक है, सत्व, रज और तम मिलकर त्रिगुण बनते हैं, इनकी साम्यावस्था ही प्रकृति है। इनके आपस के सम्मिश्रण से यह प्रकृति लगातार क्रियाशील बनी रहती है। जिस प्रकार भगवती गंगा की तीन धारायें शंकर की जटाओं में गिरने के

NOTES

पश्चात् एक प्रवाह के रूप में होकर बहती हैं उसी प्रकार त्रिगुणात्मक अव्यक्त एक व्यक्त को उत्पन्न करता है। जन्म, मरण तथा इन्द्रियों के प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने से, सबकी एक सांथ कार्यों में प्रवृत्ति के अभाव से तथा सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के विपर्यय अर्थात् भेद से पुरुष का बहुत होना अर्थात् एक न हीना ही सिद्ध होता है। अध्यवसाय अन्तिम कर्म निश्चय को कहते हैं। जिस प्रकार बीज में होने वाला अंकुर निश्चित होता है, उसी प्रकार घट पदार्थों में 'यह घट है" निश्चय होता है। जो निश्चय करता है, वही बुद्धि है। यह बुद्धि सात्विक एवं तामस भेदों से आठ प्रकार की होती है।

नेत्र, कान, नाक, जिह्वा तथा त्वचा नामक ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वाणी, हाथ, पैर, गुदा तथा उपस्थ, ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं। रूप रस आदि पाँचों विषयों का आलोचन मात्र पाँच ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार कहा जाता है। बोलना, ग्रहण करना, गमनागमन, उत्सर्ग तथा आनन्द ये पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार माने जाते हैं। तन्मात्रायें या सूक्ष्मभूत अविशेष हैं अर्थात् शान्तत्व आदि विशेषताओं से रहित हैं, इन पाँच तन्मात्राओं अर्थात् शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गन्धतन्मात्रा ये पाँच स्थूल भूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी उत्पन्न होते हैं। धर्म से ऊपर स्वर्ग आदि ऊपर के लोकों का गमन होता है, अधर्म से नीचे को अर्थात् अतल, आदि नीचे के लोकों को गमन होता है, ज्ञान अर्थात् तत्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है और उसके विपरीत से अर्थात् अज्ञान अर्थात् अतत्वज्ञान से बन्धन माना जाता है। इस संसार में या उक्त विभिन्न योनियों में चेतन या चेतनायुक्त पुरुष लिङ्ग शरीर की निवृत्ति तक बुढ़ापे और मृत्यु से होने वाले दु:ख को प्राप्त करता है, इसलिए दु:ख लिङ्ग शरीर की निवृत्ति पर्यन्त स्वभाव से ही है। इसलिए वास्तव में न तो कोई पुरुष बँधता है, न मुक्त होता है और न संसरण करता या जन्म-मरण प्राप्त करता है, अपितु अनेक आश्रयों वाली या अनेक पुरुष रूप आश्रयों में रहने वाली प्रकृति ही संसरण करती है या जन्म मरण प्राप्त करती है तथा वही बँधती और मुक्त होती है।

प्रकृति अपने सातों (अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य) ही रूपों या भावों से अपने द्वारा अपने को बाँधती है और वही पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए एक रूप या भाव से अर्थात् ज्ञान से अपने को मुक्त करती या छुड़ाती है। इस गूढ़ या दुर्बोध पुरुषार्थ विषयक ज्ञान अर्थात् पुरुष के प्रयोजनों को बताने वाले ज्ञान को परमर्षि कपिल ने कहा या प्रकट किया है, जिसमें प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति अर्थात् जीवन-यापन एवं प्रलय का चिन्तन या विचार किया जाता है। यह ज्ञान दु:खत्रय के कारण भूत अर्थात् अविद्या रूपी पाप को दूर करके साधक को पवित्र करता है अत: 'पवित्रम्' कहा गया है। इसीलिए इस व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान को अभ्रच कहा गया है क्योंकि दु:खनिवारक के सब प्रकार के उपायों में यह श्रेष्ठ है।

अभ्यास-प्रश्न :

1. सांख्य दर्शन का संक्षिप्त परिचय देते हुए इसकी आचार्य परम्परा का उल्लेख कीजिए।
2. 'दु:खत्रय' से आपका क्या आशय है? स्पष्ट कीजिए।
3. सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
4. सांख्य दर्शन में वर्णित 25 तत्वों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
5. सांख्यशास्त्रियों द्वारा पुरुष की सिद्धि हेतु क्या-क्या तर्क दिये गये हैं?
6. पुरुष की अनेकता का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत कीजिए।
7. व्यक्त एवं अव्यक्त प्रकृति की समानता एवं भिन्नता समझाइए।
8. सांख्य दर्शन के अनुसार बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
9. मोक्ष के स्वरूप एवं विभिन्न प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
10. सांख्य दर्शन के विकासवादी सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

3 वेदान्तसार

NOTES

इकाई में सम्मिलित है :

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तावना
- वेदान्त दर्शन का सामान्य परिचय
- वेदान्त दर्शन के अनुबन्ध चतुष्टय: अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन
- वेदान्त दर्शन में अध्यारोप, अपवाद, अज्ञान एवं उसकी शक्तियाँ
- वेदान्त दर्शन में सृष्टि प्रक्रिया एवं पंचीकरण
- वेदान्त दर्शन में महावाक्य: 'तत्वमसि' एवं 'अहं ब्रह्मास्मि'
- वेदान्त दर्शन में जीवन्मुक्त, विमुक्त या विदेहमुक्त
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई में छात्र वेदान्त दर्शन के लोकप्रिय एवं सुविख्यात प्रकरण ग्रन्थ 'वेदान्तसार' के माध्यम से वेदान्त दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन करते हुए वेदान्त दर्शन के सामान्य परिचय के साथ-साथ निम्नलिखित बिन्दुओं से भी अवगत हो सकेंगे:

- अनुबन्ध चतुष्टय के अन्तर्गत अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन।
- अध्यारोप एवं अपवाद का अर्थ, अज्ञान के स्वरूप एवं उसकी शक्तियाँ।
- सृष्टि प्रक्रिया, सूक्ष्म शरीर, पंचीकरण एवं स्थूल शरीर।
- 'तत्वमसि' एवं 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्यों की व्याख्या।
- जीवन्मुक्त का लक्षण, स्थिति एवं व्यवहार।
- विमुक्त (विदेह मुक्त) की परमार्थता।

NOTES

प्रस्तावना :

वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है- वेद का अन्त। वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी उपनिषदों को माना जाता है, अत: कुछ विद्वान उपनिषदों को 'वेदान्त' कहते हैं। वेदान्त का एक अन्य लोकप्रिय अर्थ एक प्रमुख भारतीय दर्शन भी है जिसके लिए उपनिषद ही प्रमाण हैं। पाठ्यक्रम में निर्धारित प्रमुख ग्रन्थ 'वेदान्तसार' के रचयिता सदानन्द ने कहा भी है कि उपनिषदों को प्रमाण मानने वाला दर्शन ही वेदान्त दर्शन है। इसे अद्वैत वेदान्त अथवा शंकर वेदान्त भी कहते हैं। इसके प्रवर्तक आचार्य शंकर हैं जो केवल ब्रह्म को ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता मानते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सबकुछ को मिथ्या मानकर द्वैत का निषेध करने के कारण उनका सिद्धान्त अद्वैतवाद कहलाता है। आचार्य शंकर भी उपनिषदों को ही वेदान्त मानते हैं। वैसे तो सभी छ: आस्तिक दर्शन उपनिषदों को प्रमाण मानते हैं किन्तु परम्परा यह है कि वादरायण कृत ब्रह्म सूत्र पर आधारित दार्शनिक सिद्धान्त ही वेदान्त के नाम से जाने जाते हैं।

सदानन्द योगीन्द्र द्वारा विरचित 'वेदान्तसार' वेदान्त दर्शन का अनुपम प्रकरण ग्रन्थ है। सदानन्द योगीन्द्र को ख्याति प्राप्त एवं मूर्धन्य वेदान्ताचार्य माना जाता है। इनका काल सोलहवीं शताब्दी का माना गया है। सदानन्द योगीन्द्र ने अपनी लोकप्रिय कृति 'वेदान्तसार' में वेदान्त दर्शन के सभी महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य शैली में वर्णित किया है। इसके सरल एवं सहज विवेचन के कारण इस प्रकरण ग्रन्थ को वेदान्त दर्शन की 'प्रवेशिका' अर्थात् प्रथम पुस्तक कहा जाता है। इसीलिए यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय है तथा दर्शनशास्त्र के अध्येताओं के लिए परम उपयोगी भी। यह वेदान्त दर्शन के सम्पूर्ण सिद्धान्तों का परिचायक ग्रन्थ है। यही पाठ्यक्रम में निर्धारित है। इस इकाई में आप 'वेदान्तसार' के माध्यम से ही वेदान्त दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

वेदान्तसार (सदानन्दकृत)

वेदान्त दर्शन का सामान्य परिचय:

भारत के समस्त आस्तिक दर्शनों को वैदिक दर्शन कहा जाता है क्योंकि ये वेदों को प्रमाण मानते हैं। इसीलिए सभी षड्दर्शनों को किसी न किसी रूप में वेदान्त अर्थात् उपनिषदों पर आधारित कहा जाता है। ध्यान रखने वाली बात यह है कि बादरायण के ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों एवं श्री मद्भगवद् गीता- जिनको 'प्रस्थान त्रयी' भी कहते हैं- पर अटूट आस्था रखने वाले वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय विशिष्ट रूप से वेदान्त कहलाते हैं जिनमें अद्वैत या शंकर वेदान्त सर्वप्रमुख है। वास्तव में दर्शनशास्त्र का केवल सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति तो शंकर के अद्वैत दर्शन को ही वेदान्त दर्शन समझता है।

वेदान्त दर्शन से परिचय कराने वाला सर्वप्रथम ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' या 'वेदान्त सूत्र' है। इसका वर्ण्य विषय 'ब्रह्म' होने के कारण ही इसका नाम 'ब्रह्मसूत्र' के रूप में प्रसिद्ध है। वेदान्त दर्शन के समस्त सूत्रों का आधार उपनिषद है। वेदान्त दर्शन का स्वरूप निर्धारित करने वाले इस ग्रन्थ में कुल पाँच सौ पचपन सूत्र हैं। ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण हैं, ऐसी मान्यता है, किन्तु कुछ विद्वान ब्रह्मसूत्र को वेदव्यास की रचना मानते हैं। हिन्दू परम्परा के अनुसार बादरायण तथा वेदव्यास एक ही व्यक्ति के नाम हैं, अत: ब्रह्मसूत्र के रचनाकार के रूप में बादरायण ही मान्य हैं। ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं।

सभी आस्तिक दर्शन उपनिषद के वाक्यों को ही प्रमाण मानते हैं, किन्तु इन दर्शनों में विभिन्न मत दिखाई देते हैं। इन सभी में समन्वय के उद्देश्य से ही ब्रह्मसूत्र की रचना हुई। ब्रह्मसूत्र की अति संक्षिप्तता के कारण इसके सूत्रों पर अनेक भाष्यों का लेखन हुआ जिनमें दस भाष्य प्रमुख हैं। इन भाष्यों के आधार पर वेदान्त दर्शन के अनेक सम्प्रदायों का प्रचलन हुआ। बादरायण के पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों ने भी वेदान्त तत्व की मीमांसा की थी। इनमें आत्रेय, आश्मरथ्य, जैमिनी आदि विख्यात हैं। अद्वैत वेदान्त दर्शन के आचार्य शंकर से पूर्व भी अनेक वेदान्ताचार्यों के नाम

NOTES

प्रकाश में आते हैं। आचार्य शंकर के अद्वैत दर्शन ने ज्ञान के मार्ग को विकसित करके हिन्दू धर्म के आधार को सुदृढ़ किया। आचार्य शंकर ही प्रस्थानत्रयी के प्रथम भाष्यकार माने जाते हैं। आचार्य शंकर ने ही विभिन्न मतों के समर्थक अनेक विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित करके अद्वैत वेदान्त को प्रतिष्ठापित किया। आचार्य शंकर ने ही 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का घोष करके ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार किया और जगदादि सत्ताओं को केवल व्याव हारिक सत्ता मानते हुए इनका निषेध किया। इन्होंने भावरूपा माया के माध्यम से ब्रह्म तथा जगत के सम्बन्ध की व्याख्या की है। अद्वैत वेदान्त दर्शन के स्वरूप, उसकी विशेषताओं तथा मान्यताओं के साथ-साथ उसके समस्त महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का ज्ञान इस इकाई में प्रस्तुत 'वेदान्त सार' के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

मङ्गलाचरणम्

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये ।।१।।

अन्वय—(अहम्), अभीष्टसिद्धये, अखण्डम्, सच्चिदानन्दम्, अवाङ्मनसगोचरम्, अखिलाधारन्, आत्मानम्, आश्रये।।१।।

संस्कृत व्याख्या—ग्रन्थस्य परिसमाप्तिकाम: शिष्टाचारानुरूपं प्रतिपाद्यं वस्तु ध्वनयन् मङ्गलमाचरित—अखण्डमित्यादिना। अहं सदानन्द:, अभीष्टसिद्धये—अभीष्टस्य = ग्रन्थपरिसमाप्ते: नि:श्रेयसस्य वा सिद्धये =लाभाय, अखण्डम्= सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यम् सच्चिदानन्दम्-सत् = सत्तावान्, न तु शून्यं न वाऽनृतम्, चित् = ज्ञानं स्वप्रकाशचैतन्यरूपमित्यर्थ:, अनेन ब्रह्मणोऽन्धकारस्येव जाड्यं निरस्तम्, आनन्दम् = आनन्दस्वरूपम्, अनेन तस्मिन् जनानां प्रवृत्तिर्निर्दिष्टा इयता ब्रह्मण: स्वरूपणं विधिमुखेन कृतमधुना निषेधमुखेन तत्प्रतिपादयति, अवाङ्मनसगोचरम् = वाक् च मनश्चेति वाङ्मनसे तयोर्गोचर इति वाङ्मनसगोचर:, न वाङ्मनसगोचर: इत्यवाङ्मनसगोचरस्तम्, इन्द्रियातीतम्, अनेन ब्रह्मण: सर्वसाक्षिकत्वं सूचितम्, अखिलाधारम् = अखिलस्य = समग्रस्याकाशादिप्रपञ्चस्य आधारम् = आश्रयम्, प्रपञ्चस्य सृष्टिस्थितिलयानां कारणमिति यावत्, ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणमेतद्यथा छत्रचामरादिकं राज्ञ:, आत्मानम् = परमात्मानम्, ब्रह्म इति यावत्, आश्रये = एकत्वेन प्रतिपद्ये।।१।।

शब्दार्थ—**अहम्** = मैं, **अभीष्टसिद्धये** = ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति रूप अभीष्ट की सिद्धि के लिए अथवा मोक्ष (कैवल्य) प्राप्ति रूप अभीष्ट सिद्धि के लिए, **अखण्डम्** = किसी भी प्रकार के भेदभाव से रहित, सजातीय अथवा विजातीय भेदभाव रहित, अपने अथवा पराये के भेदभाव से शून्य, अनन्त, **सच्चिदानन्दम्** = सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप या चैतन्य स्वरूप तथा **आनन्द** स्वरूप, **अवाङ्मनसगोचरम्** = वाणी जिसका वर्णन नहीं कर सकती (अनिर्वचनीय), मन जिसके बारे में कुछ सोच नहीं सकता, ऐसे अचिन्त्य, **अखिलाधारम्** = समस्त स्थावरजगमात्मक जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं विनाश के कारण, **आत्मानम्** = ब्रह्मरूप आत्मा का, **आश्रये** = आश्रय प्राप्त कर रहा हूँ।

हिन्दी व्याख्या—मैं सदानन्द ग्रन्थ की बिना विघ्न ही समाप्ति के लिए अथवा मोक्ष प्राप्ति की सिद्धि के लिए किसी भी प्रकार के भेदभाव से रहित, सजातीय अथवा विजातीय का भेदभाव रहित, अपने अथवा पराये के भेदभाव से शून्य अर्थात् अनन्त सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप वाणी जिसका वर्णन नहीं कर सकती (अचिन्त्य) समस्त स्थावर-जगमात्मक के सृष्टि, स्थिति एवं विनाश के कारण ब्रह्मरूप आत्मा का आश्रय ले रहा हूँ।

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानत:।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति।।२।।

अन्वय—अतीतद्वैतभानतः, अर्थतः, अपि, अद्वयानन्दान्, गुरून्, आराध्य, यथामति, वेदान्तसारम्, वक्ष्ये।

संस्कृत व्याख्या—पूर्वोक्तप्रकारेण शास्त्रप्रतिपाद्यपरदेवतातत्त्वानुस्मरणलक्षणं मङ्गलं विधायेदानीम्-

NOTES

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

इत्युक्त्या देवताभक्तिवद् गुरुभक्तेरपि विद्याङ्गत्वात्, 'देवमिवाचार्यमुपासीत्' इत्यापस्तम्बोक्त्या गुर्वाराधनस्याप्यत्यन्तावश्यकत्वेन तदपि प्रदर्शयति-अर्थतोऽपीत्यादिना। अर्थात् डित्थडवित्थादिवत्केवलसंज्ञामात्रं न व्यवस्थितमपि तु अतीत द्वैतभानतः = अतीतं द्वैतं यस्मात् तदतीतद्वैतम् प्रत्यगात्मतत्त्वम्, तस्य भानतः साक्षात्कारात् (निरस्तसमस्तभेदभावत्वात्), अर्थतोऽपि अद्वयानन्दान् (अद्वयानन्दनामकान्) गुरुन्, आराध्य = भक्तिश्रद्धातिशयपूर्वकं नमस्कृत्य। यथामति = स्वबद्ध्यनुसारम्, वेदान्तसारम्, वक्ष्ये = प्रतिपादयिष्ये।।२।।

शब्दार्थ—**अतीतद्वैतभानतः** = भेद प्रतीति के नष्ट हो जाने से अथवा आत्मा का साक्षात्कार हो जाने के कारण, **अर्थतः** = यथार्थ रूप से, **अपि** = भी, **अद्वयानन्दान्** = अद्वयानन्द, **गुरुन्** = गुरु की, **आराध्य** = आराधना करके, **यथामति** = बुद्धि के अनुसार, **वेदान्तसारम्** = वेदान्तसार (नामक ग्रन्थ) **वक्ष्ये** = कहूँगा।

हिन्दी व्याख्या—भेद प्रतीति के नष्ट हो जाने से अथवा आत्मा का साक्षात्कार हो जाने के कारण यथार्थ रूप से अद्वयानन्द गुरू की आराधना करके अपनी बुद्धि के अनुसार वेदान्तसार (नामक ग्रन्थ) कहूँगा अर्थात् उसका निर्माण करूँगा।

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।
अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात्तदीयैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पृथगालोचनीयाः।।३।।

संस्कृत व्याख्या—उपनिषद् एव प्रमाणमुपनिषत्प्रमाणम्। उपनिषदो यत्र प्रमाणमिति वा। उपनिषच्छब्दो ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारविषयः। उपनिषदपूर्वस्य क्विप् प्रत्ययान्तस्य 'षद्लृ' विशरणगत्यवसादनेष्वित्यस्य धातोरूपनिषदिति रूपम्। तत्रोपशब्दः सामीप्यमाचष्टे, तच्च सङ्कोचकाभावसर्वान्तरे प्रत्यगात्मनि पर्यवस्यति। निशब्दो निश्चयवचनः, सोऽपितन्नैकट्यवाच्युपशब्दसामानाधिकरण्यात् तत्तत्त्वमेव निश्चिनोति। तस्माद् ब्रह्मविद्या, स्वसंशीलिनां संसारसारतामतिं सादयति विषादयति शिथिलयतीति वा परमश्रेयोरूपं प्रत्यगात्मानं सादयति गमयतीति वा दुःखजन्मप्रवृत्त्यादिमूलाज्ञानं सादयति उन्मूलयतीति वोपनिषदत्पदवाच्या, सैव (ब्रह्मविद्या अध्यात्मविद्या) प्रमाणम्। तस्याः प्रमारूपायाः करणभूतः सर्वशास्त्रेषु उत्तरभागेषु पठ्यमानो ग्रन्थराशिरपि उपचारात् प्रमाणमित्युच्यते। तथा चोपनिषदः प्रमाणं प्रमाकरणम्, उपनिषत्प्रमाणं वेदान्त इत्यर्थः। तदुपकारीणि-वेदान्तवाक्यसंग्राहकाणि, शारीरकसूत्रादीनि 'अथातोब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादीनि सूत्राणि, अत्रादिशब्देन भगवद्गीताद्यध्यात्मशास्त्राणि परिगृह्यन्ते, तेषामपि उपनिषच्छब्दवाच्यत्वात्। अनुबन्धचतुष्टयस्य अनिरूपितत्वादत्र प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः कथं स्यादित्यत आह 'अस्य वेदान्तेति।'-अस्य वेदान्तसारस्य, वेदान्तप्रकरणत्वात् वेदान्तशास्त्रस्य प्रकरणग्रन्थत्वात्। प्रकरणलक्षणं हि ''शास्त्रैकदेशसम्बद्ध-शास्त्रकाथन्तिरे स्थितम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।'' तथा च यच्छास्त्रैकदेशसम्बद्धं यत्प्रकरणं तत् तच्छास्त्रीयैरेवानुबंन्धैरनुबन्धवद्युक्तम्। अन्यथा शास्त्रप्रकरणयोर्भिन्नविषयादिमत्त्वेन शास्त्रासम्बद्धत्वप्रसङ्गादसम्बद्धप्रलपित मिदमापद्येत्। अतोऽस्य ग्रन्थस्य वेदान्तशास्त्रीयप्रकरणत्वाद्वेदान्तशास्त्रसिद्धैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न तेऽनुबन्धाः पृथगालोचनीयाः।।३।।

हिन्दी व्याख्या—जिस शास्त्र में उपनिषदें प्रमाण हैं, उसे वेदान्त कहते हैं। शारीरक सूत्र (ब्रह्मसूत्र) एवं श्रीमद्भगवतगीता आदि उस वेदान्त के उपकारक (ग्रन्थ) हैं। इस (वेदान्तसार) को वेदान्त का प्रकरण ग्रन्थ होने के कारण जो वेदान्त के अनुबन्ध हैं, वे ही इस (वेदान्तसार) के भी अनुबन्ध हैं। इसलिए उनके पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं है। शास्त्र में प्रवृत्ति के जनक तत्त्व को अनुबन्ध कहते हैं। वे अनुबन्ध चार प्रकार के हैं-अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन।

तत्र अनुबन्धो नाम अधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि।।४।।

संस्कृत व्याख्या—ननु शास्त्रीयोऽनुबन्धः शास्त्रविद्भिरेव ज्ञायते, न व्युत्पित्सुभिस्तत्कथमिह तेषां शास्त्रीयविषयाद्यनभिज्ञानां प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य शास्त्रीयमेवानुबन्धं संक्षेपतो व्युत्पादयितुमुपक्रमते-तत्रानुबन्धो नाम इत्यादिना। तत्र 'वेदान्तशास्त्रे' अनुबन्धचतुष्ट्यमेवाह-अधिकारीत्यादिना।।४।।

हिन्दी व्याख्या—आपस में सुसम्बद्ध विचारणीय तत्वों को अनुबन्ध कहते हैं। अनुबन्ध चार हैं-(१) अधिकारी, (२) विषय, (३) सम्बन्ध, (४) प्रयोजन।।४।।

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्ध वर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता।।५।।

संस्कृत व्याख्या—अधिकारी-स एवास्या वेदान्तविद्याया अधिकारी यः-

(अ) इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सविध्यधीताखिलवेदाङ्गाधिगतसकलतत्त्वः,

(ब) काम्यनिषिद्धकर्मपरित्यागपूर्वकं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन विधूतसकलकल्मषस्वान्तः,

(स) नित्यानित्यवस्तुविवेकादिवक्ष्यमाणसाधनचतुष्ट्यसम्पन्नश्च स्यात्।

काम्यानि—यत्किञ्चित्फलाकाङ्क्षया क्रियमाणानि कर्माणि काम्यानि, यथा-स्वर्गप्राप्तीच्छया क्रियमाणानि ज्योतिष्टोमयज्ञादीनि।

निषिद्धानि—निरयप्रापकत्वेन ब्रह्महत्या-गोहत्यादीनि निषिद्धकर्माणि। इत्थं परित्यक्तकाम्यनिषिद्धकर्मा पुण्यपापराहित्येन चावधूतसकलकल्मषस्वान्त एव मनुष्यो वेदान्तविद्याधिकारी नान्यः।

नित्यानि—येषां करणे विशेषपुण्याभावेऽप्यकरणे प्रत्यवायः-तानि नित्यानि, यथा-सन्ध्यावन्दनपञ्चमहायज्ञादीनि। (दैनिकगृहमार्जनस्नानदन्तधावनादिकरणेन विशेषपुण्याभावेऽप्यकरणे मालिन्यजन्यकीटाणुनिमित्तकामयोत्पत्तिसम्भावनेति तानि नित्यं निष्पाद्यन्ते। एवमेव प्रतिदिनकृतज्ञाताऽज्ञातपायाऽपनोदार्थं प्रतिदिनं क्रियामाणानि यानि सन्ध्यावन्दनादीनि तानि नित्यकर्माण्युच्यन्ते।)

नैमित्तिकानि—पुत्रे जाते 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इत्यादि स्थलेषु विहितानि जातेष्ट्यादीनि ग्रहणस्नानादीनि च नैमित्तिककर्माण्युच्यन्ते।

प्रायश्चित्तानि—'प्रायः पापं विजानीयाच्चितं तस्यैव शोधनम्' इत्यभियुक्तोक्त्या पापक्षालनार्थं क्रियमाणानि चान्द्रायणादीनि प्रायश्चित्तकर्माणि कथ्यन्ते।

उपासनानि—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिशास्त्रीयप्रमाणैः सकलचराचर-प्रपञ्चस्य ब्रह्मणो रूपत्वे निश्चिते सगुणे ब्रह्मणि चिरकालपर्यन्तमात्मनो मनोवृत्तिं स्थिरिकर्तुं क्रियमाणानि कर्माणि उपासनानि, यथा-शाण्डिल्यविद्यादीनि।।५।।

हिन्दी व्याख्या—इस वेदान्त शास्त्र के पढ़ने का अधिकारी वह जिज्ञासु है, जिसने वर्तमान जन्म में या पूर्व जन्म में विधिवत वेदों एवं वेदांगों का अध्ययन करके स्वयं ही समस्त वेदों के तात्पर्य को जान लिया है, जिसका अन्तःकरण काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित एवं उपासना कर्मों के अनुष्ठान से समस्त पापों के नष्ट होने के कारण अपने अन्तःकरण को अत्यन्त निर्मल बना लिया है तथा जो साधनचतुष्टय

(नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमादिषट्क-सम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्व) को सम्पन्न कर लिया हो, वही प्रमाता वेदान्त विद्या को पढ़ने का अधिकारी है।

NOTES

काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि। निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि। प्रायश्चित्तानिपापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि। उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि।।६।।

संस्कृत व्याख्या—फलोद्देशेन विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि। 'विश्वजिता यजेत' इत्यादावव्याप्तिरिति चेन्न। तत्रापि 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' इति न्यायेन स्वर्गफलोद्देशेन विधेः साधितत्वात्। आदिशब्दोऽहीनसत्रसंग्रहार्थः। प्रमावगतेष्टसाधनतानिषेधकनञ्पदयोगिवाक्यगम्यानि निषिद्धानि। लिङ्गाद्यनुषत्कनञ्-घटितवाक्यगम्यानि वा। नरकादीत्यादिपदादैहिकदुःखसंग्रहः। ब्राह्मणहननादीत्यादिपदात् सुरापानादिसंग्रहः। प्रत्यवायशब्देन आगामिदुःखमुच्यते। येषां करणे अविज्ञायमाने तत् साध्यते ज्ञाप्यते तानि नित्यानि। अथवा येषामकरणे विज्ञायमाने तत् साध्यते ज्ञाप्यते तानि नित्यानि। अर्थात् अकरणे प्रत्यवायलक्षणानि नित्यानि। निर्निमित्तमुपात्तदुरितक्षयार्थानि नित्यानीतिनित्यकर्मलक्षणम्। न तु अकरणे प्रत्यवायोत्पादकानि नित्यानि, अभावाद्भावोत्पत्तेः। अतः अकरणे प्रत्यवायसाधनानि प्रत्यवायज्ञापकानि नित्यानि इति व्याख्यातव्यम्। सन्ध्यावन्दनादीनि इत्यादिपदात् पञ्चमहायज्ञादिसंग्रहः। निमित्तमात्रमासाद्य अवश्यकर्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि। तदाह-पुत्रेति। जातेष्टिर्नाम ''वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते'' इति विहिता। आदिपदात् ''यस्याहिताग्नेर्गृहान् दहत्यग्निरग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्'' इत्यादिनोक्तानां क्षामबत्यादीनां संग्रहः। विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवनरूपनिमित्त-विशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि, पापक्षयमात्रोद्देशेन विहितानीति वा,आदिपदात्कृच्छादि- संग्रहः। शास्त्रवोधिते सगुणे ब्रह्मणि दीर्घकाला- दरनैरन्तर्योपेतमनोवृत्तिस्थिरीकरण-लक्षणानिउपासनानि। निदिध्यासनाद्भेदमाह- सगुणेति। उपासनानां ज्ञानाद्भेदं दर्शयति मानसव्यापाररूपाणीति। शाण्डिल्यविद्या नाम ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इत्युपक्रम्य ''स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः'' इत्यादिना छान्दोग्ये विहिता। आदि-शब्दाद्दहर-वैश्वानरादिविद्यान्तरग्रहः।।६।।

हिन्दी व्याख्या—अभिलषित स्वर्गलोक आदि के उपायभूत ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ काम्य कर्म हैं। नरक आदि अनिष्ट (अनभिलषित) स्थानों की प्राप्ति में निमित्त (उपाय) बनने वाले ब्राह्मण-हत्या, गो-हत्या आदि निषिद्ध कर्म हैं। अनुष्ठान न करने पर प्रत्यवाय (पापों या भावी दुःखों) के निमित्त (साधन) होने वाले सन्ध्यावन्दन आदि नित्य-कर्म हैं। पुत्रजन्म आदि निमित्त के प्राप्त होने पर अनुष्ठान किये जाने वाले जातेष्टि आदि कर्म नैमित्तिक कर्म हैं। पापों का विनाश करने में हेतुभूत चान्द्रायण आदि व्रत प्रायश्चित कर्म हैं। सगुणब्रह्म में दीर्घकाल तक मनोवृत्ति को स्थिर करने के लिए किये जाने वाले कर्म उपासना कर्म हैं, जैसे शाण्डिल्य विद्या आदि।

एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परमप्रयोजनम् उपासनानां तु चित्तैकाग्रयम्। 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिश्रुतेः, 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादिस्मृतेश्च। नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक' इत्यादि-श्रुतेः।।७।।

संस्कृत व्याख्या—आदिपदान्नैमित्तिकप्रायश्चित्तयोः संग्रहः। नित्यादीनामुपात्तदुरितक्षयद्वारा बुद्धिशुद्धिहेतुत्वंनिर्गत निखिलकल्मषतयेत्युक्तत्वात्। एतेषां परमप्रयोजनं बुद्धिशुद्धिः परम्परया मोक्षसाधनत्वात्। उपासनानां त्विति। तु शब्दः कर्मभ्य उपासनाया वैशिष्ट्यद्योतनार्थः। नित्याद्यनुष्ठानक्षपितकल्मषतया विशुद्धस्य चित्तस्य शास्त्रप्रकाशिते ध्येये ज्ञेये वा विषये एकाग्र्यं निश्चलत्वम्। सूक्ष्मार्थावधारणसमर्थत्वमित्यर्थः। तत्र प्रमाणं तमेतमात्मानमिति श्रुतिः, तपसां कल्मषमितिस्मृतिश्चैति। ननु नित्यादेः सत्त्वशुद्धितदैकाग्र्यफलकत्वे 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः'

सर्व एते 'पुण्यलोका भवन्ति' इति श्रुतिर्नित्यानां पितृलोकादिफलपरा पीड्यतेत्यत आह-नित्यनैमित्तिकेति। अत्र प्रायश्चित्ताग्रहणं तस्यावान्तरफललाभावात्। नहि उपात्तदुरितक्षयमन्तरेण तस्य किञ्चित् फलं श्रुतिमस्ति, अन्ययोस्तु तच्छ्रुयत इति विशेष:। नित्यनैमित्तिकयो: पितृलोकप्राप्तिरवान्तरफलमुपासनानां सत्यलोकप्राप्तिरिति विवेक:।।७।।

NOTES

हिन्दी व्याख्या—अब नित्य नैमित्तिक और प्रायश्चित तथा उपासना के प्रधान एवं अप्रधान फलों को बताते हैं। नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित कर्मों का प्रयोजन (फल) बुद्धि की शुद्धि (निर्मलता) होना है। श्रुति, स्मृति के द्वारा भी उक्त अभिप्राय का समर्थन किया गया है-"उपनिषदों में वर्णन किये गये उस आत्मा को ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन और यज्ञ के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं।" (वृहदा.४.४.२२) श्रुति के अध्ययन और तपस्या के द्वारा (ब्राह्मण) पाप का नाश कर देता है। (मनु.१२.१०४) स्मृति में भी नित्यादि कर्मों के द्वारा पापों का विनाश तथा चित्त की शुद्धि का समर्थन किया गया है। नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का अवान्तर (अप्रधान-गौण) फल है। पितृलोक की प्राप्ति तथा उपासना का अवान्तर (अप्रधान) फल है, सत्यलोक की प्राप्ति। उक्त अभिप्राय का समर्थन श्रुति ने भी किया है-कर्म से पितृलोक तथा विद्या (उपासना) से सत्यलोक की प्राप्ति होती है।

साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्क-सम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि। नित्यानित्वस्तुविवेकस्तावद् 'ब्रह्मैव नित्यं वस्तुततोऽन्यदखिलमनित्यमि' ति विवेचनम्। ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभोगानाम-नित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोगविराग:। शमादयस्तु शमदमोपरतितितिक्षासमाधानाश्रद्धाख्या:। शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्त-विषयेभ्यो मनसो निग्रह:। दतो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्। निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरणमुपरति:, अथवा विहितानां कर्मणा विधिना परित्याग:। तितिक्षा शीतोष्णादिद्विन्द्वसहिष्णुता। निगृहीतस्य मनस: श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधि: समाधानम्। गुरूपदिष्टवेदान्त-वाक्येषु विश्वास: श्रद्धा। मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा। एवंभूत: प्रमाता अधिकारी 'शान्तो दान्त:' इत्यादिश्रुते: उक्तं च।।८।।

संस्कृत व्याख्या—साधनसम्पन्न: प्रमाताधिकारीत्युक्तं तत्र कानि साधनानि कियन्ति वेत्यपेक्षायां तानि विभजते-साधनानीति। नित्यानित्य वस्तुविवेक:-ब्रह्मैवेकं वस्तु नित्यम्, तदितरच्चाखिलमनित्यमिति विवेचनं नित्यानित्यविवेक:। ब्रह्मनित्यत्वैकत्वप्रतिपादककतिपय श्रुतयोऽत्र उद्ध्रियन्ते-ब्रह्मणो नित्यत्वैकत्वे-नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्। अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराण:। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। तदितरानित्यत्वे च-यो वै भूमा तदमृतम्, यदल्पं तन्मर्त्यम्। आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत्किञ्चन मिषत्। नेह नास्ति किञ्चन-इत्यादिश्रुतय: प्रमाणम्। विराग:-ऐहिकभोग्यवस्तुजातमखिलं कर्मजन्यमनित्यञ्च। यद्यावलोक्यते श्वस्तस्य विनाशसम्भव:। एवमेव यज्ञादिभिरूपलब्धं स्वर्गादि, अत्रत्यमखिलं वस्तु चाप्यनित्यमिति निश्चत्यैहिकामुष्मिकोभयवस्तुविरतिर्विराग:। शमादिषट्कम्-अशनायोदन्या-शान्तिसाधने अन्नपानीये। अतो यथा तीव्राशनायस्य प्रबलोदन्यस्य च जनस्य मनसे नान्य: कोऽपि व्यापारो रोचते, मुहुर्मुहुश्च तत्तदभिमुखमेवाभ्युपैति तथैव श्रवणमननेत्यादीनि तत्त्वज्ञानसाधनानि। तानि च विहायान्यसांसारिकविषयेषु स्रकचन्दनविनितादिष्वभिमुखं मनो येनान्त:करणवृत्तिविशेषण निगृह्यते स वृत्तिविशेष: शम:। ब्रह्मसाक्षात्कृति-साधनभूतश्रवणमननाद्यतिरिक्तबाह्यशब्दादिविषयेभ्यश्चक्षु: श्रोत्रादीन्द्रियाणां निग्रहो दम:। श्रवणमननाद्यतिरिक्तविषयेभ्यो निगृहीतानामिन्द्रियाणां ज्ञातसाधनभूतश्रवणमननाद्यतिरिक्तशब्दादिषु प्रवृत्तिर्ययाऽन्त:करणवृत्त्याऽवरुध्यते सावरोधिका वृत्तिरूपरति:। मनोरूपान्तरिन्द्रियनिरोध: शम:, बाह्येन्द्रियनिरोधी दम:। उपरतिरपि निरोधाविशेष एवेत्येतेषु पारस्परिकसाम्यभ्रान्तिनिराकरणायोपरतेर्लक्षणान्तरमाह-अथवेति। गृहस्थादिभ्यो विहितानां सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादिनित्यनैमित्तिककर्मणां सन्यासाश्रमस्वीकारेण शास्त्रोक्तविधिना परित्याग उपरतिरिति भाव:। शीतोष्णमानापमानादीनां तदुत्पन्नसुखदु:खादीनाञ्चानुभव: सर्वै: क्रियते किन्तु शरीरधर्माणामेतेषां स्वप्रकाशचिद्रूपे आत्मन्यत्यन्ताभाव इति बुद्ध्या येषां सहनं तितिक्षा। शब्दादिबाह्य-विषयेषु वशीकृतस्य मनस: श्रवणमननादौ तदुपकारकनिरभिमानत्वादिविषयेषु च योजनं समाधि:। गुरूक्तवेदान्तवाक्येषु विश्वास: श्रद्धा। अज्ञानं

तज्जन्यसांसारिकभावञ्च ज्ञानेनापसार्य ब्रह्मरूपेऽवस्थितिः मोक्षः, तदिच्छा मोक्षेच्छा, तद्वत्त्वञ्च मुमुक्षुत्वम्। इति श्रुतिस्मृती द्रष्टव्ये। एवं विशेषणविशिष्टो वेदान्ताधिकारीति निरूपितेऽर्थेऽभियुक्त-वचनमुदाहरति-उक्तं च-प्रशान्त इति।।८।।

NOTES

हिन्दी व्याख्या—केवल ब्रह्म ही नित्य वस्तु है इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् अनित्य है-ऐसा विवेचन नित्यवस्तुविवेक है। इस लोक के माला, चन्दन एवं स्त्री आदि ऐहिक विषयभोगों के समान पारलौकिक अमृतादि विषयों के भोगों के भी अनित्य होने के कारण उनसे नितान्त विरक्ति होती है। शमादि-शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा है। श्रवणादि (श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन) से अतिरिक्त विषयों से हटा लेना शम है। बाह्य इन्द्रियों का श्रवणादि से व्यतिरिक्त विषयों से हटा लेना दम है। बाह्य विषयों से लौटाई गई इन्द्रियों का श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से उपरमण उपरति है। अथवा विहित (नित्य-नैमित्तिक) कर्मों के विधिपूर्वक (संयासाश्रम में) परित्याग को उपरति कहते हैं। शीतोष्ण मन को श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन तथा इनके अनुकूल विषय में लगाने का नाम समाधि है। गुरु द्वारा उपदिष्ट वेदान्त वाक्यों में विश्वास करना श्रद्धा है। मोक्ष की इच्छा करना मुमुक्षुत्व है। इस प्रकार का जीव, मोक्ष का अधिकारी है।

'प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षुवे' इति।।9।।

अन्वय—प्रशान्तचित्ताय, जितेन्द्रियाय, प्रहीणदोषाय, यथोक्तकारिणे, गुणान्विताय, च, अनुगताय, मुमुक्षवे, सर्वदा, एतत्, सकलम्, प्रदेयम्।।

संस्कृत व्याख्या—प्रशान्तचित्ताय शान्ताय। जितेन्द्रियाय दान्ताय। प्रहीणदोषाय नितान्त नर्मलस्वान्ताय। यथोक्तकारिणे काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्याद्यनुष्ठान-लब्धेश्वप्रीतये। गुणान्विताय विवेकवैराग्योपरतितितिक्षासमाधानयुक्ताय। सर्वदा गुरुमनुगताय श्रद्धालवे। एवंभूताय मुमुक्षव एतदात्मज्ञानं सततं गुरूणा देयमिति श्लोकार्थः।।9।।

शब्दार्थ—**प्रशान्तचित्ताय** = शान्त चित्त वाले के लिये, **जितेन्द्रियाय** = ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को अपने वश में करने वाले अर्थात् इन्द्रियों को वश में करने वाले, **प्रहीणदोषाय** = विनष्ट पाप वाले अर्थात् जिनके पाप-समूह नष्ट हो गये हों, **यथोक्तकारिणे** = वेद तथा शास्त्रों में कथित नियमों के अनुसार आचरण करने वाले, **गुणान्विताय** = विवेक, वैराग्य, उपरति, तितिक्षा आदि गुणों से अलङ्कृत, **च** = तथा, **अनुगताय** = (गुरु के) अनुगामी, **मुमुक्षवे** = मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के लिए, **सर्वदा** = हमेशा, एतत् = यह, **सकलम्** = सम्पूर्ण आत्म सम्बन्धी ज्ञान, **प्रदेयम्** = देना चाहिए या देने योग्य है।

हिन्दी व्याख्या—शान्त चित्त वाले, ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को वश में अर्थात् इन्द्रियों को वश में करने वाले, जिनके पाप समूह नष्ट हो गये हों अर्थात् विनष्ट पाप वाले, वेद तथा शास्त्रों में कथित नियमों के अनुसार आचरण करने वाले, विवेक-वैराग्य-उपरति-तितिक्षा आदि गुणों से अलङ्कृत तथा आचार्यानुगामी, मोक्षप्राप्ति की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को हमेशा यह सम्पूर्ण आत्मसम्बन्धी ज्ञान देना चाहिये या देने योग्य है।

विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयम्। तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्। सम्बन्धस्तु तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधक-भावलक्षणः। प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावप्तिश्च 'तरति शोकमात्मविद्' इत्यादिश्रुतेः 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेश्च।।१०।।

संस्कृत व्याख्या—अज्ञाननिमित्तकजीवब्रह्माध्यारोपितकिंचिज्ज्ञुत्वसर्वज्ञत्वादि-विरुद्धधर्मपरित्यागानन्तरमवशिष्टं यज्जीवब्रह्मैक्यारूपं शुद्धचैतन्यं तदेवाखिलवेदान्त-वाक्यप्रतिपाद्यविषयः। अत्र जीवब्रह्मैक्यानन्तरं शुद्धचैतन्योक्तिर्वेदान्तप्रतिपाद्यविषयः शुद्धचैतन्यमेवेत्यर्थे वर्तते, न पुनः पयः पानीययोः पारस्परिकपार्थक्येऽपि मिश्रीभावेन तदैक्यमिव जीवब्रह्मणोः पार्थक्येऽप्येकत्वमित्यर्थे, इत्यवधेयम्। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (प्रमेयस्य)

तत्प्रतिपाद्योपनिषद्वाक्य-जातस्य (प्रमाणस्य) च बोध्यबोधकभावसम्बन्धः, तत्र च जीव ब्रह्मैक्यं बोध्यम्। तत्प्रतिपादकञ्च तत्त्वमसीत्यादि वाक्यं बोधकम्। आत्मगताज्ञानतज्जन्य सकलप्रपञ्चनिवृत्तिपूर्वकस्वरूपपरिचया- खण्डानन्दावाप्तिरेव वेदान्तशास्त्रप्रयोजनम् 'तरति शोकमात्मवित्', 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', इत्यादिश्रुतेः।।१०।।

हिन्दी व्याख्या—जीव और ब्रह्म की एकता, जो शुद्ध चैतन्य रूप है तथा इस शास्त्र का (वेदान्तसार) प्रमेय है। जीव और ब्रह्म की इसी एकता में ही समस्त ग्रन्थों का तात्पर्य है अर्थात् समस्त वेदान्त ग्रन्थ जीव और ब्रह्म की इसी एकता का प्रतिपादन करते हैं। जीव और ब्रह्म के एकतारूप प्रमेय का और उस (एकता रूप प्रमेय) के प्रतिपादक उपनिषद् का परस्पर बोध्य-बोधक (ज्ञेय-ज्ञापक) भावरूप सम्बन्ध है। इसमें जीव और ब्रह्म की एकता बोध्य है और उपनिषद् बोधक है। जीव और ब्रह्म के एकतारूप प्रमेय के सम्बन्ध में वर्तमान अज्ञान की निवृत्ति और अपने वास्तविक स्वरूपभूत आनन्द की प्राप्ति। इस विषय में ''आत्मा को जान लेने वाला व्यक्ति शोक (अर्थात् शोकपूर्ण इस संसार के कारण अज्ञान) को पार कर जाता है तथा ब्रह्म को यथार्थ रूप से जान लेने वाला व्यक्ति ब्रह्म ही हो जाता है।''

अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलसन्तप्तो प्रदीप्तशिरा जलराशी-मिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति, 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादिश्रुतेः। स परमकृपया अध्यारोपापवाद, न्यायेनैनमुपदिशति, तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादिश्रुतेः।।११।।

संस्कृत व्याख्या—एवं पूर्वोक्तलक्षणयुक्तो ब्रह्मज्ञानाधिकारी जनुर्मरणादिसांसारिकष्टपीडितप्रखरतरतरणिकिरणौष्ण्यपीडितो मनुष्यः स्वक्लान्तिमपनुनुत्सुः सरोवरमिव वेदान्तविद्यानिष्णातं गुरुमनुरूपपत्र- पुष्पाद्युपहृतिपाणिरूपसृत्य श्रद्धापूर्वकं तदुपदिष्ट मनुसरन्मनसा वाचा कर्मणा च तं वरिवस्यति। स च गुरुर्जिज्ञासा- वस्मिन्नति-दयालुरध्यारोपापवादन्यायेन ब्रह्मरूपमतिरहस्यमस्मै समुपदिशति। जिज्ञासोर्गुरोश्च कर्तव्यरूपेणैतौ गुरुपसत्तिगुरुज्ञानोपदेशौ 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' तथा 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादिश्रुतिभिरपि प्रमाणितौ।।११।।

हिन्दी व्याख्या—पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त ब्रह्मज्ञान का यह अधिकारी जन्ममरण राग-द्वेषादि सांसारिक कष्टों से पीड़ित होने के कारण, जैसे भयानक गर्मी से पीड़ित व्यक्ति अपनी व्याकुलता शान्त करने के लिए जलपूर्ण सरोवर के पास जाता है, उसी प्रकार वेदान्त विद्या में अत्यन्त विशिष्ट विद्वान् गुरु के पास उनके अनुकूल पत्र-पुष्पादि भेंट लेकर आता है और श्रद्धापूर्वक उनके उपदेशों का अनुसरण करता हुआ मन-वाणी कर्म से उनकी सेवा करता है। तब वे गुरु इस प्रकार के ब्रह्म-जिज्ञासु के ऊपर अत्यन्त कृपालु होकर अध्यारोपापवाद न्याय के ब्रह्म रूप परम रहस्य का उपदेश करते हैं।

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु। अज्ञानं तु सदसद्भ्याम-निर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्, 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढम्' इत्यादिश्रुतेश्च।।१२।।

संस्कृत व्याख्या—असर्पभूतायामिति अध्यारोप लौकिकदृष्टान्तेन बोधयति। व्यावहारिकवस्तुरूपेण सम्मतायां रज्जौ अवस्तुरूपसर्पारोपः, अर्थात् रज्ज्ववच्छिन्न-चैतन्यस्था अविद्या सर्पज्ञानाभासाकरेण परिणाममाना सर्पाकारेण विवर्तते, स विवर्तः रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाऽविद्योपादानकत्वेन नायं सर्पः किन्तु रज्जु' इति विशेषदर्शनोत्तरकाले अधिष्ठानरज्जु साक्षात्कारेण रज्जुविषयकाज्ञाननिवृत्तौ निवर्तते। अर्थात् सर्पभ्रान्तिः निवर्तते।

अतस्मिस्तद्बुद्धिरारोपः। कस्मिंश्चिद्वस्तुनि तत्समानावस्तुभ्रम इति भावः। यथा रज्जौ सर्पस्य शुक्तौ रजतस्य वा भ्रमः। अन्धकारपतितरज्जुदर्शकस्य रज्जुविषयकज्ञानं सर्पाकारपरिणतिमासादयति किन्तु सावहितिरज्जुदर्शनानन्तरं तदज्ञाननिवृत्तौ सर्पभ्रान्तिरपसर्पति। एवं स्वयं प्रकाशानन्तरं ब्रह्मरूपवस्तुनि ज्ञाते जगद्रूपावस्तुभ्रान्ति-र्निवर्तते। अयमेव

NOTES

ब्रह्मरूपिणि वस्तुनि जगद्रूपावस्तुभ्रान्तिः अध्यारोपः। अयमेव विवर्तोऽध्यास इति चोच्यते। तत्र कालत्रयेऽपि अविनाशी आत्मा (ब्रह्म) एव वस्तुशब्दार्थः। वस्तुनः, स्वरूपमाह-अज्ञानादिति।अज्ञानतज्जन्याकाशादिप्रपञ्चस्य मिथ्यात्व-दृश्यत्व-सावयवत्व-विकारित्व-सापेक्षसिद्धि कत्वेत्यादिबहुभिर्हेतुभिः अवस्तुत्वंसिद्ध्यति। एतदेव विस्तरण प्रतिपादयितुमज्ञानस्य स्वरूपमुच्यते-अज्ञानं त्विति। किमिदमज्ञानं सद्रूपमसद्रूपं वा। शशविषाणतुल्यत्वेन तुच्छत्वात् तत् सद्रूपमिति वक्तुं न शक्यते। यदि सद्रूपं चेत् तर्हि ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं तस्य बाधोन स्यात्, किन्तु जाते ब्रह्मसाक्षात्कारे तस्य बाधो भवति। अतः अज्ञानं न सत्। नापि तदसदिति वक्तुं शक्यते। यदि तत् असद् चेत् तर्हि तस्य प्रतीतिः नाभविष्यत्, किन्तु तस्य प्रतीतिर्भवति। अतः कथं तस्य असत्त्वं वक्तुं शक्यम्। ननु अज्ञानस्य अनिवर्चनीयत्वे सर्वथा ज्ञातुमशक्यत्वात्तदभावप्रसङ्गा-नाशङ्क्याह-त्रिगुणात्मकमिति। ''अजामेकां'' (श्वेता.उ.४/५) इत्यादिश्रुतिभिः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकत्वप्रतिपादनात् अज्ञानस्य त्रिगुणात्मकत्वम्। ननु अजस्य अज्ञानस्य श्रुतिप्रसिद्धस्य व्योमादिरूपेण विततस्यसत्यवद्भासमानत्वेन संसारस्य अनिवृत्तिम्। एतादृशमपि अज्ञानमात्मसाक्षात्कारेण ब्रह्मज्ञानेन निवर्तते। तथाचोक्तं भगवता-

''दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'' इति।

ज्ञानाभाव एव अज्ञानमिति तार्किकमतं निराकरोति-भावरूपमिति। अज्ञानस्य त्रिगुणात्मकत्वे भावरूपत्वेऽपि 'इदमित्थमेव' इति पिण्डीकृत्य दर्शयितुं न शक्यत इत्याह 'यत्किञ्चिदिति।' तदज्ञानं किमपि अघटितघटनापटीयः। अनिर्वचनीयस्य अनादिभावरूपस्य अज्ञानस्य सद्भावे अनुभवमेव उदाहृत्य दर्शयति अहमज्ञ इति। 'अहमज्ञः', 'मामहं न जानामि' इति अपरोक्षावभास एव प्रमाणम्। श्रुतिरपि एतदेव समर्थयति-'देवात्म शक्तिमिति'।।१२।।

हिन्दी व्याख्या—असर्प रूप रस्सी में सर्प के आरोप के समान वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप है। असर्पभूत रज्जु में (अर्थात् जो वास्तव में साँप नहीं है, उस रस्सी में) सर्प के आरोप (भ्रम) के कारण समान वस्तु (यथार्थ) में अवस्तु अर्थात् अयथार्थ का होना। उसी के समान ब्रह्म और जगत् सम्बन्धी अध्यारोप में सत्, चित्, आनन्द अद्वितीय ब्रह्म ही वस्तु है। अज्ञान से उत्पन्न सम्पूर्ण जड़ पदार्थ का समूह अवस्तु (अवास्तविक, अयथार्थ, मिथ्या) है। अज्ञान तो न सत् है और न असत् है, क्योंकि यदि वह सत् होता तो सर्वदा और सर्वत्र रहता तथा कभी उसका बाध अर्थात् नाश नहीं होता, किन्तु ब्रह्म का साक्षात्कार (ज्ञान, बोध) होने पर उसका विनाश हो जाता है इसलिए अज्ञान को सत् नहीं कह सकते। उसी तरह अज्ञान को असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि यदि वह 'असत्' होता तो इस प्रतीयमान जड़ जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? जिसकी सत्ता (अस्तित्व, विद्यमानता) नहीं है वह दूसरे का कारण कैसे हो सकता है ? इसके अलावा यह भी है कि जिसकी प्रतीति हो उसे असत् कैसे कहा जाय ? इसलिए 'सत् चेत् न बाध्येत' तथा 'असत् चेत् न प्रतीयेत' नियम के अनुसार सत्त्व (सत्) और असत्त्व (असत्) दोनों से रहित होने के कारण अज्ञान को अनिर्वचनीय कहते हैं। यहाँ जिज्ञासा होती है कि यदि अज्ञान (अविज्ञा) अनिर्वचनीय है और किसी भी प्रकार से जाना ही नहीं जा सकता तो उसकी सत्ता ही नहीं होगी। इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए 'त्रिगुणात्मकम्' पद अज्ञान के विशेषण के रूप में दिया गया है। यह विशेषण बनावटी नहीं है, अपितु 'अजामेकांलोहित-शुक्लकृष्णां' इस श्वेताश्वतर श्रुति के आधार पर दिया गया है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि वह अज्ञान सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक है। इसलिए अज्ञान का अभाव कैसे माना जा सकता है। श्वेताश्वतर श्रुति के आधार पर अज्ञान को 'अज' (अनुत्पन्न, अजन्मा) भी कहा गया है, तब तो आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त एवं सत्य के समान सर्वत्र भासित होने के कारण उसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए अज्ञान में दूसरा विशेषण ''ज्ञानविरोधि'' दिया गया है। इसलिए अज्ञान यद्यपि अज है, त्रिगुणात्मक है तथा ब्रह्मसाक्षात्कार होने के कारण वह नष्ट हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी उक्त विषय को कहा गया है-

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।'

इसलिए यह अज्ञान (अविद्या, माया) त्रिगुणात्मक भावरूप तो है, लेकिन वह 'ऐसा ही है', 'यही है', 'इसी प्रकार का यह है' ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसलिए उसे 'यत्किञ्चित्' कहा गया है अर्थात् अद्‌भुत शक्तियुक्त वह कुछ विलक्षण ही है, क्योंकि वह न सत् है, न असत् है और न सदसदुभयरूप ही है, न सावयव है, न निरवयव है और न सावयव-निरवयवोभयरूप है। इसलिए उसका वर्णन किसी भी रूप में न होने के कारण उसको 'अनिर्वचनीय' कहा गया है।

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। तथाहि-यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः 'अजामेकाम्' इत्यादिश्रुतेः। इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात्। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति श्रुतेः। ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरम्, आनन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः, सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।।१३।।

संस्कृत व्याख्या—वस्तुतः अज्ञानमेकमेव, तथापि समष्टेरभिप्रायेण एकमिति व्यवह्रियते, व्यष्टेरभिप्रायेण अनेकमिति व्यवह्रियते। एतदेव प्रपञ्चयति 'तथाहीति'। समुदायविवक्षया 'समष्टि' शब्दस्य व्यवहारः, प्रत्येकविवक्षया 'व्यष्टि' शब्दस्य व्यवहारः। यथा बहूनां वृक्षाणां समुदायविवक्षया 'वनमिति' एकत्वव्यवहारः, यथा वा बहुनद्यादिजलानां समुदायविवक्षया 'जलाशय' इति एकत्वव्यवहारो भवति, तथा अन्तःकरणोपाधिभेदेन नानात्वेन प्रतीयमानानां जीवगताऽज्ञानानां समुदायविवक्षया 'अज्ञानमिति' एकत्वव्यवहारः। अस्मिन् अर्थे श्रुतिं प्रमाणयति-अजामिति। (श्वेता उ. ४/५) अनया श्रुत्या अज्ञानस्य एकत्वेन व्यपदेशः कृतोऽस्ति। 'इत्यादिश्रुतेः' अत्रादिपदात् 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' 'तरत्यविद्यावितताम्' इत्याद्येकवचनान्तश्रुत्यन्तरपरिग्रहः। व्यष्ट्युपाध्यपेक्षया समष्ट्युपाधेर्वैलक्षण्यम् प्रदर्शयति इयं समष्टिरिति। इयं समष्टिः उत्कृष्टोपाधितया उत्कृष्टश्चासौ उपाधिस्तस्य भावस्तया उत्कृष्टत्वञ्चात्र अखण्डत्वव्यवहारेण बोध्यम्। विगतरागादिदोषसकलकार्यप्रपञ्चस्य जगत्कारणभूतस्य अज्ञानस्य समष्टिभूतोत्कृष्टोपाधित्वेन विशुद्धसत्त्वप्राधान्यम्। अथवा उत्कृष्टस्य जीवापेक्षया विशिष्टस्येश्वरस्य उपाधिस्तस्य भावस्तया विशुद्धसत्त्वप्राधान्यम्। विशुद्धं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं प्रधानं प्रबलं यस्याः सा तथाविधा इयं समष्टिः। अर्थात् रजस्तमसोः क्षीणसत्ताऽत्र सूचिता भवति। अज्ञानसमष्ट्यु-पाधिद्वारेण ईश्वरचैतन्यं लक्षयति। एतादृशसत्त्वप्रधानतया अज्ञानसमष्ट्या उपहितं चैतन्यम्, सर्वस्य चराऽचरात्मकस्य प्रपञ्चस्य साक्षितया सर्वज्ञातृत्वेन सर्वज्ञ इत्युच्यते। तथा सर्वेषां जीवानां कर्मानुरूपेप्सितफलदातृत्वेन सर्वेश्वर इत्युच्यते। तथा सर्वेषां जीवानां प्रवर्तकत्वेन 'सर्वनियन्ता' इत्युच्यते। सर्वस्य चराचरात्मकप्रपञ्चस्य विवर्ताधिष्ठानत्वेन तादृशस्य चैतन्यस्य जगत्कारणत्वमिति व्यपदिश्यते। एर्दुक्तं भवति-सत्त्वगुणप्रधानया अज्ञानसमष्ट् या उपहितस्य चैतन्यस्य समस्ताज्ञानावभासकत्वात् तत्त्चैतन्यम्। सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणैर्युक्तं सत् अव्यक्तान्तर्यामिजगत्कारणेश्वरादिनामभिर्विज्ञायते। अत्र प्रमाणमाह-"यः सर्वज्ञः सर्ववित्।" (मुण्ड. उ. १/१/१) इति। 'सर्वज्ञः' सामान्यतः, 'सर्ववित्' विशेषतः इति भेदः। तस्यैव ईश्वरस्य इयमज्ञानसमष्टिः (समुदायोपाधिः) एवं सम्पूर्णप्रपञ्चस्य कारणम्, अतः सैव कारणशरीरमित्युच्यते। अत्र आनन्दप्रचुरत्वमुपहितधर्मः, आच्छादकत्वमज्ञानधर्मः, तदुभयाविवेकात् कारणशरीरभूतमज्ञानमेव आनन्दमयकोशो वर्तते। कारणत्वावस्थायां प्रकृतिपुरूषमात्रव्यतिरिक्तस्य स्थूलसूक्ष्मकार्यप्रपञ्चस्यैवाभावात् आनन्दबाहुल्यमितिविज्ञेयम्। स्थूलसूक्ष्मोपाधीनां विलयस्थानत्वात् इयमज्ञानसमष्टिः 'सुषुप्तिः' (प्रलयः) महासुषुप्तिरित्युच्यते। अतएव (विलयस्थानत्वादेव) इयं स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्य (सृष्टेः) लयस्थानमप्युच्यते। स्थूलप्रपञ्चो विराट्, सूक्ष्मप्रपञ्चो

हिरण्यगर्भः। सर्वे आकाशादयः उपरमन्ते अस्मिन् इति सर्वोपरमः अज्ञानम्। ननु स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानस्य कथं सुषुप्तित्वमितिचेत् संज्ञाभेदः, न वस्तुभेदः।।१३।।

NOTES

हिन्दी व्याख्या—यह अज्ञान एक ही है, लेकिन इसको समष्टि और व्यष्टि के अभिप्राय से क्रमशः एक और अनेक कहा गया है। अर्थात् समष्टि (समूह) के अभिप्राय से एक और व्यष्टि (व्यक्ति) के अभिप्राय से अज्ञान को अनेक कहा गया है। जैसे-वृक्षों की समष्टि (समूह, समुदाय) के अभिप्राय से 'यह वन है' इस प्रकार लोग एकत्व का कथन करते हैं अथवा जलों (जल की बूँदों) की समष्टि के अभिप्राय से 'यह जलाशय है' इस प्रकार एकत्व का कथन लोग किया करते हैं। उसी प्रकार अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद से अनेक रूपों से परिभाषित होने वाले जीव विषयक अज्ञानों को समष्टि के अभिप्राय से अज्ञान के एकत्व का कथन लोग किया करते हैं। जैसा कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'अजामेकाम्' श्रुति ने 'अज्ञान' (अविद्या, माया) को एकवचन से ही बताया है। इससे यह प्रतीत होता है कि अज्ञान की यह एकता उसका सामान्य रूप (समष्टि रूप) है। अज्ञान की यह समष्टि (माया) व्यष्टि की उपाधि की अपेक्षा उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण अथवा जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट (ईश्वर) की उपाधि होने के कारण विशुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता से युक्त होती है। अर्थात् इसमें तमोगुण तथा रजोगुण की उपस्थिति रहने पर भी विशुद्ध सत्त्वगुण की ही प्रधानता रहती है। अतः उसे प्रधान माना जाता है। इस सत्त्वगुणप्रधान समष्टि रूप अज्ञान से उपहित जो चैतन्य है, उसे 'सर्वज्ञ' कहते हैं; क्योंकि वह (अज्ञान समष्टि से उपहित चैतन्य) चराचरात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च का साक्षी है। उसी प्रकार सभी जीवों को उनके कर्मानुरूप सभी को फल देता है, इसलिये उस चैतन्य को सर्वेश्वर भी कहते हैं। वह चैतन्य सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर उनकी बुद्धि का नियन्त्रण करता है। इसीलिये उसे सर्वान्तर्यामी कहते हैं। उसी प्रकार सम्पूर्ण चराचरात्मक प्रपञ्च के उत्पादक विवर्त का वह (चैतन्य) अधिष्ठान है। इसीलिये उसे 'ईश्वर' भी कहते हैं। इसका मतलब यह है कि विशुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञानसमष्टिरूप उपाधि से विशिष्ट (उपहित) चैतन्य, सम्पूर्ण अज्ञान का प्रकाशक होने के कारण सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियामकत्व आदि गुणों से युक्त अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत् का कारण ईश्वर आदि नाम उसी चैतन्य के हैं। श्रुति ने भी इसका समर्थन किया है-"जो ईश्वर सामान्य रूप से सब कुछ जानने के कारण सर्वज्ञ और विशेष रूप से भी कोई वस्तु उसे अज्ञात नहीं है, इसलिये वह सर्ववेत्ता है। ईश्वर की (उपाधिभूता अज्ञान की) यह समष्टि (अर्थात् माया) सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च का कारण होने से 'कारण-शरीर' तथा आनन्द की अधिकता से युक्त होने के कारण और कोश की तरह (चैतन्य = ईश्वर चैतन्य की) आच्छादक होने से 'आनन्दमय-कोश' कहलाती है। सब (स्थूल एवं सूक्ष्म उपाधियों) का उपरम अर्थात् विलय स्थान होने के कारण (अज्ञान की इस समष्टि को) 'सुषुप्ति' (महासुषुप्ति अर्थात् प्रलय) कहते हैं और इसी कारण से (अर्थात् विलय स्थान होने के कारण से ही) इस स्थूल एवं सूक्ष्म सृष्टि का लय स्थान भी कहते हैं।

यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्भिप्रायेण जलानीति, तथाऽज्ञानस्य व्यष्ट्भिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिश्रुतेः।।१४।।

संस्कृत व्याख्या—यथा बहुवृक्षसमुदायस्य वनत्वेन रूपेण एकत्वव्यवहारेऽपि प्रत्येकवृक्षविवक्षया आम्रादयो बहवो वृक्षस्तिष्ठिन्ति इति बहुत्वव्यवहारः। यथा वा वापीकूपतडागादिषु समुदायविवक्षया जलाशय इति एकत्वव्यवहारेऽपि प्रत्येकं वाप्यादिविवक्षया बहूनिजलानि तिष्ठन्ति इति बहुत्वव्यवहारः। तथा सकल-प्रपञ्चकारणस्य अज्ञानस्य समुदायरूपेण एकत्वेऽपि अहंकारादिकारणीभूतानां जीवगताज्ञानानां प्रत्येकविवक्षया बहुत्वव्यवहारः। अस्मिन्नर्थेश्रुतिं प्रमाणयति-"इन्द्रोमायाभिरिति"। (ऋ. ६/४७/१८) इन्द्रः अयं परमेश्वरः मायाभिः व्यष्टिभूतैरज्ञानैः विक्षेपशक्तिभिः विक्षिप्तेषु देहेन्द्रियान्तःकरणेषु प्रतिबिम्बितः पुरुरूपः बहुरूपः सन् ईयते प्रकाशते।।१४।।

हिन्दी व्याख्या—जैसे बहुत से वृक्षों को सामूहिक रूप में कहने की इच्छा होने पर उन सबको 'वन' कह देते हैं अर्थात् समष्टि रूप में कहते हैं लेकिन जब एक-एक वृक्ष को अलग-अलग (व्यष्टि रूप में) कहना चाहते हैं

तब नीम, कटहल, आम, अमरूद आदि भिन्न-भिन्न नामों से उन वृक्षों को कहते हैं। अथवा जिस प्रकार जल के अनेक बूँदों के अभिप्राय से या तालाब, कुआँ में जल की समष्टि का ज्ञान कराने के लिये सबको जलाशय कहते हैं अर्थात् सभी में सामूहिक रूप से (समष्टि रूप में) एकत्व का व्यवहार करते हैं किन्तु अलग-अलग ज्ञान कराने की इच्छा होने पर एक-एक जल की बूँद या तालाब, कुआँ आदि भिन्न-भिन्न नामों से (व्यष्टिरूप में) उन जलाशयों को बताते हैं अर्थात् उनमें बहुत्व का व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च (विश्व) के कारण रूप अज्ञान में समष्टि रूप से 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग कर एकत्व का व्यवहार किया जाता है, अपितु अनेक जीवगत अनेक अहंकार आदि के कारण रूप अनेक अज्ञानों के अभिप्राय से व्यष्टि रूप में 'अनेक अज्ञान' इस प्रकार बहुत्व का व्यवहार किया जाता है। इसी को 'इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते' परमेश्वर व्यष्टिभूत अज्ञानों के द्वारा अनेक रूप वाला प्रतीत होता है। इस ऋचा के द्वारा श्रुति में भी कहा गया है।

अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः। इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते, एकाज्ञानावभासकत्वात्। अस्य प्राज्ञत्वतस्पष्टोपाधितयाऽनतिप्रकाशकत्वात्। अस्यापीयमहंकारादिकारणत्वात्कारणशरीरम्, आनन्दप्रचुरत्वात् कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।।१५।।

संस्कृत व्याख्या—व्यस्तव्यापित्वेन कार्योपाधिजीवव्यापित्वावभासेन व्यष्टिताव्यदेशः। समस्तव्यापित्वेन कारणोपाधिसर्वज्ञाविभक्तसर्वव्यापित्वेन समष्टिताव्यपदेशः इत्यर्थः। निकृष्टोपाधितयेति। ज्ञानप्रतिबन्धकावरणवान् जीवो निकृष्टस्ततो-पाधितयेत्यर्थः। मलिनं रजस्तमोभ्यामभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा तथा। रजस्तमसोः स्वातन्त्र्येण प्रतिबिम्बोद्ग्राहकत्वायोगादिति भावः। एतदुपहितं व्यष्ट्यज्ञानोपहितम्। अज्ञानैकदेशावभासकत्वादिति यावत्। व्यष्ट्ज्ञानोपहितस्य प्राज्ञशब्दवाच्यत्वे कारणमाह-अस्येति। अस्य जीवस्यास्पष्टोपाधितया रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्व-प्रधानव्यष्ट्यज्ञा-नोपाधिकत्वेन हेतुनातिप्रकाशकत्वाभावात्प्राज्ञ शब्दवाच्यत्वमित्यर्थः। प्रायेणाज्ञः प्राज्ञ इत्युक्तं भवति। पूर्ववदुपहितस्य व्यपदेशमुक्त्वोपाधेरप्याह-अस्यापीति। अपिशब्द ईश्वरोपाधिदृष्टान्तार्थः। अहङ्कारादेः सुषुप्तयाद्यवस्थायां संस्कारावशेषेण स्थितस्य कारणत्वादित्यर्थः। आनन्दप्रचुरत्वादेवेत्येवकारः कोशवदाच्छादकत्वादिति हेत्वन्तरसमुच्चयार्थः। यद्वा आनन्दप्रचुरत्वाद्धेतोरेवेति भिन्नक्रमः। तस्मिनपक्षे कोशवदाच्छादकत्वा दित्यनुषञ्जनीयम्। सर्वशब्दो जाग्रत्स्वप्नविषयः।।१५।।

हिन्दी व्याख्या—यहाँ अज्ञान में एक व्यक्ति को समाविष्ट करने के कारण व्यष्टिरूप अज्ञान तथा समूह को समाविष्ट करने के कारण समष्टि रूप अज्ञान को कहा जाता है। (लेकिन अज्ञान एक ही है)। अज्ञान की यह व्यष्टि (अविद्या) निकृष्ट उपाधि होने के कारण अथवा ईश्वर की अपेक्षा निकृष्ट (जीव) की उपाधि होने के कारण मलिन सत्त्व गुण की प्रधानता से युक्त होती है। इस अज्ञान की व्यष्टि से उपहित चैतन्य केवल एक अज्ञान (अर्थात् व्यष्टिरूप अज्ञान) का अवभासक होने के कारण अल्पज्ञता, अनीश्वरता आदि गुणों से युक्त प्राज्ञ (प्रकृष्ट अज्ञ) कहा जाता है। इसकी उपाधि (अर्थात् उपाधिभूत व्यष्टि अज्ञान) के (मलिनसत्त्व-प्रधान होने के कारण) अस्पष्ट होने से इनका अधिक प्रकाशक न होना ही इसके प्राज्ञ होने का कारण है। इस (प्राज्ञ = जीव) की उपाधिभूत अज्ञान की यह व्यष्टि भी (जीव के) अहंकार आदि का कारण होने से 'कारण शरीर' आनन्द की अधिकता से युक्त होने के कारण तथा कोश (म्यान) की तरह आवरण (आच्छादक) होने के कारण ''आनन्दमय कोश'', सभी (अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न) का विलय स्थान होने के कारण सुषुप्ति कही जाती है। यही कारण है कि (अर्थात् इसमें सब कुछ का विलय स्थान (उपरम) होने के कारण ही) यह स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों की सृष्टि का लयस्थान भी कहलाती है।

तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवतः। 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः' इति श्रुतेः, 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च। अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः। एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि

वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशयजलगतप्रति बिम्बाकाशयोरिव वाऽभेदः। 'एष सर्वेश्वर' इत्यादि श्रुतेः।।१६।।

NOTES

संस्कृत व्याख्या—प्रलयकाले ईश्वरः सुसुप्तौ च प्राज्ञः एवमुभावप्यानन्दप्राचुर्यात् स्वात्मानन्दमनुभवतः इत्युक्तपूर्वम्। अन्तःकरणवृत्तिरिव चैतन्यप्रदीप्ताज्ञानस्यापि सूक्ष्मा वृत्तयो भवन्ति, अतः स्वसूक्ष्माज्ञानावृत्तिभिरीश्वरस्तथा प्राज्ञोऽपि प्रलये सुषुप्तौ च स्वरूपानन्दमनुभवतः। माण्डूक्योपनिषदि–'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्'–इत्यादिना इदमेव प्रतिपादितम्। सुषुप्तावानन्दोऽनुभूयत इत्यत्र 'सुखमहमस्वाप्सम् इति परामर्शोऽपि प्रमाणम् शयनान्तरमुत्थितो जीवोऽभिधत्ते 'सुखमहमस्वाप्समि' ति। एतेन स्पष्टीभवति यदस्यां दशायां यद्यप्यन्यज्ज्ञानं नासीत् तथाऽप्यहं सुखेनास्मि, इत्येतज्ज्ञानमासीत्। समष्टिव्यष्टिरूपाज्ञानद्वयस्य वनवृक्षवज्जलाशयनदीतडागगतजलवद्वैक्यमिति तदुपेहितेश्वरप्राज्ञचैतन्यद्वयस्थापि वनवृक्षावच्छिन्नाकाश वज्जलाशयनदीतडागादिप्रतिबिम्बताकाशवद्वैक्यम्। अत एव माण्डूक्योपनिषदि, 'अयमात्मा एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्यामी' इत्यादि चोच्यते। समष्टिव्यष्ट्यभि- प्रायेणेश्वरगतमूलाज्ञाने संस्कारमात्रावशिष्टप्राज्ञगताज्ञाने च भेदप्रतीतावपि यथा वस्तुगत्या भेदाभावस्तथैव समष्टिव्यष्ट्युपहितेश्वरप्राज्ञचैतन्येऽपि वस्तुगत्या भेदाभावः। समष्टिरूपाज्ञानोपहितं चैतन्यमीश्वरः, व्यष्टिरूपाज्ञानोपहितं च चैतन्यं प्राज्ञ इत्युच्यते। वस्तुगत्या सुवर्णतन्निर्मितकटककुण्डलवद्, मृत्पिण्डघटशरावद्वा कारणोपाधिविशिष्टेश्वरस्य कार्योपाधिविशिष्टप्राज्ञस्य चाभेदः। कार्यकारणभेदभावाभावे 'सोऽहम्' इति ब्रह्मज्ञानमात्रमवशिनष्टि। यथा चोक्तमनुभूतिप्रकाशे'

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते।।–(अ. प्र. २०/६१)

हिन्दी व्याख्या—उस समय प्रलयावस्था में ईश्वर तथा सुषुप्तावस्था में जीव (प्राज्ञ) चैतन्य से प्रकाशित (प्रदीप्त) अत्यन्त सूक्ष्म अज्ञान की वृत्तियों के माध्यम से (अपने स्वरूपभूत) आनन्द की अधिकता (प्रचुरता) होने के कारण स्वात्मानन्द का अनुभव करते हैं। ''प्राज्ञ (जीव) आनन्द का भोक्ता और चेतोमुख है''। (मा. उप. –५) इस श्रुतिवचन से तथा ''मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ भी नहीं पता चला'' इस प्रकार सोकर उठे हुये व्यक्ति की अनुभूति होने से भी (प्रलयावस्था तथा सुषुप्त्यवस्था के आनन्दानुभव का समर्थन होता है)। अज्ञान की समष्टि और व्यष्टि में (समष्टि और व्यष्टि रूप से भिन्न प्रतीत होने वाले को अज्ञानों में) वैसी ही एकता (अभिन्नता) है, जैसी वन और (वन के) वृक्ष में अथवा जलाशय और कुआँ, वापी, तडाग आदि में है। उसी तरह अज्ञान समष्टि और अज्ञान व्यष्टि से उपहित ईश्वर और प्राज्ञ (जीव) में भी वैसी ही एकता (अभिन्नता) है, जैसी वनपरिमित आकाश और वृक्षपरिमित में या जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश और नदी, वापी आदि में प्रतिबिम्बित आकाश में होती है। 'एष सर्वेश्वर' इस माण्डुक्य श्रुति से भी ईश्वर और प्राज्ञ (जीव) की एकता प्रमाणित होती है। इस श्रुति में आत्मा को ही सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी आदि कहा है। समष्टि और व्यष्टि की दृष्टि से ईश्वरगत मूल अज्ञान और प्राज्ञगत (जीवगत) अज्ञान में भेद ज्ञात होता है किन्तु वास्तव में कोई भेद नहीं है उसी प्रकार अज्ञान की समष्टि तथा अज्ञान की व्यष्टि से उपहित ईश्वर और जीव में भी वास्तव में कोई भेद नहीं है। समष्टिरूप अज्ञानोपहित चैतन्य को 'ईश्वर' यह नाम दिया गया है तथा व्यष्टिरूप अज्ञानोपहित चैतन्य को 'प्राज्ञ' (जीव) यह नाम दिया गया है। जैसे सोने का पिण्ड कारण तथा उससे बना हुआ कङ्कण–कुण्डलादि कार्य हैं, उसी प्रकार कारणोपाधिविशिष्ट को ईश्वर तथा कार्योपाधिविशिष्ट को प्राज्ञ (जीव) नाम दिया गया है। वस्तुतः सोना और उससे बना हुआ कङ्कण–कुण्डल के समान दोनों अभिन्न हैं। जब कार्यकारणरूप भेदभाव दूर हो जाता है तब 'सोऽहम्' यह ब्रह्मज्ञान (पूर्ण बोध) केवल शेष रह जाता है।

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाऽऽधारभूतानुपहिता- काशवदनयोरज्ञान तदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते। 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते'

इत्यादिश्रुतेः। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं संल्लक्ष्यमिति चोच्यते।।१७।।

संस्कृत व्याख्या—वनावच्छिन्नावृक्षावच्छिन्नाकाशयोः जलाशयतडागादिगतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वा आधारभूतो यथा महाकाशः तथैव ईश्वर-प्राज्ञ-चैतन्योरपि आधारभूतमनुपहितं सर्वत्रव्यापकं यद् विशुद्धं चैतन्यं, तत् तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते। अत्र श्रुतिम्प्रमाणयति-''शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते''-(माण्डू. उ. ७) इत्यादिश्रुतेः। इत्यत्र 'आदि' पदेन 'त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ताभोग्यश्च यद् भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।।' इति श्रुत्यन्तरपरिग्रहः। इदमेव विशुद्धचैतन्यम्। इदं विशुद्धचैतन्यं पूर्वोक्तेन अज्ञानसमष्टिव्यष्ट्युपहितेश्वरचैतन्यप्राज्ञचैतन्यद्वयेन सह अभेदविवक्षायां 'तत्त्वमसी' ति महावाक्यस्य वाच्यार्थत्वं लभते, भेदविवक्षायां च लक्ष्यार्थत्वं लभते। चैतन्यरूपेण त्रयाणां चैतन्यानां यद्यपि एकत्वम्, तथापि अज्ञानानवच्छिन्नत्वेन वाच्यत्वं, अज्ञानावच्छिन्नत्वेन च लक्ष्यत्वं भजते। यथा अग्नौ प्रक्षिप्ते अयोगोलके भारादिपार्थिवांशे सत्यपि अग्निगुणदाहकताशक्तिमत्तया अग्निगोलकव्यवहारः, तथा तेन दाहे जायमाने अयः पिण्डो दहतीति व्यवहारः, तथैव अज्ञानोपहितयोः ईश्वर-प्राज्ञचैतन्ययोः विशुद्धचैतन्येन सह एकत्वभिन्नत्व-व्यवहारः।।१७।।

हिन्दी व्याख्या—जिस प्रकार वन तथा वन के वृक्षों से मर्यादित (अवच्छिन्न) अर्थात् वन में वर्तमान तथा वृक्षों में वर्तमान आकाश का आधारभूत अनुपहित (अनवच्छिन्न, अमर्यादित) आकाश अर्थात् महाकाश होता है अथवा जलाशय में पड़े हुये आकाशप्रतिबिम्ब तथा वापी, कुआँ, तड़ागादि में पड़े हुये आकाशप्रतिबिम्ब का आधारभूत अनुपहित (अनवच्छिन्न, अमर्यादित) आकाश अर्थात् महाकाश है, वैसे ही अज्ञानसमष्टि से उपहित (उपाधि सहित, अवच्छिन्न, मर्यादित) प्राज्ञ (जीव) चैतन्य का आधारभूत अनुपहित (उपाधिरहित, अनवच्छिन्न, अमर्यादित) सर्वव्यापी विशुद्ध चैतन्य है, उसी को तुरीय (चतुर्थ) कहते हैं। वेदान्तवेत्ता उस अनुपहित विशुद्ध चैतन्य को शिव, अद्वैत तथा तुरीय (चतुर्थ) कहते हैं (माण्डू. उ. ७)। यही बात 'त्रिषु धामसु यद्भोग्यं' इत्यादि अन्य श्रुतियों में भी कही गयी है। जैसे अग्नि में डाला हुआ लोहे का गोला लाल (रक्तवर्ण) हो जाने पर वह अग्नि से अलग नहीं दिखायी देता है। उसमें भारादि पार्थिवांश के रहने पर भी अग्नि की दाहकता शक्ति (गुण) से युक्त होने के कारण उसे आग का गोला कहते हैं और उससे जल जाने पर लोहे का गोला जलाता है (अयो दहति) कहते हैं, वैसे ही अज्ञानोपहित ईश्वर तथा प्राज्ञ (जीव) चैतन्य और विशुद्ध (अनुपहित) चैतन्य की एकता (अभिन्नता) ''तत्त्वमसि'' इस महाकाव्य का वाच्यार्थ है और प्राज्ञ-ईश्वर चैतन्य से विशुद्ध चैतन्य की भिन्नता ''तत्त्वमसि'' इस महाकाव्य का लक्ष्यार्थ है।

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकस्ति शक्तिद्वयम्। आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्य मण्डलवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव, तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नम सांसारिणवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव, तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्।।१८।।

संस्कृत व्याख्या—एवमेवस्थाभिमानिसहितमज्ञानं सविभागं सप्रपञ्चं निरूप्येदानीं तत्कार्याध्यारोपं क्रमेण निरूपयिष्यंस्तदुपयोगिकत्वेनाज्ञानगतं सामर्थ्यं तावन्निरूपयति-अस्याज्ञानस्येति। तत्रावरणशक्तिं सद्दृष्टान्तामुपपादयति-आवरणेति। यद्यप्यज्ञानस्य मूर्तत्वामूर्तत्वाभ्यामनिर्वाच्यत्वात्र परिच्छिन्नत्वं तथापि परिच्छेद्यापेक्षयाल्पत्वमात्रं विवक्षितमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिककयोरवैषम्यम्। बुद्धिपिधायकतयेत्यत्र बुद्धिशब्देन तदनुरक्तं चैतन्यं लक्ष्यते बुद्धेरज्ञानकार्यत्वेन तदावृतत्वानुपपत्तेः। तदुक्तमित्यादिना।।१८।।

हिन्दी व्याख्या—इस अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप नामक दो शक्तियाँ हैं। जिस प्रकार बादल (मेघ) का एक टुकड़ा (खण्ड) देखने वाले व्यक्ति के नेत्र-मार्ग को ढक लेने के कारण, अनेक योजन तक फैले हुये सूर्यमण्डल को ढक-सा लेता है, उसी प्रकार अज्ञान परिमित होते हुये भी प्रमाता की बुद्धि को ढक लेने के कारण अपरिमित तथा असंसारी आत्मा को ढक लेता है (न कि वस्तुतः ढकता है)। (अज्ञान की आवरण शक्ति का) ऐसा ही सामर्थ्य है। ऐसा ही कहा भी गया है-

NOTES

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्म।।इति।।११।।

अन्वय—यथा अतिमूढः घनच्छन्नदृष्टिः अर्कं घनच्छन्नं च निष्प्रभं मन्यते तथा मूढदृष्टेः यः बद्धवत् भाति सः नित्योपलब्धिस्वरूपः आत्मा अहम्।

संस्कृत व्याख्या—स्वल्पोऽपि पयोदखण्डः समक्षमागत्यानेकयोजनमायतमप्यादित्यमण्डलमवलोकयितृनेत्रपथोऽवरुणद्धि तथैवाज्ञानस्य परिच्छिन्नत्वेऽपि स्वावरणशक्त्या तत्प्रमातृबुद्धिमावृत्त्यापरिच्छिन्नमसंसारिणमात्मानं तद्दृष्टेरवरुणद्धि। वस्तुगत्या स आत्मा नित्योपलब्धिस्वरूप इति न केनापि कदापि कथमपि पिधातुं शक्यो नापि च सांसारिकबन्धनैर्बद्धुं शक्यः। केवलं मूर्खबुद्ध्यैव स तथा प्रतीयते। अस्य श्लोकस्य अयमेव भावः स्पष्टीकृतः।।११।।

शब्दार्थ—यथा = जैसे, **अतिमूढः** = अत्यन्त मूर्ख मनुष्य, **घनच्छन्नदृष्टिः (सन्)** = मेघ से दृष्टि ढक जाने पर, अर्कम् = सूर्य को, **घनच्छन्नम्** = मेघ से ढका हुआ, **च** = और, **निष्प्रभम्** = निस्तेज, **मन्यते** = समझता है, **तथा** = उसी प्रकार, **मूढदृष्टेः** = मूर्ख मनुष्य की दृष्टि से, **यः** = जो (आत्मा), **बद्धवत्** = बन्धन से बँधे हुये के समान, **भाति** = प्रतीत होता है, **सः** = वह, **नित्योपलब्धिस्वरूपः** = नित्य ज्ञानरूप, **आत्मा** = आत्मा (ही), **अहम्** = मैं हूँ।

हिन्दी व्याख्या—जैसे अत्यन्त मूर्ख मनुष्य मेघ से दृष्टि ढक जाने पर सूर्य को मेघ से ढका हुआ और निस्तेज समझता है उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य की दृष्टि से जो (आत्मा) बन्धन से बँधे हुये के समान प्रतीत होता है वह नित्य ज्ञान रूप आत्मा (ही) मैं हूँ।

अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखमोहात्मक-तुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते, यथा स्वज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना। विक्षेपशक्तिस्तु, यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृत्तरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयति एवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्-'विक्षेपशक्तिर्लिङ्गा ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्' इति।।२०।।

संस्कृत व्याख्या—वस्तुगत्या नामरूपात्मकमखिलं जगत् ब्रह्मैव संसारबुद्धिश्च तदज्ञाननिबन्धनैवेति बोध्यम्। अज्ञानस्यानयैवावरणशक्त्या युक्त आत्मा सांसारिकविषयेषु कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वादिकं च भजते किन्त्वेतत्सर्वं रज्जावहिविभावनमिव मिथ्या। आब्रह्मस्थावरान्तं नामरूपात्मकस्य जगतः समुत्पादिका शक्तिः विक्षेपशक्तिः। यथा रज्जुविषयकमज्ञानं पूर्वं स्वशक्त्या रज्जुमावृणोति पश्चात् तदेवाज्ञान निजविक्षेपशक्त्या तत्रावृते रज्जौ सर्पमुत्पादयति तथा आत्मविषयकज्ञानमपि पूर्वं निजावरणशक्त्या आत्मानमावृणोति पश्चात् तदेव अज्ञानं निजविक्षेपशक्त्या तत्रात्मनि सूक्ष्मशरीरादारभ्य ब्रह्माण्डपर्यन्तमाकाशा दिप्रपञ्चमुत्पादयति। एतादृशमज्ञानस्य सामर्थ्यम्। एषा अज्ञानशक्तिद्वयी दृग्दृश्यविवेकऽपि 'शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिकारणम्' इत्यादिना प्रतिपादिता। अत्र ग्रन्थकारः ग्रन्थान्तरसम्मतिं प्रदर्शयति-तदुक्तमिति। 'विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्' इति (वा. सु. १३)।।२०।।

हिन्दी व्याख्या—अविद्या की आवरण शक्ति से सम्पन्न हुआ आत्मा स्वयं को सांसारिक विषयों का कर्ता, भोक्ता, सुखी, दु:खी आदि समझता है। किन्तु यह सब रस्सी में सर्पभ्रम की तरह मिथ्या है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो नामरूपात्मक सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है, किन्तु यथार्थ ज्ञान न होने के कारण साधारण मनुष्य उसे सांसारिक दृष्टि से देखते हैं।

आब्रह्मस्थावरान्त समस्तनाम-रूपात्मक जगत् की उत्पादक शक्ति को विक्षेप शक्ति कहते हैं। जैसे रस्सी के विषय में अज्ञान अपनी आवरण शक्ति के द्वारा रस्सी को प्रथम् आवृत्त करता है, पश्चात् उस आवृत्त हुयी रस्सी में अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा सर्पत्व की भावना पैदा करता है। वैसे ही आत्मविषयक अज्ञान अपनी आवरण शक्ति

से पहले आवृत्त किये आत्मा में तथा बाद में विक्षेप शक्ति के द्वारा सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक आकाशादि प्रपंच की उत्पत्ति करता है। इन दोनों शक्तियों का प्रतिपादन 'दृग्दृश्यविवेक' में इस प्रकार किया गया है–

''शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम्।

विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्।।

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।

आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्।।''

शक्तिद्वयवज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति।।२१।।

संस्कृत व्याख्या—नन्वेवंविधाज्ञानोपाधिकस्येश्वचैतन्यस्य यज्जगत्कारणत्वं तन्निमित्तत्वं स्यादुपादानत्वं वा उभयं वेति जिज्ञासायामाह–शक्तिद्वयवदिति। स्वप्रधानतया कूटस्थचैतन्यस्वरूपावभासितया स्वोपाधिप्रधानतया उपाध्युपरक्तसत्तास्फूर्तिरूपतयेति भेदः। एकस्योभयविधकारणात्मकत्वे दृष्टान्तमाह–यथेति। लूता स्वतन्तुकार्यं प्रति चैतन्यप्रधानतया निमित्तकारणम्, स्वशरीरप्रधानतया चोपादानकारणम् एवमज्ञानोपहितात्मा चैतन्यप्रधानतया सांसारिकप्रपञ्चस्य निमित्तं कारणम् अज्ञानप्रधानतया चोपादानकारणम्।।२१।।

हिन्दी व्याख्या—दो शक्तियों के अज्ञान से उपहित चैतन्य (अर्थात् ईश्वर नामक चैतन्य) अपनी (अर्थात् चेतनता की) प्रधानता से जगत् का निमित्त कारण होता है और अपनी उपाधि (अज्ञान) की प्रधानता से (उसका) उपादान कारण भी होता है। जिस प्रकार एक मकड़ी जाल रूप कार्य के प्रति चैतन्य प्राधान्य के कारण निमित्त कारण है तथा अपने शरीर के प्राधान्य के कारण उपादान कारण भी है, उसी भाँति अज्ञानोपाधि युक्त आत्मा चैतन्य प्रधानता के कारण समस्त प्रपञ्च का निमित्त कारण तथा अज्ञान के कारण उपादान कारण है।

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचेतन्यादाकाशः, आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिश्रुतेः। तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्य-पञ्चीकृतानि चोच्यते। एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते।।२२।।

संस्कृत व्याख्या—तमसः प्रधानात् किन्तु यत्किञ्चित् रजः सत्त्वसत्तासम्पन्नाद, विक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाशः आकाशद्वायुः वायोरग्निः, अग्नेर्जलम्, जलात्पृथिवी चोत्पद्यते। आकाशादेर्जडत्वात्तमोगुणप्रधानविक्षेपशक्तिसम्पन्ना ज्ञानोपहितचैतन्यस्यैवाकाशादिप्रपञ्चजनकत्वं युक्तम् 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इति नियमात्, तथा च श्रुतिः–

'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः।

एतेन दैवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति

श्रुत्या मायायाः गुणत्रययुक्तत्वेऽपि तमोगुणप्राधान्यादेव कथमाकाशाद्युत्पत्तिरिति शङ्काप्यपास्ता। एवमाकाशादुत्पत्त्यनन्तरं स्वकारणगुणानुरूपमुत्तरोत्तरं तेष्वाकाशादिषु सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणामपि गुणानामुत्पत्तिः। एतान्येवापञ्चीकृतसूक्ष्मरूपपञ्चभूतानि तथा क्रमशः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रा कथ्यन्ते। एभ्य एव सूक्ष्मभूतेभ्यः (अपञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः) अपञ्चीकृतसूक्ष्मशीराणि तथा पञ्चीकृतस्थूलभूतेभ्यः स्थूलशरीराणि चोत्पद्यन्ते।।२२।।

NOTES

हिन्दी व्याख्या—तमोगुणप्रधान किन्तु रज और सत् की भी यत्किञ्चित् सत्ता से युक्त विशेष-शक्ति-सम्पन्न अज्ञानोपहित चैतन्य से आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। निम्नलिखित श्रुति इसमें प्रमाण है-

'तस्माद्वा एतस्तादात्मन आकाशः सम्भूतः'।

यहाँ यद्यपि यह शंका हो सकती है कि ''दैवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्'' से यह प्रमाणित होता है कि अज्ञान (माया) तीनों गुणों से युक्त है, अतः आकाशादि की उत्पत्ति तमोगुण की प्रधानता से हुयी, यह कैसे निश्चित हो सकता है, परन्तु इसका समाधान यह है कि आकाशादि कार्य जड़ है, इसलिये कारण-गुण-न्याय से तमोगुण-प्रधान विक्षेप शक्तियुक्त ही चेतन को आकाशादि प्रपञ्च का कारण मानना ठीक है, आकाशादि की उत्पत्ति होने पर अपने-अपने कारण-गुण के अनुरूप उत्तरोत्तर उन आकाशादि में सत्, रज, तम, तीनों ही गुण उत्पन्न होते हैं। इन्हीं आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी को अपञ्चीकृत सूक्ष्म रूप पञ्चभूत तथा क्रमशः शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गन्धतन्मात्रा कहते हैं। इन्हीं सूक्ष्मभूतों से अपञ्चीकृत सूक्ष्मशरीर तथा पञ्चीकृत स्थूलभूतों से स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं।

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकं, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियषञ्चकं, वायुपञ्चकञ्चेति। ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि। एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः। अनयोरेवचित्ताहङ्कार योन्तर्भावः। एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते। एतेषां प्रकाशात्म कत्वात्सात्त्विकांशकर्त्त्यत्वम्।।२३।।

संस्कृत व्याख्या—सूक्ष्मशरीराण्येव लिङ्गशरीराणीत्युच्यन्ते। सूक्ष्म शरीराणां सप्तदश अवयवाः सन्ति। ते अवयवाः सन्ति-

'पञ्चप्राणमनोबुद्धि दशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम्।।'

लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि तानि च तानि शरीराणि च शरीरप्रतिष्ठत्वाच्छशरीर-साधनत्वाद्वा धर्मादिद्वारेणेति, लिङ्गशरीराणीत्येत्यर्थः। सूक्ष्मशरीरस्वरूपभूतान् अवयवानाह-अवयवास्त्वि' ति। पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, बुद्धिमनसी, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पञ्चवायवश्चेतिमिलित्वा सप्तदश अवयवा भवन्ति। तत्र श्रोत्रत्वक् चक्षुजिह्वाघ्राणाख्यानि ज्ञानेन्द्रियाणि सन्ति। ज्ञानसाधनानि इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि। तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकेन्द्रियत्वानि प्रत्येकं यथाक्रमं लक्षणानि। सात्त्विकांशत् व्योमात् श्रोत्रमुत्पद्यते, सात्त्विकांशाद्वायोः त्वगिन्द्रियं, सात्त्विकांशात् तेजसः चक्षुः सात्त्विकांशात् जलात् जिह्वा, सात्त्विकांशायाः पृथिव्याः सकाशात् घ्राणेन्द्रियं चेति क्रमेणोत्पद्यन्ते। ब्रह्मैवाहमिति निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिरेव बुद्धिः। अहं चिद्रूपः देहो वेति संशयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिरेव मन इत्यर्थः। ननु अन्तःकरणस्य चतुष्टयत्वप्रसिद्धेः कथमिह द्वयमेव गृहीतमित्याह। अनुसन्धानात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः चित्तम्। अभिमानात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः अहङ्कारः। चित्तस्य बुद्धौ अन्तर्भावः विषायापरि-च्छित्तिरूपत्वाविशेषात्, इदमित्थमेवेति विषयपरिच्छेदः। अहङ्कारस्य मनसि अन्तर्भावः, तस्यापि सङ्कल्पात्मकत्वाविशेषात्। एवञ्च स्मरणात्मकस्य चित्तस्य गर्वात्मकाहङ्कारस्य च बुद्धिर्मनसोरन्तर्भाव इत्यर्थः। यद्यपि अन्तःकरणत्वेन चतुर्णामेकत्वं तथापि एकस्यैव पुरुषस्य पाचकः, पाठकः याचकः इत्यादिवृत्तिभेदात् भेदवत् एकस्यापि अन्तःकरणस्य निश्चय-संशय-स्मरण-अहङ्कारविषय-भेदैर्बुद्ध्यादि भेदः। बुद्धेर्हि अपूर्वो विषयः, चित्तस्यपूर्वानुभूतः। तथा मनसो बाह्यः आभ्यन्तरश्च सर्वोविषयो यथायोगम्। अहङ्कारस्य तु अनात्मोपरक आत्मैव। अतो विषयभेदेऽपि स्वरूपाऽभेदात् युक्तोऽन्तर्भावः। एवं स्वरूपाभेदेऽपि-विषयभेदात् क्वचित् क्वचित् चित्ताहङ्कारयोर्बुद्धिमनोभ्यां पृथङ्निर्देशः क्रियते। पूर्ववत् एतानि चत्वारि व्योमादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यन्ते। तत्र मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराः प्रकाशात्मकाः, एतदेव एतेषां ज्ञानेन्द्रियाणाञ्च महाभूतसात्विकांशकार्यत्वे प्रमाणम्।।२३।।

NOTES

हिन्दी व्याख्या—सूक्ष्मशरीर को लिङ्गशरीर कहते हैं। सूक्ष्मशरीर का निर्माण सत्रह अवयवों से होता है। वे सत्रह अवयव निम्नलिखित हैं-

'पञ्चप्राणमनोबुद्धि दशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम्।।'

(सूक्ष्मशरीर के) ये अवयव हैं-पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि और मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच वायु। ज्ञानेन्द्रियों के नाम हैं-श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण। ये (ज्ञानेन्द्रियाँ) आकाश आदि (सूक्ष्म भूतों) में वर्तमान एक-एक सत्त्व गुण के अंश से पृथक्-पृथक् क्रमशः उत्पन्न होती हैं (अर्थात् आकाश के सात्विक अंश से श्रोत्र, वायु के सात्विक अंश से त्वक्, तेज के सात्विक अंश से चक्षु, जल के सात्विक अंश से जिह्वा और पृथिवी के सात्विक अंश से घ्राण उत्पन्न होता है)।

''मैं ब्रह्म हूँ'' अथवा 'यह बात बिल्कुल ऐसी है' इस प्रकार निश्चय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। यह बात ऐसी है या नहीं (मैं चेतनस्वरूप हूँ या देह हूँ) इस प्रकार संशय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति का नाम मन हैं। स्मरणात्मक चित्त का अन्तर्भाव बुद्धि में और अहङ्कार का अन्तर्भाव मन में ही हो जाने के कारण इनके अलग लक्षण नहीं दिये गये। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार इन चारों का नाम अन्तःकरण है। यद्यपि वह एक है तथापि एक ही व्यक्ति के जैसे अलग-अलग कार्य करने पर अलग-अलग नाम हो जाते हैं, उसी प्रकार इन चारों के अलग-अलग कार्य होने के कारण एक ही अन्तःकरण के भिन्न चार नाम हैं, अर्थात् जैसे 'राम' यदि पढ़ाने लगे तो पाठक, यदि रसोई बनाने लगे तो पाचक और यदि माँगने लगे तो उसी का नाम याचक हो जाता है, उसी प्रकार एक ही अन्तःकरण संशयात्मक दशा में मन, निश्चयात्मक दशा में बुद्धि, स्मरणात्मक दशा में चित्त तथा गर्वात्मक दशा में अहङ्कार से व्यवहृत होता है। वास्तव में ये चारों भिन्न वृत्तियों के अनुसार एक ही (अन्तःकरण) के नामान्तर हैं। ये सब आकाशादिगत सात्विक अंशों से उत्पन्न हैं-इनमें आकाशादि सभी के सात्विक अंश मिले रहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ये चारों प्रकाशात्मक हैं, यही इस बात का प्रमाण है कि इनकी उत्पत्ति महाभूतों के सात्विक अंशों से होती है।

इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति। अयं कर्तृत्वभोक्तृत्व-सुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानत्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते। मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।।२४।।

संस्कृत व्याख्या—ज्ञानेन्द्रियसहिताबुद्धिर्विज्ञानमयः कोश उच्यते तद्युक्तं चैतन्यं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानित्वेन स्वर्गादिलोकगामि भवति। व्यावहारिकदशायाञ्चैतदेव विज्ञानमयकोशयुक्तं चैतन्यं जीवसंज्ञां लभते। सत्त्वगुणांशोत्पन्नत्वेन सत्त्वगुणप्रधानं, चक्षुःश्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियसहितञ्च मनोमयकोशः कथ्यते।।२४।।

हिन्दी व्याख्या—यह बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर विज्ञानमय कोश कहलाती है। (अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठी बुद्धि को मिलाकर समवेत रूप में इनके लिये 'विज्ञानमय कोश' यह पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किया जाता है)। यह विज्ञानमय कोश (अर्थात् विज्ञानमय कोश से अविच्छिन्न चिदात्मा) ही व्यवहार करने वाला जीव कहा जाता है। मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ आदि-ऐसा अभिमान करने के कारण यही इस लोक तथा परलोक में भ्रमण करता है। मन तो ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर मनोमय कोश कहलाता है।

कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि। एतानि पुनराकाशादीनां रजोंऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः। प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती। अपानो नामावाग्गमनवान् पाय्वादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती। उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः। समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः।।२५।।

NOTES

संस्कृत व्याख्या—कर्मसाधनानि इन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि, तानि वाक्पाणिपाद-पायूपस्थाख्यानि। वचनादानगमनविसर्गानन्दसाधनेन्द्रियत्वं यथाक्रमं वागादीनां प्रत्येकं लक्षणम्। वागादिपञ्चकर्मेन्द्रियाणि व्योमादिरजोगुणांशेभ्य: क्रमश: पृथक्-पृथक् उत्पद्यन्ते। व्योमादिभूतेषु सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणामपि गुणानां विद्यमानत्वेऽपि तेषु रजोगुणबाहुल्यात् तत्कार्यभूतेषु वागादिषु रजोगगुणांशस्याधिक्यम्। तथा च रजोगुणप्रधानात् आकाशाद् वाक् उत्पद्यते, रजोगुणप्रधानाद्वायो: पाणीन्द्रियम्, रजोगुणप्रधानात् अग्ने: पादेन्द्रियम्, रजोगुणप्रधानात् जलात् पाय्विन्द्रियम्, रजोगुणप्रधानाया: पृथिव्या: गुह्येन्द्रियमुत्पद्यते। एवञ्च इन्द्रियाणां भौतिकत्वं स्थितं भवति। प्राणाख्य:, अपनाख्य:, व्याख्य:, उदानाख्य:, समानाख्य: इति पञ्च वायव: सन्ति। अधो नाभे: अधस्ताद्गमनवान् मलापनयनव्यापारेण। पायुर्गुदं तत्स्थानवर्तीत्यर्थ:। आदिशब्दादुपस्थग्रह:। तत्रापि मूत्ररेतोविसर्गस्य अपानकर्मत्वात्। एवञ्च अधोगमनशील: पाय्वादिस्थायीवायु: अपान:। विष्वक् परित: सर्वतो गमनं विद्यते यस्य स: तथा। प्राणापाननियमनकर्मारण्यामग्न्युत्पादनादिवीर्यवत्कर्महेतुत्वात् अखिलशरीरवर्ती व्यानाख्यो वायु:। ऊर्ध्वमुत्क्रमणशील: कण्ठस्थायी वायु: उदान:। आशितादे: समं नयनात् समान:। शरीरमध्यगतान्नरसादिनेता वायु: समान इत्यर्थ:। प्राणादिवायूनां वायत्वेन रूपेण एकत्वेऽपि क्रियाभेदेन भेद:।।२५।।

हिन्दी व्याख्या—कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं, जिनके नाम हैं- वाक् (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)। ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ आकाश आदि सूक्ष्मभूतों से असम्मिलित रजोगुण के अंश से क्रमश: अलग-अलग उत्पन्न होती हैं। (अर्थात् आकाशगत रजोगुण से वाक्, वायुगत रजोगुण से हस्त, अग्निगत रजोगुण से पाद, जलगत रजोगुण से पायु तथा पृथिवीगत रजोगुण से उपस्थ उत्पन्न होता है)। प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान, ये पाँच वायु हैं। ऊपर की ओर चलने वाले तथा नासिका के अग्र भाग में रहने वाले वायु का नाम है—प्राण। नीचे की ओर चलने वाले तथा पायु आदि स्थानों में रहने वाले वायु का नाम है—अपान। चारों ओर चलने वाले तथा समग्र शरीर में व्याप्त वायु का नाम है-व्यान। (मृत्यु के समय) शरीर से उत्क्रमण करने वाले, ऊपर की ओर चलने वाले, कण्ठस्थान में रहने वाले वायु का नाम है—उदान। शरीर के मध्य में गये हुये, खाये गये अन्न आदि को एवं पिये गये जल आदि को ठीक तौर से व्यवस्थित करने वाले वायु का नाम है-समान।

केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्या: पञ्चान्ये वायव: सन्तीति वदन्ति।तत्र नाग उद्गिरणकर:। कूर्म उन्मीलनकर:। कृकल: क्षुत्कर:। देवदत्तो जृम्भणकर:। धनञ्जय: पोषणकर:। एतेषां प्राणादिष्वन्त-र्भावात्प्राणादय: पञ्चैवेति केचित्।।२६।।

संस्कृत व्याख्या—सांख्यमतानुसारिण: क्रियाभेदेन अन्येऽपि पञ्चवायव: सन्तीति वदन्ति। तान्येव नामतो निर्दिशति-नाग:-कूर्म:-कृकल:-देवदत्त: एवं धनञ्जयश्च। तथा चोक्तम्-

> **''उद्गारे नाग आख्यात: कूर्म उन्मीलने स्मृत:।**
> **कृकल: क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।**
> **न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जय:।।''**

प्राणादीनामेव यथार्थं उद्गारादिक्रियानिमित्ततया अवस्थान्तरमापद्यमानानां नागादिसंज्ञाया अपि उपपत्तौ तत्त्यान्तरकल्पनं तेषां गौरवमप्रामाणिकम्।।२६।।

हिन्दी व्याख्या—कुछ लोग सांख्य मतानुयायी आदि कहते हैं कि प्राण वायु आदि से भिन्न पाँच और वायु हैं जिसका नाम है नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। उसमें नाग वायु वह है जिससे उद्गिरण-डकार, वमन आदि होता है, कूर्म वायु वह है जिसमें उन्मीलन-आँखें खुलने और बन्द होने का कार्य होता है, कृकल वायु वह है जिसमें क्षुत-भूख लगती है, देवदत्त वायु वह है जिसमें जम्हाई आती है, धनञ्जय वायु वह है जिसमें शरीर का पोषण होता है। इस सम्बन्ध में कुछ अन्य लोग यह कहते हैं कि इन वायुवों का प्राण आदि वायुवों के मध्य समावेश हो जाने से प्राण आदि पाँच ही वायु हैं।

एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोऽशेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यते। इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंऽशकार्यत्वम्।।२७।।

संस्कृत व्याख्या—अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतेभ्यः रजःप्रधानेभ्यः प्राणादयः उत्पद्यन्ते। एतेषां प्राणादीनां प्राणप्रचुरत्वात् आत्माच्छादकत्वात् कोशत्वं च भवतीत्याह। कर्मेन्द्रियसहिताः पञ्चप्राणाः प्राणमयकोश इत्युच्यते। प्राणादीनां क्रियात्मकत्वात् रजःकार्यत्वम्।।२७।।

हिन्दी व्याख्या—ये प्राण आदि पाँच वायु आकाश आदि सूक्ष्मभूतों के सम्मिलित रजोगुण के अंश से उत्पन्न होते हैं। प्राण आदि पाँचों वायु कर्मेन्द्रियों से मिलकर प्राणमय कोश होता है। इस (प्राणमय कोश) के क्रियात्मक होने के कारण इसे रजोगुण के अंश का कार्य माना गया है। (क्योंकि रजोगुण ही क्रिया प्रवर्तक एवं चञ्चल होता है)।

एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते।।२८।।

संस्कृत व्याख्या—पूर्वोक्त विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमयकोशेषु विज्ञानमयः कोशो ज्ञानशक्तिसम्पन्न इति कर्ता कथ्यते। मनोमयः कोश इच्छाशक्ति सम्पन्न इति विवेकसाधकत्वेन करणमुच्यते। प्राणमयकोशश्च गमनादिक्रियासम्पन्न इति कार्यमुच्यते। ज्ञानेन्द्रियसहितो बुद्धिरूपकर्ता मनोज्ञानेन्द्रियरूपकरणसाहाय्येन प्राणादिपञ्चकद्वारा कर्मेन्द्रियपञ्चकद्वारा च गमनादिकार्यं कारयतीति तत्त्वम्। तत्तत्कार्यक्षमतानुसारेणैवैते स्वकार्ययोग्यतानुसारं कर्तृ-करणकार्यनामभाजः। मिलित्वैतत्त्रयं सूक्ष्मशरीरमुच्यते।।२८।।

हिन्दी व्याख्या—इन कोशों में विज्ञानमय कोश ज्ञान शक्ति से सम्पन्न कर्त्ता तथा मनोमय कोश इच्छाशक्ति से सम्पन्न करण एवं प्राणमय कोश क्रिया शक्ति से सम्पन्न कार्य है। शास्त्रकार योग्यता के आधार पर उनके इस प्रकार के विभाग का वर्णन करते हैं। यह तीनों कोश मिलकर सूक्ष्म शरीर कहे जाते हैं।

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहित चैतन्यं सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रिया शक्तिमदुपहितत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं, जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नोऽत एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।।२९।।

संस्कृत व्याख्या—अज्ञानस्य समष्टित्वेन व्यष्टित्वेन च व्यवहारस्तथैव चराचरप्राणिमात्रस्य यावन्ति अनन्तानि सूक्ष्मशरीराणि (लिङ्गशरीराणि) सन्ति, तेषां सर्वेषां सूक्ष्मशरीराणां सूत्रात्मना हिरण्यगर्भाख्येन प्राणेन स्वीयैकबुद्धा विषयीकृतत्वात् वनवज्जलाशयवद्वा समष्टित्वम्। एतत्सूक्ष्मशरीरसमष्टिरूपेण उपाधिना उपहितं चैतन्यं मालायां सूत्रमिव सर्वत्र अनुस्यूतत्वात् पूर्वोक्तज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमत्कोशत्रयोपाधिना उपहितत्वाच्च सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः, प्राणश्चोच्यते। अस्यैव सूक्ष्मशरीरस्य व्यष्टित्वं प्रदर्शयति-अनेकेति। अनेकेषां जीवानां प्रत्येकं स्वस्वसूक्ष्मशरीरस्य स्वस्वबुद्धिविषयतया वृक्षवत् नद्यादिवद्वा व्यष्टित्वम्। निमित्तत्रयेणायं त्रिविधो व्यपदेशः, सर्वत्र अनुस्यूतत्वात् सूत्रात्मा। ज्ञानशक्तिमदन्तःकरणोपहितत्वात् हिरण्यगर्भः। क्रियाशक्तिमदधिदैवत-प्राणरूपत्वात् प्राणः। सूत्रात्मकस्य हिरण्यगर्भस्यास्य एषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरम्, विज्ञानमयादिकोशत्रयम् एवं विराड्रूपेण अनुभूतस्थूल- प्रपञ्चविषयकवासनामयत्वात् स्वप्नः। यतः सूक्ष्मत्वं स्वप्नत्वं च, अतएव स्थूल-प्रपञ्चस्य लयस्थानमप्युच्यते।।२९।।

हिन्दी व्याख्या—यहाँ भी सूक्ष्मशरीर एकाकार बुद्धि का विषय होने से वन अथवा जलाशय के समान समष्टिरूप है और अनेकाकार बुद्धि का विषय होने से वृक्ष अथवा जल के समान व्यष्टिरूप भी है। इस समष्टि से

NOTES

उपहित चैतन्य को सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और प्राण कहा जाता है क्योंकि वह सर्वत्र अनुस्यूत होता है, तथा ज्ञान, इच्छा, क्रियाशक्तियों के आश्रय से उपहित होता है। इस सूत्रात्मा की उपाधि यह समष्टि स्थूलदृश्य प्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म है। इसलिये इसे सूक्ष्मशरीर एवं विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय तीन कोश कहा जाता है, जागरणकाल की भावनाओं से भरपूर होने से इसे स्वप्न कहा जाता है और इसी कारण इसे स्थूल प्रपञ्च के लय का स्थान भी कहा जाता है।

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्। अस्यापीयंव्यष्टिःस्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञान-मयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते।।३०।।

संस्कृत व्याख्या—एतत्सूक्ष्मशरीरव्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तेजोमयान्तःकरणो-पहितत्वात् तैजस उच्यते अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मशरीरम्, विज्ञानमयादिकोशत्रयं तथा विश्वचैतन्येनानुभूतस्थूल-शरीरविषय कवासनामयत्वात्स्वप्नः। अत एव (सूक्ष्मत्वात्स्वप्नत्वाच्च) स्थूलप्रपञ्चलयस्थानञ्चोच्यते।।३०।।

हिन्दी व्याख्या—सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि से (पृथक्-पृथक्, एक-एक शरीर से) उपहित चैतन्य 'तैजस' होता है क्योंकि वह तेजोमय अन्तःकरण से उपहित होता है। इसकी भी यह व्यष्टि स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म शरीर शब्द से अभिहित होती है। सूक्ष्म शरीर होने से ही उसे विज्ञानमय आदि कोशत्रय कहा जाता है, जागरणकाल की वासनाओं के बाहुल्य से उसे स्वप्न और स्वप्न होने के नाते ही उसे स्थूल शरीर का लय स्थान भी कहा जाता है।

एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः 'प्रविविक्तभुक्तैजस' इत्यादिश्रुतेः। अत्रापि समष्टि व्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजस-योर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गत-प्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदः। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः।।३१।।

संस्कृत व्याख्या—तदानीमर्थात् स्वप्नकाले एतौ सूत्रात्मतैजसौ सूक्ष्माभिर्मनोवृत्तिभिर्वासनामयान् सूक्ष्मशब्दादिविषयान् सुषुप्तिकाले सूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरीश्वरप्राज्ञावानन्दमिवानुभवतः। स्वप्नावस्थायां बाह्यविषयासम्बद्धस्य, अग्निसूर्यचन्द्रवायु वेदादिगाकाश पृथ्वीत्येतत्सप्ताङ्गस्य, ज्ञानकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चक मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारैतदेकोनविंशतिमुखस्य प्रविविक्तभुजो वासनामयसूक्ष्मशब्दादिविषयाणामुपभोक्तुश्चैतन्यस्य तैजससंज्ञेति भावः।

अत्रापि विज्ञानमयादिकोशत्रयसमष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसचैतन्ययोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्चैवं जलजलाशयप्रतिबिम्बताकाशवच्चैक्यम्। एवमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतेभ्यः सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः।।३१।।

हिन्दी व्याख्या—सूत्रात्मा और तैजस ये दोनों उस समय मन की वृत्तियों से सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते हैं। यह बात 'प्रविविक्तभुक् तैजसः' (माण्डूक्य-४) तैजस प्रविविक्त-सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है, इस श्रुति से सिद्ध है। यहाँ भी समष्टि और व्यष्टि में वन और वृक्ष के समान, किंवा जलाशय और जल के समान एवं उनसे उपहित सूत्रात्मा और तैजस में वनावच्छिन्न और वृच्छावच्छिन्न आकाश के समान किंवा जलाशयागत आकाशप्रतिबिम्ब और जलगत आकाशप्रतिबिम्ब के समान अभेद है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति वर्णित है।

पञ्चीकरणम्

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि। पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम्।।३२।।

संस्कृत व्याख्या—अपञ्चीकृतसूक्ष्मभूतानामपेक्षया स्थूलभतानि पञ्चीकृतानि भवति। सृष्टिसमये पूर्वसृष्टिस्थितानां समस्तप्राणिनाम् अदृष्टवशात् ईश्वरप्रेरणया आकाशवायुतेजोबन्नानि, अविद्यासहायभूतात् परमात्मनः सकाशात् अनुक्रमजातानि अपञ्चीकृतानि सूक्ष्माणि व्यवहारसम्पादने असमर्थानि इति कृत्वा तदीयस्थौल्यापेक्षायां व्यवहारकर्तृणाम्प्राणिनां धर्माधर्मापेक्षयैव तान्येव सूक्ष्मभूतानि पञ्चीकृतानि भवन्ति।

आकाशदिपञ्चमहाभूतेषु एकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् चतुर्धा समं विभज्य प्रत्येकमहाभूतस्य पञ्च पञ्च भागाः कृताः (एकोऽर्धभागः, चत्वारश्चाष्टमांशभागाः) ततश्चत्वारोऽष्टमांशभागाः स्वस्वद्वितीयार्ध- भागपरित्यागेनान्यमहाभूतचतुरर्द्धभागेषु एकैकं संयोजिताः। एवं प्रत्येकमहाभूतस्य चतुरन्यमहाभूताष्टमांशविशिष्टस्वकीया-र्धांशतया पञ्चमहाभूतविशिष्टं सञ्जायते।।३२।।

हिन्दी व्याख्या—स्थूल भूत तो पञ्चीकृत होते हैं, पञ्चीकरण का अर्थ है—आकाश आदि पाँचों सूक्ष्म भूतों में प्रत्येक के दो-दो समान भाग कर दश भाग बना देना, फिर उन दश भागों में पहले पाँच भागों के प्रत्येक के चार समान भाग बनाकर उन चार भागों में एक-एक भाग को अपने-अपने दूसरे अर्थ भाग को छोड़कर अन्य चारभूतों के दूसरे अर्ध भाग में मिलाना ही पञ्चीकरण है।

तदुक्तम्—द्विधाविधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।

स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्चपञ्चते।।इति।।३३।।

संस्कृत व्याख्या—अत्रापि सूक्ष्मशरीरसामग्र्याद्युत्पतौ इव मायावृत्त्यात्मकः। ईश्वरसङ्कल्प एव निमित्तमनुवर्तते। एवं च सत्यसङ्कल्पः परमेश्वरः संकल्पमात्रेणैव एकैकं व्योमादिकं भूतं द्विधा द्विप्रकारकं विधाय कृत्वा पुनः प्रथमं द्विधाकृतमाद्यभागं चतुर्धा विधाय स्वस्वशब्दाभिहिततत्तद्भूतसंबंधिद्वैधीकृतत्वप्रयुक्तावशिष्टद्वितीयभागैः सह योजनात् सम्मेलनात् पञ्चात् ते महाभूतपदार्थाः पञ्चाकाशाद्यर्धभागात् तदितराष्टमहाभागेभ्यश्च हेतोः आकाशाद्यभिधाः भवन्ति।।३३।।

हिन्दी व्याख्या—यही बात इस प्रकार कही गयी है कि प्रत्येक भूत को दो भागों में विभक्त कर और प्रथम पाँच भागों के प्रत्येक को चार भागों में विभक्त कर प्रत्येक चार भागों में से एक-एक भाग को अपने-अपने दूसरे अर्ध भाग से भिन्न अन्य चार भूतों के भागों में जोड़ देने से सभी भूत पञ्चभूतात्मक हो जाते हैं (पञ्चदशी ६/२०१)।।३३।।

अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याव्युपलक्षणत्वात्। पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वाद' इति न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति। तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च।।३४।।

संस्कृत व्याख्या—ननु छान्दोग्योपनिषदि तेजोऽग्निनामुत्तरोत्तरक्रमेणोतेपत्तिमुक्त्वा तत् त्रिवृत्करणात् सृष्टिरुक्ता अत्र च पञ्चीकरणात् सा प्रतिपाद्यते इत्युभयोर्विरोध इति चेन्न, त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणश्रुतेरप्युपलक्षणत्वात् (स्वबोधकत्वे सति स्वेतर-बोधत्वात्) सृष्टिपरिपूर्त्यर्थ भूतपञ्चकस्यापेक्षितत्वाच्छान्दोग्योक्तत्रिवृत्करणस्यावशिष्टाकाशवायु भूतद्वयविशिष्टपञ्चकाभिप्रायेणोक्तत्वादिति भावः।

नन्वेवं पञ्चानामपि महाभूतानां पञ्चात्मकत्वे वायोः पार्थिवांशविशिष्टतया चाक्षुषप्रत्यक्षम्, व्योम्नश्च जलीयांश-विशिष्टतया त्वाचचाक्षुषप्रत्यक्षपूर्वकं गन्धोपलब्धित्वं स्यादिति चेन्न, पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि स्वस्वार्धभागामाधिक्येन वर्तमानादाकाशा दिव्यपदेशोपपत्तौ वायोश्चाक्षाषु प्रत्यक्षस्य व्योमे च त्वाचप्रत्यक्षातिरिक्तगन्धोपलब्ध

NOTES

ेश्चाभावात्। अत एव पञ्चीकृताकाशे शब्दः, पञ्चीकृतवायौ च शब्दस्पर्शौ, अग्नौ च शब्दस्पर्शरूपाणि, जले च शब्दस्पर्शरूपरसाः, पृथिव्याञ्च शब्दस्पर्श-रूपरसगन्धाः, उत्तरोत्तरं स्वस्वकारणानुरूपं प्रतीयन्ते॥३४॥

हिन्दी व्याख्या—इस पञ्चीकरण के अप्रामाण्य की आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि पृथिवी, जल और तेज के त्रिवृत्करण का प्रतिपादक श्रुति (छान्दो. ६/४/२२)पञ्चीकरण को भी संकेतक करती है। पञ्चीकरण की प्रकिया से पाँचों भूतों के समान रूप से पञ्चात्मक होने पर भी 'जिसमें जिसका वैशेष्य आधिक्य होता है उसका वही नाम होना उचित है' (ब्रह्म सूत्र) (६/४/२२) इस न्याय से एक- एक पञ्चात्मक भूत का आकाश आदि एक-एक नाम से व्यवहार होता है। पञ्चीकरण हो जाने पर आकाश में शब्द की, वायु में शब्द और स्पर्श की, अग्नि में शब्द स्पर्श और रूप की, जल में शब्द, रूप, स्पर्श और रस की तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की अभिव्यक्ति होती है।

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुर्थुवःस्वर्महर्जनस्तपः सत्यमित्येतन्नाम-कानामुपर्युपरिविद्यमानानामतल-वितलसुतलरसातलतलातलमहातलपाताल-नामकानामधोऽविद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्ति-चतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनाञ्चोत्पत्तिर्भवति। चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्ड जोद्भिज्जवस्वेदजाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि। कक्षवृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकामशकादीनी। ॥35॥

संस्कृत व्याख्या-एवं भूतारोपं प्रपञ्च्य भौतिकारोपमाह-एतेभ्य इति। भूरादयः प्राणिनां कर्मज्ञानफलभोगस्थानविशेषा यथापाठक्रममुपर्युपरि वर्तमानाः सप्त भूमेरधोऽधश्च पाठक्रमेण वर्तमाना अतलादयः सप्तेत्येवं चतुर्दश लोकाः। एत एव स्वावरणभूतलोका-लोकपर्वततद्बाह्यपृथिवी तद्बाह्यसमुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते। अस्य च परिमाणं श्रुतौ सङ्कीर्तितं-"द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति तां समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति" इति। शरीराणां चातुर्विध्यं स्पष्टयति शरीराणीति। यथोद्देशक्रमं शरीराणि लक्षयति-जरायुजानीत्यादिना॥३५॥

हिन्दी व्याख्या-इन पञ्चीकृत भूतों से एक दूसरे के ऊपर विद्यमान, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् नाम के तथा एक दूसरे के नीचे विद्यमान अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल नाम के लोकों की, ब्रह्माण्ड की, उसके अन्तर्गत चार प्रकार के स्थूल शरीरों की, और उनके पालन योग्य अन्न, पान आदि की उत्पत्ति होती है। चार प्रकार के शरीरों के नाम हैं—जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज। जरायु-गर्भ को वेष्ठित करने वाली चमड़े की थैली से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि जरायुज हैं, अण्डों से उत्पन्न पक्षी, सर्प आदि अण्डज हैं, भूमि को फाड़कर उत्पन्न होने वाले तृण, वृक्ष, आदि 'उत् ऊर्ध्व भित्त्वा जायन्ते' इस व्युत्पत्ति से उद्भिज्ज हैं, स्वेद-पसीना, गन्दा पानी, गन्दे स्थान आदि से अदृष्टवश उत्पन्न होने वाले मच्छर आदि स्वेदज हैं।

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिर्वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडितो चोच्यते सर्वनराभिमानित्वाद् विविधं राजमानत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्न-विकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते॥३६॥

संस्कृत व्याख्या—अत्राप्येतच्चतुर्विधस्थूलशरीरस्यैकस्थानैकत्वविवक्षायामेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिश्च। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सर्व-प्राणिसमूहेषु 'अहम्' इत्यभिमानेन वर्ततेऽतो वैश्वानरः विविधं राजते (नानाप्रकारेण शोभते) अतः विराट् इति च कथ्यते। अज्ञानस्यैषा समस्तब्रह्माण्डान्तर्गतचतुर्विध स्थूलशरीरसमष्टिः स्थूलशरीरम्, मातापितृभुक्तान्नोत्पन्नत्वेनात्माच्छादकत्वेन चान्नमयः कोशः सुखदुखादिभोगाधारत्वेन च स्थूलशरीरम् तत्तदिन्द्रियैस्तत्तद्विषयोप-लब्धेश्च जाग्रदुच्यते॥३६॥

NOTES

हिन्दी व्याख्या—यहाँ भी चार प्रकार के भी स्थूल शरीर एकाकार बुद्धि का विषय होने से वन और जलाशय के समान समष्टिरूप तथा अनेकाकार बुद्धि का विषय होने से उपहित चैतन्य को सभी नर शरीरों में अपनेपन का अभिमान करने से वैश्वानर तथा विविध रूपों में राजमान-भासमान होने से विराट् कहा जाता है, इस वैश्वानर चैतन्य की उपाधिभूत इस स्थूलशरीरात्मक समष्टि को अन्न का विकार-अन्नजन्य होने से और चैतन्य का आच्छादक-कोश होने से अन्नमय कोश कहा जाता है, स्थूल भोग का आस्पद होने से स्थूल शरीर और भोगलग्न होने से जाग्रत कहा जाता है।

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्। अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते॥३७॥

संस्कृत व्याख्या—एतेषां चतुर्विधसूक्ष्मशरीराणां या व्यष्टिः तत्तच्छरीरव्यक्तिस्तदुपहितं चैतन्यं सूक्ष्मशरीराभिमानम् अजहत् प्रत्येकस्थूलशरीरे 'अहम्' इत्येवमभिमानेन वर्तमानं विश्व इति व्यवह्रियते। अस्य अज्ञानस्यापि इयं व्यष्टिः स्थूलशरीरम्, अन्नविकारत्वात् आत्माच्छादकत्वाच्च अन्नमयकोशः, इन्द्रियैर्विषयग्रहणात् जाग्रत् इत्युच्यते॥३७॥

हिन्दी व्याख्या—स्थूल शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को विश्व कहा जाता है, क्योंकि यह सूक्ष्म शरीर में आत्माभिमान का त्याग किये बिना ही स्थूल शरीर आदि में प्रविष्ट होता है- उनमें भी आत्माभिमान करने लगता है। अतः विश्व-सब में अर्थात् सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर आदि समस्त में आत्माभिमानी होने से वह 'विश्व' शब्द से संज्ञित होता है। इस विश्व चैतन्य की उपाधिभूत इस व्यष्टि का स्थूल शरीर, अन्न का विकार होने से ही अन्नमय कोश तथा (स्थूल भोगों का साधन होने के कारण) जाग्रत् कहा जाता है।

तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्श रूपरसगन्धान्, अग्नीन्द्रोपेन्द्रयम-प्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद्वचनादानगमनः विसर्गानन्दां श्चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्धन्त्रियहङ्कारचित्ताख्ये-नान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्संकल्पनिश्चया हङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूल-विषयाननुभवतः 'जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः' इत्यादिश्रुतेः ॥३८॥

संस्कृत व्याख्या—एतस्यां जाग्रदवस्थायामेतौ वैश्वानरविश्वौ दिग्वायुरविवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणेन्द्रियपञ्चकेन क्रमशः शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धान् तथा अग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वाक्पाणिपादपायूपस्थेन्द्रियपञ्चकेन क्रमशः वचनादानगमनमलत्यागानन्दान् एवमिन्द्रब्रह्मशंकरविष्णुभिः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहंकारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमशः सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैतांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतः। यथा च माण्डूक्योपनिषदि 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः' इत्यादि॥३८॥

हिन्दी व्याख्या—उस समय-जाग्रतकाल में ये विश्व और वैश्वानर श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियों से जो दिक्, बात, अर्क, वरुण, अश्विन् द्वारा क्रम से नियन्त्रित हैं, क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि पांच इन्द्रियों से जो अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम, प्रजापति द्वारा क्रम से नियन्त्रित हैं, क्रम से वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द तथा मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तनाम के चार अन्तःकरणों से, जो चन्द्र, चतुर्मुख, शङ्कर, प्रजापति द्वारा क्रम से नियन्त्रित क्रम से नियन्त्रित है, क्रम से संकल्प, निश्चय, अहंकार और चैत्त, इन सब स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं। यह बात (माण्डूक्य ०२) के 'वैश्वानर जागरण काल में अवस्थित और बहिर्मुख बुद्धि होकर स्थूल विषयों का भोग करता है' इस आशय की श्रुति से प्रमाणित वह इस प्रकार है—'जागरितस्थानो वहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः' सात अङ्ग हैं द्युलोक, सूर्य वायु, आकाश, अन्न, पृथिवी और आहवनीय अग्नि, उन्नीस मुख हैं पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण और चार अन्तःकरण।

अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद् गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः। एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः॥३९॥

NOTES

संस्कृत व्याख्या—अत्रापि उभयविधसमष्टिव्यष्ट्योः तदुपहितवैश्वानरविश्वचैतन्योश्च वनवृक्षवत् तदवच्छिन्नाकाशवच्च, जलाशयजलवत् तत्प्रतिबिम्बिताकाशवच्च परस्परं न भेदः। अनेन प्रकारेण पञ्चीकृतमहाभूतेभ्यः स्थूल- प्रपञ्चोत्पत्तिर्जायते॥३९॥

हिन्दी व्याख्या—यहाँ पर भी समष्टि रूप स्थूल शरीर और व्यष्टि रूप स्थूल शरीर में वन और वृक्ष तथा जलाशय और जल के समान एवं स्थूल शरीर की समष्टि और व्यष्टि से उपहित वैश्वानर और विश्व में वनावच्छिन्न आकाश और वृक्षावच्छिन्न आकाश तथा जलाशयगतप्रतिबिम्बाकाश और जलगत प्रतिबिम्बाकाश के समान पूर्ववत्-पहले ही की भांति अभेद है। इस प्रकार पञ्चीकृत पांच भूतों से स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है॥३९॥

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान् प्रपञ्चो भवति। यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा वाऽवान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः। एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तर वनावच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव॥४०॥

संस्कृत व्याख्या—व्यष्टिभूतायाः करणसृष्टेः सूक्ष्मसृष्टेः स्थूलसृष्टेश्च प्रत्येकविवक्षया अवान्तरप्रपञ्चत्वं निरूप्य इदानीं तेषां समष्टेरेव महाप्रपञ्चत्वं प्रदर्शयति। पलाशखदिरादिवृक्षावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति, यथा वा वापीकूपतडागाद्यवान्तरजलाशयानामेको महान् जलाशयो भवति तथैव रीत्या कारणसूक्ष्मस्थूलशरीराणां समष्ट्या एको महान् प्रपञ्चो भवति। तथा वनावच्छिन्नाकाशयोर्जलगतजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशयोश्च यथा न कोऽपि भेदस्तथैव तन्महाप्रपञ्चसमष्टि व्यष्ट्योस्तदुपहितचैतन्येश्वरप्राज्ञयोः, हिरण्यगर्भतैजसयोः, वैश्वानरविश्वयोश्च न कोऽपि भेदः॥४०॥

हिन्दी व्याख्या—जिस प्रकार अवान्तर वनों-छोटे-छोटे वनों की समष्टि एक महान वन होता है और अवान्तर जलाशयों-छोटे-छोटे जलाशयों की समष्टि एक महान् जलाशय-महासमुद्र होता है, ठीक उसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण रूप अवान्तर प्रपञ्चों की समष्टि एक महान् प्रपञ्च होता है, इसी प्रकार जैसे विभिन्न अवान्तर वनों से अवच्छिन्न आकाश और अवान्तर जलाशयों में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही होता है उसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण प्रपञ्चों से उपहित चैतन्य भी एक ही होता है।

आभ्यां महाप्रपञ्चतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायः पिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यं भवति विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति। एवं वस्तुन्यवस्तारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः॥४१॥

संस्कृत व्याख्या—महाप्रपञ्चेन निर्दिष्टेन तया तदुपहितचैतन्येन च अभिन्नं सत् अनुपहितं (उपाधिरहितं) चैतन्यं (विशुद्ध चैतन्यं) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यस्य महावाक्यस्य वाच्यार्थः, तथा भिन्नं सत् लक्ष्यार्थो भवति। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अत्र सर्वस्य ब्रह्मरूपता प्रतिपाद्यते। तत्र सर्वम् अर्थात् महाप्रपञ्चः, तदुपहितं चैतन्यं, तदनुपहित चैतन्यञ्च कथमेकं स्यादिति विचिकित्सायां मुख्यार्थस्य बाधः, इति लक्षणायां सर्वं खल्विदम् इति विशेषणांशं परित्यज्य चैतन्यांशमात्रग्रहणेन पहाप्रपञ्चोपहितचैतन्यस्य तदनुपहितचैतन्येन सह ऐक्यं निर्विवादमेव। यथा-'लौहपिण्डो दहति' इत्यस्य लक्षणया लौहपिण्डगतः अग्निर्दहति इत्यर्थो भवति, तथैव सर्वस्य एतत्प्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वभावे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अस्मिन् वाक्येऽपि 'सर्वं खल्विदम्' इत्यस्य अंशस्य चैतन्यांशे लक्षणया सर्वप्रपञ्च-तद्गतचैतन्ययोश्च ऐक्यं सिद्ध्यति। एतावता प्रघट्टकेन ईश्वरचैतन्ये महाप्रपञ्च-तद्गतचैतन्ययोश्च आरोपप्रकारः सामान्यतया प्रदर्शितः। अर्थात् वस्तुनि चैतन्ये अवस्तुनः जडप्रपञ्चस्य आरोपः अध्यारोपः निरूपितः॥४१॥

NOTES

हिन्दी व्याख्या—(स्थूल प्रपञ्च, सूक्ष्म प्रपञ्च तथा कारण प्रपञ्च की समष्टि रूप) इस महाप्रपञ्च तथा महाप्रपञ्च की उपाधि से विशिष्ट चैतन्य से, तपे हुए लोहे के गोले के समान, अलग न ज्ञात होता हुआ अनुपहित (अर्थात् किसी भी तरह की उपाधि से रहित) चैतन्य "सर्व खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् यह सकल स्थावरजङ्गात्मक जगत् ब्रह्म ही है (छान्दोग्य ३/१४/१)। इस श्रुति वचन का अभिधेय अर्थ (वाच्यार्थ) होता है तथा अलग प्रतीत होता हुआ लक्ष्यार्थ भी होता है। इस प्रकार वस्तु (सच्चिदान्द, अद्वय ब्रह्म) में अवस्तु (अवास्तविक अर्थात् अज्ञान) तथा उसके कार्यभूत सकल जड़-समूह का आरोप जिसमें होता है ऐसा अध्यारोप सामान्यरूप से दिखलाया गया है।

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते। अतिप्राकृतस्तु-'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादि श्रुतेः, स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति॥४२॥

संस्कृत व्याख्या—अधुना त्वम्पदार्थविषयमध्यारोपं बहुवादिमतोपन्यासेन दर्शयति-इदानीमिति। तत्रारून्धतीप्रदर्शन्यायेन मुञ्जादिषिकाग्रहणन्यायेन वा प्रत्यञ्चं, देहादिविविक्तं चिदेकतानमात्मानं दिदर्शयिषुरतिमूढमतेर्मतं तावदाह अतिप्राकृत इति। अतिप्राकृतस्तु पुत्र आत्मेति वदतीन्यन्वयः कुत इत्यपेक्षायां श्रुतियुक्त्यनुभवाभासान् क्रमेण प्रमाणयति-आत्मा वेत्यादिना। स्वामिन्निवेति युक्तिकीर्तनं लोके हि पुत्रिण इष्टमिष्टं खाद्यादि स्वात्मवचनेनापि पुत्रेषु समर्पयन्तस्तेषु परमप्रेम कुर्वन्तस्तेषामात्मत्वमेव प्रकटयन्तीति भावः।

"आत्मा वै जायते पुत्रः" इति श्रुति प्रमाणेन, स्वसुतेऽपि स्वदेहनिर्विशेषप्रेम्णा अर्थात् स्वशरीरे प्रेमप्रदर्शनात् आत्मत्वभ्रमः एवं-इति युक्त्या, पुत्रे पुष्टे नष्टे च अहमेव पुष्टो नष्टो वा जातः स्वपुत्रादिशरीरेऽपि प्रेमदर्शनात् आत्मत्वभ्रमः इत्यनुभवेन च पुत्रमेव 'अहं' पदवाच्यं प्रत्यक् चैतन्यं कथयन्ति।।४२।।

हिन्दी व्याख्या—अब प्रत्यगात्मा-जीवात्मा में यह मनुष्य इस वस्तु का आरोप करता है और यह मनुष्य इस वस्तु का आरोप करता है, इस प्रकार विशेष रूप से अध्यारोप का प्रतिपादन करना है। जैसे अतिप्राकृत-अत्यन्त मूढ मनुष्य 'आत्मा ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है' इत्यादि श्रुति से तथा अपने समान अपने पुत्र में भी प्रीति के दर्शन से एवं पुत्र के पुष्ट एवं नष्ट होने पर अपने को ही पुष्ट और नष्ट हुआ अनुभव करने से कहता है कि 'पुत्र ही आत्मा' है।

चार्वाकस्तु— 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इत्यादिश्रुतेः, प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्, स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति।।४३।।

संस्कृत व्याख्या—स्थूलशरीरमात्मेति वदतीत्यन्वयः। अत्रापि श्रुत्यादिप्रमाणं वदन्प्रागुपन्यस्तपक्षे दूषणं सूचयति-"स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय" इत्यादिना। एवमेवोत्तरेष्वपि पक्षेषु प्रमाणादिग्रन्थोत्थानं द्रष्टव्यम्। स वै य ओषधीनां रेतोरूपेण परिणतानां परिणामः प्रसिद्ध एवं प्रत्यक्षपुरुषः शिरः पाण्याद्यात्मकोऽन्नरसमयोऽन्नरसविकारोऽन्नरसे- नैवोपचीयमानत्वादिति श्रुतेरर्थः। इह पुरुषशब्दस्य लोक आत्मनि प्रयोगात्तस्य च श्रुतावन्नरसमये देहे प्रयुक्तत्वाद्देह आत्मेति गम्यत इत्यभिप्रायः। परमप्रेमगोचरत्वमात्मन्वेय विश्रान्तमिरस्य सर्वस्यापि तच्छेषत्वेनैव प्रियत्वात्। "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वितात्प्रेयोऽन्यस्मादन्तरतरं यदयमात्मा" इति श्रुतेश्च। सा च प्रीतिः पुत्रादपि देहेऽधिकतरा निरतिशया च दृष्टा। अन्यथा दह्यमाने गृहादौ हन्तृषु चोपस्थितेषु पुत्रं परित्यज्य स्वस्य पलायनानुपपत्तेरिति युक्त्यर्थः। अहम्प्रत्यय आत्मानमवगाहत इति सर्ववादिनामविवादः। स च कृशोऽहमित्यादिना देहवाबलम्बनोऽनुभूयतेऽतो देह एवात्मेत्यर्थ।। ४।।

हिन्दी व्याख्या—इससे उत्कृष्ट बुद्धि वाले चार्वाक को 'स्थूलशरीरात्मवादी' के रूप में उपस्थित किया है। उनका कहना है कि 'अहं' पद वाच्य आत्मा और कोई न होकर स्थूल शरीर ही आत्मा है। अपने विचार के समर्थन में वे 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तै. उप. २/१/१) अन्न के रस (वीर्य) का विकार यह (साक्षात् दृश्यमान) शरीर वह (आत्मा) है इस श्रुति को उपस्थित करते हैं। उसी तरह युक्ति भी देते हैं कि घर में आग लग जाने पर

NOTES

जलते हुए घर से अपने पुत्र की भी परवाह न कर, अपने शरीर को बचाने का प्रयत्न किया जाता है। अर्थात् जलते घर में पुत्र को भी छोड़ दिया जाता है और अपने शरीर को ही उसके बाहर निकाल लिया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि पुत्र की अपेक्षा अपने शरीर पर ही अत्यधिक मोह रहता है। उसी तरह 'मैं मोटा हूँ', 'मैं दुबला हूँ', यह अनुभव भी सबको हुआ करता है। इसी श्रुति-युक्ति तथा अनुभव के बल पर यह स्पष्ट होता है कि 'पुत्र' को आत्मा कहना उचित नहीं, अपितु यह दृश्यमान 'स्थूलशरीर' ही अहं पदवाच्य आत्मा है।

अपरश्चार्वाकः—ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः' इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावत्काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति।।४४।।

संस्कृत व्यख्या—चार्वाकविशेषणानां लोकायतानां मतभेदानाह-अपरश्चार्वाक इत्यादिनां बौद्धस्त्वित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। प्राणानां वागादीनां प्रजापतिगमनं तं प्रति प्रश्नकरणं चाचेतनत्वे न सम्भवतीत्यानुपपत्त्या तेषां चैतन्यमवश्यम्भावीति श्रुतार्थापत्तिरिह मानं न श्रुतिरेवेति द्रष्टव्यम्। इन्द्रियाणामभावे उपरमे स्वपादौ देहचलनस्य चैतन्यकार्यस्यादर्शनात्तदनुपरमे च तद्दर्शनादन्वयव्य तिरेकाभ्यामिन्द्रियाण्येव चेतनानि न देह इति निश्चीयते। न च तेषां करणत्वेनापि ज्ञानान्वयव्यतिरेकोपपत्तौ तदाश्रयत्वकल्पनमयुक्तमिति वाच्यमाश्रयसिद्धयुत्तरकालीनत्वात्करणत्वकल्पनायास्तस्य चाश्रयत्वस्य देहेऽद्याप्य- सिद्धेर्नान्यथोपपत्तिः। अत इन्द्रियाण्येवात्मानः करणत्वादेश्चहमालम्बनत्वमबाधितम्। देहे तु ममप्रत्ययबाधितत्वाद्भाक्तिमिति भावः।।४४।।

हिन्दी व्याख्या—इनमें से उत्कृष्ट बुद्धि वाले लोकायत चार्वाक को इन्द्रियात्मवादी के रूप में उपस्थित किया गया है। इनका कहना है कि अपनी जो इन्द्रियाँ हैं वे ही अहं पदवाच्य आत्मा हैं। अर्थात् इन्द्रियों को ही आत्मा कहना उचित है। अपने विचार के समर्थन में उन्होंने 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः' - (छान्दोग्य उप. ५/१/७) वे प्राण (इन्द्रियाँ) अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिए कलह करते हुए पिता प्रजापति के समीप पहुँचकर बोले (हम लोगों में कौन श्रेष्ठ है?) इस श्रुति वचन को उपस्थित किया है। उसी तरह युक्ति भी देते हैं कि सुषुप्तिकाल में या चेष्टारहित अवस्था में जब इन्द्रियाँ कुछ काम नहीं करतीं तब यह शरीर भी गमनागमनादिकार्य करने में समर्थ नहीं रहता। उसी तरह अनुभव भी बताते हैं- 'मैं काना हूँ', 'मैं बहरा हूँ' लोग कहते पाये जाते हैं। इस प्रकार श्रुति, युक्ति तथा अनुभव के बल पर यह स्पष्ट होता है कि दृश्यमान स्थूल शरीर को आत्मा कहना उचित नहीं, 2अपितु इन्द्रियों को ही आत्मा कहना समीचीन है।

अपरश्चार्वाकः—'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय' इत्यादि श्रुतेः प्राणाभावे इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावान् इत्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति।।४५।।

संस्कृत व्याख्या—ततोऽप्युत्कृष्टतरः कोऽपि प्राणात्मवादी चार्वाकः युक्त्यनुभवश्रुतिबलात् प्राण एव आत्मा इत्याह। स कथयति-न शरीर, नापि च इन्द्रियाणि आत्मा, किन्तु तद्भिन्नाः प्राणा एव प्रत्यगात्मा तैः विना शरीरस्य इन्द्रियाणां वा व्यापारो न भवति, अतः तदतिरिक्तः कश्चिदस्ति यः साधनभूतैरेभिः शरीरेन्द्रियैः कर्मकरोति- इति युक्तिः 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'- इति तत्र श्रुतिः, तथा 'बुभुक्षितोऽहं', 'पिपासितोऽहं'- इति तत्राऽनुभवोऽपि।।४५।।

हिन्दी व्याख्या—इनसे भी उत्कृष्ट बुद्धि वाले कुछ चार्वाक हैं जिन्हें प्राणात्मवादी के रूप में उपस्थित किया गया है। इनका कहना है कि इन्द्रियाँ तथा शरीर इनमें से कोई भी अहंपदवाच्य आत्मा नहीं कहा जा सकता, अपितु इन दोनों से भिन्न जो प्राण हैं, वे ही अहं पद वाच्य आत्मा है। अपने विचार के समर्थन में ''अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः''—(तै. उप. २/२/१)। अन्नरस के विकार स्वरूप इस शरीर से भिन्न उसके भीतर रहने वाला आत्मा 'प्राणमय' है—इस श्रुति वचन को उपस्थित किया है तथा युक्ति भी देते हैं कि प्राण के बिना यह शरीर अथवा इन्द्रियाँ कोई भी काम नहीं कर पाते तथा अनुभव भी बताते हैं, ''मैं भूखा हूँ'', 'मैं प्यासा हूँ' यह कहते हुए सभी पाये जाते हैं। अतः श्रुति-युक्ति तथा अनुभव के बल पर यह स्पष्ट होता है कि शरीर को या इन्द्रियों को आत्मा कहना उचित नहीं, किन्तु प्राण को ही अहंपदवाच्य आत्मा कहना उचित है।

अन्यस्तु चार्वाकः—'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय' इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं संकल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदित।।४६।।

संस्कृत व्याख्या—प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मेति यावत्। मनसि सुप्ते विलीने प्राणादेरभावाद्दृतिवच्छ्वासदर्शनस्य द्रष्टृदृष्ट्यध्यारोपितत्वादिन्द्रियाभावेऽपि स्वप्नस्मृत्योर्मनसि सम्प्रतिपत्तेर्मन एवात्मेत्यर्थः। यद्वा प्राणादेरभावादिति तद्व्यापारोपरमे सुषुप्त्यादौ तस्याभावमुपचर्येदमुच्यते। तथा चेन्द्रियेषूपसंहृतव्यापारेषु प्राणे चोपसंहृतप्राणनापाननेतरवृतौ मनसैव केवलेन स्वप्नादेरुपलम्भान्मन एवात्मेत्यर्थः। मनसश्च सङ्कल्पादिधर्मवत्त्वं प्रसिद्धमित्यनुभवोक्तिः स्पष्टार्था।।४६।।

हिन्दी व्याख्या—उसे भी उत्कृष्ट वृद्धि वाले कुछ चार्वाक हैं, जिन्हें 'मन आत्मवादी' के रूप में उपस्थित किया गया है। उनका कहना है कि इन्द्रियों को आत्मा कहना उचित नहीं, अपितु उन इन्द्रियों तथा प्राणों के नियन्त्रक मन को ही आत्मा कहना उचित होगा। अपने इस विचार का समर्थन में "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः"—(तै. उ. २/३/१)। प्राणमय आत्मा से पृथक् उसके पर रहने वाला आत्मा मनोमय है, इस श्रुति वचन को उपस्थित किया है तथा युक्ति भी देते हैं कि सभी प्रकार के ज्ञानों में प्रतिपादकों के साथ मन का सम्बन्ध (संयोग) आवश्यक होता है, क्योंकि मन के सो जाने पर प्राण का विलय होता है तथा मन के अधीन प्राणों की प्रवृत्ति हुआ करती है। उसी प्रकार 'मैं संकल्प करता हूँ', 'मैं विकल्प करता हूँ', मैं विकल्प करता हूँ' इत्यादि अनुभव भी सबको हुआ करता है। अतः श्रुति, युक्ति और अनुभव के बल पर स्पष्ट होता है कि पूर्वोक्त प्राण आदि में से कोई आत्मा नहीं, अपितु उन सबका नियन्त्रक मन ही आत्मा है।

बौद्धस्तु—'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय' इत्यादिश्रुतेः कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्त्ताऽहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति।।४७।।

संस्कृत व्याख्या—पञ्चभ्यो विलक्षणः योगाचारमतावलम्बी कश्चिद् विज्ञानवादी बौद्धः बुद्धिमेव प्रत्यक्चैतन्यं वदति। तदुपकरणरूपाणि मन इन्द्रियाणि च। कर्त्तुरभावे करणमात्रं न कार्यसम्पादनक्षमम, तथा च 'अहं कर्त्ता' 'अहं भोक्ता' इत्याद्यनुभवोऽपि जायते। यतो ज्ञायते यत्कर्त्ता स्वकृतकर्मानुसारेण तत्फलस्य भोक्त च शरीरेन्द्रियापेक्षयाऽन्य एव कश्चिदस्ति स व बुद्धिः। एतस्मिन् विषये सः 'अन्योऽन्यतर आत्मा विज्ञानमय' इति श्रुतिं तथा 'अहं कर्त्ता, अहं भोक्त' इत्यनुभूतिञ्च प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति।।४७।।

हिन्दी व्याख्या—चार प्रकार के चार्वाकों के मत को बताने के बाद विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध अपनी उत्कृष्ट बुद्धि का परिचय देते हुए उनका कहना है कि बुद्धि (क्षणिक विज्ञान) ही आत्मा है। 'पूर्ववादियों के द्वारा बताया हुआ मन तथा इन्द्रियाँ तो करण हैं। कर्त्ता के बिना केवल करण में कार्य करने का सामर्थ्य नहीं होता' – इस युक्ति से तथा 'मैं कर्त्ता हूँ', मैं भोक्ता हूँ' इस अनुभव से और 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः'– (तै. उ. २/४/१)। मनोमय आत्मा से भिन्न उसके भीतर रहने वाला आत्मा विज्ञानमय है, यह श्रुति भी है। अतः युक्ति, अनुभव तथा श्रुति के बल पर यह स्पष्ट होता है कि कर्म करने वाला तथा उसका फल भोगने वाला पूर्वोक्त शरीर एवं प्राण आदि से भिन्न ही कोई आत्मा होना चाहिए। अतः पूर्वोक्त उनसे भिन्न बुद्धि (क्षणिक विज्ञान) ही अहंपदवाच्य आत्मा है।

प्रभाकरतार्किकौ—'तु अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय' इत्यादिश्रुतेर्बुद्ध्या-दीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोऽहम-

ज्ञानीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः।।४७।।

संस्कृत व्याख्या—प्रभाकरतार्किकावज्ञानमात्मेति वदत इत्यन्वयः। अज्ञानं क्षणिकविज्ञानादन्यत्तदधिकरणं द्रव्यरूपमात्मतत्त्वमिति वदत इत्यर्थः। विज्ञानमयादप्यन्तरे आत्मनि श्रुतिं प्रमाणयति-अन्योऽन्तर आत्मेति। विज्ञानमयादानन्दमयोऽन्य इति यावत्। न चानन्दमयः परमात्मेति त्वम्पदार्थे न तस्योदाहरणं युक्तमिति वाच्यम्। अन्नमयादिविकारप्रायपठितमयट् श्रुतिविरोधात्प्रियशिरस्त्वादिवचनविरोधाच्च। एतच्च भाष्यकारैः 'आनन्दमयोऽभ्यासात्'

NOTES

इत्यस्मिन्नधिकरणे निर्णीतम्। तस्माद्युक्तमेव त्वम्पदार्थमध्य आनन्दमयश्रुत्युदाहरणमिति द्रष्टव्यम्। सुषुप्तौ बुद्ध्यादीनां ज्ञानसुखदु:खेच्छादीनामज्ञाने ज्ञानभिन्न आत्मनि लयदर्शनादभावदर्शनान्न ज्ञानमात्मेति युक्तिमाह-बुद्ध्यादीनामिति। सर्वज्ञानाभावस्य सुषुप्तौ सम्प्रतिपन्नत्वात्सुषुप्तिजागरित-योरप्यात्मैक्यप्रत्यभिज्ञानान्न ज्ञानमात्मा किन्तु तदन्य एवेति भाव:। अनुभवमाह-अहमज्ञ इति। अहमज्ञो ज्ञानहीनोऽहं ज्ञानी ज्ञानवानित्यनुभवोऽपि ज्ञानात्मनोर्धर्मधर्मिभावे भेदं द्रढयतीत्यर्थ:।।४८।।

हिन्दी व्याख्या—प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक और तार्किकों का कहना है कि 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय:'- (तै. उ. २/५/१) विज्ञानमय आत्मा से भिन्न, उसके भीतर रहने वाला आत्मा आनन्दमय है, इस श्रुति वचन से तथा बुद्धि (ज्ञान), सुख-दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा धर्मा-धर्मरूप अदृष्ट का सुषुप्ति के समय अज्ञान (ज्ञान से भिन्न) रूप, किन्तु ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा में लय हो जाता है - इस युक्ति से और 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं अज्ञान का आश्रय हूँ' इस अनुभव से यह स्पष्ट होता है कि 'अज्ञान ही' अहंपदवाच्य आत्मा है। अर्थात् क्षणिक विज्ञान से भिन्न किन्तु उसके अधिकरणात्मक द्रव्यरूप आत्मा है। एवञ्च क्षणिक-विज्ञानवादी के द्वारा सम्मत ज्ञान को आत्मा नहीं कह सकते और मैं ज्ञानहीन हूँ या मैं ज्ञानवान् हूँ, इस अनुभव से ज्ञान तथा आत्मा दोनों में धर्म-धर्मिभाव की प्रतीति होती है, जिससे ज्ञान और आत्मा में स्पष्टतया भेद (भिन्नता) ज्ञात होता है, एकता नहीं।

भाट्टस्तु—'प्रज्ञानघन एवानन्दमय' इत्यादिश्रुते: सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाश-सद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभा वाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति।।४९।।

संस्कृत व्याख्या—कुमारिलभट्टमतानुयायिमीमांसकानां मतेऽज्ञानोपहित-चैतन्यमात्मा। यतो हि सुषुप्तौ मनस इन्द्रियाणां वा न भवति व्यापार इति तद्द्वारोत्पन्ने ज्ञानेन 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' इति परामर्शोऽपि न सम्भवति किन्तु सुप्तोत्थितस्य स परामर्शो भवतीत्यन्यस्य कस्यचिद् भावादज्ञानसंवलितचैतन्यमेवात्मा सिध्यति। अस्मिन् जायमाने परामर्शे सुखमहमस्वाप्सम् इति बोधांश: प्रकाशकोऽत: सुषुप्तिदशायां प्रकाशसद्भाव:। तथा न किञ्चिदवेदिषम् इत्यत्र विज्ञानाभावस्त्वदर्शनादप्रकाशसद्भाव:। एवं सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशयोरूभयो: स्थिति:। तथैव मामहं न जानामि इत्यनुभवोऽपि भवति, अत्र द्वावंशौ स्त:-एव: कर्त्रंश:, अन्यश्च ज्ञानांश:। तेन ज्ञानापेक्षया ज्ञाता अन्य इति स्पष्टं भवति। स एव ज्ञाता आत्मेति।।४९।।

हिन्दी व्याख्या—कुमारिल भट्ट के मतानुयायियों (मीमांसकों) का मत है कि 'अज्ञान' को आत्मा न कहकर 'यज्ञानोपहित चैतन्य' को आत्मा कहना चाहिए। अपने मत के समर्थन में वे 'प्रज्ञानघन एवानन्दमय:'- (मा. ५) आत्मा प्रज्ञानघन (प्रज्ञानैकरस) तथा आनन्द प्रचुर है- इस श्रुति से तथा सुषुप्ति काल में प्रकाश (ज्ञान) और अप्रकाश (अज्ञान) दोनों की सत्ता रहती है- इस युक्ति से और 'मामहं न जानामि'- 'मैं अपने को नहीं जानता हूँ' इस अनुभव से (इस अनुभव में एक कर्त्ता का अंश है और दूसरा ज्ञान का अंश है) यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान की अपेक्षा ज्ञाता अन्य है, उसी को आत्मा कहना उचित है। अत: अज्ञान को आत्मा न कहकर अज्ञानोपहित (अज्ञान-सम्बलित) चैतन्य को ही आत्मा कहना चाहिए।

अपरो बौद्ध:—'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुते: सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभावाच्च शून्यमात्मेति वदति।।५०।।

संस्कृत व्याख्या—माध्यमिकमतमुत्थापयति-अपरो बौद्ध इति। इदं नामरूपात्मकं जगदग्रे सृष्टे: प्राक्कालेऽसच्छून्यमेवासीदिति बौद्धाभिप्रायेण श्रुतेरर्थ:। युक्तिमाह- सुषुप्ताविति। तामेव स्वानुभवोपन्यासेन द्रढयति-अहमिति। अत: शून्यमात्मा सर्वाभावरूपो न द्रव्यबोधात्मक इति भाव:।।५०।।

हिन्दी व्याख्या—माध्यमिक मतानुयायी बौद्धों का कहना है कि सर्वाभावरूप शून्य ही आत्मा है। वह द्रव्यबोध रूप नहीं है। इनके मत में आत्मा नाम की कोई वस्तु न होकर वह शून्य है। अपने विचार के समर्थन में वे

"असदेवेदमग्र आसीत्"- (छान्दोग्य उ. ६/२/१) सृष्टि के पूर्व सामरूपात्मक यह जगत्, असत् (शून्य) था। इस श्रुति वचन से तथा सुषुप्ति काल में द्रष्टा-दृश्य आदि सबका अभाव हो जाता है- इस युक्ति से और गहरी निद्रा से उठने के बाद 'नींद में कुछ पता ही न चला ऐसा लगता है जैसे कि मैं था ही नहीं' इस प्रकार अपने ही अभाव का अनुभव होता है। एवञ्च श्रुति-युक्ति-अनुभव के बल पर यह स्पष्ट होता है कि सर्वाभाव रूप शून्य ही अहंपदवाच्य आत्मा है। अज्ञान संवलित चैतन्य नहीं। अपने विचार के समर्थन में छान्दोग्य उपनिषद् का वचन शून्यवाची ने यद्यपि उपस्थित किया है, तथापि उसे सिद्धान्तरूप में न समझकर पूर्व पक्ष के रूप में समझना चाहिए, क्योंकि आगे उसका निषेध किया जायेगा।

NOTES

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते। एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवा भासानामुत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यनु-भवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव।।५१।।

संस्कृत व्याख्या—पुत्राद्यारम्भशून्यपर्यन्तमुक्तानामात्मत्वमिदानीं प्रतिपादकश्रुत्यादेः आभासत्वात् पूर्वपूर्वमतस्य उत्तरोत्तरमतवाध्यत्वाच्च दृश्यत्वजडत्वादिहेतुसमूहैश्च अनात्मकत्वं प्रसिद्धमेवेति प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते। एतस्मात्पूर्व पुत्रादीनामात्मत्वसिद्धये प्रमाणरूपेणोपन्यस्तानां श्रुतियुक्त्नुभवाभासानामुत्तरोत्तर श्रुतियुक्त्यनुभवाभासैस्स्वयमेव निरासो जात इति पुत्रादिशून्यपर्यन्तेऽनात्मत्वे सिद्धे 'कोऽहं प्रत्ययविषयक' आत्मेति सन्देहः स्थिर एवेति तन्निरासायोदिघ्रयमाणाभिरन्य- श्रुतिभिरेतत्प्रमाणीक्रियते यत्पुत्रादी- नामात्मत्वसिद्धये याः श्रुतयः प्रमाणत्वेनोपन्यस्ताः सर्वाः वक्ष्यमाणश्रुतिभिर्बाध्यन्ते इति पुत्रादीनामात्मत्वं कथमपि न सिध्यति, अपितु 'अहं प्रत्ययविषयक आत्मा तद्व्यतिरिक्त एव'।।५१।।

हिन्दी व्याख्या—यहाँ पुत्र आदि की आत्मभिन्नता बतायी जा रही है, इन अतिप्राकृत आदि वादियों द्वारा प्रस्तुत किये गये श्रुत्याभास, युक्त्याभास और अनुभवाभासों में पूर्व पूर्व में उक्त श्रुत्याभास, उक्त्याभास, अनुभवाभासों का बाद में कथित श्रुति, युक्ति, अनुभवाभासों में बाध होने से उनके साक्ष्य से बताये गये आत्मपदार्थों में आत्मत्व के बाधदर्शन से पुत्र आदि की अनात्मरूपता अत्यन्त स्पष्ट है।

किञ्च, प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्र सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभ-वाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव। अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक् चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्त- विद्वदनुभवः। एवमध्यारोपः।।५२।।

संस्कृत व्याख्या - ननु काश्चिच्छ्रुतयः पुत्रादिशून्यपर्यन्तानामात्मत्वं प्रतिपादयन्ति, काश्चिच्च तेषामनात्मत्वं प्रतिपादयन्ति, उभयोरेव प्रामाण्यं श्रुतित्वाऽविशेषात्। ततः पुत्राद्यनात्मकत्वसाधकश्रुतीनामेव प्रामाण्यं तदात्मकत्वसाधकश्रुतीनाञ्च अप्रामाण्यं कुतो नाभ्युपगम्यते विनिगमनाविरहात् इति चेत् उच्यते- श्रुतित्वावच्छिन्नायाः समस्तश्रुतेरेव स्वतः प्रामाण्याभ्युपगमात् सर्वाण्यपि श्रुतिवचनानि प्रमाणमित्यत्र नास्ति संशयः। तत्रैवं बोध्यम् पुत्रादिशून्यपर्यन्ता-नामात्मत्वप्रतिपादकश्रुतीनां 'अस्थूलम्' अमनाः अकर्ता, इत्यादि-श्रुतिविरोधेन स्वार्थे तात्पर्यं न किमपि भवति, अपितु स्थूलारुन्धतीन्यायेन सूक्ष्म-सूक्ष्मतरवस्तुबोधने एव तासां तात्पर्यम्। अनेन प्रकारेण साक्षात् परम्परया वा तस्यैव अद्वितीयब्रह्मणः प्रतिपादकत्वात् सर्वासामपि श्रुतीनां प्रमाण्यमिति न कोऽपि विरोधः। सूक्ष्मातिसूक्ष्मः चेतनस्वरूपः श्रुतिप्रतिपादितः आत्मा स्वयं प्रकाशः। घटपटादिजडपदार्थस्तु स्वप्रकाशार्थं प्रकाशमपेक्षते। किन्तु आत्मप्रकाशनार्थं न प्रकाशान्तरापेक्षा तस्य चेतनत्वात् 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' 'आत्मैवास्य ज्योतिः', इत्यादिश्रुतयः आत्मनः स्वयंप्रकाशत्वे प्रमाणम्। स चैकोऽपि अनेकत्र वर्तमानः इत्यत्र 'एको देवः बहुधा सन्निविष्टः', इत्यादि श्रुतयः प्रमाणम्। एवञ्च देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यादिविलक्षणः तदध्यक्षश्चात्मा भिन्न एव। स एव कर्मफल- मुपभुङ्क्ते। शुद्धचैतन्यस्तु एतद्व्यतिरिक्तम्- तेन सह अस्य चैतन्यस्य ऐक्यम्। आत्मचैतन्यं तावत् जाग्रत्-स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु

अन्नमय-मनोमय-प्राणमय- विज्ञानमयानन्दमयकोशेषु उपलभ्यते, किन्तु शुद्धचैतन्यं एतस्मात् सर्वथा परम्। एवमेव स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरव्यष्ट्यभिमानिचैतन्यं (जीवः) विश्वः, तैजसः प्राज्ञः इत्युच्यते। तथा तच्छरीरसमष्ट्यभिमानि चैतन्यं (ईश्वरः) वैश्वानरः (विराट्), सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भः) ईश्वरश्चोच्यते। नचायमात्मा अणुपरिमाणवान् सकलशरीर-व्यापिचैतन्यामुपलंभप्रसंगात्, नापि मध्यमपरिमाणः सावयवत्वेन अनित्यत्वप्रसंगात्, किन्तु स्वतस्तावत् अखण्डब्रह्मात्मस्वभावत्वात् 'स वा एष महाजन आत्मा'-(बृह.उप ४/४/२२) इत्यादिश्रुतेश्च परममहत्परिमाण एव। संसारित्वावस्थायामेव तस्य उपाधिनिबन्धनं परिच्छिन्नपरिमाणं, तच्च यथोपाध्यनुरूपत्वादनियतम्।।५२।।

हिन्दी व्याख्या—दूसरी बात यह है कि आत्मा अस्थूल-स्थूल शरीर से भिन्न, अचक्षु-चक्षु आदि इन्द्रियों से भिन्न, अप्राण-प्राण से भिन्न, अमना-अन्तःकरण से भिन्न, अकर्त्ता-कर्त्ता से भिन्न, चैतन्य-प्रकाशात्मक, चिन्मात्र-केवल चित्स्वरूप और सत्-शून्य से भिन्न है, इस आशय की प्रबल श्रुतियों के विरोध से, पुत्र आदि से लेकर शून्य पर्यन्त दृश्यमान जड़ के चैतन्यभास्य होने से घट आदि के समान अनित्य होने से 'मैं ब्रह्म रूप हूँ' विद्वानों के इस प्रबल अनुभव से उन-उन श्रुति, युक्ति, अनुभवाभासों का बाध होने से भी पुत्र आदि से लेकर शून्य पर्यन्त समस्त अनात्मा ही है अतः वेदान्त के विद्वानों का यह अनुभव है कि उन-उन पुत्र आदि पदार्थों का भासक नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त, सत्यस्वभावप्रत्यक् चैतन्य ही आत्मरूप वस्तु है। यह अध्यारोप का प्रकार है।

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जूमात्रत्ववद्वस्तुविवर्त-स्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। तदुक्तम्-

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रभा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृतः।।इति।।५३।।

संस्कृत व्याख्या—कार्यस्य कारणमात्रविशेषणमपवादः। असङ्गोदासीने परमात्मवस्तुनि तद्विवर्तभूताऽज्ञानादिमिथ्याप्रपञ्चस्य चैतन्यवस्तुमात्रावशेषतया अवस्थानमेव अपवादः। रज्जौ सर्पस्य, शुक्तौ रजतस्य वा प्रतीतौ अर्थात् रज्जुस्वरूपाऽपरित्यागेन सर्पाकारेण, शुक्तिस्वरूपापरित्यागेन रजताकारेण भासमानस्य वा रज्जुविवर्तस्य शुक्तिविवर्तस्य वा अपवादः **विनाशः** अर्थात् अधिष्ठानभूतरज्जुमात्रतया शुक्तिमात्रतया वा यथा अवस्थानं भवति, तथा चिद्विवर्तस्य अज्ञानादिप्रपञ्चस्य अपवादो (नाशो) नाम चिन्मात्रत्वेन अवस्थानमित्यर्थः। यथास्वरूपेण अवस्थितस्य वस्तुनः अन्यथाभावो द्विधा भवति। परिणामभावो विवर्तभावश्चेति। तत्र परिणामभावो नाम वस्तुनो यथार्थतः स्वस्वरूपं परित्यज्य स्वरूपान्तरापतिः। यथा दुग्धमेव स्वस्वरूपं परित्यज्य दध्याकारेण परिणमते। विवर्तभावस्तु वस्तुनः स्वस्वरूपाऽपरित्यागेन स्वरूपान्तरेण मिथ्याप्रतीतिः। यथा रज्जुः स्वस्वरूपाऽपरित्यागेन सर्पाकारेण मिथ्या प्रतिभासते।।५३।।

हिन्दी व्याख्या—जैसे रज्जु का विवर्त (अर्थात् भ्रान्ति के कारण रस्सी में प्रतीयमान) सर्प रज्जुमात्र ही होता है (न कि रज्जु से भिन्न होता है), उसी प्रकार वस्तु (ब्रह्म) के विवर्त (अर्थात् भ्रान्ति के कारण वस्तु रूप ब्रह्म में प्रतीयमान अवस्तुरूप) अज्ञान आदि प्रपञ्च का वस्तु मात्र रह जाना ही अपवाद है। कहा भी गया है-

"(किसी वस्तु का) अपने मूल तत्त्व के साथ (अर्थात् सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ) दूसरे रूप में हो जाना विकार कहा गया है, तथा ऊपर से ही (अर्थात् मिथ्यारूप से ही) अन्य रूप में में प्रतीत होना विवर्त कहा गया है।"

तथाहि-एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं एतद्भोग्यरू-पान्नपानादिकमेतदायतन भूतभूरादिचतुर्दश भुवनान्यतदायतनभूतंब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतंमात्रं भवति। एतानि शब्दादिविषय-सहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपंपञ्ची-कृतभूतमात्रं भवति। एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्र-मेणैतत्कारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति। एतदज्ञानोपहितं चैतन्यं चेश्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति।।५४।।

संस्कृत व्याख्या—सुखदु:खादिभोगायतनमेतच्चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातम्, तद्भोग्यरूपमन्नपानादिकम्, तदाश्रयभूतं भूतादिचतुर्दशलोकसहितं भुवनत्रयम्, तदाधारभूतं ब्रह्माण्डञ्चैतत्सर्वं स्वकारणरूपपञ्चीकृतमहाभूतेषु विलीयते। तदनन्तरं शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतमहाभूतानि सप्तदशावयवं सर्वं सूक्ष्मशरीरञ्च स्वकारणभूतापञ्चीकृतमहाभूतेषु विलीयन्ते। ततः सत्त्वादिगुणसहितानि तानि सर्वापञ्चीकृतमहाभूतानि स्वकारणभूतेऽज्ञानोपहितचैतन्ये विलीयन्ते। एतदज्ञानं तदुपहितं सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टं चैतन्यमीश्वरादि चैतत्स्वाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपतुरीये ब्रह्मणि विलीयते। इत्थमन्ते सर्वं स्वस्मिन् समावेश्य ब्रह्ममात्रमवशिनष्टि।

महाभारतीयशान्तिपर्वण्युत्पत्तिव्युत्क्रमेणायं पृथिव्यादीनां परब्रह्मणि लयो प्रतिपादितः-

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे, पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायो प्रलीयते।।
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते पलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले सम्प्रलीयते।।५४।।

—म. भा. शान्ति पर्व १२९/९५

हिन्दी व्याख्या—भोगों के आश्रय चार प्रकार के, ये सम्पूर्ण स्थूल शरीर, इनके भोग्य रूप अन्न-पान आदि, इनके आश्रयभूत 'भू' आदि चौदहों भुवन तथा इनका आधारभूत ब्रह्माण्ड ये सब अपने कारणभूत पञ्चीकृत भूतमात्र रह जाते हैं। शब्द आदि। (अपने-अपने) विषयों के सहित पञ्चीकृत महाभूत एवं सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर- यह सब अपने कारणभूत अपञ्चीकृत भूत मात्र रह जाते हैं। सत्त्व आदि गुणों के सहित अपञ्चीकृत ये भूत उत्पत्ति के उल्टे क्रम से इनके कारणरूप (अर्थात् अपने कारण रूप) अज्ञान से उपहित चैतन्यमात्र रह जाते हैं। अज्ञान से उपहित यह ईश्वर आदि चैतन्य अपने आधारभूत अनुपहित चैतन्य रूप केवल तुरीय ब्रह्म हो जाते हैं।

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वमपदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथाहि-अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायः-पिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिता-धारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति। अज्ञानादिव्यष्टिरेतदु-पहिताल्पज्ञत्वादिविशिष्ट-चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायः पिण्डवदेक-त्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिता-धारभूतमनूपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति।।५५।।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मात्मचैतन्यस्याद्वितीयप्रत्यग्रू पतानिरूपणार्थत्वादध्यारोपादिप्रपञ्चनस्य पदार्थशुद्धिर-वान्तरफलमिति सूचयितुं पदार्थशोधनमपीत्युक्तम्। तत्त्वम्पदयोः प्रत्येकं द्विविधोऽर्थो वाच्यो लक्ष्यश्चेति। तदुभयं विभज्य दर्शयति-तथाहीत्यादिना। समष्ट्यज्ञानं तदुपहित ईश्वरस्तदुभयाश्रयमनुपहितं स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितमक्षरशब्दवाच्यं चिन्मात्रमित्येतत्त्रयं तप्तायः पिण्डवदविविक्तं तत्पदवाच्यार्थ इत्यर्थः। आदिपदात्समष्टिहिरण्यगर्भविराजौ गृह्येते। तत्राज्ञानादिव्यष्टिरित्यत्रादिपदात्सूक्ष्मशरीरं स्थूलशरीरं च गृह्यते। एतदनुपहितं प्रत्यक्चितिमात्रम्। शेषं पूर्ववत्। उभयत्रापि यथायोगमव्याकृतं समष्टिस्वप्नजागरौ सुषुप्तिर्व्यष्टिस्वप्न जागरौचेत्येवमवस्थात्रययुक्तमिति योजयितव्यम्। अज्ञानतत्कार्यसमस्तप्रपञ्चेषु सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनानुस्यूतं चित्सदानन्दाद्वयात्मकं वस्तु तत्पदलक्ष्यार्थः। देहेन्द्रियमनोबुद्धि-प्राणहंकृतितद्धर्मजाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाभ्यो विलक्षणस्तत्साक्षी चिद्धातुस्त्वम्पदलक्ष्यार्थ इत्याह-एतदुपाध्युपहितेति।।55।।

हिन्दी व्याख्या—इन अध्यारोप और अपवाद में 'तत्' और 'त्वम्' पद के अर्थों का शोधन होता है, उन पदों के शुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है, जैसे अज्ञान आदि की समष्टि, इससे उपहित सर्वज्ञत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य एवं अज्ञान आदि से अनुपहित चैतन्य ये तीनों 'तप्त अयः पिण्ड' के समान एकीभूत होकर प्रतीयमान होने पर तत् पद का वाच्यार्थ होता है, इन उपाधियों और इनसे उपहित का आधार होता है अनुपहित शुद्ध चैतन्य, वह तत् पद का लक्ष्यार्थ होता है।

अज्ञान आदि की व्यष्टि, इससे उपहित अल्पज्ञत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य और इन सबसे अनुपहित चैतन्य तप्त अय: पिण्ड के समान एक प्रतीत होने पर त्वम् पद का वाच्यार्थ होता है, इन उपाधियों और इनसे उपहित चैतन्य का आधारभूत अनुपहित प्रत्यग् आनन्दरूप तुरीय चैतन्य त्वम् पद का लक्ष्यार्थ होता है।

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं "तत्त्वमसि" इति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणा-खण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं, पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्य-लक्षणभावश्चेति। तदुक्तम्—

"सामानाधिकरण्यश्च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्।।" इति।।५६।।

संस्कृत व्याख्या—वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानस्य कारणत्वात् 'तत्त्वमसि' इति वाक्यार्थ प्रतिपादयिषुर्ग्रन्थकारः पूर्व तत्त्वमसीति महावाक्यान्तर्गततत्त्वंपदार्थं सप्रञ्चं निरूपयाधुना तत्त्वमसीति महावाक्यार्थ निरूपयितुमाह- अथेति। जीवोऽल्पज्ञः, ईश्वरश्च सर्वज्ञ इत्यनयोः परस्परमतितरां भिन्नत्वेन तदैक्यप्रतिपादकतत्त्वमसीति वाक्यस्यापि विरुद्धर्थकत्वात्कथमखण्डैकरसब्रह्मणः प्रतिपादकत्वमित्यत आह-इदमिति। तत्त्वमसीति वाक्यस्य साक्षादखण्डैकरसब्रह्मणः प्रतिपादकत्वाभावेऽपि लक्षणया सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थप्रतिपादकत्वमिति भावः। तच्च सम्बन्धत्रयमेतत्- पदयोः (तंत्-त्वं पदयोः), सामानाधिकरण्यम्, पदार्थयोः (परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्ययोः) विशेषणाविशेष्यभावः, परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वरूपविरुद्धांशपरित्यागपूर्वकतत्त्वं पदलक्ष्याविरुद्धचैतन्येन सह तत्त्वं पदयोस्तदर्थयोर्वालक्ष्यलक्षणभावः।

परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यावबोधकतच्छब्दस्य तथा अपरोक्षत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यावबोधकत्वं शब्दस्य च यः परोक्षत्वापरोक्षत्वसर्वज्ञत्व-किञ्चिज्ज्ञत्वादिरूपो विरुद्धोऽशस्तत्परित्यागपूर्वकं तत्त्वंपदे पदार्थौ वाऽखण्डमेव लक्षयत इति तयौर्लक्षणत्वम्। अखण्डचैतन्यञ्च ताभ्यां लक्ष्यते इति तस्य लक्ष्यत्वम्। नैष्कर्म्यसिद्धावेतदेव 'सामानाधिकरण्यञ्चे' त्यादिना प्रतिपादितम्।।५६।।

हिन्दी व्याख्या—अब महावाक्य के अर्थ का वर्णन किया जा रहा है। यह 'तत्त्वमसि' 'वही तुम हो'—(छान्दो. ६/८/७) वाक्य तीन सम्बन्धों के द्वारा अखण्ड अर्थ (अर्थात् निरुपाधि ब्रह्म) का बोधक होता है। तीन सम्बन्ध हैं—(१) दोनों (अर्थात् 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों का समानाधिकरण्य), (२) तीनों पदों के अर्थों में विशेषण-विशेष्यभाव का होना तथा (३) प्रत्यगात्मा तथा दोनों पदों के वाक्यार्थ में लक्ष्य-लक्षण-भाव। ऐसा ही (आचार्य सुरेश्वर के द्वारा भी) कहा गया है—"(तत्त्वमसि इस महावाक्य के) पदों में, उन पदों के वाच्य अर्थों में तथा उन पदों के वाच्य अर्थों एवं प्रत्यगात्मा में क्रमशः सामानाधिकरण्य विशेषण-विशेष्य भाव और लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध है।" (नैष्कर्म्यसिद्धि ३/३)

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद् यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्त-वाचकसशब्द स्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च 'तत्त्वमसि' इति वाक्योऽपि परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य-वाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।।५७।।

संस्कृत व्याख्या—पदयोः सामानाधिकरण्यं यथा-भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोः एकस्मिन् अर्थे प्रवृत्तिः-सामानाधि-करण्यम्। तच्च सामानाधिकरण्यं 'सोऽयं देवदत्तः' अस्मिन् लौकिकवाक्ये इत्थं घटते-अत्र सः, अयम्, देवदत्त, इति पदत्रयम्। तत्र सः शब्दस्य तत्कालतद्देशविशिष्टरूपेऽर्थे प्रवृत्तिः। अयं शब्दस्य चैतत्कालैतद्देशविशिष्टरूपेऽर्थे प्रवृत्तिः। एवमुभयोः शब्दयोर्भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वम्। तयोश्चोभयोःपदयोर्देवदत्त- रूपैकव्यक्तिबोधने एव तात्पर्यमिति भिन्नप्रवृत्तिनिमितित्तयोरपि तदिदंशब्दयोरेकार्थाव-बोधनतात्पर्येणोच्चरितत्वादुभयोः सामानाधिकरण्यम्। एवमेव तत्त्वमसीति

वाक्योऽपि 'परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिवैशिष्ट्यं' तत्पदप्रवृत्तिनिमित्तम्। 'अपरोक्षत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादि-वैशिष्ट्यं' त्वम्पदप्रवृत्तिनिमित्तम्। तथा च भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः 'तत्-त्वम्' पदयोः एकस्मिन् चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः सामानाधिकरण्यमित्यर्थः।।५७।।

हिन्दी व्याख्या—सर्वप्रथम सामानाधिकरण्य सम्बन्ध को बतला रहे हैं; जैसे "सोऽयं देवदत्तः" "वही यह देवदत्त है" इस वाक्य में तत्काल से विशिष्ट (अर्थात् अतीत काल वाले) देवदत्त के वाचक 'सः' शब्द का और एतत्काल से विशिष्ट (अर्थात् इस काल वाले) देवदत्त के वाचक 'अयं' शब्द का एक ही पिण्ड (अर्थात्! देवदत्त रूप व्यक्ति) में तात्पर्य का होना सामानाधिकरण्य है। उसी प्रकार यहाँ 'तत्त्वमसि' 'वही तुम हो' इस वाक्य में भी परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य के वाचक 'तत्' पद का और उपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य के वाचक 'त्वम्' पद का एक ही चैतन्य में तात्पर्य का होना सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्काल-विशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थै-तत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्यो तत्पदार्थपरोक्षत्वा दिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।।५८।।

संस्कृत व्याख्या—व्यवच्छेदकं विशेषणम्, व्यच्छेद्यञ्च विशेष्यम्। इत्थञ्च 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये अयं शब्दवाच्यो योऽयमेतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टो देवदत्तः सः, स तु तच्छब्दवाच्यतत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टदेवदत्ताद्भिन्नो नेति यदा बोधो भवति तदा यच्छब्दार्थस्येदंशब्दनिष्ठ भेदव्यवच्छेदकत्वेन विशेषणत्वम्, अयं शब्दार्थस्य च व्यवच्छेद्यत्वाद्विशेष्यत्वम्। इत्ययं स एव देवदत्त इत्यर्थावगमात् तत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टदेवदत्तादन्यो देवदत्तो व्यवच्छिद्यते। तथैव स इति तच्छब्दवाच्यस्तत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टो यो देवदत्तः सः अयमितीदंशब्द-वाच्यादेतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टाद् देवदत्तादन्यो नेति यदाप्रतीतिस्तदा इदंशब्दार्थस्य तच्छब्दार्थनिष्ठभेदव्यवच्छेदकतया अयमेव स इत्यर्थावगमादयं शब्दस्य विशेषणत्वम्, सशब्दार्थस्य व्यवच्छेद्यतया विशेष्यत्वामिति पारस्परिकभेदव्यावर्तकतया इदंशब्दस्तच्छब्दश्च 'अयमेव सः, स एवायम्' इत्थमन्योऽन्यविशेषणविशेष्यभाव-सम्बन्धेन देवदत्तपिण्डरूपमेक-मेवार्थमवगमयतोऽतस्ययोर्विशेषणविशेष्यभावः।।५८।।

हिन्दी व्याख्या—विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध तो उसे कहते हैं, जैसे उसी 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में 'सः' शब्द के वाच्य अर्थ तत्काल-विशिष्ट (अर्थात् उस समय वाले) देवदत्त का तथा 'अयं' शब्द के वाच्य अर्थ एतत्काल विशिष्ट (अर्थात् वर्तमानकालिक) देवदत्त का, परस्पर भेद (तत्कालविशिष्टत्व और एतत्कालविशिष्टत्व) का निवारक होने के कारण, विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध है। ठीक उसी तरह यहाँ भी 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' पद अर्थ परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य का तथा 'त्वम्' पद के अर्थ अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य का, परस्पर भेद (परोक्षत्वादिविशिष्टत्व तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व) का निवारक होने के कारण विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध है।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु- यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्व-परित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षा त्वादिविशिष्ट-त्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागल- क्षणेत्युच्यते।।५९।।

संस्कृत व्याख्या - अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिर्लक्षणा। सा त्रिविधा जहल्लक्षणाऽजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति। वाच्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा। वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि वृत्तिरजहल्लक्षणा। वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहदजहल्लक्षणा। तत्र प्रकृतवाक्ये लक्ष्यलक्षणसम्बन्धं सोदाहरणमाह-लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध इति। पदवाच्यार्थयोः परस्परविरुद्धत्वान्नान्योन्यं विशेषणविशेष्यभाव उपपद्यते। तथा च तत्समर्पकयोरपि पदयोः

सामानाधिकरण्यवशा त्प्रतीयमानस्यैकवाक्यर्थस्यानुपपत्तिरिति लक्षणायां प्रसक्तायां वक्ष्यमाणप्रकारेण जहदजहल्लक्षणयोः प्रकृतासङ्गतौ पदवाच्य गतविरुद्धांशप्रहाणेना-विरुद्धांशलक्षणया सामानाधिकरण्ये सति वाक्यादखण्डार्थप्रतिपत्तिरिति भावः। अंशान्तरपरित्यागेनांशान्तरलक्षणायाः शास्त्रप्रसिद्धां संज्ञां सङ्गिरते-इयमेवेति। जहदजहल्लक्षणेदंशब्दार्थः अयं भवः तत्त्वम्पदयोः सामानाधिकरण्यं तावच्छ्रूयते न तत्तयो भिन्नार्थत्वे सम्भवति स्तम्भकुम्भपदयोस्तददर्शनात्। नाप्येकार्थाभिध ाायकत्वेन वैश्वदेव्यामिक्षेतिवत्तद्धितादेरेकार्थसमर्पकस्य कारणस्येहादर्शनात्।।५९।

हिन्दी व्याख्या - लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध का विवेचन कर रहे हैं जैसे- उसी 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में 'सः' शब्द और 'अयं' शब्दों का अथवा 'सः' शब्द के अर्थ एवं 'अयं' शब्द के अर्थों का 'तत्कालविशिष्टत्व'-'उस काल में रहने वाले' और 'एतत्कालविशिष्टत्व'-'इस काल में रहने वाले' - इस (परस्पर) विरुद्ध अंश का परित्याग करके अविरुद्ध देवदत्त के साथ लक्ष्य-लक्षणभाव है। ठीक उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों का अथवा 'तत्' पद के अर्थ एवं 'त्वम्' पद के अर्थ का (परस्पर) परोक्षत्वादिविशिष्टत्व-इन्द्रियों का विषय आदि न बनने वाले एवं अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व-अनुभूति आदि का विषय बनने वाले इस विरुद्ध अंश का परित्याग करके (दोनों पदों के) अविरुद्ध अर्थ चैतन्य के साथ लक्ष्य-लक्षण भाव सम्बन्ध है। इसी लक्षणा को भागलक्षणा (अथवा जहदजहल्लक्षणा) कहते हैं।

अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तत्र तु नीलपदार्थ-नीलगुणस्योत्पलपदाथोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभेदव्यावर्तक- तयाऽन्योन्यविशेषणविशेष्य-भावसंसर्गस्यान्तरविशिष्ट स्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते, अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाण-विरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तदुक्तम्—

"संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।।" इति।।६०।।

संस्कृत व्याख्या—ननु यथा 'नीलोत्पलम्' इत्यत्र नीलगुणस्य उत्पलद्रव्यस्य च स्व (नीलोत्पलद्रव्य) व्यतिरिक्तशुक्ल पीतादिगुणान्तर-पटादिद्रव्यान्तरव्यावर्तकत्वेन विशेषणविशेष्यभावनिरूपिततद्भिन्न (नीलगुणवैशिष्ट्यरूपः) संसर्गोवाक्यार्थः अर्थात् नीलमुत्पलमित्यनयोः विशेषणविशेष्यभावरूपेण संसर्गेण वाक्यार्थबोध ाः अथवा नीलगुणविशिष्टं यत् तदेव उत्पल इत्येवं विशिष्टो वा वाक्यार्थबोधः तथैव अत्रापि तत्त्वमस्यादिवाक्ये तत्पदार्थस्य परोक्षत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्यस्य, त्वम्पदार्थस्य अपरोक्षत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यस्य च अन्योन्यभेदव्यावर्तकतया, विशेषणविशेष्यभूत सर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वोभयनिरूपितसंसर्गो वा सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य किञ्चिज्ज्ञत्वादि-विशिष्टेन सह ऐक्यं वाक्यार्थो भवतु इत्याशंक्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोवैषम्यान्नैवमित्याह-अस्मिन्निति। नीलोत्पलमिति दृष्टान्तवाक्ये 'तत्त्वमसीति' दार्ष्टान्तिकवाक्ये च महानेव भेद इति नीलोत्पलवदिह तत्वमसीत्यत्र संसर्गविशिष्टो वा वाक्यार्थो न सङ्गच्छते इति भावः। याते हि नीलोत्पलम् इत्यम्' इति गुणः, 'उत्पलमिति च द्रव्यम् (गुणी), अतः गुणगुणिनोस्तयो र्विशेषणविशेष्यभावसंसर्गः, नीलगुणविशिष्टं यत्तदेवोत्पलद्रव्यम् इति नीलगुणविशिष्टस्योत्पलद्रव्यस्य चैकतारूपविशिष्टो वा वाक्यार्थः सङ्गच्छते, किन्तु 'तत्त्वमसीति' वाक्ये तत्पदं त्वं पदञ्चोभयं द्रव्यमिति संसर्गो वा विशिष्टो वा संसर्गविशिष्टयोरन्यतरः उभयो वा सम्बन्धो वक्तुं न शक्यते। द्वयोर्द्रव्ययोर्विशेषण-विशेष्यसंसर्गासम्भवात्। परोक्षत्वादिविशिष्ट यत्तदेवापरोक्षत्वादिविशिष्टमित्येवं विशिष्टार्थकल्पने विरोधस्य प्रत्यक्षात्वाच्येतिपूर्वोक्तविशेषणविशेष्यभावप्रकारेणैव 'तत्त्वमसीति' वाक्यविरुद्धचैतन्यं बोधयति। पञ्चदशीकारश्रीविद्यारण्यस्वामि-पादैरप्येतदेवोक्तम्- अत्र- तत्त्वमसीतिवाक्ये, संसर्गः = भेदसंसर्गरूपः, वा = अथवा, विशिष्टः = अभेदसंसर्गरूपः, वा = अपि, वाक्यार्थः = तत्त्वमसीतिवाक्यस्य अर्थः, न = नवै, सम्मतः = अभीष्टोऽस्ति।

(किन्तु = परन्तु) अत्र = तत्त्वमसीतिवाक्ये, अखण्डै-करसत्वेन = स्वगतादिभेदरहितेन वस्तुरूपेण, वाक्यार्थ: = विदुषाम् = वेदान्तविदाम्, मत: = अभीष्ट:।।६०।।

हिन्दी व्याख्या - 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य के समान वाक्यार्थ संगत नहीं हो सकता है, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य की बात यह है कि उस वाक्य के घटक नील पद का अर्थ है नील गुण जो उत्पल के शुक्ल आदि गुण का व्यावर्तक होने से उत्पल को परिच्छिन्न करने से उत्पल का विशेषण हो सकता है और उत्पल शब्द अर्थ है उत्पल द्रव्य, नीलघट आदि का व्यावर्तक होने से नील को परिच्छिन्न करने से नील का विशेषण हो सकता है। अत: नील और उत्पल का परस्पर विशेष्यविशेषणभाव उक्त वाक्य का अर्थ हो सकता है। इसी प्रकार नील और उत्पल में संसर्ग होने से नीलविशिष्ट उत्पल अथवा उत्पल विशिष्ट नील भी उसका अर्थ हो सकता है एवं गुण-गुणी में अभेद होने से नील शब्द के वाच्यार्थ और उत्पल शब्द के वाच्यार्थ का ऐक्य भी उसका अर्थ हो सकता है, क्योंकि इन तीनों अर्थों किसी भी अर्थ को स्वीकार करने में किसी भी प्रमाण का विरोध नहीं है, किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में तत्पद का अर्थ परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद का अर्थ अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य एक दूसरे में परस्पर भेद का व्यावर्तक होने से एक अभिन्न अर्थ में तात्पर्य रखता है और अभिन्न में विशेष्यविशेषणभाव तभा संसर्ग नहीं होता, अत: विशेष्यविशेषणभाव अथवा एक से विशिष्ट अपर किंवा 'तत्-त्वम्' इन दोनों पदों से बोध्य अर्थों के ऐक्य को उक्त वाक्य का अर्थ मानने में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विरोध होने से 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्यार्थ के समान 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का अर्थ संगत नहीं होता । जैसा कि विद्यारण्यस्वामी के द्वारा पञ्चदशी में कहा भी गया है—

अन्वय:—अत्र, संसर्ग, वा, विशिष्ट:, वा, वाक्यार्थ:, न, समम्त:, (किन्तु अत्र) अखण्डैकरसत्वेन, वाक्यार्थ: विदुषाम्, मत:।।

शब्दार्थ—अत्र = (तत्त्वमसि) इस वाक्य में, संसर्ग: = भेद संसर्गस्वरूप, वा = अथवा, विशिष्ट = एक से विशिष्ट एक (अर्थात् अभेद संसर्ग रूप), वा = भी, वाक्यार्थ: = वाक्यार्थ, न = नहीं, सम्मत: = अभीष्ट है, (किन्तु = परन्तु, अत्र = यहाँ, तत्त्वमसि इस वाक्य में), अखण्डैकरसत्वेन = अखण्ड एक रस रूप में अर्थात् स्वगत आदि भेद से रहित वस्तु मात्र के रूप में, वाक्यार्थ: = वाच्यार्थ, विदुषाम् = विद्वानों को, मत: = अभीष्ट है।

हिन्दी व्याख्या—(तत्त्वमसि) इस वाक्य में भेद-संसर्गरूप अथवा अभेद-संसर्गरूप वाक्यार्थ अभीष्ट नहीं है, (किन्तु यहाँ तत्त्वमसि इस वाक्य में) अखण्ड एक रसरूप में (अर्थात् स्वगत आदि भेद से रहित वस्तु मात्र के रूप में) वाच्यार्थ विद्वानों को अभीष्ट है—(पञ्चदशी ७/७५)।।

अत्र 'गंगायां घोष: प्रतिवसति' इति वाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते। तत्र तु गङ्गाघोषोराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थम-शेषत: परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा सङ्गच्छते। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते।।६१।।

संस्कृत व्याख्या - अत्र तत्त्वमसीतिवाक्ये जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते इत्यन्वय:। तदेव प्रदर्शयितुं जहल्लक्षणाया उदाहरणं प्राह-गंगायामिति।

"मानान्तरविरोधेतु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणोच्यते।।"

—वाक्यवृत्ति: - ४१

NOTES

इति वचनानुसारेण मुख्यार्थबाधे मुख्यार्थं सम्पूर्णतया त्यक्त्वा तत्सम्बन्धिनि अर्थान्तरे वृत्तिर्लक्षणा भवति। इयं लक्षणा तत्रैव भवति यत्र मुख्यार्थस्य बाधः यथा- गंगायां घोषः इत्यत्र गंगाशब्दस्य भगीरथरथरवातावच्छिन्नजलप्रवाहरूपो मुख्यार्थः घोषस्य च आभीरपल्लरूपो मुख्यार्थः। अनयोः आधाराधेयभावो नैव संभवितुमर्हति, प्रवाहे घोषस्थितेः सर्वथाऽसंभावात् इति मुख्यार्थबाधः। अत्र गंगाशब्दः प्रवाहरूपं मुख्यार्थं पूर्णरूपेण परित्यज्य तत्सम्बन्धितीररूपमर्थान्तरं लक्षयति, तदा गंगातीरे घोषः इत्यर्थोपपत्तिः, अतः तत्र जहल्लक्षणा समुचिता। तत्त्वमसीति महावाक्यो तु परोक्षाऽपरोक्षचैतन्यकत्वरूपस्य वाक्यार्थस्य न सर्वथा विरोधः, अपितु परोक्षाऽपरोक्षत्व-प्रतिपादकभागमात्रे विरोधः, चैतन्यैकत्वांशे च अविरोधः इति तच्छब्दे त्वं शब्दे वा पूर्णरूपेण मुख्यार्थबाधस्य असम्भवात्। परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वप्रतिपादकविरुद्धांश-परित्यागेऽपि चैतन्यैकत्वरूपस्य अविरुद्धांशस्य तादवस्थ्यात् जहल्लक्षणया चैतन्यैकत्वबोधनस्य असम्भवात् भागलक्षणैवात्रोचिता।।६१।।

हिन्दी व्याख्या—'गंगायां घोषः प्रतिवसति' गंगा में अहीरों की बस्ती स्थित है' इस वाक्य के समान 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में जहल्लक्षणा- शक्यार्थ का सर्वथा त्याग कर अशक्य अर्थ का बोध कराने वाली लक्षणा भी नहीं संगत होती, क्योंकि अभिधा से गंगा और घोष का आधाराधेय भाव ही उक्त वाक्य का अर्थ सम्भव है जो नितान्त विरुद्ध है अतः उस वाक्यार्थ का पूर्णतया परित्याग कर गंगा सम्बन्धी तीर में गंगा पद की लक्षणा युक्त होने से उस वाक्य में जहल्लक्षणा संगत होती है, किन्तु 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य और अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य के ऐक्य को वाक्यार्थ मानने में उक्त दोनों पदों के अर्थों के विशेषणभाग मात्र के ऐक्य में विरोध ा है, विशेष्य भाग के ऐक्य में विरोध नहीं है, अतः अविरुद्ध भाग का भी त्याग कर अन्य अर्थ में लक्षणा के अयुक्त होने से इस वाक्य में जहल्लक्षणा संगत नहीं हो सकती।।६१।।

न च गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न सङ्गच्छत इति वाच्यम्। तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वंपदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्य-पेक्षाभावात्।।६२।।

संस्कृत व्याख्या—ननु यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्त गङ्गापदं प्रवाहरूपं स्वार्थं परित्यज्य तत्सम्बन्धितीररूपपदार्थ लक्षणयाबोधयति तथैव 'तत्त्वमसीति' वाक्ये तत्पदं परोक्षत्वादिविशिष्टरूपं स्वार्थ परित्यज्य जीवचैतन्यं लक्षणया बोध यतु, एवमेव त्वंपदमपि किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टरूपं स्वार्थ परित्यज्येश्वरचैतन्यं लक्षणया बोधयत्विति जहल्लक्षणायाः सर्वथासम्भव इति चेन्न, श्रुतस्य मुख्यार्थबाधे सति तत्सम्बन्धिन्यश्रुतपदार्थे एव लक्षणायाः सर्वजनसम्मतत्वाद् गङ्गायां घोषः' इत्यत्र च गङ्गाघोषयोराधाराधेयभाव-सम्बन्धविरोधे (मुख्यार्थबाधे) तीरपदाश्रवणेन च तदर्थाप्रतीति श्रुतेन गङ्गापदेन जहल्लक्षणया तत्सम्बन्ध्यश्रुततीरपदार्थस्य प्रतीतिः। तत्त्वमसीत्यत्र तु तत्पदं त्वंपदञ्चोभयं श्रूयमाणमिति ताभ्यां मुख्यतयैव सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वादिविशिष्टरूपतदर्थप्रतीतौ मुख्यार्थबाधासम्भवाल्लक्षणया तत्पदेन त्वंपदार्थस्य त्वंपदेन च तत्पदार्थस्य वा प्रतीतेरपेक्षाभावाज्जहल्लक्षणायाऽसम्भवः।।६२।।

हिन्दी व्याख्या—यहाँ यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता कि जैसे गङ्गा पद अपने अर्थ का परित्याग कर तीर पदार्थ का लक्षक होता है वैसे 'तत्' पद स्वार्थ का त्याग कर 'त्वम्' पदार्थ का एवं 'त्वम्' पद स्वार्थ का त्याग कर 'तत्' पदार्थ का लक्षक हो सकता है अतः जहल्लक्षणा क्यों नहीं संगत हो सकती? क्योंकि 'गंगायां घोषः' इस वाक्य में तीर पद का श्रवण न होने से अभिधा से तीर रूप अर्थ की प्रतीति न होने के कारण लक्षणा से उस अर्थ की प्रतीति अपेक्षित होती है किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में तत् पद और त्वम् पद दोनों का श्रवण होता है, अतः अभिधा से ही दोनों पदों के अर्थ की प्रतीति सम्भव होने से लक्षणा द्वारा एक पद से अन्य पदार्थ की प्रतीति की अपेक्षा नहीं होती।

अत्र 'शोणो धावती' इति वाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति। तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादि-लक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्ष त्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवाद-जहल्लक्षणा न सम्भवत्येव।।

न च तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वं पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्। एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च।।६३।।

संस्कृत व्याख्या - 'तत्त्वमसीति' महावाक्ये जहल्लक्षणायां यथा असम्भवः प्रदर्शितः तथा अजहल्लक्षणापि अत्र न सम्भवति। वाच्यार्थस्य अपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि अर्थान्तरे वृत्तिः अजहल्लक्षणा' इति अजहल्लक्षणाया लक्षणम्। तदनुसारेण 'शोणो धावति' इत्यत्र शोणगुणस्य धावनं सर्वथा असम्भवमेव, इति कृत्वा मुख्यार्थो बाधितो भवति, तदा श्रूयमाणस्य शोणपदस्य वाच्यार्थः (मुख्यार्थः) शोणगुण एव। तस्य अपरित्यागेन शोणगुणाश्रये अश्वादौ लक्षणा क्रियते, तेन वाक्यार्थानुपपत्तिः न भवति। अर्थात् 'शोणोधावति' इत्यत्र वाक्यार्थः सङ्गतो भवति। अतः अस्मिन् शोणोधावति इति लौकिकवाक्ये अजहल्लक्षणा उचितैव। किन्तु तत्त्वमसीत्यादिवाक्ये तु तत् पदस्य त्वं पदस्य च परस्परं विरुद्धो यो वाच्यार्थः (मुख्यार्थः), तमपरित्यज्य परोक्षत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्य-बोधकेन तच्छब्देन अपरोक्षत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यस्य, अपरोक्षत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यबोधकेन त्वम्शब्देन परोक्षत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्यस्य वा लक्षितत्वेऽपि परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वादिलक्षणविरोधः सुस्थिर एव। तस्मात् अत्र अजहल्लक्षणाया न कोऽपि उपयोगः।

ननु तत्-त्वम्पदयोः परोक्षत्वापरोक्षत्वद्यंशे विरोधश्चैतन्यांशे चोभयोरविरोध इत्यविरुद्धचैतन्यांशहितं किन्तु परित्यक्तपरोक्षत्वा दिधर्मरूपविरुद्धांश तत्पदमपरोक्षत्व-किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टं जीवचैतन्यं लक्षयतु, एवमेवोभय-सामान्यचैतन्यांश सहितं परित्यक्तापरोक्षत्वादिधर्मरूपविरुद्धांशञ्च त्वं पदं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टमीश्वरतन्यं वा लक्षयत्विति किं भागलक्षणयेति चेन्न, एकेनैव तत्पदेन परित्यक्तस्य विरुद्धांशपरोक्षत्वादिरूपार्थस्य चैतन्यरूपान्यतरपरपदार्थस्य च बोधनायोभयलक्षणाया असम्भावात्। अतः 'शोणो धावतीत्यत्र' यथा शोणशब्दः स्वार्थबोधनपूर्वकं लक्षणया नीलपीताद्यर्थाव-बोधनासमर्थस्तथैवात्र तत्त्वं-पदयोरन्यतरपदस्य स्वार्थपरार्थोभयाव-बोधनासमर्थम्। किञ्च, इह यदा तत्पदं त्वं पदं च उभयं श्रूयमाणं तदा ताभ्यामधिधयैव तदर्थप्रतीतौ लक्षणयाऽन्यतरपदेनान्यतरार्थस्य प्रतीत्यपेक्षा भावं इति यथा पूर्वमेव गरीयः।।६३।।

हिन्दी व्याख्या - 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में 'शोणो धावति'-लाल रंग दौड़ रहा है- की तरह अजहल्लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ का बोध नहीं कराया जा सकता। क्योंकि शोणो धावति का मुख्यार्थ लाल रंग दौड़ रहा है। किन्तु 'लाल रंग' तो अमूर्त गुण है अतः उसका दौड़ना सम्भव नहीं, इसलिए मुख्यार्थ बाधित हो गया। तब वक्ता के तात्पर्य की उपपत्ति करने के लिए शोण शब्द की शोण गुण से विशिष्ट अश्व आदि में लक्षणा की जाती है। तब 'शोण' पद अपने 'लाल वर्ण' रूप वाच्य अर्थ को लिये हुए ही अजहल्लक्षणा द्वारा शोणगुणविशिष्ट अश्वधावति का ज्ञान कराता। है। इस कारण वक्ता के तात्पर्य की उपपत्ति लग जाती है। किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में यह अजहल्लक्षणा नहीं की जा सकेगी, क्योंकि 'तत्' पद का अर्थ होगा परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद का अर्थ होगा अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य। चैतन्यांश में ये दोनों एकत्व के प्रतिपादक हैं। तथापि परोक्षाऽपरोक्षत्वरूप अर्थ में परस्पर विरुद्ध हैं। इसलिए यदि अजहल्लक्षणा मानकर परोक्षत्वादिविशिष्ट 'तत्' और अपरोक्षत्वादिविशिष्ट 'त्वम्' दोनों पदों के द्वारा केवल चैतन्यांश के एकत्व की कल्पना की भी जाय तो परोक्षत्व- अपरोक्षत्वादिविशिष्टरूप भेद तो बना ही रहेगा, तब अभेद की प्रतीति नहीं हो सकेगी। यदि अभेद की प्रतीति न हो पाई तो लक्षणा मानने से कोई लाभ नहीं होगा। अतः अजहल्लक्षणा से 'तत्त्वमसि' वाक्य, अखण्डार्थ का बोधन नहीं करा सकता।

NOTES

पूर्वपक्षी—'तत्' पद (त्वम् पद के अर्थ से) विरुद्ध अपने अंश को छोड़कर अवशिष्ट (अर्थात् त्वम् पद के अर्थ से अविरुद्ध) अंश के सहित त्वम् पद के वाच्य अर्थ का लक्षणा से बोध कराये तथा इसी तरह 'त्वम्' पद (तत् पद के अर्थ से) विरुद्ध अपने अंश को छोड़कर अवशिष्ट (अर्थात् 'तत्' पद के अर्थ से अविरुद्ध) अंश के सहित 'तत्' पद के वाच्य अर्थ का लक्षणा से बोध कराये (तो महावाक्य के अर्थ-बोध में कोई कठिनाई न होगी)। अत: जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा से भिन्न प्रकार के द्वारा भाग लक्षणा को क्यों स्वीकार किया जाय? (अर्थात् भाग लक्षणा = जहदजहल्लक्षणा को मानने की आवश्यकता ही नहीं है)।।

सिद्धान्ती—नहीं, आपका कहना सही नहीं है। क्योंकि एक ही पद के द्वारा अपने वाच्य अर्थ के एक भाग तथा दूसरे पद के (पूर्ण) वाच्य अर्थ को लक्षणावृत्ति से बोध कराना असम्भव है। (दूसरी बात यह भी है कि) दूसरे पद के द्वारा उसके वाच्य अर्थ की प्रतीति कराने की अपेक्षा नहीं रह जाती है।

तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्ट-देवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति, तथा तत्त्वमसि इति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वा परोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति।।६४।।

संस्कृत व्याख्या—इत्थं च 'तत्त्वमसीति' वाक्ये भागलक्षणमेवाखण्डार्थ प्रतीति:। तल्लक्षणन्तु वाच्यार्थैकदेश-परित्यागेनैकदेशवृत्तित्वम्- यत्र शब्द आंशिकरूपेण स्वार्थ परित्यज्यांशिकार्थमेवावगमयति तत्र भागलक्षणा भवतीति भाव:। यथा 'सोऽयं देवदत्त: इति वाक्ये तत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टे तत्कालैतद्देशविशिष्टरूपार्थयो: सोऽयं शब्दयोर्देशकालविरोधेऽपि देवदत्तपिण्डरूपैकार्थावबोधनाय जहदजहल्लक्षणा स्वीक्रियते। तथैव 'तत्त्वमसीति' वाक्येऽपि विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वाद्यंशं जहत्, अविरुद्धचैतन्यांशं च अजहत्तत्त्वमितिपदद्वयमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति सर्वमनवद्यम्।।६४।।

हिन्दी व्याख्या—इसलिए जिस प्रकार 'सोऽयं देवदत्त:' यह वाक्य अथवा इसका वाच्य अर्थ, 'भूतकालविशिष्ट देवदत्त ही वर्तमानकालविशिष्ट देवदत्त है' इस वाक्यार्थ के एक भाग मात्र में विरोध होने के कारण विरुद्ध भाग 'भूतकाल-विशिष्टत्व' एवं 'वर्तमानकाल विशिष्टत्व' का परित्याग कर केवल देवदत्त भाग को ही लक्षणा के द्वारा बोधित कराता है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' यह वाक्य अथवा इसका वाच्य अर्थ 'परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य तथा अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य' के एकतारूप वाच्यार्थ के केवल एक भाग मात्र में विरोध होने के कारण, विरुद्ध भाग 'परोक्षत्वादि विशिष्टत्व' तथा 'अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व' को छोड़कर अविरुद्ध (अर्थात् 'तत्' एवं 'त्वम्' इन दोनों पदों के अर्थों में प्राप्त) अखण्ड चैतन्य मात्र को लक्षणा (अर्थात् भाग लक्षणा) के द्वारा बोधित कराता है।

अथाधुना "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यनुभववाक्यर्थो वर्ण्यते। एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरस्सरं तत्त्वम्पदार्थो शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति। सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणातन्तुदाहे पटदाहवदाखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूता-खण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति। तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि, यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति, तथा स्वयम्प्रकाशमान-प्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत्वोपाधिभूता-खण्डचित्तवृत्तेर्बाधितत्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति।।६५।।

संस्कृत व्याख्या—तदेवं 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' इति न्यायेन जीवस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यज्ञानानन्ता-नन्दपरिपूर्णब्रह्मात्मत्वोपदेशवाक्यार्थ सप्रपञ्चं निरूप्येदानीमवगतस्वरूपस्यानुभवावभासिवाक्यार्थं वर्णयितु-मुपक्रमते-अथेत्यादिना। उपदेशवाक्यार्थ निरूपणानन्तर्यमथशब्दार्थः। अधिकारिणो विधिवदधीतवेदेत्यादिखण्ड-लोक्तलक्षणस्य ासम्भावनाविपरीतभावनाख्य चित्तदोषरहितस्याध्यारोपादिन्यायेनाचार्योपदेश-समनन्तरमेव नित्यशुद्धबुद्धत्वादिविशेषणं ब्रह्माहमस्मीत्यखण्डाकारान्तःकरणवृत्तिरूदेति साक्षात्काररूपा, न पुनः परोक्षार्थाकारितेत्यर्थः। न च शब्दस्य परोक्षज्ञानजनक-त्वस्वाभाव्यान्न तेनापरोक्षाचित्तरूदेतीति वाच्यम्। 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तर' इतिश्रुतेर्नित्यापरोक्षं ब्रह्मात्मस्वरूपं तस्मिन्परोक्षज्ञानं जनयतः शब्दस्याप्रामाण्यापत्तेः। किञ्च ज्ञानस्य परोक्षत्वापरोक्षत्वे न करणनिबन्धने किन्त्वर्थनिबन्धने एकस्यैव मनसः सुखादिविषयकापरोक्षज्ञानहेतुत्वस्यातीतार्थस्मृति- हेतुत्वस्य च दर्शनात्। तत्र सहकारिभेदात्तथाभाव इति चेत् तर्हीहाप्यस्ति सहकारिभेदः शब्दप्रतिपत्तुः शब्दार्थनैकट्यलक्षणः। निकटं ह्यत्यन्तमात्मनः स्वरूपं ब्रह्म न त्वस्वरूपमुपाध्यन्तराविष्ट मिन्द्रवरूणादिरूपम्। तस्माद्दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यवत्तत्त्वमस्यादिवाक्यानाम् अपरोक्षज्ञानजनकत्वम्।।६५।।

हिन्दी व्याख्या—ब्रह्मनिष्ठ गुरु अध्यारोप-अपवाद के माध्यम से अधिकारी ब्रह्म जिज्ञासु शिष्य को 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तत् और त्वम् पदों के अर्थों को अच्छी तरह समझाकर अखण्डार्थ का ज्ञान करा देता है तब शिष्य के चित्त में अखण्डाकाराकारित वृत्ति उत्पन्न होती है कि 'मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध और सत्य स्वभाव, परमानन्द अनन्त अद्वितीय ब्रह्म हूँ'। अर्थात् अज्ञान के नष्ट होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार से ब्रह्म साक्षात्कार रूप अनुभव होता है। किन्तु यहाँ यह आशंका होती है कि जैसे दीपक का प्रकाश (प्रभा) आदित्यमण्डल को व्याप्त नहीं कर सकता, वैसे ही, यह जड़ 'चित्तवृत्ति' स्वयं प्रकाश नित्य-शुद्ध, मुक्त आत्मा को अपना विषय बनाकर कैसे उत्पन्न हो सकती है? उक्त आशंका का उत्तर इस प्रकार है कि वह चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती, किन्तु वह अज्ञानविशिष्ट प्रत्यगभिन्न परब्रह्म अर्थात् कार्य-ब्रह्म (सोपाधिक ब्रह्म) को अपना विषय बनाती है। उस चित्तवृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। तब वह चित्रवृत्ति प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञानावरण को हटा देती है। अज्ञानावरण को हटाना ही उस अखण्डकाराकारित चित्तवृत्ति के उदय होने का प्रयोजन है। प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञानावरण के हटते ही उसे यह अनुभव होने लगता है कि 'मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्तस्वरूप ब्रह्म हूँ'। फिर भी एक आशंका उत्पन्न होती है कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सुनने पर उत्पन्न हुई अखण्डाकार वृत्ति से प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञानावरण भले ही नष्ट हो जाय किन्तु अज्ञान से उत्पन्न (अज्ञान का कार्य) अखिल चराचर प्रपञ्च को पूर्ववत् ही प्रत्यक्ष भासित होता ही रहेगा, तब 'एकमेवाद्वितीयं' ब्रह्म (अद्वैत) की सिद्धि कैसे हो सकेगी? इस आशंका का समाधान यह किया गया है कि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का भी नाश हो जाता है। जैसे तन्तुओं के नष्ट होने पर पट भी नष्ट हो जाता है। वैसे ही अज्ञान रूप कारण के नष्ट होने पर उसके कार्यभूत चराचर प्रपञ्च का भी नाश हो जाता है। अतः पूर्ववत् उसका प्रत्यक्ष भासित होना सम्भव नहीं है। यदि यह कहें कि प्रपञ्च के नष्ट होने पर भी अखण्डाकाराकारित वृत्ति के अवशिष्ट रह जाने से अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकेगी तो इसका समाधान यह है कि वह वृत्ति भी अज्ञान कार्यरूप प्रपञ्च के अन्तर्गत होने से कारणभूत अज्ञान के विनष्ट होने पर तत्कार्यभूत प्रपञ्च और तदन्तर्गत वृत्ति दोनों का विनाश हो जाता है। इसे यदि कहें कि अज्ञान, चराचर, प्रपञ्च तथा अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के नष्ट होने पर भी उसमें (वृत्ति में) प्रतिबिम्बित चैतन्याभास तो विद्यमान रहेगा, तब भी अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकेगी, तो उसका हल यह है कि अखण्डाकार वृत्ति के नष्ट होने से, उसमें जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ था, वह अब अलग प्रतीत नहीं होता। दर्पण में पड़ा हुआ मुख प्रतिबिम्ब दर्पण के हट जाने पर अलग से प्रतीत नहीं होता। केवल मुख मात्र (बिम्ब) भासित होता है। उसी प्रकार वृत्ति में पड़ा हुआ चैतन्य का प्रतिबिम्ब वृत्ति के नष्ट होने पर अलग (पृथक्) से भासित न होकर बिम्बमात्र शेष रह जाता है। जैसे दीपक का प्रकाश सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता, सूर्य के समक्ष उसका (दीपक का) प्रकाश जैसे क्षीण रहता है, उसी प्रकार स्वयंप्रकाश प्रत्यगभिन्न परब्रह्म को वह प्रतिबिम्बित चैतन्य (प्रतिबिम्ब) प्रकाशित नहीं कर सकता। जिस अखण्डचित्तवृत्ति के कारण वह प्रथक् प्रतीत हो रहा था उस वृत्ति के नष्ट होने पर केवल बिम्ब ही शेष रह जाता है। दर्पणगत प्रतिबिम्ब दर्पण के रहने तक तो दीखता है, किन्तु दर्पण के न रहने पर बिम्ब मात्र (मुखमात्र) ही शेष रह जाता है। उसी प्रकार वृत्ति के नष्ट होने पर चैतन्य

के प्रतिबिम्ब का भी बिम्ब (प्रत्यगभिन्न परब्रह्ममात्र) ही रह जाता है।

एवञ्च सति "मनसैवानुद्रष्टव्यं", "यन्मनसा न मनुते" इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्।।६६।।

NOTES

संस्कृत व्याख्या—इत्थं चैतन्यप्रतिबिम्बितसहिताखण्डाकाराकारितचित्तवृत्त्या प्रत्यक् चैतन्यगताज्ञानविनाशानन्तरं प्रत्यगभिन्नमात्रमवशिनष्टि। यतो हि स्वयं प्रकाशमानत्वाद्वृत्तिगतचिदाभासेन तस्यावभासनासम्भवः, एतमेतत्स्वीकारे 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतीनां 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः सह विरोधाभावोऽपि सङ्गच्छते। अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितचिदाभासेनाज्ञानावच्छिन्न-चैतन्यस्याज्ञाननिवृत्तिपूर्वकस्वरूपावबोधतात्पर्येणोक्तानां 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' इत्यादि श्रुतिस्मृतीनां स्वयंप्रकाशशीलपरब्रह्मणोऽन्यावभासनानर्हतया वाङ्मनोबुद्ध्याद्यतीतत्वेन तत्त्वेन तत्तात्पर्येणोक्तानां, यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतिस्मृतीनाञ्च पार्थक्येन चारितार्थ्यात् घटादि पदार्थानवलोकयितुमक्षिदीपयोरूभयोरावश्यकत्वेऽपि दीपमवलोकयितुमक्षिमात्रस्यावश्यकत्वमिवाज्ञानावच्छिन्नजीव-चैतन्यगतमज्ञानंविनिवर्त्य ब्रह्ममात्रमवशेषयितुम् 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारायश्चित्तवृत्तेस्तद्गतचिदाभासस्य चोभयोरावश्यकत्वम। इत्थञ्चाज्ञानावरणापहरणानन्तरमेव ब्रह्मज्ञानं भवतीति तात्पर्येणोक्तानां 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिश्रुतीनां चारितार्थ्यम्। अज्ञानावरणापहरण-नन्तरमवशिष्टस्यावाङ्मनोगोचरस्य फलचैतन्यस्यान्यावभासनानर्हतया तत्तात्पर्येणोक्तानां 'यतो वाचो विवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतीनां चारितार्थ्यमिति भावः।।६६।।

हिन्दी व्याख्या—ऐसा होने पर ही 'मन के द्वारा ही उसका दर्शन करना चाहिए' (बृहदा. ४/२/१९) ' जो मन के द्वारा नहीं जाना जाता' (केनोप. १/५) इन दोनों श्रुतिवचनों में कोई विरोध नहीं होता क्योंकि ब्रह्म का चित्तवृत्ति के द्वारा व्याप्त किया जाना स्वीकार किया गया है, किन्तु फल (अर्थात् चिदाभास, चित्प्रतिबिम्ब) के द्वारा उस (ब्रह्म) के व्याप्त किये जाने का निषेध किया गया है।

तदुक्तम् — **"फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।**
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता"।।इति।।

स्वयं प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते।।' इति च।।६७।।

व्याख्या—यही बात विद्यारण्य स्वामी के द्वारा कही गई है।

अन्वय—शास्त्रकृद्भिः, अस्य, फलव्याप्यत्वम् एव, निवारितम्, (किन्तु) ब्रह्माणि, अज्ञाननाशाय, वृत्तिव्याप्तिः, अपेक्षिता, (ब्रह्मणः) स्वयम्प्रकाशमानत्वात्, आभासः, न, उपयुज्यते।।

संस्कृत व्याख्या—अज्ञातचैतन्यस्य वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वं प्रतिषिद्धं भवति। अन्तःकरणवृत्तिः आवरणनिवृत्यर्थं अज्ञानावच्छिन्नं चैतन्यं व्याप्नोति इत्येतद्वृत्तिव्याप्यत्वं स्वीक्रियते। अज्ञानलक्षणावरणभङ्गानन्तरं स्वयम्प्रकाशमानं चैतन्यं फलचैतन्यमित्युच्यते। तस्मिन् फलचैतन्ये निष्कलंके चित्तवृत्तिः न व्याप्नोति, आवरण-भङ्गस्य प्रागेव जातत्वेन प्रयोजनाभावात्।।६७।।

शब्दार्थः—शास्त्रकृद्भिः = शास्त्रकारों के द्वारा, अस्य = इस ब्रह्म की, फलव्याप्यत्वम् = फलव्याप्यता (अर्थात् चिदाभास से प्रकाशित होना), एव = ही, निवारितम् = निषिद्ध किया गया है, (किन्तु = परन्तु), ब्रह्माणि = ब्रह्मविषयक, अज्ञाननाशाय = अज्ञान के विनाश के लिए, वृत्तिव्याप्तिः = चित्तवृत्ति की व्याप्ति (अर्थात् चित्तवृत्ति के द्वारा ब्रह्म को विषय बनाना), अपेक्षिता = अपेक्षित ही है, (ब्रह्मणः = ब्रह्म के), स्वयम्प्रकाशमानत्वात् = स्वयं प्रकाशमान होने के कारण, आभासः = चिदाभास, न = नहीं, उपयुज्यते = उपयोगी है।

हिन्दी व्याख्या—शास्त्रकारों के द्वारा इस ब्रह्म की फलव्याप्यता (अर्थात् चिदाभास से प्रकाशित होना) ही निवारित किया गया है, किन्तु ब्रह्मविषयक अज्ञान के विनाश के लिए चित्तवृत्ति की व्याप्ति (अर्थात् चित्तवृत्ति के द्वारा ब्रह्म को विषय बनाना) अपेक्षित ही है। (ब्रह्म के) स्वयं प्रकाशमान होने के कारण (उसको प्रकाशित करने के लिए) चिदाभास उपयोगी नहीं है।

जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति। तथाहि- अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति।।६५।।

संस्कृत व्याख्या—जडघटाद्याकाराकारितचित्तवृत्तिरेतस्मात्सर्वथा विभिनक्ति तद्यथा-यथा घटविषयकज्ञानवानह मित्यज्ञातघटविषयिणी चित्तवृतित्तरूदितिमासादयति तदा सा वृत्तिर्घटावच्छिन्नचैतन्यावरकाज्ञानं विनाशयति यथा स्वस्थचिदाभासेन घटमपि प्रकाशयतीत्येतावान्।।६८।।

हिन्दी व्याख्या—(अखण्ड ब्रह्म के आकार से आकारित चित्तवृत्ति की अपेक्षा) जड़ पदार्थ के आकार से आकारित चित्तवृत्ति में अन्तर है। जैसे कि- 'यह घट है' इस ज्ञान में घट के आकार से आकारित चित्तवृत्ति अज्ञात घट को अपना विषय बनाकर सर्वप्रथम घट-विषयक अज्ञान को दूर करके अपने में स्थित (अर्थात् चित्तवृत्ति में स्थित) चिदाभास के द्वारा जड़ घट को भी प्रकाशित करती है।।६८।।

तदुक्तम्— **"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावैतो व्याप्नुतो घटम्।**
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्"।। इति।।६९।।

अन्वय - बुद्धितत्स्थचिदाभासौ, द्वौ अपि, घटम्, व्याप्नुतः, तत्र, धिया, अज्ञानम्, नश्येत्, (तथा), आभासेन, घटः स्फुरेत्।।

संस्कृत व्याख्या—घटमपि कारिकायामप्यैदम्पर्यमुपलभ्यते। बुद्धिस्तत्प्रतिबिम्बितचिदाभासश्चैतदुभयं घटं व्याप्नोति। तयोर्धिया अर्थात् वृत्त्या घटविषयकमज्ञानं विनश्यति। तत्प्रतिबिम्बितचिदाभासेन च घटः प्रकाशितो भवति।।६९।।

शब्दार्थ—बुद्धितत्स्थाचिदाभासौ = बुद्धि और बुद्धि में स्थित चिदाभास, द्वौ = दोनों, अपि = ही, घटम् = घट को, व्याप्नुतः = व्याप्त करते हैं, अपना विषय बनाते हैं, तत्र = उसमें, धिया = बुद्धि के द्वारा (अर्थात् चित्तवृत्ति के द्वारा) अज्ञानम् = (घटविषयक) अज्ञान, नश्येत् = नष्ट होता है, (तथा = और), आभासेन = चिदाभास के द्वारा, घटः = घट, स्फुरेत् = प्रकाशित होता है।।

हिन्दी व्याख्या—यही कहा भी गया है—बुद्धि और बुद्धि में स्थित चिदाभास-दोनों ही घट को व्याप्त करते हैं अर्थात् अपना विषय बनाते हैं) उसमें बुद्धि के द्वारा (अर्थात् चित्तवृत्ति के द्वारा) घट-विषयक अज्ञान नष्ट होता है (और) चिदाभास के द्वारा घट प्रकाशित होता है। (पञ्चदशी ७/९१)।।६९।।

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धका- रनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति।।७०।।

संस्कृत व्याख्या—दीपस्तमोनिहितघटाद्यावरणरूपान्धकारमपसारयति स्वप्रकाशेन तदवभासयति च, इत्थमेव घटाद्याकाराकारिता चित्तवृत्तिर्घटादिविषयकचैतन्यज्ञानावरणमपहरति स्वप्रतिबिम्बचिदाभासेन घटादिकं प्रकाशयति च।।७०।।

हिन्दी व्याख्या—जैसे कि दीपक का प्रभा मण्डल, अन्धकार में स्थित घट, पट आदि को विषय बनाकर, उनको घेरकर स्थित अन्धकार को दूर भगाकर अपनी प्रभा से उन (घट, पट) को भी प्रकाशित करता है।।७०।।

एवं भूतस्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासन-समाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते।।७१।।

संस्कृत व्याख्या—एवम्विधसाक्षात्कारात्मकानुभवदाढ्र्यपर्यन्तमनुष्ठेयश्रवणादिसाधनसमूहं प्रदर्शयितुमारभते- एवंभूतेति श्रुत्या, युक्त्या, अनुभवेन च समस्तोपाधिरहितस्य प्रत्यगभिन्नपरमानन्दचिद्रूपस्य ब्रह्मणः साक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमननादीनि साधनानि अनुष्ठेयानि।।७१।।

NOTES

हिन्दी व्याख्या—अपने स्वरूपभूत चैतन्य के इस प्रकार से साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि के अभ्यास के अपेक्षित होने के कारण (यहाँ) उन्हें भी प्रदर्शित किया जा रहा है।।७१।।

श्रवणं नाम षड्विधिलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्। लिङ्गानि तूपक्रमोप-संहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि।।७२।।

संस्कृत व्याख्या – षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तवाक्यानामेकस्मिन्नद्वितीयब्रह्मणि तात्पर्योवधारणम्। तत्र लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गशब्दव्युत्पत्त्या षड्विधलिङ्गानि ब्रह्मात्मैकत्वावबोधकोपक्रमोपसंहारादीनि तैरित्यर्थः। तानि लिङ्गानि क्रमेण विभजते—

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।।" इति।।७२।।

हिन्दी व्याख्या – सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का छः प्रकार के लिङ्गों से, अद्वितीय (ब्रह्मरूप) वस्तु में तात्पर्य का निश्चय करना श्रवण है। ये लिङ्ग हैं- (१) उपक्रम और उपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति।।७२।।

तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिमा द्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्।।७३।।

संस्कृत व्याख्या—प्रकरणप्रतिपाद्यविषयमादावुपक्रम्यान्ते तस्यैवोपपादनमुप-क्रमोपसंहारौ, यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये- प्रकरणप्रतिपाद्यमद्वितीयं वस्तु 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्येवमादावुपक्रम्य 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्येवंरूपेणान्ते तस्यैव उपपादनम्।।७३।।

हिन्दी व्याख्या – प्रकरण प्रतिपाद्य विषय के आदि और अन्त का भलीभांति उपपादन करना उपक्रमोपसंहार कहलाता है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में- अद्वितीय वस्तु प्रतिपाद्य विषय है। उसको प्रतिपादित करते हुए आदि में 'एकमेवाद्वितीयम्' इस प्रकार के उपक्रम द्वारा 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' ऐसा कहकर प्रतिपाद्य विषय का भलीभाँति उपसंहार किया गया है।।७३।।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तमध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादमन्।।७४।।

संस्कृत व्याख्या – अभ्यासस्य लक्षणमाह- 'पौनः पुन्येनेति'। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य अर्थस्य प्रकरणस्य मध्ये असकृत् प्रतिपादनम् अभ्यास इत्यर्थः। तत्र श्रुतिम् उदाहरति यथेति। छान्दोग्ये षष्ठाध्याये अद्वितीयवस्तुनः तत्प्रकरणमध्ये' तत्त्वकरणमध्ये 'तत्त्वमसि' इत्येवंरूपेण नवकृत्वः प्रतिपादनम्।।७४।।

हिन्दी व्याख्या – प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ का उस (प्रकरण) के मध्य में बार-बार प्रतिपादन करना अभ्यास है। जैसे वही (छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में ही) अद्वितीय वस्तु का उस प्रकरण के मध्य में 'तत्त्वमसि' ऐसा नौ बार प्रतिपादन किया गया है।।७४।।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्।।7५।।

संस्कृत व्याख्या – प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयताऽपूर्वता। यथा छान्दोग्ये एव- 'त्वं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी' त्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मण उपनिषन्मात्र-प्रामाण्यप्रतिपादनेन तद्विषये प्रमाणान्तराभावप्रतिपादनम्।।७५।।

हिन्दी व्याख्या—प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु के विषय में किसी दूसरे प्रमाण का न होना अपूर्वता है, जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में ही 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा यह बतलाया गया है कि ब्रह्म उपनिषद् मात्र से ही जानने योग्य है, अर्थात् उसके विषय में अन्य कोई प्रमाण नहीं, अतः यह अपूर्वता है।।७५।।

NOTES

फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र "आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य" इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते।।७६।।

संस्कृत व्याख्या—आत्मज्ञानस्य (ब्रह्मज्ञानस्य) प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तदनुष्ठानस्य वा श्रूयमाणं यत् प्रयोजनं तत्फलमित्यर्थः- यथा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, तरति शोकमात्मवित्' इत्यादिरूपेणाद्वितीयवस्तुज्ञानस्य प्रयोजनमत-द्वितीयवस्तुप्राप्तिरुक्ता।।७६।।

हिन्दी व्याख्या—प्रकरण के प्रतिपाद्य आत्मज्ञान की अथवा आत्मज्ञान के अभ्यास का यत्र-तत्र सुनाई पड़ने वाला प्रयोजन ही फल है। जैसे वहाँ पर 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षेऽथ सम्पत्स्यते' (छा.६/४/२) अर्थात् आचार्यवान् पुरुष ही आत्मा को जानता है। उसके लिए तो तभी तक देर है, जब तक कि वह इस शरीर से अलग नहीं हो जाता। उसके बाद तो वह ब्रह्म ही हो जाता है। इस तरह अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन उसकी प्राप्ति कही गई।।७६।।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इत्यद्वितीय-वस्तुप्रशंसनम्।।७७।।

संस्कृत व्याख्या—अर्थवादस्य पञ्चमलिङ्गस्य लक्षणमाह- 'प्रकरणेति। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनः स्थाने स्थाने प्रशंसनमर्थवादः। छान्दोग्येषष्ठाध्याये- 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्।' इत्यादौ अद्वितीयवस्तुब्रह्मणः प्रशंसा।।७७।।

हिन्दी व्याख्या—प्रकरण के प्रतिपाद्य वस्तु की जगह-जगह प्रशंसा करना ही अर्थवाद है। जैसे वहीं पर 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा. ६/१/३) अर्थात् क्या आपने (आचार्य से) उस प्रश्न को पूछा है? जिसके सुन लेने पर बिना सुना हुआ भी सुना हो जाता है, बिना विचारा हुआ विचारित हो जाता है, अज्ञात भी विज्ञात हो जाता है। इस प्रकार अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा की गई है।।७७।।

प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। यथा तत्र "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते।।७८।।

संस्कृत व्याख्या—प्रकरणप्रतिपाद्यविषयं प्रमाणीकर्तुं या युक्तिरूपस्थाप्यते सा उपपत्तिः यथा जगतो ब्रह्मविवर्त-साधनाय 'यथा- सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा. उप. ६.१.४) इत्यादिश्रुतिरूपपत्तिः अर्थात् यथा केनैव मृत्पिण्डेन निर्मितं घटशरावादिवस्तु विकारानुकूलनाममात्रेण भिन्नमपि मृद्रुपम् एवेति सत्यम् एवमेवैतत्सम्पूर्णं नामरूपात्मकं जगत् ब्रह्मणो विवर्तरूपं नान्यत् इति तद्विवर्तस्य प्रपञ्चस्य विकारनामधेययोर्वाचा-रम्भणमात्रत्वात् तन्मात्रमेव सत्यम् इति युक्तिः।।७८।।

हिन्दी व्याख्या—प्रकरणप्रतिपाद्य विषय के प्रमाणित सिद्ध करने में जो युक्ति उपस्थित की जाती है, उसे उपपत्ति कहते हैं, जैसे इस जगत् को ब्रह्म का विवर्त करने के लिए, 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (६/१/४) युक्ति उपपत्ति है अर्थात् जिस प्रकार एक ही मिट्टी के पिण्ड से बनी हुई घट, शराब इत्यादि वस्तुएँ सब मृत्तिका रूप ही हैं, उनके नाम मात्र अलग-अलग हैं और यदि नाम रूप को छोड़कर देखा जाय तो सब एक ही मिट्टी रूप हैं, यही सत्य है। इसी प्रकार यह सब नाम-रूपात्मक जगत ब्रह्म का विवर्त है। केवल नाम मात्र के लिए पहाड़, नदी, मनुष्य, पशु आदि भेद हैं। वास्तव में सब एक ब्रह्म मात्र ही सत्य है और अन्त में वही एक मात्र शेष रह जाता है।।७८।।

NOTES

मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तम्। विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्। समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति। तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्। तदा मृण्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते। तदुक्तम् -

"दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तम्"।।इति।।७९।।

संस्कृत व्याख्या—षड्विधलिङ्गतात्पर्यज्ञानपूर्वकं वेदान्ताऽविरोधिनीभिः युक्तिभिः पूर्वश्रुतस्य अद्वितीय-ब्रह्मणः निरन्तरमनुचिन्तनं मननम् इत्यर्थः। देहादिबुद्धिपर्यन्तविजातीयजडपदार्थेषु तद् विभिन्नतानिराकरणपूर्वकं सर्वत्रैकाद्वितीय-ब्रह्मैक्यप्रत्ययप्रवाहीकरणम्। ज्ञेयरूपे चित्तस्य एकाग्रतापरिणामः समाधिरित्यर्थः। स च समाधिः द्विविधः-सविकल्पक निर्विकल्पकश्च। तत्र तयोः सविकल्पक-निर्विकल्पकयोर्मध्ये सविकल्पकोऽपि द्विविधः। 'अहं ब्रह्मास्मीति शब्दानुविद्धतया अद्वितीये वस्तुनि चित्तवृत्तेः स्थितिरित्येकः। द्वितीयस्तु ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयेति त्रिपुटीभेदभानपूर्वकम् अहं ब्रह्मास्मीति तदाकाराकारितायाः चित्तवृत्तेः अद्वितीयवस्तुनि अवस्थानम्। ननु समस्तभेदनिरसनपुरः सरम्। अद्वैतवस्तुमात्रभानार्थमेवोक्तसमाध्योः प्रवर्त्तनमिति, किन्तु तदवस्थायामपि ज्ञात्रादिभेदभाने अद्वैतवस्तुसिद्ध्यभावः समाधेरनुपयुक्तिश्चेत्यत् आह तदेति। तदा अर्थात् सविकल्पकसमाध्यनुभवकाले मृण्मयजगजादिभानेऽपि मृद्भानवद् ज्ञात्रादिभेदभानस्य वाचारम्भणमात्रत्वादद्वैतमेव वस्तु भासते। एतदेव 'दृशिस्वरूपमित्यादिना' स्पष्टीकृतम् -

'यत् साक्षिस्वरूपम्' यच्चाकाशवत्समस्तव्याप्तम्, एवं सर्वथा निर्लिप्तम्, यच्च सर्वदा एकरूपेणैवावभासमानम्-न चन्द्रादिप्रकाशवत्कदाचित्क्षीणप्रकाशं कदाचिच्चाधिकप्रकाशम्, यच्च न कदापि जायते, यच्चाक्षरम्, अविनश्वरम्, एवमलेपकम्, अविद्यादिदोषरहितम्, यच्च सर्वगतम्, सर्वत्र वर्तमानम् एवं सजातीय-विजातीयभेद-शून्यम् ,यच्च सर्वथा कार्यकारणोपाधिनिर्मुक्तम्, एवं निरतिशयानन्दस्वरूपं यत्परं ब्रह्म (ॐ) तदहमितिभावः। अत्र यथा परमात्मनः भिन्नभिन्नोपाधीनां निर्देश अपि वस्तुगत्या सर्वोपाधयः एकस्यैव परब्रह्मणः विभिन्ननामानि इति तदेकत्वं न विरुध्यते, तथैव सविकल्पकसमाधौ ज्ञात्रादिभेदभानेऽपि तत्सर्वमद्वैतं ब्रह्मैवेति भिन्नतायामपि एकताया एव अनुभवे अद्वैतस्य मानं न विरुध्यते।।७९।।

हिन्दी व्याख्या—१. मनन—गुरुपदेश के द्वारा जो श्रवण किया है अर्थात् उपनिषद् प्रतिपादित विषयों का जो श्रवण किया है उसका तात्पर्य षड्विध (छह प्रकार के) लिङ्गों से समझकर वेदान्तानुकूल युक्तियों के द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का निरन्तर चिन्तन करते रहना ही मनन है।

२. निदिध्यासन—देह से लेकर बुद्धि तक जितने भी भिन्न-भिन्न जड़ पदार्थ हैं उनके सम्बन्ध में होने वाले विचारों को छोड़कर सब में एकमात्र ब्रह्मविषयक विश्वास करना अर्थात् विजातीय (वेमेल) विचारों को छोड़कर अद्वितीय वस्तु के सजातीय (अनुकूल) विचारों को मन में सोचते रहना निदिध्यासन है।

३. समाधि—ध्येय में निश्चल स्थिति को समाधि कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है—(क) सविकल्पक समाधि (ख) निर्विकल्पक समाधि। उनमें से सविकल्पक को सम्प्रज्ञात और निर्विकल्पक को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

सविकल्पक समाधि—सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इनका अलग-अलग ज्ञान होते हुए भी 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति रहती है। अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विकल्प (विभाग) बने रहते हैं, उनकी समाप्ति (लय) नहीं होती तथापि ब्रह्माकार चित्तवृत्ति हो जाती है। ध्येयाकार चित्तवृत्ति का हो जाना ही सविकल्पक समाधि है। लेकिन प्रश्न उठ सकता है कि समाधि में तो सभी भेद दूर होकर अद्वैत ब्रह्म मात्र का ही भान होते रहना चाहिए। यदि समाधि दशा में भी ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद भासित होता रहा तो समाधि से क्या लाभ? इसके उत्तर में यह कहना है कि सविकल्पक समाधि की अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद भासित होने पर भी अद्वैत वस्तु का उसी प्रकार भान होता है जैसे मिट्टी के बने हुए गज आदि में मिट्टी

और गज दोनों का भान होते रहने पर भी यह गज मिट्टी ही है, गज तो केवल व्यवहार चलाने के लिए नाम मात्र है। उसी प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के भेद का भान तो वाचारम्भण मात्र है, किन्तु तद्गत अद्वैत का भान ही वास्तविक है। इसी अभिप्राय को उपदेश साहस्री में बताया गया है –

"दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद् विभाते त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तम्"।। इति।।७९।।

अर्थात् जो साक्षिस्वरूप है, जो आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त एवं सर्वथा निर्लिप्त है, जो सर्वदा एक ही रूप भासित होता रहता है (चन्द्रादि के प्रकाश के समान जिसका तेज कभी कम या अधिक नहीं होता है), जिसका कभी जन्म नहीं होता, जो अक्षर है अर्थात् कभी नष्ट नहीं होता, जो अविद्यादि दोषों से रहित है जो सर्वत्र विद्यमान है तथा सजातीय एवं विजातीय भेद शून्य एवं एक है, जो कार्य-कारणात्मक उपाधि से सर्वथा निर्मुक्त है, इस प्रकार का निरतिशयानन्द स्वरूप जो परब्रह्म (ॐ) है, वह मैं ही हूँ।

यहाँ पर यद्यपि परमात्मा की भिन्न-भिन्न उपाधियों का निर्देश है, पर नाममात्र के लिए है। वास्तव में सब एक ही परब्रह्म के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इसी प्रकार सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भिन्नता का जो भाग होता है, वह नाममात्र वास्तव में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सब अद्वैत ब्रह्म ही है। इस प्रकार भिन्नता में भी एकता (अद्वैत) का भान होता है।।७९।।

निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वा-काराकारितचित्त वृत्त्यनवभासेन-द्वितीयवस्तुमात्रमवभासते। ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति। उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः।।८०।।

संस्कृत व्याख्या—अत्र ज्ञातृ-ज्ञात-ज्ञेयभेदभावभानाभाव इत्यद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितचित्त- वृत्तेरतितरामेकी भावेनावस्थानम्। अर्थात् चिदाभ्यासवशादस्मिन् समाधौ संस्कारा लुम्पन्तीति ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदभावलुप्त्या यथा जलाकाराकारितलवणस्य न पृथगवभासोऽपि तु जलमात्रस्यैवावभासस्तथैवास्मिन् समाधावद्वितीय-वस्त्वाकारा-कारितचित्तवृत्तिरपि न पृथगवभासतेऽपि त्वद्वितीयवस्तुमात्रमेवावभासते। ननु सुसुप्तावपि वृत्त्याभानादिनार्नी समाधावपि तथात्वप्रतिपादनादुभयोरेकीभावः स्यादिति चेत्र, समाधिसुषुप्त्योरुभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि समाधौ जलाकाराकारितलवणमिवाद्वितीयवस्तुन्यतितरामेकी भावेनानवभासमानवृत्तेः सद्भावात्सुषुप्तौ च सर्वथा तदभावाद् भेदोपपत्तेः॥80॥

हिन्दी व्याख्या—इस समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और श्रेय का भेद-भाव नहीं रहता, अपितु अद्वितीय वस्तु में ही तदाकाराकारित चित्तवृत्ति की अतिशय एकता होकर उसी रूप में उसकी स्थिति रहती है, अर्थात् चिदाभ्यास के कारण इस समाधि में संस्कार लुप्त हो जाते हैं, ज्ञानादि का भेदभाव लुप्त हो जाता है एवं जिस प्रकार जल में लवण परिपूर्ण रूप से घुल जाने के कारण अलग नहीं प्रतीत होता प्रत्युत जल मात्र ही भाषित होता है उसी प्रकार अद्वितीय वस्त्वाकारित चित्तवृत्ति का पृथक् अवभास बिल्कुल नहीं होता, वरन् अद्वितीय वस्तु मात्र का भान होता है।

यहाँ अब यह संदेह हो सकता है कि यदि निर्विकल्पक समाधि में वृत्ति का भान नहीं होता तो सुषुप्ति में भी वृत्ति का भान नहीं होता, अतः दोनों (निर्विकल्पक समाधि और सुषुप्ति) एक ही हो जायेंगे। इसका समाधान यह है यद्यपि समाधि और सुषुप्ति दोनों में वृत्ति का भान नहीं होता, पर समाधि में वृत्ति रहती है और जल में नमक की तरह अद्वैत में उसकी तन्मयता हो जाने के कारण पृथक् भासित नहीं होती, किन्तु सुषुप्ति में वृत्ति रहती ही नहीं। इस कारण समाधि और सुषुप्ति में वृत्ति के रहने और न रहने के कारण एकता नहीं हो सकती ॥ 80 ॥

अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तत्र "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः"। "शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।" करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि। रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः

प्राणायामः। इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यःप्रत्याहरणं प्रत्याहारः। अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रिय धारणं धारणा। तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्यविच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्। समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव॥ 81॥

NOTES

संस्कृत व्याख्या—उक्तनिर्विकल्पकसमाधिस्वरूपोपकारकाण्यङ्गान्यायह अस्येति। तत्र यमानाह-तत्रेति। वाङ्मनः कायैः परपीडावर्जनमहिंसा। सत्यं यथार्थ भाषणम्। अस्तेयमदत्तादानरूपपरस्वहरणराहित्यम्। ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुनवर्जनम्। तथा चोक्तम्।

"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥इति॥"

अपरिग्रहः समाध्यनुष्ठानानुपयुक्तस्य वस्तुमात्रस्यासङ्ग्रहः। नियमामाह-शौच इति। शौचं बाह्याभ्यन्तरलक्षणम् तदुक्तम्—

"शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्" ॥ इति॥

सन्तोषो यदृच्छलाभसन्तुष्टिरलाभे चाविषादः। तपः कामानशनं "तपो नानशनात्परं" इति श्रुतेः। अनशनं च कामानशनमेव। केचित्तु "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्रयं परमं तप" इत्याद्युक्तलक्षणं तप इत्याहुः। सर्वथा तु नात्र चान्द्रायणादिः तपः शब्दार्थस्तस्य समाधिविरोधादिति द्रष्टव्यम्। स्वाध्यायः प्रणवजप उपनिषद्ग्रन्थावृत्तिश्च "ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं", "उपनिषदमावर्तयेत्" इति श्रुतेः। ईश्वरप्रणिधानं तस्य मानसैरूपचारैरभ्यर्चनं "तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुवै शरणमहं प्रपद्ये" इति मन्त्रलिङ्गात्।

स्वस्तिकादीनीत्यादिपदाद् भद्रं वीरासनादिग्रहः। रेचकः प्राणवायोः शनैर्वामनासापुटाद्दक्षिणनासापुटाद्वा सव्यापसव्यन्यायेन बर्हिर्निःसारणम्। पूरकः तस्य तथैवान्तः प्रवेशनम्। कुम्भकस्तु पूरितस्य वायोरन्तरेव निरोध इति भेदः। समाधेर्ध्यानस्य भेदं द्योतयितुं विच्छिद्य विच्छिद्येत्युक्तम् सुगममन्यत्॥ 81॥

हिन्दी व्याख्या—इस निर्विकल्पक समाधि के आठ अङ्ग हैं—(1) यम, (2) नियम, (3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान और (8) समाधि।

(1) यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (दान न लेना), इसको यम कहते हैं।

(2) नियम—पवित्रता, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को नियम कहते हैं।

(3) आसन—कर-चरणादिकों के द्वारा किया जाने वाला पद्म, स्वस्तिक आदि आसन कहलाते हैं।

(4) प्राणायाम—नासिका द्वारा वायु को ऊपर खींचना, पूरक, उसका अवरोध कुम्भक और उसका त्याग रेचक कहलाता है। प्राण वायु के निग्रह के लिए जो ये उपाय हैं, उन्हें प्राणायाम कहते हैं।

(5) प्रत्याहार—अपने-अपने विषयों से इन्द्रियों को हटा लेना प्रत्याहार कहलाता है।

(6) धारणा—अन्तःकरण का अद्वितीय वस्तु में लगा देना धारणा है।

(7) ध्यान—अन्तःकरण का रुक-रुककर अद्वितीय वस्तु की ओर प्रवृत्त करना ध्यान कहलाता है।

(8) समाधि—सविकल्पक। ज्ञाता और ज्ञानादि के भेदावभासपूर्वक अद्वितीय वस्तु में तदाकाराकारित चित्तवृत्ति की स्थिति को सविकल्पक समाधि कहते हैं।

एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः। लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्तेः रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्ड-वस्त्वनवलम्बनं कषायः। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादं रसास्वादः। समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादं वा॥ 82॥

संस्कृत व्याख्या—अस्य निर्विकल्पकसमाधेः चत्वारो विघ्ना भवन्ति। तत्राङ्गवर्गस्य मूलेनैवागतार्थत्वाद्विघ्नवर्गो व्याख्यायते—

आलस्यवशाच्चित्तवृत्तिशब्दादिबाह्यविषयान् ग्रहीतुमुपेक्षमाण तिष्ठति। किन्त्वेवं कृते सति प्रत्यगात्मस्वयरुपमपि नावभासतेऽतः सा नितरां निद्रिता सञ्जायते। अस्या दशाया नाम लयः। स चाद्वितीयवस्तुप्राप्तिविघ्नः। अखण्डवस्त्वबलम्वनांयान्तर्मुखीनापि। चित्तवृत्तिर्यदा तदवलम्बनेऽसमर्था भवति तदा पुनर्बाह्यवस्तुग्रहणे प्रवर्तते। एष विक्षेपः। लयविक्षेपरूपविघ्नाभावेऽ प्युद्बुद्धरागादिवासनावशात्स्तब्धीभावमापन्नायाश्चित्तवृत्तेरद्वितीयवस्तुनोऽनवलम्बनं कषायः। अखण्डवस्त्ववलम्बन जन्यानन्दातिरेकाननुभवेऽप्यनिष्टबाह्यप्रपञ्चनिवृत्त्या ब्रह्मानन्दभ्रमेण यः सविकल्पकानन्दानुभवः स रसास्वादः। निर्विकल्पकसमाध्यारम्भकालेऽनुभूयमानो यः सविकल्पकानन्दस्तदपरित्यागपूर्वकं पुनस्तस्यैवास्वादनं वा रसास्वादः॥ 82॥

हिन्दी व्याख्या—इस निर्विकल्पक समाधि के चार विघ्न होते हैं—(1) लय, (2) विक्षेप, (3) कषाय और (4) रसास्वाद।

(1) लय—आलस्य के कारण चित्तवृत्ति शब्दादि बाह्य विषयों को ग्रहण करने में उपेक्षित रहती है, पर उध ार प्रत्यगात्मक स्वरूप भी नहीं अवभासित होता, अतः चित्तवृत्ति बिल्कुल निवृत्त हो जाती है। इसका नाम 'लय' है। यह अद्वितीय वस्तु की प्राप्ति का 'विघ्न' है।

(2) विक्षेप—अखण्ड वस्तु को ग्रहण करने के लिए जब चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी होती है, किन्तु वह उसे प्राप्त नहीं कर पाती तो पुनः बाह्य वस्तुओं को ग्रहण करने में प्रवृत्त हो जाती है, इसे 'विक्षेप' कहते हैं।

(3) कषाय—लय और विक्षेप रूप विघ्नों के न होते हुए भी रागादि वासनावश चित्तवृत्ति के स्तब्ध हो जाने के कारण अखण्ड वस्तु का अनवलम्बन 'कषाय' कहलाता है।

(4) रसास्वाद—अखण्ड वस्तु के आनन्दातिरेक की प्राप्ति न होने पर भी अनिष्ट बाह्य प्रपञ्च की निवृत्ति होने के कारण ब्रह्मनन्द के भ्रम से जो सविकल्पकरूप आनन्द का अनुभव होता है, उसे 'रसास्वाद' कहते हैं। अथवा समाधि के प्रारम्भ में जो सविकल्पक आनन्द का आस्वादन है, इसे रसास्वादन कहते हैं।

अनेन विघ्नचतुष्ट्येन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा, तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते॥ 83॥

संस्कृत व्याख्या—एतदुक्तलयादिविघ्नचतुष्ट्यरहितं चित्तं वायुरहितस्थानस्थित दीपक इव निश्चलं सत् अखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते, सैव निश्चलावस्थितिः चित्तस्य निर्विकल्पकसमाध्यवस्था निगद्यते। अर्थात् लयादिविघ्नचतुष्ट्याभावेन चित्तस्य ज्ञेये वस्तुनि यत् नैश्चल्यं तदेव निर्विकल्पकसमाधिस्वरूपम्॥ 83॥

हिन्दी व्याख्या—इन पूर्वोक्त लय इत्यादि चारों विघ्नों से रहित चित्त जब निर्वातस्थल में वर्तमान दीपक की तरह निश्चल एवं अखण्डचैतन्य मात्र स्थित होता है, तब वही इसकी निर्विकल्पक समाधि अवस्था कहलाती है॥ 83॥

तदुक्तम्— "लये सम्बोध्येच्चितं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
स कषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्।
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्" ॥ इति॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता" ॥ इति च॥ 84॥

NOTES

संस्कृत व्याख्या—पूर्वोक्तनिद्रालक्षणे लये प्राप्ते तन्निवृत्यर्थं चित्तमुद्बोधयेत् चित्तगतजाड्यापनोदनापूर्वकं तदुत्साहयेत्। विक्षेपरूपविघ्ने समुपस्थिते च चित्तस्य बाह्यप्रवणता विषयवैराग्यादिना। निगृह्यान्तः प्रवणञ्च तत् कृत्वा धैर्यावलम्बनेन पुनरद्वितीयवस्तुनिष्ठं कुर्यात्। कषायरूपविघ्ने समुपस्थिते जानीयात्-कलुषितं मे चित्तम्, अस्याश्च रागादिवासनाया बाह्यविषयकप्रापकत्वेन नानयाऽखण्डवस्तु प्राप्तिरिति चावधार्य चितं प्रत्यक्प्रवणं कुर्यात् एवं कृते सति यदा चित्तं शमप्राप्तं स्यात्तदा तत् तस्मान्न विचालयेत्। अति तु तत्रैव स्थिरीकुर्यात् तस्याञ्च दशायां तावन्मात्रेण न कृतार्थमात्मानं मन्वीत, किन्तु निःसङ्ग अर्थाद्विरहितवैषयिक सुखदुःखादिः सन् प्रज्ञया बुद्ध्या युक्तो भवेत् इत्थञ्च लयादिविघ्नचतुष्टयविरहितचित्तस्यचिन्मात्रावस्थितिनिर्विकल्पसमाधिरिति फलितम् अस्याश्च दशायाश्चित्तस्य निवातस्थलदीपके सहोपमितम् ॥ 84 ॥

हिन्दी व्याख्या—इसकी प्राप्ति के लिए गौड़पाद इस प्रकार बतलाये हैं—

अन्वय—लये, चित्तम्, सम्बोधयेत् विक्षिप्तम् (चित्तम्) पुनः शमयेत्, सकषायम् (चित्तम्) विजानीयात्, शमप्राप्तम् (चित्तम्), न, चालयेत्, तत्र रसम् न, आस्वादयेत्, प्रज्ञया, (तस्मात्) निःसंगः, भवेत्॥

यथा, निवातस्थः, दीपः, न, इंगते, सा उपमा, (योगिनः, समाहितचित्तस्य) स्मृता॥

शब्दार्थ—लये = लय की अवस्था में, चित्तम् = चित्त को, सम्बोधयेत् = जगाना चाहिए, विक्षिप्तम् = ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में लगे हुए, (चित्तम् = चित्त को), पुनः = बार-बार, शमयेत् = शान्त करना चाहिए, सकषायम् = कषाय से युक्त (अर्थात् रागादि वासना से स्तब्ध), (चित्तम् = चित्त को), विजानीयात् = विशेष रूप से समझना चाहिए, शमप्राप्तम् = शान्त हुए, (चित्तम् = चित्त को), न = नहीं, चालयेत् = चलायमान करना चाहिए, तत्र = उस समय, रसम् = रस, (सविकल्पक समाधि के आनन्द) को, न = नहीं, आस्वादयेत् = आस्वादन करें, प्रज्ञया = बुद्धिपूर्वक, (तस्मात् = उससे) निःसङ्गः = अनासक्त, भवेत् = होना चाहिए।

यथा = जिस प्रकार, निवातस्थः = वायु रहित प्रदेश में रखा हुआ, दीप = दीपक न = नहीं, इंगते = काँपता है, सा = वही, उपमा = उपमा, (योगिनः = योगी के समाहितचित्तस्य = समाधि में लगे चित्त की) स्मृता = कही गयी है।

हिन्दी व्याख्या—लय की अवस्था में चित्त को जगाना चाहिए, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में लगे हुए चित्त को बार-बार शान्त करना चाहिए, कषाय से युक्त (अर्थात् रागादि वासना से स्तब्ध चित्त को विशेष रूप से समझना चाहिए, शान्त हुए (चित्त) को चलायमान करना चाहिए, उस समय रस (सविकल्पक समाधि के आनन्द) का आस्वादन न करे, बुद्धिपूर्वक (उस आनन्द से) अनासक्त होना चाहिए। (माण्डूक्य कारिका 3/44-45)॥

जिस प्रकार वायुरहित प्रदेश में रखा हुआ दीपक नहीं काँपता है, वही उपमा (योगी के समाधि में लगे चित्त की) कही गई है॥ (श्रीमद्भगवद्गीता 6.19)।

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते। जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्माज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्माणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसञ्चित कर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबान्धारहितो ब्रह्मा निष्ठः।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चासस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥" इत्यादि श्रुतेः॥ 85॥

संस्कृत व्याख्या—जीवन्मुक्तस्य लक्षणमाह—जीवन्मुक्तोनामेत्यादिना ब्रह्मनिष्ठ इत्यन्तेन। गुरूपदेश श्रुतिवाक्यस्वानु भवेर्ब्रह्मात्मैक्यं, विज्ञानेतात्मगताखिलाज्ञाने विनष्टे सत्यखण्डब्रह्मसाक्षात्कृतिः। एतस्याञ्च दशायां मूलमज्ञानम्, तत्कार्यरूपसञ्चित कर्मसंशयविपर्ययादयश्चापि विनश्यन्तीति विगताखिलबन्धनस्यात्मनो ब्रह्ममात्रेऽव स्थितिरित्येवंभूतो ब्रह्मनिष्ठ एव जीवन्मुक्तः। जीवतो जनस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिधर्माः क्लेशदायकत्वेन बन्धनस्वरूपा एवेति, तेषु विनष्टेषु विमुक्तसकलबन्धनस्य तस्य निष्ठा ब्रह्ममात्रेऽवतिष्ठतेऽत एवंभूतब्रह्मनिष्ठस्य जीवन्मुक्त

इति संज्ञा साम्प्रतमेव। मुण्डकोपनिषद्यपि 'भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्यादिना ब्रह्मसाक्षात्कृतिदशा वर्णिताततस्मिन्नात्मत्त्वे साक्षात्कृते सति हृदयग्रन्थि:, बुद्धिस्थिताऽविद्यावासनामयकामनादि विनश्यति, ज्ञेयपदार्थविषयकाखिल-सन्देहसन्दोहाभावश्च जायते। एवं विनष्टाखिल संशयविनिवृत्ताविद्यस्य सर्वकर्माणि विज्ञानोत्पत्तिपूर्वजन्मान्तरकृतान्यप्यद्यावध्यफलोन्मुखानि तथा ज्ञानोत्पत्त्या सह कृतानि एतानि सर्वाणि विनश्यन्ति। तस्मिन्नसंसारिणि सर्वज्ञे परावरे-कारणरूपेण परे, कार्यरूपेण चावरे-एवं परावरे 'अयं साक्षादहमेव' इत्थं साक्षात्कृते सति जीवन्नपि पुरुषो सञ्जायते इति भावः ॥ 85 ॥

NOTES

हिन्दी व्याख्या—अब जीवन्मुक्त का लक्षण बतलाया जा रहा है। जीवन्मुक्त वह है, जो अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म को जान लेने से, ब्रह्मविषयक अज्ञान के बाधित हो जाने से, अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर, अज्ञान और अज्ञान के कार्य (सूक्ष्म तथा स्थूल प्रपञ्च), सञ्चित कर्म, संशय, विपर्यय (विपरीत ज्ञान) आदि के भी बाधित हो जाने से (वीर्य-विहीन हो जाने से), सम्पूर्ण बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ है।

अन्वय—तस्मिन्, परावरे, (ब्रह्मणि), दृष्टे, अस्य, हृदयग्रन्थि:, भिद्यते, सर्वसंशया:, छिद्यन्ते, च, कर्माणि, क्षीयन्ते ॥

शब्दार्थ—तस्मिन् = उस, परावरे = कारण-कार्यरूप, (ब्रह्मणि = ब्रह्म के), दृष्टे = देख लिए जाने पर, अस्य = इस (जीवन्मुक्त) के, हृदयग्रन्थि: = हृदय की गाँठ, भिद्यते = खुल जाती है, सर्वसंशया: = सारे सन्देह, छिद्यन्ते = कट जाते हैं, च = और, कर्माणि = (प्रारब्ध को छोड़कर) सभी कर्म, क्षीयन्ते = विनष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या—उस कार्य-कारणरूप (ब्रह्म के) देख लिए जाने पर इस (जीवन्मुक्त) के हृदय की (अहङ्कार रूप) गाँठ खुल जाती है, सारे सन्देह कट जाते हैं और (प्रारब्ध कर्म को छोड़कर, सञ्चित और क्रियमाण रूप) सभी कर्म विनष्ट हो जाते हैं। (मुण्डक 2/2/8), इत्यादि श्रुतियों का (भी जीवन्मुक्त के विषय में ऐसा ही अभिमत है)।

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनने शरीरेण, आनन्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजननेन्द्रियग्रामेण, अशनायापिपासाशोकमोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानिकर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धुफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजाले पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति। "स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव" इत्यादि श्रुतेः। उक्तं च—

"सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः, य आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः" ॥ इति ॥ 86 ॥

संस्कृत व्याख्या—आरब्धफलानि भुज्यमानानि पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणनि च कर्माणि साक्षितया कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानहीनोऽन्यदृष्ट्या पश्यन्निव भासमानोऽपि परमार्थतः स्वदृष्ट्या न पश्यति ज्ञानेन कर्तृत्वाद्यभिमानमूलाज्ञानस्य बाधितत्वाद्-बद्धाद्विलक्षण एवायमित्यर्थः। बलवत्प्रयुक्तबाणपाषाणादिवत्प्रवृत्तफलस्य कर्मणो यावद्वेगक्षयं निवारकाभावात्त-दधीनस्य देहस्य न सद्यः पातप्रसङ्ग इति द्रष्टव्यम्। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति-यथेन्द्रजालमिति। बाधिततत्वबुद्धेरनुवृत्तेरित्यर्थः। जीवन्मुक्तो देहादिभिर्व्यवहरन्निव दृश्यमानोऽपि न परमार्थतो व्यवहरतीत्यत्र श्रुतिं प्रमाणयति-सचक्षुरचक्षुरिवेति। चक्षुरादिनामपि प्रपञ्चरूपाद्यदर्शनाच्चक्षुरादिहीन इव भवतीत्यर्थः। आदिपदात् "तजेदति तन्नैजति" इत्यादि श्रुत्यन्तरग्रहः। उक्तेऽर्थे पूर्वाचार्यसम्मतिमाह-उक्तं च सुषुप्तवति। जाग्रति जग्रदवस्थायां द्वयं पश्यन्नपि यः सुषुप्तिं गतवद्विशेषतो न पश्यति स आत्मवित्। विशेषादर्शने हेतुः अद्वयत्वत इति। द्वयस्य बाधितत्वादित्यर्थः। तथा कुर्वन्नपि न करोति यतो निष्क्रिय इति योजना। तथा च वसिष्ठः- "सुषुप्तवद्यश्चरति स मुक्त इति कथ्यते" इति।।86।।

हिन्दी व्याख्या—प्रपञ्चासक्त साधारण आदमियों को सन्देह होता है कि जीवन्मुक्त कहा जाने वाला योगी अपनी देह तथा इन्द्रियों से लोक-व्यवहार करता है या नहीं? यदि व्यवहार करता है तो बद्ध कहलाने वाले प्रपञ्चासक्त साधारण आदमी और जीवन्मुक्त योगी में कोई अन्तर (भेद) ही नहीं है और यदि अपनी देह तथा इन्द्रियों

NOTES

से किसी प्रकार का लोक व्यवहार नहीं करता है तो उसका तत्काल ही अर्थात् तत्त्वज्ञान होते ही शरीर पात हो जाना चाहिए। इस शंका का हल इस प्रकार है कि व्युत्थान दशा (जागरित अवस्था) में तो वह जीवन्मुक्त (जीवित रहते हुए भी संसार से मुक्त) मांस, रक्त, मूत्र एवं विष्ठा आदि पात्रभूत इस शरीर से तथा भूख, प्यास, शोक, मोह आदि के पात्र इस अन्तःकरण से जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों (वासनाओं) के कारण किए जाते हुए क्रियमाण कर्मों को तथा प्रारब्ध कर्मों के फलों को देखता हुआ भी (करता हुआ, फलोपभोग करता हुआ भी) वस्तुतः उसी प्रकार नहीं देखता, जैसे मदारी का खेल देखने वाला व्यक्ति उस खेल को यह वास्तविक नहीं है, यह तो जादू है ऐसा समझने के कारण उसे देखता हुआ भी, नहीं देखता है अर्थात् उसे वास्तविक सच नहीं समझता है। उसी प्रकार यह जीवन्मुक्त भी क्रियमाण कर्मों के तथा प्रारब्ध कर्मों के फलों के कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का अभिमान नहीं रखता, क्योंकि ज्ञान के द्वारा उसका अज्ञान नष्ट हुआ रहता है। अतः उस जीवन्मुक्त को बद्ध के समान समझना भूल होगी। तत्त्वज्ञान होने पर भी शरीर पात न होने का कारण यह है कि किसी बलवान् के द्वारा फेंके गये बाण में जब तक वेग रहता है तब तक वह (बाण) नहीं गिरता, उसी प्रकार जब तक प्रारब्ध कर्म का फलभोग होता रहता है तब तक उसके शरीर का विनाश नहीं होता। इस बात को श्रुति भी बता रही है-"सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव" नेत्र रहित होने पर भी नेत्र वाले के समान तथा कान रहित होने पर भी कान वाले के समान व्यवहार करता है। उपदेश साहस्री में कहा भी गया है—

अन्वय—यः, जाग्रति द्वयम् पश्यन्, अपि, अद्वयत्वतः सुषुप्तवत्, न पश्यति, तथा च, कुर्वन्, अपि, यः, निष्क्रियः सः, आत्मवित्, अन्यः न, इति, इह, निश्चयः।।

शब्दार्थ—यः = जो, जाग्रति = जागरण के काल में, द्वयम् = द्वैत को, पश्यन् = देखता हुआ, अपि = भी, यः = जो, निक्रियः = निष्क्रिय (रहता) है, सः = वह, आत्मवित् = आत्मवेत्ता है, अन्यः = दूसरा, न = नहीं, इति = यह = वेदान्त में, निश्चयः = निश्चय है।

हिन्दी व्याख्या—"जो जागरण काल में द्वैत को देखता हुआ भी, अद्वैत बुद्धि के कारण, सोए हुए व्यक्ति के समान वस्तुतः (उसे नहीं देखता है), और कर्म करते हुए भी जो निष्क्रिय रहता है, वह आत्मवेत्ता है, दूसरा नहीं, यह वेदान्त का निश्चय है।।" (उपदेशसाहस्री १०/१३)।

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभवासनामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा तदुक्तम्—

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः।। इति च।।८७।।

संस्कृत व्याख्या - जीवन्मुक्तस्यात्मज्ञानात्पूर्वमेव शान्तिसन्तोषादिशुभगुणैरशुभकर्मवासना विनिवार्यते। अतो यथा संसारदशायां स्वभावतयाऽनुकूलाभीष्टयथोपस्थितपदार्थाहरादिषु तस्य प्रवृत्तिर्न विषयादिष्वेवमेव तत्त्वज्ञानानन्तरं तस्य शुभानामेव वासनानामनुवृत्तिर्भवतीति तत्फलस्वरूपशुभकर्मस्वतो न यथेष्टाचरणप्रसङ्गः। यदि च तस्या अपि उपयोग इत्यनुयोगस्तदा शुभाशुभयोत्भयोरौदासीन्यमिति गृहाण, अशुभकर्मसु तु तस्य न कथमपि प्रवृत्तिरिति जीवन्मुक्तस्य न कथमपि यथेष्टाचरणप्रसङ्गः सम्भवति। तथात्वे च सति मूर्खात्मज्ञानिनोरभेदापत्तिः स्यात्। नैष्कर्म्यसिद्धिरपि 'बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य' इत्यादिकारिकाया एतदेव स्पष्टीकरोति। तथा च ब्रह्मविदहमित्यभिमानं त्यक्त्वा आत्मनोऽलुप्तदुष्टत्वमकर्तृत्वञ्च यो वेद स एवात्मज्ञो नान्यः।

अयमेव भाव उपदेशसाहस्र्याम्—

यो वेदलुप्तदृष्टत्वमात्मनोऽकर्तृतां तथा।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे।। इति ।।
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः।।८७।।

हिन्दी व्याख्या—इस जीवन्मुक्त के ज्ञान से पूर्व होने वाले (अतः चिर अभ्यस्त) आहार-विहार की ही तरह शुभ संस्कारों (वासनाओं) की ही अनुवृत्ति होती है। अथवा (वह) शुभ एवं अशुभ दोनों ही तरह की वासनाओं से उदासीन हो जाता है। कहा भी गया है—

अन्वय—"बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य, यदि, यथेष्टाचरणम्, (भवेत्, तदा), शुनाम्, च, तत्त्वदृश्याम्, अशुचिभक्षणे, कः भेदः।

"ब्रह्मवित्त्वम्, तथा मुक्त्वा, सः आत्मज्ञः (भवति), इतरः, न।।

शब्दार्थ—"बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य = जिसने अद्वैव तत्त्व को यथार्थरूप से जान लिया है ऐसे व्यक्ति का, यदि = यदि, यथेष्टाचरणम् = स्वेच्छा से आचरण, (भवेत् = हो, तदा = तब), शुनाम् = कुत्तों, च = तथा, तत्त्वदृशाम् = तत्त्वज्ञों के बीच, एव = भी, अशुचिभक्षणे = अपवित्र पदार्थों के खाने में, कः = क्या, भेदः = अन्तर होगा।

"ब्रह्मवित्त्वम् = "मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ, इस अभिमान को, तथा = उस तरह से, मुक्त्वा = छोड़कर, सः = वह, आत्मज्ञः = आत्मज्ञानी, (भवति = होता है), इतरः = दूसरा कोई, न = नहीं।।"

व्याख्या—जिसने अद्वैत तत्त्व को यथार्थ रूप से जान लिया है- ऐसे व्यक्ति का यदि स्वेच्छा से आचरण हो, तब कुत्तों और तत्त्वज्ञों के बीच अपवित्र पदार्थों के खाने में क्या अन्तर होगा? अर्थात् कुछ नहीं। (नैष्कर्म्यसिद्धि ४/६२)।

"मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ" इस अभिमान को उसी तरह से छोड़कर वह आत्मज्ञानी होता है, दूसरा कोई नहीं।

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टत्वादयः सद्गुणाश्चालङ्कारवदनुवर्तन्ते। तदुक्तम् -

"उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः"।।इति।।८८।।

संस्कृत व्याख्या—नन्वविद्याकार्यत्वाद्यथेष्टचेष्टाया अविद्यानिवृत्त्या तन्निवृत्तिवदमनित्वादीनामद्वेष्टत्वादीनामप्यविद्याकार्यत्वाविशेषान्निवृत्तिरेव स्यान्नानुवृत्तिरित्याशङ्क्य नियोगवशादनुवृत्त्यभावेऽपि निवृत्ति शास्त्राविरुद्धस्वभावत्वात्र निवर्तेरन्निति दर्शयति-तदानीमिति। तत्रापि नैष्कर्म्यसिद्धिमुदाहरति तदुक्तमुत्पन्ना इति।।८८।।

हिन्दी व्याख्या—उस समय (अर्थात् जीवन्मुक्त की अवस्था में) ज्ञान के साधन निरभिमानिता आदि और किसी से द्वेष न करना आदि सद्गुण (इस जीवन्मुक्त का) अलङ्कार की भाँति अनुवर्तन करते हैं (अर्थात् बिना प्रयास के ही उसका अनुवर्तन कर उसके अलङ्कार की भाँति प्रतीत होते हैं)। यही कहा गया है -

अन्वय—उत्पन्नात्मावबोधस्य, अस्य, हि, अद्वैष्टृत्वादयः, गुणाः अयत्नतः, भवन्ति, न, तु, साधनरूपिणः, (भवन्ति)।

शब्दार्थ—उत्पन्नात्मावबोधस्य = आत्मज्ञान हुए, अस्य = इस (जीवन्मुक्त) के, अद्वेष्टृत्वादयः = द्रोह न करना आदि, गुणाः = गुण, अयत्नतः = बिना प्रयास के ही, भवन्ति = होते हैं, न तु = न कि, साधनरूपिणः = साधन रूप, (भवन्ति = होते हैं)।

हिन्दी व्याख्या—आत्मज्ञान हुए इस (जीवन्मुक्त) में द्रोह न करना आदि गुण बिना प्रयास के ही होते हैं (आ जाते हैं), न कि साधन रूप (होते) हैं। (नैष्कर्म्यसिद्धि ४/६१)

कि बहुनाऽयं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात् परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभासरहितमखण्डं ब्रह्मावतिष्ठते। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' 'अत्रैव समवलीयन्ते', विमुक्तश्च विमुच्यते इत्यादिश्रुतेः।।८९।।

NOTES

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्दविरचितो वेदान्तसारः समाप्तः।

संस्कृत व्याख्या—देहयात्रा देहस्थितिः। तन्मात्रार्थं न त्विन्द्रियप्रीत्यर्थम् सुखदुःखलक्षणानि सुखदुःखसाधनानि। आरब्धफलानि भोग्यानि। अनुभवन्नसङ्गतया भुञ्जानः। कथं भुञ्जान इत्युच्यते अन्तःकरणाभासादीनां विषयाकारवृत्तीनां साक्षितयावभासकः सन्निति यावत्। तदवसाने प्रारब्धफलभोगावसाने जात आश्रयाभावात्प्राणे ब्रह्मणि लीने सति पूर्वसिद्धज्ञानेनैव प्रारब्धकर्माक्षिप्ताज्ञानतत्संस्काराणामपि विनाशात्सञ्चितकर्मणां ज्ञानेन दाहात्क्रियमाणैश्चसंश्लेषात्पुनर्देहान्तर-हेत्वभावात्परमकैवल्येत्या दिनोक्तब्रह्मस्वरूप एवावतिष्ठते विद्वानित्यर्थः।

निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारवतः प्राणा नोत्क्रामन्ति किन्तु प्रत्यग्ब्रह्मण्येव तप्ताय: पीताम्बुवल्लीयन्त इत्यत्र प्रमाणमाह-न तस्येति। मुक्तेरसाध्यत्वे काठकश्रुतिं प्रमाणयति-विमुक्तश्च विमुच्यत इति। पूर्वमपि मुक्त एव सन्नविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपो- पाध्यविवेकनिबन्धनस्य संसाराभासस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयब्रह्मरूपोऽहमस्मीत्यपरोक्षज्ञानाद्विलयापेक्षया विमुच्यत इत्यर्थः। वस्तुतस्तु न बन्धो न वा मोक्षः। तथा च श्रुतिः—

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता"।।८९।।

डॉ. रविकान्तमणिविरचिता वेदान्तसारस्य वेदान्तबोधिनी व्याख्या समाप्ता।

हिन्दी व्याख्या - इतना ही बहुत है - अब अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं, इस विचार से ग्रन्थकार लिखते हैं कि जीवन्मुक्त मनुष्य जीवन्मुक्तावस्था में आत्मानुभव मात्र ही में तत्पर रहता है, उसको किसी प्रकार की भेदभाव प्रतीति नहीं होती, फिर भी वह शरीर मात्र के लिए स्वेच्छाकृत भिक्षाटनादि तथा समाधि दशा में शिष्यादिकों के द्वारा दिए हुए अन्नादि रूप परेच्छाकृत एवं जाग्रत दशा में या समाधि दशा में अकस्मात् कण्टकादि लग जाने रूप अनिच्छाकृत-इन तीनों प्रकार के प्रारब्ध कर्मों से उत्पन्न सुख-दुःखों का अनुभव करता हुआ भी अपने ज्ञान द्वारा सब बातों को वास्तविक रूप से देखता है और भोग के द्वारा जब प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं तब प्रत्यग-भिन्न परमात्मा में उसके प्राणादि विलीन हो जाते हैं, अविद्या एवं तज्जन्य कोई संस्कार शेष नहीं रहते तथा सब भेद-भाव नष्ट होकर ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार जब इस जीवन्मुक्त की बुद्धि आदि उपाधि विलीन हो जाती है तो घटादि उपाधि के नष्ट हो जाने से आकाश की तरह उसकी 'मुक्त' यह औपचारिक संज्ञा हो जाती है- वास्तव में तो वह आत्मा न बद्ध होता है और न मुक्त होता है-

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न तत्त्वतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्।।

उपाधि नष्ट हो जाने पर जीवन्मुक्त का लिङ्ग शरीर अत्यन्त सन्तप्त लोहे पर पड़े हुए जल-बिन्दु के समान प्रत्यगभिन्न परमात्मा में विलीन हो जाता है। अतः उसका स्थूल शरीर फिर कोई काम नहीं करता। इस प्रकार उसका वर्तमान शरीर तो नष्ट ही हो जाता है, पर भावी शरीर के बन्धनों से वह विशेष रूप से मुक्त हो जाता है। यही बात निम्नांकित श्रुतियाँ कहती हैं -

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति', (वृ. उ. ४/४/६),

'अत्रैवं समबलीयन्ते', (वृ.उ. ३/२/११),

'विमुक्तश्च विमुच्यते' (कठ. उ. २/२/१) इत्यादि।

उस जीवन्मुक्त (ब्रह्मज्ञानी) के प्राण उत्क्रमण (अन्यत्र कहीं निकलकर) नहीं करते (नहीं जाते) वे इस परमात्मा में ही विलीन हो जाते हैं, अविद्या के बन्धन से युक्त हुआ यह जीवन्मुक्त, विमुंक्त (विदेह मुक्त) हो जाता है।

डॉ. रविकान्त मणि विरचित 'वेदान्तसार' की हिन्दी व्याख्या समाप्त।

सारांश :

जिस शास्त्र में उपनिषदें प्रमाण हैं, उसे वेदान्त कहते हैं। शारीरक सूत्र (ब्रह्मसूत्र) एवं श्रीमद्भगवतगीता आदि उस वेदान्त के उपकारक (ग्रन्थ) हैं। इस (वेदान्तसार) को वेदान्त का प्रकरण ग्रन्थ होने के कारण जो वेदान्त के अनुबन्ध हैं, वे ही इस (वेदान्तसार) के भी अनुबन्ध हैं। केवल ब्रह्म ही नित्य वस्तु है इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् अनित्य है-ऐसा विवेचन नित्यवस्तुविवेक है। इस लोक के माला, चन्दन एवं स्त्री आदि ऐहिक विषयभोगों के समान पारलौकिक अमृतादि विषयों के भोगों के भी अनित्य होने के कारण उनसे नितान्त विरक्ति होती है। जीव और ब्रह्म की एकता, जो शुद्ध चैतन्य रूप है तथा इस शास्त्र का (वेदान्तसार) प्रमेय है। जीव और ब्रह्म की इसी एकता में ही समस्त ग्रन्थों का तात्पर्य है अर्थात् समस्त वेदान्त ग्रन्थ जीव और ब्रह्म की इसी एकता का प्रतिपादन करते हैं। अज्ञान से उत्पन्न सम्पूर्ण जड़ पदार्थ का समूह अवस्तु (अवास्तविक, अयथार्थ, मिथ्या) है। अज्ञान तो न सत् है और न असत् है, क्योंकि यदि वह सत् होता तो सर्वदा और सर्वत्र रहता तथा कभी उसका बाध अर्थात् नाश नहीं होता, किन्तु ब्रह्म का साक्षात्कार (ज्ञान, बोध) होने पर उसका विनाश हो जाता है इसलिए अज्ञान को सत् नहीं कह सकते।

प्रलयावस्था में ईश्वर तथा सुषुप्तावस्था में जीव (प्राज्ञ) चैतन्य से प्रकाशित (प्रदीप्त) अत्यन्त सूक्ष्म अज्ञान की वृत्तियों के माध्यम से (अपने स्वरूपभूत) आनन्द की अधिकता (प्रचुरता) होने के कारण स्वात्मानन्द का अनुभव करते हैं। दो शक्तियों के अज्ञान से उपहित चैतन्य (अर्थात् ईश्वर नामक चैतन्य) अपनी (अर्थात् चेतनता की) प्रधानता से जगत् का निमित्त कारण होता है और अपनी उपाधि (अज्ञान) की प्रधानता से (उसका) उपादान कारण भी होता है। कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं, जिनके नाम हैं- वाक् (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)। ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ आकाश आदि सूक्ष्मभूतों से असम्मिलित रजोगुण के अंश से क्रमशः अलग-अलग उत्पन्न होती हैं। सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि से (पृथक्-पृथक्, एक-एक शरीर से) उपहित चैतन्य 'तैजस' होता है क्योंकि वह तेजोमय अन्तःकरण से उपहित होता है। इसकी भी यह व्यष्टि स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म शरीर शब्द से अभिहित होती है। स्थूल भूत तो पञ्चीकृत होते हैं, पञ्चीकरण का अर्थ है—आकाश आदि पाँचों सूक्ष्म भूतों में प्रत्येक के दो-दो समान भाग कर दश भाग बना देना, फिर उन दश भागों में पहले पाँच भागों के प्रत्येक के चार समान भाग बनाकर उन चार भागों में एक-एक भाग को अपने-अपने दूसरे अर्थ भाग को छोड़कर अन्य चारभूतों के दूसरे अर्ध भाग में मिलाना ही पञ्चीकरण है।

अब प्रत्यगात्मा-जीवात्मा में यह मनुष्य इस वस्तु का आरोप करता है और यह मनुष्य इस वस्तु का आरोप करता है, इस प्रकार विशेष रूप से अध्यारोप का प्रतिपादन करना है। इनमें से उत्कृष्ट बुद्धि वाले लोकायत चार्वाक को इन्द्रियात्मवादी के रूप में उपस्थित किया गया है। इनका कहना है कि अपनी जो इन्द्रियाँ हैं वे ही अहं पदवाच्य आत्मा हैं। अर्थात् इन्द्रियों को ही आत्मा कहना उचित है। चार प्रकार के चार्वाकों के मत को बताने के बाद विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध अपनी उत्कृष्ट बुद्धि का परिचय देते हुए उनका कहना है कि बुद्धि (क्षणिक विज्ञान) ही आत्मा है। 'पूर्ववादियों के द्वारा बताया हुआ मन तथा इन्द्रियाँ तो करण हैं। 'मैं अपने को नहीं जानता हूँ' इस अनुभव से (इस अनुभव में एक कर्त्ता का अंश है और दूसरा ज्ञान का अंश है) यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान की अपेक्षा ज्ञाता अन्य है, उसी को आत्मा कहना उचित है। अतः अज्ञान को आत्मा न कहकर अज्ञानोपहित (अज्ञान-सम्बलित) चैतन्य को ही आत्मा कहना चाहिए। जैसे रज्जु का विवर्त (अर्थात् भ्रान्ति के कारण रस्सी में प्रतीयमान) सर्प रज्जुमात्र ही होता है (न कि रज्जु से भिन्न होता है), उसी प्रकार वस्तु (ब्रह्म) के विवर्त (अर्थात् भ्रान्ति के कारण वस्तु रूप ब्रह्म में प्रतीयमान अवस्तुरूप) अज्ञान आदि प्रपञ्च का वस्तु मात्र रह जाना ही अपवाद है। भोगों के आश्रय चार प्रकार के, ये सम्पूर्ण स्थूल शरीर, इनके भोग्य रूप अन्न-पान आदि, इनके आश्रयभूत 'भू' आदि चौदहों भुवन तथा इनका आधारभूत ब्रह्माण्ड ये सब अपने कारणभूत पञ्चीकृत भूतमात्र रह जाते हैं।

'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों का अथवा 'तत्' पद के अर्थ एवं 'त्वम्' पद के अर्थ का (परस्पर) परोक्षत्वादिविशिष्टत्व-इन्द्रियों का विषय आदि न बनने वाले एवं अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व-अनुभूति आदि का विषय बनने वाले इस विरुद्ध अंश का परित्याग करके (दोनों पदों के) अविरुद्ध अर्थ चैतन्य के साथ लक्ष्य-लक्षण भाव सम्बन्ध है। 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में 'शोणो धावति'-लाल रंग दौड़ रहा है- की तरह अजहल्लक्षणा के द्वारा

NOTES

अखण्डार्थ का बोध नहीं कराया जा सकता। क्योंकि शोणो धावति का मुख्यार्थ लाल रंग दौड़ रहा है। किन्तु 'लाल रंग' तो अमूर्त गुण है अत: उसका दौड़ना सम्भव नहीं, इसलिए मुख्यार्थ बाधित हो गया। गुरुपदेश के द्वारा जो श्रवण किया है अर्थात् उपनिषद् प्रतिपादित विषयों का जो श्रवण किया है उसका तात्पर्य षड्विध (छह प्रकार के) लिङ्गों से समझकर वेदान्तानुकूल युक्तियों के द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का निरन्तर चिन्तन करते रहना ही मनन है। वास्तव में सब एक ही परब्रह्म के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इसी प्रकार सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भिन्नता का जो भाग होता है, वह नाममात्र वास्तव में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सब अद्वैत ब्रह्म ही है। इस जीवन्मुक्त के ज्ञान से पूर्व होने वाले (अत: चिर अभ्यस्त) आहार-विहार की ही तरह शुभ संस्कारों (वासनाओं) की ही अनुवृत्ति होती है। अथवा (वह) शुभ एवं अशुभ दोनों ही तरह की वासनाओं से उदासीन हो जाता है।

अभ्यास -प्रश्न :

1. वेदान्त दर्शन में अनुबन्ध चतुष्टय की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
2. साधन चतुष्टय का उल्लेख करते हुए वेदान्त दर्शन का प्रयोजन बताइए।
3. अध्यारोप एवं अपवाद के स्वरूप की विवेचना कीजिए।
4. वेदान्त दर्शन के कार्य-कारण सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
5. अज्ञान क्या है? अज्ञान की शक्तियों का विवेचन कीजिए।
6. वेदान्त दर्शन के अनुसार पंचकोशों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
7. वेदान्त दर्शन के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति समझाइए।
8. वेदान्त दर्शन अनुसार पंचीकरण की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
9. 'तत्वमसि' महावाव्य के अर्थबोध में आने वाली शंकाओं का समाधान कीजिए।
10. समाधि के आठ अंग कौन-कौन से हैं? विस्तृत व्याख्या कीजिए।

4 दर्शनों की तुलनात्मक समीक्षा एवं नास्तिक दर्शन

इकाई में सम्मिलित है :

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तावना
- दर्शन का उद्भव एवं विकास
- चार्वाक दर्शन
- बौद्ध दर्शन
- जैन दर्शन
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई में भारतीय दर्शन के उद्भव एवं विकास की चर्चा की गयी है। यह इकाई भारतीय दर्शन-परंपरा की दोनों धाराओं अर्थात् आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करती है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् छात्र निम्नलिखित बिन्दुओं से अवगत हो सकेंगे :

- दर्शन का उद्भव एवं विकास,
- जीवन और दर्शन,
- प्रमुख दर्शनों की संख्या एवं नाम,
- आस्तिक (वैदिक) दर्शन,
- नास्तिक दर्शन,
- चार्वाक दर्शन,
- बौद्ध दर्शन,
- जैन दर्शन,

NOTES

प्रस्तावनाः

दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ है- 'देखने का साधन'। और विशेष रूप में देखा जाये तो 'जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाये वह साधन दर्शन है' दोनों ही अर्थों में 'दृश्यते अनेन' इस करण अर्थ में 'दृशिर् प्रेक्षणे' धातु से ल्युट् प्रत्यय कर 'दर्शन' शब्द बनता है, जिससे देखा जाये इस अर्थ में देखने का स्थूल साधन नेत्र है। नेत्रेन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान जो चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान है वही स्थूल रूप में दर्शन शब्द का अभिप्रायार्थ होगा।

बहुत से अर्थों का ज्ञान चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। उन अर्थों को जानने हेतु सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता होती है। इनका अन्य नाम ज्ञाननेत्र या दिव्य-दृष्टि भी है। इन सूक्ष्म अर्थों को जानने का साधन दर्शन है।

इस तरह जीव और जगत् के विषय में उनकी उत्पत्ति से लेकर समस्त क्रिया-कलापों को जानने का साधन दर्शन है। सभी धर्मों, मतों और सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित करते हुए सबमें एक परमेश्वर तत्त्व का दर्शन ही दर्शन है। संसार, जीवन-मृत्यु के बन्धन, सुख-दु:ख आदि के मूल में रहने वाले अव्यक्त रहस्य को जानना दर्शन है। इस तरह दर्शन शब्द वाङ्मय के उस विशेष अङ्ग के लिए रूढ़ हो गया है जिसमें ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, अध्यात्मविद्या, चित्तविद्या, मन:शास्त्र, तर्क या न्याय आचार-मीमांसा इत्यादि का विवेचन किया हो।

दर्शन का उद्भव एवं विकास

जीवन और दर्शन

जीवन और दर्शन-शास्त्र में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। साथ ही जीवन को आनन्दमय बनाने का एक साधन भी दर्शनशास्त्र है। यह जीवन से सम्बद्ध ज्ञान-विज्ञान के बहुत से तत्त्वों को प्रकाशित करता है। यह मनुष्य जाति मात्र की अमूल्य निधि है। अतएव देश, काल, समाज की परिस्थिति-भिन्नता के कारण दर्शनशास्त्र के स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हैं। भौतिकता और आध्यात्मिकता के महत्त्व के अनुसार दर्शन के विवेच्य विषय भी भिन्न-भिन्न हैं।

भारतीय-जीवन पुरुषार्थ-चतुष्टय में नि:श्रेयस को परम-पुरुषार्थ मानता है। इस दृष्टि से सभी भारतीय दर्शन परमपुरुषार्थ की अवाप्ति हेतु मार्ग दिखलाने का प्रयास करते हैं। जीवन की सर्वाङ्गीणता के निर्माण में सहायक जो सूत्र या तत्त्व हैं उनकी व्याख्या करना दर्शनशास्त्र का अभिप्रेय है।

विराट् ब्रह्माण्ड के अद्भुत एवं असंख्य पदार्थों के समक्ष जीवन की स्थिति एवं सत्ता का विचार, मनुष्य के सुख-दु:ख, पुण्य-पाप, जन्म-मरण इत्यादि रहस्यों की जिज्ञासा को लेकर दर्शनशास्त्रों के निर्माण हुए। जीवन की मीमांसा करना दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। अत: जीवन से सम्बद्ध समस्त पदार्थ जो आधिभौतिक आध्यात्मिक एवं आधिदैविक हैं, उनका यथार्थ एवं तात्त्विक-विश्लेषण करना दर्शनशास्त्र का कार्य है।

प्राय: मानव-जीवन के उद्भव के साथ ही दर्शन का भी उद्भव हुआ होगा। बुद्धिमान् प्राणी मानव ने जब भी कर्तव्य का विधान बनाया होगा, सुख-प्राप्ति एवं दु:खनाश के उपाय सोचे होंगे एवं अपने चारों ओर फैले जगत् के स्थावर, जङ्गम के विषय में सोचा होगा, तभी से दर्शन का उद्भव हुआ होगा।

दर्शनों की संख्या एवं नाम

भारतीय-दर्शनों का विभिन्न शाखाओं एवं सम्प्रदायों में विकास हुआ है। इसके विकास के आधार पर दर्शनों की निश्चित संख्या बताना कठिन है।

सायण माधव ने अपने सर्वदर्शन-संग्रह में सोलह दर्शन-सम्प्रदायों का उल्लेख किया है—(1) चार्वाक, (2) बौद्ध, (3) आर्हत (जैन), (4) रामानुजीय, (5) पूर्णप्रज्ञ (माध्व), (6) नकुलीश, (7) पाशुपात, (8) शैव, (9)

प्रत्यभिज्ञा, (10) रसेश्वर, (11) औलूक्य (वैशेषिक), (12) अक्षपाद (न्याय), (13) जैमिनीय (पूर्व मीमांसा), (13) पाणिनीय, (14) सांख्य, (15) पातञ्जल (योग), (16) शांकर (अद्वैत वेदान्त)।

शिवमहिम्न-स्तोत्र टीका में मधुसूदन सरस्वती ने 6 आस्तिक एवं 6 नास्तिक, कुल 12 दर्शन-सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।

आस्तिक-दर्शन—(1) सांख्य, (2) योग, (3) कर्ममीमांसा, (4) शारीरिक मीमांसा (ब्रह्ममीमांसा), (5) न्याय, (6) वैशेषिक।

सौगत—इनके चार सम्प्रदाय सहित **नास्तिक दर्शन**—(1) माध्यमिक, (2) योगाचार, (3) सौत्रान्तिक, (4) वैभाषिक, (5) चार्वाक, (6) दिगम्बर (जैन)।

आस्तिक-नास्तिक नामकरण

आस्तिक दर्शन वे हैं जो सीधे वेदों पर आधारित हैं यथा—मीमांसा व वेदान्त। जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए स्वविचार-सारणि पर आधारित हैं वे भी आस्तिक दर्शन हैं, यथा—सांख्य, योग वैशेषिक और न्यायदर्शन।

नास्तिक दर्शन वे हैं जो वेदों की निन्दा करते हैं या वैदिक मतानुयायियों की निन्दा करते हैं तथा वेद को प्रामाणिक नहीं मानते हैं, यथा—चार्वाक, बौद्ध, जैन।

आस्तिक दर्शन

(1) मीमांसा-दर्शन—वेदों के पूर्वकाण्ड अर्थात् कर्मकाण्ड पर आधारित यह दर्शन है। संहिता ब्राह्मण एवं आरण्यक पर आधारित होने के कारण ही इसे पूर्वमीमांसा-दर्शन भी कहते हैं। यह दर्शन वेदों को नित्य अपौरुषेय मानता है तथा स्वत: प्रमाण मानता है। यह दर्शन वैदिक विधि-निषेधों के भाव को समझाता है। उनकी संगति बैठाता है और युक्तिपूर्वक कर्मकाण्ड के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।

इसके प्रथम आचार्य महर्षि जैमिनि हैं। इनका काल विक्रम से लगभग 500 वर्ष पूर्व माना जाता है। इनका ग्रन्थ है मीमांसा-सूत्र। इसके बाद द्वितीय आचार्य के रूप में प्रतिष्ठा पाने वाले मीमांसक **शबर स्वामी** हैं, जिन्होंने शबर-भाष्य लिखकर मीमांसा-सूत्रों की अधिक प्रतिष्ठा बढ़ायी और मीमांसा-दर्शन को स्वतन्त्र दर्शन के रूप में प्रतिष्ठा दिलाई।

वेदान्त दर्शन—उपनिषद् पर आधारित वेदान्त-दर्शन वेद के उत्तरभाग ज्ञानकाण्ड का विवेचन करने वाला होने से उत्तरमीमांसा के नाम से भी जाना जाता है।

जगत् जीव और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूपों का वर्णन तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन इसका प्रतिपाद्य विषय है। वेदान्त ब्रह्म को जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण भी मानता है।

वेदान्तदर्शन का मुख्य ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' है, जिसके संकलनकर्ता या सम्पादक बादरायण हैं। इन्होंने बादरि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, जैमिनि, काश्यप, औडुलोमि आदि के विचारों को संकलित कर वेदान्तदर्शन के मूल सिद्धान्तों पर विचार कर संकलन का नाम 'ब्रह्मसूत्र' रखा। इनका काल ई. पूर्व 500 माना जाता है।

सांख्य-दर्शन—सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक आचार्य महर्षि कपिल उपनिषत्कालीन आचार्य हैं। यह दर्शन न्याय और वैशेषिक से प्राचीन माना जाता है। सांख्य के विचार-सूत्र भी वैदिक हैं। व्यक्त अव्यक्त एवं ज्ञ के भेदोपभेद की गणना से 25 संख्या वाले तत्वों को प्रतिपादन करने के कारण इसे कुछ विद्वान् 'सांख्य' कहते हैं। भागवत में भी इसे 'तत्वसंख्यान' कहा है। श्रीधराचार्य इसे 'तत्वगणक' नाम से कहते हैं।

वस्तुत: सम्पूर्वक ख्या धातु से निष्पन्न सांख्य शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—सम्यक् ख्यान, सम्यक् विचार या सम्यक् ज्ञान है।

NOTES

सांख्य के तत्त्व — मूलरूप में प्रकृति और पुरुष मूल तत्त्व हैं। ये दोनों स्वतन्त्र एवं अविनाशी हैं। अत: यह दर्शन द्वैतमूलक है। सत्त्व रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है। यह जड़ है तथा एक है। पुरुष चेतन है और अनेक है। प्रकृति पुरुष के संयोग ही संसार की उत्पत्ति का कारण है। तत्त्व ये हैं— (1) प्रकृति, (2) प्रकृति से उत्पन्न महान् (बुद्धि), (3) अहंकार (बुद्धि से उत्पन्न), (4) एकादश इन्द्रियाँ (सत्त्व प्रधान अहंकार) से उत्पन्न, (5) रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, शब्दतन्मात्रा, ये पाँच तम: प्रधान अहंकार से उत्पन्न हैं। (6) पञ्चतन्मात्राओं से उत्पन्न पञ्चभूत—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश। इस तरह संख्या में 25 तत्त्व हैं।

योग-दर्शन — योग-दर्शन के प्रवर्तक आचार्य पतञ्जलि हैं। उपनिषदों से सूत्र पकड़कर पतञ्जलि ने योगसूत्र लिखा। चौथी शताब्दी में व्यास ने इस पर व्यासभाष्य लिखा। व्यास भाष्य पर वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी तथा भोज ने भोजवृत्ति लिखी। विज्ञानभिक्षु का योगवार्तिक इसी परम्परा का ग्रन्थ है। **योग सूत्र**— (1) समाधि पाद, (2) साधन पाद, (3) विभूतिपाद तथा (4) कैवल्य पाद, इन चार पादों में विभक्त है।

योगदर्शन ने सांख्य के सिद्धान्तों को अपनाते हुए कुछ संशोधन भी किया। योगदर्शन व्यक्त अव्यक्त और ज्ञ के ज्ञान मात्र से कैवल्य नहीं मानता। वह प्रकृति एवं प्रकृति-विकारों से मुक्त होने हेतु **योगश्चित्तवृत्ति निरोध:** कहकर मन की वृत्तियों का निरोध कर ही कैवल्य पाया जा सकता है यह कहता है। युज् धातु से घञ् प्रत्यय कर निष्पन्न योग-शब्द का अर्थ समाधि भी है। समाधि-लाभ हेतु ईश्वर प्राणिधन आवश्यक है। योग का ईश्वर-पञ्चविध ा क्लेशों, कर्म, कर्मफलों और वासनाओं से रहित पुरुषविशेष ईश्वर है। योगाभ्यास बल से ईश्वर-प्रणिधान हो सकता है।

योग के आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं।

योग द्वारा मनुष्य पञ्चविध-क्लेशों एवं नाना कर्मफलों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

वैशेषिक-दर्शन—वैशेषिक-दर्शन के सूत्रकार मुनि कणाद हैं। इनका अन्य नाम कणभुक्, कणभक्ष भी है। इनका दर्शन औलूक्य दर्शन के नाम से भी प्रसिद्ध है, इससे प्रतीत होता है कि ऋषि उलूक के ये पुत्र थे तथा औलूक्य नाम से भी प्रसिद्ध थे।

वैशेषिक-दर्शन में द्रव्य गुण कर्म सामान्य एवं विशेष ये छह भाव-पदार्थ तथा सातवाँ अभाव पदार्थ माना गया है। वैशेषिकदर्शन के ग्रन्थ का नाम 'दशलक्षणी' है। इसमें दश अध्याय हैं। दशों अध्यायों में दो-दो आह्निक हैं। इसका प्रथम सूत्र 'अथातो धर्मं व्याख्यास्याम:' है। तृतीय सूत्र में ऋषि ने बताया है कि द्रव्यादि षट्-पदार्थों के तत्त्वज्ञान से नि: श्रेयस् की प्राप्ति होती है।

इस दर्शन में विशेष पदार्थ की कल्पना की गई है। विशेष ही एक परमाणु से दूसरे परमाणु को भिन्न बताता है। यह विशेष परमाणु में रहने वाला भेदक धर्म है। विशेष-नामक पदार्थ के अनुसन्धान के आधार पर ही दर्शन वैशेषिक नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वैशेषिक-सूत्र पर **प्रशस्त पाद** ने पदार्थधर्मसंग्रह नामक भाष्य लिखा, जो प्रशस्तपादभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। प्रशस्तपादभाष्य पर व्योमकेश ने व्योमवती टीका लिखी। ये दाक्षिणात्य थे।

न्यायदर्शन : भारतीय दर्शन परम्परा में न्यायदर्शन का क्षेत्र बहुत व्यापक एवं प्रसिद्ध है। आज से पचास वर्ष पूर्व अन्य शास्त्रों का ज्ञाता यदि न्यायशास्त्र नहीं जानता था तो उसकी गणना प्रसिद्ध विद्वानों में नहीं की जाती थी। न्यायदर्शन ने संस्कृति विद्या के सभी क्षेत्रों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

न्याय के लिए आभाणक प्रसिद्ध है — 'प्रदीप: सर्वविद्यानामुपाय: सर्वकर्मणाम्'।

न्याय ने वैशेषिक सिद्धान्तों का संशोधित रूप प्रतिपादित किया है। अत: न्यायवैशेषिक समानतन्त्र है। न्यायशास्त्र का ज्ञाता वैशेषिक का भी ज्ञाता इसी आधार पर माना जाता। जहाँ वैशेषिक-दर्शन में 6 पदार्थ हैं। वहीं न्यायदर्शन में प्रमाण प्रमेय इत्यादि षोडश (16) पदार्थ हैं, दोनों की प्रतिपादन शैली भी एक है। विवेच्य विषय की भी समानता है।

''दर्शन का आरम्भ आश्चर्य से होता है'' यह पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू का कथन है। सामान्यत: इस चित्र-विचित्र विश्व और विश्व के क्रिया-कलाप को देखकर मानव-मस्तिष्क आश्चर्यचकित रह जाता है और वह यह सोचने के लिए विवश हो जाता है कि सुप्रतिष्ठित तथा सुव्यवस्थित इस संसार का कर्त्ता कौन है? यह विश्व कहाँ से आया है ? हम कहाँ से आये हैं ? यथार्थ सत्ता क्या है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न मस्तिष्क में घूमते रहते हैं। इस अनवरत चिन्तन का नाम ही दर्शन है।

दर्शन ज्ञान की वह अबाध सरिता है, जिसका प्रवाह सनातन है। ज्ञान की इस विशाल सरिता का उद्गम अनेक सहस्राब्दि पूर्व वेदों के काल में ही हो चुका था। वैदिक ज्ञान के अक्षय भण्डार ऋग्वेद में कुछ ऐसे विचार प्राप्त होते हैं जो मनुष्य की नैसर्गिक जिज्ञासा और संशयवृत्ति के परिचायक हैं। नासदीस सूक्त में सृष्टि की पूर्वावस्था का वर्णन इस प्रकार है—

''उस समय असत् नहीं था। जो सत है वह भी नहीं था। पृथ्वी भी नहीं थी तथा आकाश और आकाश में विद्यमान सातों भुवन भी नहीं थे। आवरण अर्थात् ब्रह्माण्ड भी कहाँ था? किसका कहाँ स्थान था? क्या उस समय दुर्गम और गम्भीर जल था? उस समय मृत्यु नहीं थी, अमरता भी नहीं थी, रात और दिन का भेद भी नहीं था। वायु शून्य आत्मावलम्बन से श्वास-प्रश्वास युक्त केवल एक ब्रह्म थे.......।'' वस्तुत: आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, जीव, जगत्, मोक्ष आदि ऐसे विषय हैं जो थोड़े से परिवर्तन तथा अन्तर के साथ प्रत्येक दर्शन का प्रतिपाद्य विषय रहे हैं। श्वेताश्वतर, कठ, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, तैत्तिरीय, माण्डूक्य, प्रश्न आदि उपनिषदों में अधिकांशत: ऐसे विचार हैं, चिन्तन हैं, जिनका अधिष्ठान लेकर षड्दर्शनों का भवन निर्मित हुआ है। नि: सन्देह उपनिषदों से ही चिन्तनों को संग्रहीत कर एवं उन्हें व्यवस्थित कर षड्दर्शनों का निर्माण हमारे महर्षियों ने किया। उपनिषदों में बिखरे चिन्तन सूक्त संग्रहित कर उन्होंने अपने सूत्रों की रचना की और भारतीय दर्शन आकाश में न्याय वैशेषिक, सांख्य योग, मीमांसा तथा वेदान्त नामक नक्षत्र उदित हुए जो उपनिषद् रूपी आकाश का आधार लिए हुए होने पर भी अपनी स्वतन्त्र गति एवं रीति से विकसित हुए। इसीलिए ये सभी दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाते हैं।

षड्दर्शन का स्वरूप

न्याय—यद्यपि कालक्रम में न्याय सर्वप्रथम नहीं है तथापि दर्शन साहित्य का प्रवेश द्वार है। इसे बुद्धि को परिष्कृत, तीव्र और विशद बनाने वाला शास्त्र माना जाता है, इसके लिए 'आन्वीक्षिकी' शब्द भी प्रयुक्त किया गया है। आन्वीक्षिकी को सभी विद्याओं का 'प्रदीप' माना गया है।

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम कहे जाते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा किसी पदार्थ की परीक्षा का नाम ही न्याय है। न्यायदर्शन षोडश पदार्थों को स्वीकार करता है। यह प्रमाण प्रधान शास्त्र है। अपने राष्ट्र, सूक्ष्म और गम्भीर प्रमाण विवेचन के परिणाम स्वरूप षड्-दर्शन से न्याय को सभी दर्शनों के सहायक रूप में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। प्रमेय विषय के अन्तर्गत आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रत्यभव, फल, दु:ख और अपवर्ग है।

''**आत्मशरीरेन्द्रियार्थ बुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदु:खापवर्गास्तु प्रमेयम्**'' (न्याय सूत्र)

यहाँ आत्मा को गुणों का आश्रय माना गया है। ईश्वर की सिद्धि आप्त आगम द्वारा की गई तथा कर्त्ता, पालक, संहारक तथा प्रवर्तक आदि माना गया है। जगत् की सत्ता वास्तविक है। परमाणु जगत् के समवायि कारण हैं और ईश्वर निमित्तकारण। न्याय का भी अन्तिम लक्ष्य मुक्ति अथवा अपवर्ग दु:खों से अत्यन्त विमोक्ष है। यथा—

NOTES

''तदन्त्यविमोक्षोऽपवर्गः।'' (न्याय सूत्र)

वैशेषिक— वैशेषिक दर्शन के प्रणेता के रूप में महर्षि कणाद को स्मरण किया जाता है। सर्वदर्शनसङ्ग्रह में इसको औलूक्यदर्शन के नाम से विवेचित किया गया है। इसके वैशेषिक नामकरण का आधार 'विशेष' पदार्थ है। 'विशेष अधिकृत कृतं शास्त्रं वैशेषिकम्।' न्याय दर्शन के साथ इसका पर्याप्त साम्य है। इसमें सात पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव स्वीकार किये हैं। महर्षि कणाद ने छः पदार्थ ही निरूपित किये हैं। प्रशस्तपाद ने अभाव को सातवाँ पदार्थ स्वीकार किया है। पृथिवी, जल, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन, ये नौ द्रव्य हैं- '**पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालोदिगात्मा इति द्रव्याणि।**' (वैशेषिक सूत्र)। पृथिवी, तेज, वायु और आकाश भौतिक द्रव्य हैं। आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप, सृष्टि तथा मोक्ष के सम्बन्ध में वैशेषिक मत न्याय से अभिन्न है।

योग—योगदर्शन महर्षि पतञ्जलि प्रणीत माना जाता है। प्रो. बलदेव उपाध्याय महोदय ने योगदर्शन को हिन्दू जाति की सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक निधि मानी है। योगदर्शन के विशिष्ट ख्याति का कारण इसका व्यावहारिक पक्ष है। उत्कृष्ट प्रमाण-मीमांसा के कारण जैसे न्याय-दर्शन का विशेष महत्त्व है उसी प्रकार कैवल्य के व्यावहारिक प्रतिपादन से सभी दर्शनों के लिए योग महत्त्वपूर्ण सहायक रूप से मान्य है।

अधिकांशतः योग की गणना सांख्य दर्शन के साथ की जाती है। श्रीमद्भागवत्गीता में सांख्य और योग को भिन्न समझना मूढ़ता बताया गया है। योगदर्शन सांख्य का समान तन्त्र है। इसने सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है, अतः इसे ईश्वर सांख्य भी कहा जाता है। ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय से अस्पष्ट रहता है – 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पूरुषविशेष ईश्वरः।' (योग सूत्र)। सांख्य ने तत्त्व विवेक द्वारा कैवल्य कहकर जहाँ अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानी, वहीं योग ने उस कैवल्य की उपलब्धि हेतु योगाभ्यास रूप मार्ग प्रदर्शित किया।

योग सूत्र के आरम्भ में ही योग का लक्षण 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' बताया गया है। चित्त की प्रवृत्तियाँ पाँच हैं- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। योग के आठ अंग हैं- यम्, नियम, आसन, प्राणायाम्, प्रत्याहार, ध ारणा, ध्यान और समाधि। इन अंगों के लगातार अभ्यास से चित्तवृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं। तदुपरान्त चित्त के एकाग्र हो जाने पर कैवल्य की अनुभूति होती है।

मीमांसा—न्याय वैशेषिक और सांख्य योग के समान मीमांसा को वेदान्त दर्शन के साथ सम्बद्ध किया जाता है। मीमांसा दर्शन के प्रतिपादक 'जैमिनी' आचार्य माने जाते हैं। मीमांसा दर्शन का शुभारम्भ धर्मजिज्ञासा (अथातो धर्मजिज्ञासा) से होता है।

मीमांसा की विशेषता वेद के स्वतन्त्र और स्वतः प्रामाण्य में है, किन्तु इसमें वेदों के कर्मकाण्ड भाग की ही चर्चा की गई है। वेद अधिष्ठित होने पर भी इसे ईश्वर का अस्तित्व मान्य नहीं। यह सृष्टि को अनादि तथा नित्य मानते हैं। अतः सृष्टिकर्ता के रूप में इन्हें 'ईश्वर' की अपेक्षा नहीं है, किन्तु वैदिक क्रियाओं के निष्पादनार्थ विभिन्न वैदिक देवों को स्वीकार किया गया है। कर्म तथा कर्मफल के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए वहाँ अपूर्व की कल्पना की गई है।

वेदान्त—विद्वानों ने अधिकतर वेदान्त शब्द का अर्थ वेद की अन्तिम कड़ी उपनिषदों से लिया है। उपनिषदों के सर्वत्र विपरीत ब्रह्म, आत्मा सम्बन्धी वर्णनों के आधार पर आगे चलकर जिस दार्शनिक परम्परा का विकास हुआ वही आगे चलकर वेदान्त नाम से अभिहित की जाने लगी।

इस दर्शन का परिचायक सर्वप्रथम ग्रन्थ वेदान्त सूत्र है, जिसके रचयिता वादरायण को बताया गया है। आचार्य शंकर ने वेदान्त दर्शन की आचार्य परम्परा में सर्वाधिक अद्वैत वेदान्त को समृद्ध तथा प्रभावित किया।

सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन एक अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। इसका वर्णन पुराणों, स्मृतियों आदि में मिलता है। इसकी श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कुछ कहना तो सूर्य को दीपक दिखाने के समान होगा। सांख्य दर्शन के अनुसार अचेतन प्रकृति और चित् पुरुष के संयोग से जगत् की सृष्टि होती है। यह जगत् प्रकृति मूलक है अर्थात् इस इन्द्रियोपलब्ध जगत् का मूल स्वरूप सूक्ष्म प्रकृति के रूप में है, जिससे इस इन्द्रियोपलब्ध रूप का विकास हुआ है या जो इस इन्द्रियोपलब्ध ा जगत् के रूप में परिणत हुई है। इस प्रकार सांख्य-दर्शन 'प्रकृतिकारणवाद' या 'प्रकृतिपरिणामवाद' को मानता है। 'संख्यान' या 'संख्या' का मूल अर्थ-'विवेक' या 'विवेकात्मक ज्ञान' है, और 'विवेक' या 'विवेकात्मक ज्ञान' का स्वरूप है-वस्तुओं का परस्पर पृथक् रूप में ज्ञान या स्वरूप ज्ञान। 'गणना' के अर्थ में जो 'संख्या' शब्द व्यवहार में है, वह भी उक्त मूल अर्थ-विवेक या विवेकात्मक ज्ञान के आधार पर ही प्रचलित है, क्योंकि 'संख्या' या 'गणना' के रूप में भी वस्तुओं का विवेकात्मक ज्ञान अर्थात् परस्पर पृथक् रूप में ज्ञान किया जाता है और परिणामतः इन्हें अलग-अलग एक, दो आदि कहा जाता है। चूँकि इस दर्शन ने संसार के तत्त्वों का इस रूप में 'संख्यान' या विवेकात्मक ज्ञान प्राप्त किया कि इस जगत् में प्रकृति और पुरुष के रूप में दो मूल तत्त्व हैं, जिनमें से एक प्रकृति तत्त्व-अचित् और परिणामी या विकारशील है और दूसरा पुरुष तत्त्व-चित् और अपरिणामी या निर्विकार है, अतः इस दर्शन को 'सांख्य' कहा गया। साथ ही परिणामशील प्रकृति से जो महत्त्व आदि तेईस विकृतियाँ होती हैं, उनका भी इस दर्शन ने संख्यान या विवेकात्मक ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार इस दर्शन का प्रमुख कार्य या वैशिष्ट्य 'संख्यान' रहा, अतः यह दर्शन 'सांख्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जैसा कि कहा भी गया है –

'संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।

तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः।।' (महाभारत)

सांख्य दर्शन का उद्भव

पहली बात यह है कि सांख्य दर्शन का उद्भव वैदिकेतर क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से तब हुआ, जब वैदिक क्षेत्र में बहुदेववादीय विचारधारा चल रही थी और उसके अनुसार विभिन्न देवों की स्तुति के रूप में विभिन्न सूक्तों का प्रणयन हो रहा था। सांख्य दर्शन के विषय में दूसरी बात यह है कि जब वैदिक क्षेत्र में बहुदेववादीय विचारधारा के बहुत काल तक चल चुकने के बाद उस दार्शनिक तत्त्ववाद का सूत्रपात हुआ, जिसकी अभिव्यक्ति "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।" (ऋ.वे. १/१२९/१), "आनीद्वातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास" (ऋ. वे. १/१२९/२), "एवं 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम्' (ऋ. वे. १/१२९/३) आदि के रूप में हुई है, तो इस तत्त्ववाद से ही आगे जहाँ औपनिषद दर्शन या वेदान्त दर्शन का उद्भव हुआ; वहाँ सांख्य दर्शन का भी उद्भव हुआ। तीसरी बात यह है कि उपनिषदों के अस्तित्व में आने के बाद उनसे सांख्य दर्शन का उद्भव हुआ है।

सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त

शास्त्र की प्रवृत्ति—जिस प्रकार सुख प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयास करते रहते हैं फिर भी प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत हम दुःख नहीं चाहते हैं तथा उससे बचने के लिए हमेशा हम सचेत रहते हैं फिर भी हम दुःखी रहते हैं इस प्रकार दुःख से उद्विग्न रहकर सुख की कामना करते रहना ही हमारा स्वभाव है। प्रतिकूल तथा दुःख में वेदना होने से वह हेय दृष्टि से देखा जाता है। दुःख के लिए प्रबुद्ध व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार के प्रश्न उठते रहते हैं। दुःख से निवृत्ति के लिए लोगों ने हमेशा से अनेकों खोज की हैं क्योंकि केवल कहने या चाहने से उसका निवारण संभव नहीं है। लेकिन जब तक उसके स्वरूप एवं मूल कारण का यथार्थ रूप से ज्ञान न हो जाय तब तक उसके समाधान का प्रयास बेकार ही है। जिस प्रकार चिकित्सा जगत् में रोग, निदान, निराकरण तथा उसके उपाय, ये चार विवेचन करने के विषय हैं उसी प्रकार सांख्य शास्त्र का भी विवेच्य विषय दुःख का कारण, दुःख हानि

और उसके उपाय का निर्धारण है। विविध प्रकार के दुःख की आग से निरन्तर दह्यमान प्रत्येक जीव दुःख का अन्त ही चाहता है।

त्रिविध दुःख—दुःख के तीन प्रकार हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभैतिक। सामान्य रूप से वात, पित्त, कफ के वैषम्य के कारण उत्पन्न होने वाले रोग आदि शारीरिक, काम, क्रोध आदि से उत्पन्न मानसिक तथा उभयविध दुःख आध्यात्मिक इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि ये आत्मा के लिङ्ग, मन बुद्धि, अहङ्कार एवं उभयविध इन्द्रियों से संयुक्त शरीर में होते पाये जाते हैं। आत्मा अर्थात् पुरुष में इनके मूल कारण गुणों का सर्वथा अभाव होने से ये उसमें नहीं हो सकते। वायु, जल एवं अग्नि के देवताओं के प्रकोप से सम्भाव्यमान आँधी, तूफान, अग्निकाण्ड एवं बाढ़ आदि से होने वाले दुःख आधिदैविक तथा सिंह, व्याघ्र, आदि भूतों अर्थात प्रणियों से पहुँचने वाले दुःख ही आधिभौतिक हैं। शारीरिक एवं मानसिक समग्र दुःखों को आध्यात्मिक इसलिए कहते हैं कि इन सबका उपचार आन्तरिक उपाय से होता है। जो दुःख औषधि आदि के शरीर के भीतर पहुँचा देने से दूर होते हैं अथवा जिनका उपशन शम, दम, तितिक्षा आदि से होता है उन्हें आध्यात्मिक कहा है। बाह्य दुःख दो प्रकार के होते हैं—आधिदैविक तथा आधिभौतिक। यही त्रिविध दुःख हैं। प्रतिकूल तथा वेदनीय होने से तीनों ही तिरस्कार करने योग्य हैं।

दुःख कारण—दुःख का कारण क्या है यह एक कठिन प्रश्न है। जहाँ तक रोगों का सम्बन्ध है उनका कारण आहार-विहार में व्यतिक्रम हो सकता है परन्तु आँधी, तूफान आदि आधिदैविक एवं सिंह व्याघ्र रूप आदि आधि ाभौतिक दुःखों के लिए व्यक्ति या समाज कहाँ तक उत्तरदायी है। जन्म एवं मरण भी दुःख ही हैं जो मनुष्य या प्राणी मात्र के वश की बात नहीं। सांख्यशास्त्र का मानना है कि दुःख स्वभाव से है। हमारा शरीर ही नहीं अखिल ब्रह्माण्ड ही जिन दुपादानों से बना है दुःख का मूल भी उन्ही में है। अखिल जगत् का मूल कारण मूल प्रकृति है जो गुणात्मिका है। सत्त्व, रज एवं तम नामक तीनों गुणों में रजोगुण ही दुःख का मूल का बिन्दु है। आत्मा को छोड़कर निखिल ब्राह्माण्ड में कोई भी ऐसा तत्त्व शेष नहीं बचता जिसमें रजोगुण सम्मिलित न हो। रजोगुण का कार्य ही दुःख है। इस प्रकार दुःख जीवन का एक सत्य है, जो कहीं ऊपर से लादा नहीं जाता अपितु अपने में ही विद्यमान है।

शारीरिक एवं मानसिक दुःखों के कारण तो स्पष्ट रूप से हमारे मन, बुद्धि, अहङ्कार एवं इन्द्रियाँ हैं जिनकी उत्पत्ति तीनों गुणों से ही मानी गई है, सिंह, व्याघ्रादि एवं आँधी-तूफान से होने वाले दुःख भी आधिदैविक एवं आधि ाभौतिक होने से त्रिगुणात्मक ही हैं। उनका प्रकोप भी रजोगुण के क्षोभ से ही होता है।

दुःखनिवारण—दुःख के कारणों को देखते हुए उसके निवारण का प्रश्न बड़ा जटिल एवं असम्भव-सा प्रतीत होता है, क्योंकि शरीर के निवारण मात्र से दुःख का निवारण नहीं हो पाता है। दुःख निवारण का अर्थ जिनका अत्यन्ताभाव तो हो नहीं सकता। क्योंकि सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कार्य का अपना कारण होता है और इस कारण परम्परा से वह कार्य अपने मूल कारण में निरन्तर बना रहता है। कार्य के रूप में तो उसका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है, विनाश सर्वथा के लिए निराकरण नहीं। यही कारण है कि किसी भी दुःख की निवृत्ति सर्वथा अर्थात् एकान्तिक एवं सर्वदा के लिए अर्थात् आत्यन्तिक नहीं हो पाती। अथवा जब तक स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर बने रहेंगे तब तक भोग होता रहेगा और दुःख भी बना रहेगा। अतः दुःख का निवारण वस्तुतः जन्म-जन्मान्तर के कर्म एवं तज्जन्य सूक्ष्म और स्थूल शरीर का ही निवारण है।

दुःख निवारण के उपाय—दुःख के साथ ही दुःख के निवारण के उपाय की जिज्ञासा को भी यदि अनादि कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस प्रकृति ने हमें स्वभाव से ही दुःख दिया है उसी ने उसकी निवृत्ति के उपाय के अनुसन्धान की शक्ति भी हमें प्रदान की है। रजोगुण का कार्य दुःख है तो उसके कारण एवं निवारण का ज्ञान सत्त्व गुण का कार्य है जो रजोगुण के साथ ही प्रकृति का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंश है। स्वभाव से ही दुःखी तथा स्वभाव से ही ज्ञानी होने के कारण मनुष्य ने दुःख के निवारण के अनेक उपायों का अनुसंधान कर रखा है।

रोगरूप शारीरिक दु:खों के प्रशमन एवं निवारण के लिए अनेक प्रकार की औषधियों एवं जड़ी-बूटियों का विधान आयुर्वेद प्रभृति चिकित्सा-शास्त्रों में उपलब्ध होता है। मानसिक दु:ख का प्रशम कमनीय पदार्थों के उपभोग से सुतरां हो जाता है यह अनुभव सिद्ध है। जहाँ तक दैवी प्रकोपों एवं ग्रह कृत दु:खों का सम्बन्ध है, उपयुक्त मणि एवं मन्त्र आदि के प्रयोग से उनकी शान्ति करने की प्रथा समाज में विद्यमान ही है। आधिभौतिक दु:ख से बचने के लिए तो हमेशा सावधानी बरतना पर्याप्त है जिसकी जानकारी नीतिशास्त्र में निपुणता एवं शिष्टजनों के उपदेशों से हो जाती है। इस प्रकार दु:ख के तीनों प्रकारों के प्रशमन के लिए उक्त अनेक प्रकार के उपायों का विधान हुआ है जिन्हें लौकिक उपाय कहते हैं।

सांख्य शास्त्र कहता है कि यह ठीक है कि वैदिक कर्मकाण्ड से उस स्वर्ग की प्राप्ति होती है जहाँ किसी वस्तु की कमी न होने से दु:ख नहीं होता। किन्तु एक तो वैदिक कर्मकाण्ड सबके लिए सुलभ नहीं है, क्योंकि वह केवल श्रमसाध्य ही नहीं अपितु उसके लिए पर्याप्त धन की भी अपेक्षा होती है, दूसरे उसमें अन्य प्रकार के भी अनेक दोष हैं। प्रथम दोष यह है कि उसमें पशु हिंसा होती है जो हमारी मानसिक पवित्रता को भ्रष्ट कर देती है। किसी दूसरे प्राणी को मृत्यु का कष्ट देकर हम अपने को सुखी बनाना चाहते हैं, यह बात कम कष्टकर नहीं है। अत: यज्ञादि कर्मकाण्ड से स्वर्ग रूपी सुख प्राप्त करने का प्रयास एक घृणित उपाय है।

इस प्रकार लौकिक एवं वैदिक किसी भी उपाय से दु:ख से निजात पाते न देख सांख्यशास्त्र ने व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान के सिद्धान्त का आविष्कार किया है। इसके अनुसार व्यक्त अर्थात् दृश्यमान जगत् अव्यक्त अर्थात् उसका मूल कारण जो दृष्टिगोचर नहीं होता अपितु केवल बुद्धिगम्य है तथा ज्ञ अर्थात् दोनों के ज्ञात के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर दु:ख की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति हो जाती है। सांख्य शास्त्र का कथन है कि 'मैं दु:खी हूँ, मैं सुखी हूँ, पुरुष की यह अनुभूति अपनी नहीं है अपितु प्रकृति के गुणों का परिणाम है। व्यक्ति जैसे ही यह समझ लेता है कि ज्ञान का सूत्र अलग है और क्रिया का अलग तथा सम्पूर्ण दु:ख समुदाय क्रिया का परिणाम है तो उसे शान्ति मिलती है और फिर वह दु:खी नहीं होता तथा अन्त में जीवन के इस रहस्य को जान लेने पर जन्म-मरण के चक्र से भी मुक्त हो जाता है। जन्म ग्रहण करने पर तो दु:ख का अनुभव निश्चित रूप से होगा। दु:ख से निवृत्ति पानी है तो जन्म मरण के चक्र से निवृत्त होना होगा।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि सांख्य के ही सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार जो भी कार्य है वह सत् है, उसका सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता। दु:ख भी कार्य है अत: उसकी ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव ही नहीं है। जब दु:ख का सर्वथा निरोध सिद्धान्तत: सम्भव ही नहीं तो उसके लिए शास्त्र की प्रवृत्ति की क्या आवश्यकता है?

इसका समाधान यह है कि दु:ख नित्य हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन रजोगुण के कार्य के रूप में वह सूक्ष्म रूप से बना रहे इसमें किसी को आपत्ति नहीं। स्थूल रूप से जब वह हमारे अनुभव का विषय होता है, तभी हमें कष्ट देता है। अत: उसका भोगारूढ़ न होना ही उसकी निवृत्ति है, सर्वथा अभाव नहीं। क्योंकि सत्कार्य-वाद के अनुसार तो किसी भी वस्तु का सर्वथा अभाव होता ही नहीं। सांख्य शास्त्र में विहित दु:ख की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति का यही अर्थ है कि हमें दु:ख की अनुभूति न हो, जो प्रकृति एवं पुरुष अथवा बुद्धि एवं आत्मा सर्वथा भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, इसके ज्ञान से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। सांख्यशास्त्र की प्रवृत्ति का यही उद्देश्य एवं प्रयोजन है।

त्रिविध विज्ञान

सांख्य शास्त्र में ब्रह्माण्ड के निखिल तत्त्वों को मूलत: दो वर्गों में रखा गया है—प्रकृति एवं पुरुष। प्रकृति की दो अवस्थायें होती हैं—अव्यक्त और व्यक्त। पुरुष को ही ज्ञ कहते हैं। व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ के स्वरूप की यथार्थ रूप से जानकारी ही व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान है। इसमें से अव्यक्त एवं ज्ञ तो एक-एक प्रकार के ही होते हैं परन्तु व्यक्त के तेईस भेद-प्रभेद होते हैं।

व्यक्त का प्रथम रूप महतत्त्व है। दूसरा भेद अहंकार है। इस अहंकार के एक ओर एकादश इन्द्रियाँ तथा दसूरी ओर पञ्च तन्मात्रायें मिलकर सोलह प्रभेद होते हैं। इन्द्रियों में से पाँच ज्ञान की हों तो पाँच कर्म की तथा एक उभयात्मक है। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना तथा घ्राण ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ। ये पाँच कमेन्द्रियाँ हैं। मन, ज्ञान एवं कर्म दोनों का साधक होने से उभयात्मक होता है। इनके अतिरिक्त गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द नामक पाँच तन्त्रमात्रायें होती हैं। ये सब अहंकार के ही प्रभेद हैं। इन्हीं तन्मात्राओं से अलग-अलग पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है जिनके नाम पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश हैं। इस प्रकार निखिल ब्रह्माण्ड में निहित तत्त्वों की कुल संख्या पच्चीस हो जाती है।

त्रिविध प्रमाण

सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रमाण के कुल तीन ही प्रकार सम्भव हैं—दृष्ट, अनुमान एवं आप्तवचन। यहाँ दृष्ट का अर्थ प्रत्यक्ष एवं आप्तवचन का शब्द प्रमाण है। अत: निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त सभी प्रकार के विषयों का ज्ञान केवल इन्हीं तीन प्रमाणों से हो जाता है, अत: प्रमाणों की अधिक संख्या मानने की कोई आवश्यकता नहीं— "तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः। (सां सू. १/८८)। उपमान, अर्थापत्ति, अभाव एवं ऐतिह्य आदि तथाकथित प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव सम्भव है। अत: प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द ये तीन ही प्रमाण संख्या को अभीष्ट हैं— "दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्।" (सां. का. ४)। इसके लक्षण एवं स्वरूप का निरूपण कर अनन्तर सांख्य प्रतिपादित किस प्रमाण में अन्य प्रतिपादित किन प्रमाणों का अन्तर्भाव होता है, इसका वर्णन किया जायेगा।

१. प्रत्यक्ष अथवा दृष्ट

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करते हुए सांख्यकारिका में कहा है कि प्रतिविषयाध्यवसाय ही दृष्ट है। 'विषयं विषयं प्रतिवर्तते' की व्युत्पत्ति से प्रतिविषय इन्द्रिय को कहते हैं जिसकी वृत्ति विषय से सन्निकर्ष है। अध्यवसाय तदाश्रित व्यापार है। अथवा बुद्धि के व्यापार ज्ञान को ही अध्यवसाय कहते हैं। विषय के सन्निकर्ष में आने पर उनके प्रति इन्द्रियों की वृत्ति होने से बुद्धि में तम का तिरोधान एवं सत्त्व का जो उद्रेक है वही अध्यवसाय है। यह अध्यवसाय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इससे चेतना शक्ति का जो अनुभव है वही यथार्थ अनुभव का प्रमा है।

बुद्धितत्त्व तो वस्तुत: अचेतन है क्योंकि वह जड़ प्रकृति का परिणाम है। इसलिए जिस प्रकार जड़ मिट्टी का बना घड़ा भी जड़ ही होता है उसी प्रकार जड़ बुद्धि का परिणाम अध्यवसाय भी जड़ ही होना चाहिए। यही नहीं, बुद्धि तत्त्व के सुखादि भी उसके परिणाम होने से अचेतन ही होने चाहिए। परन्तु सुखादि का अनुषङ्गी पुरुष तत्त्व तो सचेतन है। बुद्धि तत्ववर्ती ज्ञान एवं सुख आदि का बुद्धि ही में प्रतिबिम्बित पुरुष पर ही आरोप जाने से पुरुष भी ज्ञानादिमान् प्रतीत होने लगता है। साथ ही पुरुष की छाया पड़ने से अचेतन बुद्धि एवं उसके अध्यवसाय भी चेतन की तरह प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर पुरुष तत्त्व भी उसी बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है। इसके पश्चात् 'मैं अमुक हूँ' ऐसी एक वृत्ति बुद्धि में उत्पन्न होती है। वह वृत्ति बुद्धि में ही प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष पर भी आरोपित हो जाने से उसी की प्रतीति होती है। परिणामत: पुरुष अपने को ज्ञान एवं उससे होने वाले सुख-दु:ख का भोग करने वाला समझने लगता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार किसी बाह्यवस्तु के विषय में बुद्धि की निश्चयात्मक वृत्ति ही प्रत्यक्ष है। यत: वह केवल एक ही प्रकार की होती है, अत: प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एवं सविकल्पक भेद भी सम्भव नहीं।

२. अनुमान

अनुमान प्रत्यक्ष का ही कार्य है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष पर ही आधारित होता है। अनुमान का सामान्य लक्षण करते हुए सांख्यकारिका में कहा है कि—"तल्लिङ्लिङ्गिपूर्वकम्।" लिङ्ग हेतु को कहते हैं जो व्याप्त होता है

तथा लिङ्गी साध्य है जो व्यापक होता है। धूमादि हेतु व्याप्य एवं वह्नि आदि ही व्यापक है। इस प्रकार का जो ज्ञान है, तत्पूर्वक अर्थात् उस ज्ञान से होने वाली प्रतीति ही अनुमान है।

अनुमान के तीन भेद होते हैं—१. पूर्ववत्, २. शेषवत् तथा ३. सामान्यतोदृष्ट। ये विभाजन व्याप्ति के स्वरूप के अनुसार किये गये हैं। जहाँ व्याप्ति अन्वय मुख से होती है वहाँ पूर्ववत् एवं सामान्यतोदृष्ट तथा जहाँ व्यतिरेक मुख से होती है वहाँ शेषवत् अनुमान होता है। इसमें से पहले दो भेद विधायक होते हैं तो तीसरा शेषवत् निषेधक, विधायक को वीत तथा निषेध को ही अवीत भी कहते हैं। जिस अनुमान में हेतु और साध्य के साहचर्य नियम रूप व्याप्ति का दृष्टान्त प्रत्यक्ष रूप में देखा जाता हो उसे ही पूर्ववत् कहते हैं। जैसे धूम को देखकर वह्नि का अनुमान अथवा विशेष का साक्षात्कार कर जहाँ सामान्य का अनुमान किया जाता है उसे पूर्ववत् कहते हैं। सामान्यतोदृष्ट वह है जहाँ किसी विशेष का साक्षात्कार सम्भव न हो। अपितु सामान्य नियम के आधार पर विशेष का बिना प्रत्यक्ष के ही अनुमान किया जाय। यथा रूपादि के साक्षात्कार की क्रिया से उनके करण इन्द्रियों का अनुमान। जहाँ-जहाँ क्रिया होती है वहाँ-वहाँ करण अवश्य होते हैं। रूप विज्ञान भी एक प्रकार की क्रिया ही है। अत: इनके भी करण का होना अनिवार्य है। जो इनके करण हैं वही इन्द्रियाँ हैं। यहाँ किसी इन्द्रिय का उस रूप में पूर्णत: साक्षात्कार नहीं हुआ होता जिस रूप में महानस में वह्नि विशेष का साक्षात्कार हुआ होता है। पूर्ववत् से सामान्यतोदृष्ट का वही भेद है। व्यतिरेक व्याप्ति से सम्पन्न होने वाला निषेधक अनुमान शेषवत् है। जैसे शब्द आठों द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य पर आश्रित है क्योंकि उनमें से कोई भी उसका समवायि कारण नहीं है। जिसका समवायिकारण इनमें से ही कोई हो वह इनसे अतिरिक्त द्रव्य पर आश्रित नहीं हो सकता, जैसे—रूप।

३. आप्तवाक्य—तीसरा प्रमाण आप्तवाक्य है। आप्त, प्राप्त अर्थात् युक्त को कहते हैं तथा वाक्य श्रुति से होने वाला वाक्यार्थ ज्ञान है। वाक्यार्थ ज्ञान की आप्तता (प्रामाणिकता) दो प्रकार से सिद्ध होती है—स्वत: एवं परत: वेद जहाँ स्वत: प्रमाण है वहाँ स्मृति, पुराण एवं शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान की प्रामाणिकता भी वेद पर ही निर्भर है। वेद मूलक होने से ही ये प्रमाण माने जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। अतएव वेद स्वत: प्रमाण है तो पुराणादि परत:। आप्तवाक्य अर्थात् शब्द प्रमाण के ये ही दो प्रकार हैं।

सांख्य सिद्धान्त में केवल इन्हीं तीन प्रमाणों की मान्यता दी गई है। इसके अतिरिक्त प्रमाण तथाकथित हैं एवं उनका अन्तर्भाव इन्हीं में साधित हो जाता है। इनके अतिरिक्त सबसे पहले नैयायिकों का उपमान प्रमाण आता है जो पूर्वत: ज्ञान वस्तु के सादृश्य के आधार पर साध्य का ज्ञान है—'प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपन्त्रित:।' (न्या.सू. २/१/४५)। जैसे 'यथा गौस्तथा गवय:' वाक्य के आधार पर गाय के समान जन्तु-विशेष को देखकर उत्पन्न बुद्धि। इस उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में ही इसलिए हो जाता है कि गवय वस्तु के ज्ञान का जनक उसी का एक धर्म गोसादृश्य है। वही यहाँ लिङ्ग है जिसका विशेष गो में दृष्ट होने से यह पूर्ववत् कोटि का अनुमान ही है। इसी प्रकार 'अर्थाषत्ति' भी प्रमाण नहीं हो सकता। पीन देवदत्त का दिन में भोजन न करने की बात सुनकर रात्रि में भोजन करने की कल्पना ही अर्थापत्ति है जिसका शेषवत् अनुमान में अन्तर्भाव इसलिए हो जाता है कि पीनत्व भोजन का ही परिणाम रूपी धर्म है। जो लिङ्ग होकर रात्रि के भोजन की अनुमति कराता है। क्योंकि जहाँ भोजन का अभाव है वहाँ पीनत्व का भी अभाव ही पाया जाता है। अत: अर्थापत्ति भी अनुमान ही है। जहाँ तक 'अभाव' का प्रश्न है वह भी प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है। हमें भूतल के विविध रूपों का इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होता ही है। कभी वह घटादि किसी अन्य वस्तु से युक्त होता है तो कभी उनसे सर्वथा रहित केवल भूतल मात्र। उसका प्रत्यक्ष ही 'घटाभाववद्भूतलम्' का ज्ञान है। जहाँ तक 'ऐतिह्य' का प्रश्न है। युक्ति एवं तर्क की कसौटी पर कसने से वह प्रमाण की ही कोटि में नहीं ठहरता। परम्परा से प्रचलित प्रवाद को जिसके वक्ता का कोई ठिकाना नहीं है कि वह कौन है, प्रमाण के रूप में कैसे स्वीकारा जा सकता है। इस प्रकार इस सारे विवेचन का निष्कर्ष यही निकला कि सांख्य शास्त्र दृष्ट, अनुमान एवं आप्तवाक्य नामक जिन तीन प्रमाणों का प्रतिपादन करता है उनके अतिरिक्त प्रमाण का कोई अन्य प्रकार सम्भव नहीं है। जो कुछ उपमानादि नाम मत-मतान्तरों में प्राप्त होते हैं वे या तो प्रमाण ही नहीं है या हैं भी तो इन्हीं तीनों में से किसी न किसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

सत्कार्यवाद

कोई भी कार्य बिना कारण के सम्पन्न नहीं होता। इस कथन में किसी को भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु कारण और कार्य का स्वरूप क्या है तथा कार्य कारण से सर्वथा भिन्न होता है या उसी का परिवर्तित रूप। ये सभी प्रश्न अत्यन्त विचारणीय हैं। कार्य-कारण भाव सम्बन्ध के अनुसार यदि इस ब्रह्माण्ड के मूल कारण का अनुसन्धान करते हैं तो अनवस्था दोष आता है। क्योंकि प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है जो अपने कारण का कार्य भी है। इसलिए क़ार्य कारण भाव की स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिए जिसे दार्शनिकों ने की भी है। उपनिषदों में भी इस प्रकार जिज्ञासा का विवेचन प्राप्त होता है कि सृष्टि के पूर्व कोई सत्ता थी या नहीं।

एक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्।

यह कार्यकारण भाव दो प्रकार से व्यवस्थित किया जाता है—कारणवाद और कार्यवाद। कारणवाद भी दो प्रकार का होता है—सत्कारणवाद और असत्कारणवाद। इसी प्रकार कार्यवाद भी दो प्रकार का है—सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद।

असत्यकार्यवाद का अभिप्राय यह है कि किसी वास्तविक कारण की सत्ता के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाना। यह सिद्धान्त शून्यवादी बौद्धों का है। उनका मत है कि कोई भी कारण स्वयं विनष्ट हुए बिना किसी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। उदाहरणतः बीज के विनाश से ही अंकुर उत्पन्न होता है जो उस बीज का कार्य है। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि की उत्पत्ति किसी वस्तु के विनाश अर्थात् अभाव से हुई है और उत्पन्न होकर यह सत् अर्थात् वास्तविक है। यह प्रक्रिया जगत् के प्रत्येक वस्तु में जो पाई जाती है। उसका यही रहस्य है। इसके ठीक विपरीत मत अद्वैतवादी वेदान्तियों का है जो यह मानते हैं कि वस्तुतः सत् अर्थात् तीनों काल में लगातार एक समान बना रहने वाला तत्त्व तो एक ही है एक से दो या अधिक हो भी नहीं सकता। निखिल सृष्टि प्रपञ्च जो कार्य के रूप में हमारे सामने उपस्थित है, वह नाम रूपात्मक है। नाम और रूप कोई ऐसे तत्त्व नहीं है जो परमार्थतः सत् हो। इनकी परीक्षा करने पर जो तत्त्व परमार्थतः सत् मिलता है वह आत्मा अर्थात् चैतन्य है जो केवल एक ही है। आकाशादि स्थूलभूत ही नहीं मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म तत्त्व भी स्वतः कोई ऐसे तत्त्व नहीं हैं जो परमार्थ रूप से सत् हों अपितु यह निखिल ब्रह्माण्ड कारण भूत उसी आत्मतत्त्व का विवर्त है। जिसका अभिप्राय यह है कि आत्मतत्त्व इन रूपों में परिणत नहीं हो जाता अपितु मात्र प्रतीत होता है। कहा भी है—अतात्त्विकोयोऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः।

सांख्य सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य को कार्य कारण भाव के उक्त तीनों में से कोई भी वाद स्वीकार्य नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि इनको स्वीकार करने पर सांख्य सिद्धान्त के मूल तत्त्व प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति की सिद्धि नहीं हो पाती, जो अव्यक्त है। सांख्य को एक ऐसे वाद की आवश्यकता थी जिसके अनुसार वह निखिल विश्व प्रपञ्च को एक रूप में समेटकर उसे सबका मूल कारण सिद्ध कर दे, वह एक तत्त्व चाहे सर्वथा अव्यक्त ही क्यों न हो। इसीलिए उसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि कार्यों में आपस की अनुरूपता इस बात को बताती है कि उन सबके मूल में कोई एक तत्त्व है। जिससे यह सब उत्पन्न हुए हैं। इतना ही नहीं अपितु वह कारण ही कार्य के रूप में परिणत होकर प्रतिभाषित हो रहा है। इसका अभिप्राय यह है कि कार्य अपने उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारण में समाहित रहता है और कारण व्यापार होने पर प्रगट हो जाता है। इस प्रकार कार्य का आविर्भाव और कारण व्यापार होने पर प्रगट हो जाता है। इस प्रकार कार्य का आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है, नयी उत्पत्ति और विनाश नहीं। सूक्ष्म रूप से अपने कारण में वर्तमान कार्य का आविर्भाव ही उसकी उत्पत्ति तथा कारण में पुनः तिरोभाव ही उसका विनाश है, जो कछुवे के हाथ-पैर के समान आवश्यकतानुसार आविर्भूत और तिरोभूत हुआ करता है। इसी को सत्कार्यवाद कहते हैं।

पूर्व वादों में विप्रतिपत्ति का प्रदर्शन करते हुए सांख्यशास्त्रियों का कहना है कि बौद्धों के असत्कारणवाद के अनुसार यदि असत् से सत् की उत्पत्ति के वाद को स्वीकार कर लिया जाय तो सत् और असत् में भेद सम्भव न होने

से अनिर्वचनीय एवं अभाव रूप कारण से शब्द एवं रूपात्मक सुखादि रूप यह जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? क्योंकि सुख-दु:खादि रूप कार्य का जो कारण है उसका भी सुखदु:खादि रूप होना ही उचित है। कार्य एवं कारण को एक रूप अर्थात् अभिन्न न मानें तो भी किसी न किसी अंश के अनुरूप तो मानना ही होगा। अन्यथा कोई व्यवस्था नहीं बनेगी। कार्य के रूप एवं गुण को समझकर तदनुरूप रूप गुण से संतुलित वस्तु को ही उसकी उत्पत्ति के लिए ग्रहण किया जाता है। जहाँ तक एकमात्र सत् आत्म से असत् रूप निखिल प्रपञ्च की भ्रान्त प्रतीति के वेदान्तियों के सिद्धान्त का सम्बन्ध है वह इसलिए उपयुक्त नहीं है कि उसके कार्य एवं कारण का तादात्म्य नहीं बनता। क्योंकि कार्य वस्तुत: कुछ है ही नहीं तो उसके कारण की एकरूपता कैसी ? इसके अतिरिक्त लगातार प्रत्यक्षत: अनुभूयमान जगत् का असत् कहकर निरूपण करना वदतोव्याघात नहीं तो और क्या है। इसलिए असत् से सत् एवं सत् से असत् की उत्पत्ति या प्रतीति के विधायक दोनों ही वाद विचारणीय नहीं हैं। विचारणीय पक्ष केवल नैयायिकों का ही है जो यह मानते हैं कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता। उनके इस कथन के विरोध में पाँच युक्तियों का उपन्यास सांख्यकारिका में हुआ है जो एक ही कारिका में अनुस्यूत हैं—

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।

इसका अर्थ है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व या कारण के कार्योत्पत्ति के अनुकूल व्यापार के पूर्व भी विद्यमान रहता है क्योंकि—

(अ) असदकरणात्—जो सत् अर्थात् किसी-न-किसी रूप में कहीं विद्यमान नहीं है उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जगत् में कोई भी वस्तु सर्वथा नवीन उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि अभाव का भाव कथमपि नहीं हो सकता। कहा भी है—नासतो विद्यते भाव:। यदि अभाव से ही भाव की उत्पत्ति होने लगे तो अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति सर्वत्र अपने आप होनी चाहिए जो कदापि नहीं होती। अथवा जो वस्तु जिसमें विद्यमान नहीं है उससे उसकी उत्पत्ति मानने पर किसी भी वस्तु से किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है परन्तु होती है नहीं। यदि यह कहें कि सत् एवं असत् दोनों ही वस्तु के धर्म हैं जो बारी-बारी से उसमें रहते हैं तो यह बात इसलिए सही नहीं हो सकती कि असत् अवस्था में जब वस्तु ही नहीं रहती तो उसमें उसके वर्ग के विद्यमान होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(ब) उपादानग्रहणात्—कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी कारण में विद्यमान रहता है, इसकी सिद्धि में दूसरी युक्ति उपस्थापित करते हैं कि जब भी किसी कार्य को हम करना चाहते हैं तो उसके उपादान कारण का ग्रहण करते हैं। उपादान वही वस्तु है जिसमें कार्य समवाय सम्बन्ध से रहता है। अर्थात् कार्य जिसमें पूर्णत: विद्यमान होता है उसी को उस कार्य का उपादान कारण कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि समवाय सम्बन्ध से कार्य अपने उपादान से सम्बन्धित रहता है। कार्य की असत् अवस्था में उपादान के साथ उसका सम्बन्ध कैसे बन सकता है। क्योंकि सम्बन्ध सर्वदा उभयाश्रित होता है। जब तक कारण के साथ कार्य की समकालीन सत्ता नहीं मानेंगे तब तक उनमें सम्बन्ध बन नहीं सकता।

(स) सर्वसम्भवाभावात्—बिना किसी सम्बन्ध के ही कारण से कार्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर सभी प्रकार के कार्य सभी कारणों से सम्पन्न होने चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। कोई वस्तु किसी निश्चित वस्तु से ही उत्पन्न होती है सबसे नहीं। अन्यथा लोगों की सभी परेशानी दूर हो जाती। कोई वस्तु कहाँ होती है, कहाँ नहीं, यह विवाद ही समाप्त हो जाता। जिसके पास जो वस्तु है उसी से वह सभी वस्तुएँ बना लेता। पर किसी भी एक कारण में सभी प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने की क्षमता कथमपि नहीं।

(द) शक्तस्य शक्यकरणात्—कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि बिना किसी सम्बन्ध के ही कारणों से कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। फिर वहाँ कैसे व्यवस्था बनती है ? उसका उत्तर दिया है—शक्तस्य शक्यकारणात्। इसका अर्थ यही है जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है वही उसे उत्पन्न कर सकता है अन्य

NOTES

नहीं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कारण में रहने वाली वह शक्ति होती है या समर्थ में ही केवल। यदि सर्वत्र होती है तो अव्यवस्था वैसी की वैसी बनी रहती है और यदि यह कहें कि वह शक्ति शक्त अर्थात् समर्थ कारण में ही रहती है तो कार्य के विद्यमान रहने के बिना ही उसमें कार्योत्पादन का सामर्थ्य कैसे सिद्ध हो सकता है ? इस पर यह कहा जा सकता है कि सभी कारणों में शक्ति समान नहीं होती। अत: यह शक्ति की सीमा ही है कि वस्तु या व्यक्ति किसी कार्य विशेष को ही पैदा करें सबको नहीं। इसका उत्तर यही है कि क्या वह शक्ति विशेष कार्य से सम्बद्ध है या असम्बद्ध है। यदि सम्बद्ध है तो वह असत् अर्थात् कुछ है ही नहीं। यह कैसे हो सकता है क्योंकि असत् के साथ सम्बद्ध होना सम्भव ही नहीं। असम्भव होने पर वही अव्यवस्था। अत: यह ठीक ही कहा कि शक्तस्य शक्यकरणात्।

(य) कारणभावात् च—कार्य कारण से इसलिए भी भिन्न नहीं है कि कार्य हमेशा कारणात्मक ही होता है। कारण से भिन्न कार्य नहीं होता। जब कारण सद्रूप है तो उससे अभिन्न कार्य असत् कैसे हो सकता है ? पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है क्योंकि वह तन्तुओं का ही एक धर्म है। जो जिससे भिन्न होता है वह उसका धर्म नहीं होता, जैसे—गाय अश्व से भिन्न है तो वह उसका धर्म भी नहीं है। कारण भाव का अर्थ उपादानोपादेय भाव भी है। जिन वस्तुओं में उपादानोपादेयभाव होता है, वे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं होती।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जिन दो वस्तुओं में अर्थ क्रिया भिन्न-भिन्न होती है वे एक दूसरे से भिन्न हैं। तन्तु से कपड़ा सीने का काम लिया जाता है तथा पट से आच्छादन का। घड़े से जल लाया जाता है जो मिट्टी से कदापि सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में दोनों को अभिन्न कहना कहाँ तक उपयुक्त है ? इसका समाधान यह है कि अर्थ क्रिया की व्यवस्था वस्तु के भिन्न होने का कारण नहीं है। एक ही अग्नि के दाहक, पाचक और प्रकाशक होने से वह अनेक नहीं हो जाता। इसके विपरीत अनेक भृत्य मिलकर पालकी ढोने का काम करते हैं उससे वे सब अभिन्न नहीं हो सकते।

सृष्टि एवं प्रलय

(अ) जगत् का कारण तत्त्व—नैयायिक परमाणुओं को जगत् का उपादान एवं ईश्वर को इसका निमित्त कारण मानते हैं। वेदान्ती चित्तत्व आत्मा को ही इसका निमित्त एवं उपादान उभय कारण सिद्ध करते हैं। सांख्यशास्त्रियों का कहना है कि इस जगत् में चेतन और जड़ दोनों की सत्ता है। एक ओर जहाँ नदी, पर्वत आदि जड़ पदार्थ हैं तो दूसरी ओर मनुष्य, पशु, पक्षी आदि ऐसे हैं जो चेतन कहे जाते हैं। जड़ एवं चेतन का संयोग भी हमें सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। यह साफ नहीं है कि जड़ ही चेतन का कारण है या चेतन जड़ का ? आधुनिक वैज्ञानिक प्राचीन चार्वाकों की तरह जड़ से ही चेतन का विकास मानते हैं, जड़ ही चेतन के रूप में परिणत हो जाता है। वेदान्त का दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत है कि निखिल प्रपञ्च का मूल चेतन तत्त्व है। जड़ वस्तुत: कोई तत्त्व नहीं है। चेतन का ही नामरूपात्मक विवर्त यह निखिल ब्रह्माण्ड है। सांख्य दर्शन इन दोनों से ही सहमत नहीं। इसका कहना है कि जड़ एवं चेतन दोनों ही तत्त्व सर्वथा स्वतन्त्र हैं, इनमें से कोई भी दूसरे का कारण या कार्य नहीं हो सकता। यह निखिल जगत् जड़ होते हुए भी स्वत: क्रियाशील है। चेतन तत्त्व सर्वथा निष्क्रिय है। अखिल विश्व का मूल त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। सत्त्व, रज एवं तम नामक गुण की इस जगत् के उपादान कारण हैं जो चेतन तत्त्व के संयोग से क्षुब्ध होकर अनेक सजातीय एवं विजातीय तत्त्वों में परिणत हो जाते हैं।

(ब) गुणत्रय—सांख्य दर्शन अपने सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार यह मानता है कि इस जगत् में जो कुछ भी अनुभव पक्ष में आता है वह निर्मूल नहीं है। यद्यपि जगत् की प्रत्येक वस्तु हमें विलक्षण दिखाई देती है परन्तु परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि वस्तुओं के स्वभाव में बहुत अधिक साम्य भी है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो सुखदु:खमोहात्मक न हो। जो धर्म कार्य के सभी भेदों में पाये जाते हैं वे कारण के ही होते हैं अर्थात् कारण में ही सूक्ष्म रूप से वर्तमान थे, ऐसी मान्यता सांख्यशास्त्रियों की है जिसका आधार सत्कार्यवाद है। जगत् के पदार्थों में रूप रंग का जो वैविध्य है अथवा स्थूलता एवं सूक्ष्मता के बावजूद भी उनमें जो एकरूपता है, वही इनके मूल तत्त्व का

स्वरूप हो सकता है। इस प्रकार कार्य-जगत् में उपलभ्यमान अनेकता में एकरूपता के आधार पर हम सुखदु:खमोहात्मकता को निखिल प्रपञ्च में व्याप्त पाते हैं। अत: यही इनके मूलतत्त्व का धर्म है, इस बात का अनुमान हम सरलता से कर सकते हैं।

ये क्रम से सुखात्मक, दु:खात्मक एवं मोहात्मक होते हैं तथा प्रकाश, प्रवृत्ति एवं नियमन करते हैं। इनकी दो अवस्थायें होती हैं। एक तो वह अपने प्रवाह में निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं, यह साम्यावस्था है, दूसरी वैषम्यावस्था इनके परस्पर के संयोग से होती है। पूर्वावस्था में इनमें कोई परिणाम नहीं होता जबकि दूसरी अवस्था में इनसे निखिल विश्व की सृष्टि हो जाती है। इनकी पूर्वावस्था को ही मूल प्रकृति, प्रधान एवं अव्यक्त के नाम से अभिहित किया जाता है तो दूसरी को क्षुब्धावस्था या सृष्टि की अवस्था कहते हैं।

(स) सृष्टि की प्रक्रिया—पूर्व विवेचन से यह सिद्ध हो गया है कि जगत् का उपादान कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। पुरुष तत्त्व से उसका संयोग ही इसका निमित्त कारण है। इस संयोग से जड़ प्रकृति सचेतन-सी हो जाती है और उसकी क्रियाशीलता निष्क्रिय पुरुष पर आरोपित हो जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति नये-नये तत्त्वों के रूप में परिणत होने लगती है। इसका प्रथम परिणाम बुद्धि के रूप में होता है, जिसका लक्षण अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करना है। इसी को महत्तत्व भी कहते हैं। इसको 'महत्' सम्भवत: इसलिए कहते हैं कि अव्यक्त प्रकृति का प्रथम परिणाम यही तत्त्व है। जिसमें निखिल ब्रह्माण्ड के उत्पादन की क्षमता है। यह दो प्रकार का होता है—सात्त्विक एवं तामस। धर्म, ज्ञान, विराग एवं ऐश्वर्य नामक भाव इसके सात्त्विक रूप के परिचायक हैं, तो इसका एक रूप तामस भी है जिसके भाव, अधर्म, अज्ञान, राग एवं अनैश्वर्य हैं।

एकादश इन्द्रियों में श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना एवं घ्राण नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन हैं। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति बिना मन के योग के नहीं हो सकती, अत: यह उभयात्मक है। ये ग्यारह तत्त्व विषयों के प्रकाशक होने से विषयी हैं। इसके विषय पाँचों तन्मात्रायें हैं जिनसे पाँच महाभूत पैदा होते हैं। शब्द तन्मात्रा से आकाश, स्पर्श तन्मात्रा से वायु, रूपतन्मात्रा से अग्नि, रसतन्मात्रा से जल तथा गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है।

''प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि।।'' (सां.का. २२)

सृष्टि का यही क्रम है। इन्हीं तत्त्वों के परस्पर योग से स्थावर एवं जंगम निखिल जगत् की उत्पत्ति होती है। गाय, वृक्ष एवं घड़े आदि पदार्थ स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है अपितु उक्त तत्वों के ही मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। इसलिए इनकी गणना तत्त्व के रूप में नहीं होती। इनमें जो स्थूलता और इन्द्रियग्राह्यता है वह पृथ्वी आदि के समान ही है। अत: ये तत्त्वान्तर नहीं हैं। संक्षेप में सृष्टि का यही क्रम है। प्रलय के समय निखिल स्थूल जगत् पञ्चमहाभूतों में विलीन हो जाते हैं, पञ्चमहाभूत क्रमशः अपनी-अपनी तन्मात्राओं के द्वारा अहंकार तथा महत्तत्व में अन्तर्भूत होकर अन्ततोगत्वा गुणत्रय में विलीन हो जाते हैं। यही प्रलय है।

प्रधान (मूलप्रकृति)

सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् का मूल कारण प्रकृति है जो—''प्रकर्षेण क्रियन्ते यस्याः सा प्रकृतिः की व्युत्पत्ति के द्वारा महदादि तेईस तत्त्वों की उत्पादिका होने से इसकी अन्वर्थ संज्ञा है। इसे अव्यक्त भी इसलिए कहते हैं कि यह इन्द्रियगोचर कभी नहीं होती। इसकी सत्ता का हम अनुमान ही करते हैं। इसका एक नाम प्रधान भी है जिसका अभिप्राय यह है कि अन्त में सभी भौतिक तत्त्व इसी में निहित होते हैं—'प्रकर्षेण धीयते स्थाप्यते अत्र अखिलम् इति प्रधानम्।' प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व, रज एवं तम ही तीनों गुण हैं जो इसके स्वरूपधायक हैं, ध र्म या गुण नहीं। वस्तुत: तीनों गुणों के अतिरिक्त प्रकृति कोई अन्य तत्त्व नहीं है। इन गुणों की स्थिति दो प्रकार से होती है—साम्य एवं वैषम्य। साम्यावस्था में केवल गुण ही रहते हैं—'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' (सा.

सू. १६१)। यही प्रलयावस्था कहलाती है। वैषम्यावस्था में ये ही तीनों गुण परस्पर विभिन्न अनुपातों में मिश्रित होकर सृष्टि के रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार यह प्रधान ही जगत् का उपादान कारण है जिसमें निखिल ब्रह्माण्ड सूक्ष्मरूप में निहित है।

NOTES

प्रधान के अस्तित्व में प्रमाण—पूर्व में वर्णित है कि प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति की सत्ता प्रत्यक्षत: सिद्ध नहीं होती अपितु उसकी सिद्धि अनुमान से होती है। धर्म से धर्मी की सत्ता का ज्ञान ही अनुमान है—'कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात्' (सां. सू. १/१३५)। इस संसार में उपलभ्यमान अशेष पदार्थ अचेतन, अविवेकी, विषम सामान्य तथा प्रसवधर्मी हैं। कार्य कें वे धर्म कार्य कारण से ही आते हैं जिनकी उपलब्धि कार्य के सभी प्रकारों में होती है। अविवेकिता आदि धर्म ऐसे ही हैं। परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि कार्य जगत् के ये धर्म उसमें निहित गुणत्रय के कारण हैं। क्योंकि पुरुष में जहाँ तीनों गुणों का सर्वथा अभाव होता है, ये अविवेकिता आदि धर्म कथमपि नहीं पाये जाते। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि निखिल प्रपञ्च का कोई मूल कारण अवश्य है जो त्रिगुणात्मक है। यहाँ पर व्यतिरेक-व्याप्ति के द्वारा ही कि 'जो त्रिगुणात्मक नहीं है, वह अविवेकिता आदि धर्मों से युक्त भी नहीं है। जैसे पुरुष, प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती हैं। इस प्रकार गुणत्रय रूपी लिङ्ग से ही अव्यक्त प्रकृति की सत्ता प्रमाणित हो जाती है—'अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात्' (सां. सू. १/१३६)।

प्रधान की सत्ता इसलिए भी सिद्ध होती है कि महत् से लेकर स्थूल-भूतपर्यन्त व्यक्त जगत् के जितने भेद हैं वे परिमित हैं अर्थात् कुल तेईस ही हैं। इससे हम यह अनुमान करते हैं कि इनका कोई न कोई कारण अवश्य है जिससे ये इस परिमित संख्या में ही उत्पन्न हुए हैं। यदि इनका कोई कारण न होता तो ये अपरिमित होते। अथवा ये तत्त्व परिमित अर्थात् व्याप्य हैं जो किसी अन्य व्यापक तत्त्व की सत्ता के अनुमापक हेतु बनते हैं। व्याप्य वह तत्त्व है जो किसी तत्त्व से कम स्थान में रहता है। ठीक इसके विपरीत व्यापक वह तत्त्व होता है जो व्याप्य की अधिक देश में रहता है। धूम और अग्नि में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है क्योंकि धूम की अपेक्षा अग्नि अधिक देश में रहता है। जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ सब जगह तो अग्नि होती ही है इसके अतिरिक्त वह अपने कार्य धूम की अपेक्षा वहाँ भी रहता है जहाँ धूम नहीं होता अतएव धूम व्याप्य और अग्नि व्यापक है। व्याप्य-व्यापक भाव ही व्याप्ति है जिसके आधार पर व्याप्य पदार्थ से व्यापक पदार्थ की अनुमिति होती है।

कारण और कार्य में विभाग और एकरूपता दोनों बातें होती हैं। कार्य के उत्पन्न होने के पूर्व तो कारण और कार्य एक होते हैं परन्तु कार्य दशा में इनका विभाग हो जाता है। कार्य की कारण से अलग सत्ता हो जाती है। अत: जब निखिल ब्रह्माण्ड हमारे सामने कार्यरूप में विद्यमान है तो उससे उसके कारण का अनुमान हमें क्यों नहीं हो जायेगा, चाहे वह कितना ही अव्यक्त क्यों न हो ? वही कारण प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति है। इसलिए यही मानना चाहिए कि स्थावरजङ्गमात्मक इस अखिल विश्व अर्थात् महत् से लेकर स्थूल-भूत पर्यन्त व्यंक्त का जगत् कोई न कोई मूल कारण है और वह अव्यक्त है। वह अपनी त्रिगुणता के कारण व्यक्त रूप में प्रवृत्त परिणत होता है जिसके परिणामस्वरूप महत् तत्त्व उद्भूत हुए हैं। जिस प्रकार वर्षा का ही जल नारियल, ताड़, आम एवं बेल आदि विविध ा फलों में मीठा, खट्टा, कषाय आदि अनेक स्वादों में परिणत हो जाता है उसी प्रकार त्रिगुणात्मक वही अव्यक्त प्रकृति मन, बुद्धि, अहंकार आदि करणों एवं स्थूल सूक्ष्म भूतों के रूप में व्यक्त हो जाती है। इनमें भेद का मुख्य कारण तीनों गुणों का विभिन्न अनुपात में मिश्रित होना है जिसके लिए ही सांख्यकारिका में कहा है—'समुदयाच्चय।'

सांख्यसूत्र की प्रक्रिया कुछ भिन्न ही है। उसके अनुसार पृथ्वी आदि स्थूल महाभूतों से उनके उपादान पञ्चतन्मात्राओं का, एकादश इन्द्रियों के साथ पञ्चतन्मात्राओं के द्वारा अहंकार का, अहंकार के अन्त:करण रूप महत्तत्व का और महत्तत्व से कार्यकारण भाव के द्वारा उसके कारण मूल प्रकृति का अनुमानात्मक ज्ञान होता है।

पुरुष

(१) पुरुष की सत्ता में प्रमाण—पूर्व में वर्णन किया जा चुका है कि मूल प्रकृति है और वह त्रिगुणात्मिका है। इस संसार के प्रत्येक तत्त्व में तीनों गुण विभिन्न अनुपात में समन्वय है। वस्तुओं में गुणों का न्यूनाधिक्य भाव इस

बात का द्योतक है कि कोई तत्त्व ऐसा भी अवश्य है जहाँ इनका सर्वथा अभाव होगा। इनकी पूर्णता तो प्रधान में है। वहाँ तीनों गुण अपने पूर्ण परिमाण में विद्यमान रहते हैं। परन्तु व्यक्त या अव्यक्त में से कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जिनमें तीनों गुणों का सर्वथा अभाव हो, तो न्यूनाधिक्यभाव का दूसरा पहलू है। जो ऐसा है वही तत्त्व पुरुष है। इस बात को सांख्य शास्त्र में 'त्रिगुणादि विपर्ययात्' से प्रतिपादित किया गया है।

प्रकृति में अनेक प्रकार की सुमधुर ध्वनियाँ, शीतोष्ण स्पर्श, नील, पीत, हरित आदि रूप, मधुर, लवण, कटु, कषाय आदि रस तथा विविध प्रकार के गन्ध एवं इन सबके मिश्रण से संगीत, सौन्दर्य, माधुर्य आदि ऐसे पदार्थ जुट जाते हैं जिनका उपभोग स्वयं प्रकृति नहीं कर सकती। इनका उपभोक्ता प्रकृति से भिन्न कोई ऐसा तत्त्व होना चाहिए जो सचेतन हो। यह तत्त्व ही पुरुष है। ऐसे तत्त्व के अभाव में निखिल ब्रह्माण्ड शून्य ही रहेगा। किसी भी उत्तम पदार्थ की सार्थकता उसके उपभोक्ता को पाकर ही होती है। पदार्थ स्वयं अपना उपभोक्ता नहीं हो सकता। इस सृष्टि का इसी भोक्तृभाव के अनुसार विधान हुआ है जिसमें भोक्तृत्व चैतन्य से आता है। मनुष्य या पशु, पक्षी आदि सबका शरीर निश्चित रूप से प्रकृति की रचना है परन्तु इनमें किसी चैतन्य तत्त्व का भी योग अवश्य है तभी यह अपने बाह्याभ्यन्तर करणों का उपयोग कर बाह्य विषयों का उपभोग करता है।

पुरुष के अस्तित्व में एक प्रमाण यह भी है कि कोई-कोई व्यक्ति सब कुछ रहते हुए भी असन्तुष्ट, अतृप्त एवं अशान्त रहते हैं और कैवल्य चाहने लगते हैं। कैवल्य की ओर व्यक्ति की यह प्रवृत्ति उस पुरुष तत्त्व की पहचान है जो प्रकृति से सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र है। यह कैवल्य ही इसका अपना स्वरूप है जिसका अनुभव कर व्यक्ति उसे पाने के लिए छटपटाने लगता है।

(२) पुरुष का स्वरूप एवं लक्षण—गुणसूत्र के सर्वथा अभाव रूप होने से पुरुष गुणों के क्रिया-कलाप या परिणाम से सर्वथा अछूता है। फलस्वरूप उसमें सुख, दु:ख एवं मोहात्मकता का सर्वथा अभाव होता है। चेतन होने से वह विवेकी एवं विषयी अर्थात् शब्दादि विषयों का उपभोक्ता होता है। अत: वह किसी का विकार तो है नहीं, किसी तत्त्व को उत्पन्न करने की क्षमता भी उसमें नहीं है। क्योंकि उत्पादक या प्रेरक तत्त्व रजोगुण का उसमें लेश तक नहीं होता। परिणामत: उसमें प्रसवधर्मिता का सर्वथा अभाव होता है। उक्त अंशों में वह प्रकृति से सर्वथा भिन्न होता है लेकिन कुछ अंशों में वह प्रकृति के सर्वदा अनुरूप भी होता है। क्योंकि मूल प्रकृति एवं पुरुष दोनों का ही कोई कारण नहीं होता तथा दोनों ही त्रिकालाबाध्य होने से नित्य एवं सर्वव्यापक होने से विभु हैं। स्वरूपत: क्रिया-शून्य होने से पुरुष तथा गुणों की साम्यावस्था में सृष्टि की क्रिया न होने से मूल-प्रकृति भी निष्क्रिय ही होती है। अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य तत्त्व पर निर्भर न करने से दोनों ही अनाश्रित तत्त्व हैं।

पुरुष वस्तुत: बद्ध एवं मुक्त उभयरूप से व्यावृत होता है अर्थात् उसमें स्वरूपगत भेद नहीं होता। वह व्यक्त एवं शान्त चित्त का निर्विकार द्रष्टा है। पुरुष की साक्षिता बुद्धि से उसके साक्षात् सम्बन्ध के कारण है। वह बुद्धि का ही साक्षी होता है अन्य का द्रष्टाभाव—'साक्षात्संबन्धात् साक्षित्वम्' (सां. सू. १/१६१)। इसके अतिरिक्त पुरुष स्वरूपत: नित्यमुक्त है। दु:ख रूप बन्धन वस्तुत: चित्त का होता है, पुरुष का नहीं। पुरुष उदासीन है। उसकी यह उदासीनता उसका अकर्तृत्व भाव है। काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, धृति एवं ह्री आदि क्रियायें मन, बुद्धि एवं अहंकार की हैं पुरुष की नहीं। पुरुष में कर्तृत्व की जो प्रतीति होती है उसका कारण अग्नि एवं लोहपिण्ड या जल एवं सूर्य के समान बुद्धि और पुरुष का उपराग है। इससे ही पुरुष में क्रियाशीलता एवं बुद्धि में चेतनता की प्रतीति होने लग जाती है जो दोनों पर परस्पर के धर्म का आरोप मात्र है यथार्थ नहीं।

(३) पुरुष की अनेकता—सांख्य सिद्धान्त के अनुसार जितने जीव उतने पुरुष हैं। उनका अपना जन्म एक दूसरे की अपेक्षा किए बिना ही होता है। एक की मृत्यु से सभी का मरण भी नहीं हो जाता। यही नहीं प्रत्येक प्राणी के बाह्याभ्यन्तर उभयविध कारण भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं। इनकी वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग एवं आनन्दात्मक प्रवृत्तियाँ भी एक साथ नहीं होतीं। इस विविधता का कारण प्रत्येक जीवन में सत्त्व, रज एवं तम नामक गुणों का विभिन्न अनुपात में सन्निधान है। पुरुष की अनेकता की साधिका सबसे प्रबल युक्ति यह है कि अनेक

NOTES

जीवों के मुक्त हो जाने पर भी अभी अनन्त जीव बद्ध पड़े हैं। इस प्रकार उनकी संख्या अनेक ही नहीं अनन्त सिद्ध हो जाती है।

सांख्यशास्त्र प्रतिपादित अनेक पुरुषों को भी हम दो वर्गों में स्थापित कर सकते हैं—बद्ध और मुक्त। सामान्य रूप से प्रत्येक पुरुष अनादि काल से ही बद्ध है। विवेक हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है। लेकिन पुरुष की अनेकता की साधक युक्तियों पर जब हम विचार करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि पुरुष की यह अनेकता या अनन्तता बद्ध पुरुष के विषय में ही चरितार्थ है, मुक्त के विषय में नहीं। यथा-पुरुष की बहुलता का साधक प्रथम तर्क है जन्म, मरण एवं करणों का प्रतिपुरुष नियत होना। किन्तु मुक्त पुरुष का तो न जन्म होता है न मरण तथा उसके करण भी नहीं होते। इसी प्रकार जो पुरुष मुक्त हो जाता है वह प्रकृति से असंभिन्न अपने विशुद्ध रूप को प्राप्त कर लेता है परिणामत: उसमें प्रवृत्ति भी नहीं होती। क्योंकि प्रवृत्ति तो रजोगुण का धर्म है और पुरुष निर्गुण होता है। पुरुष की अनेकता का आधायक अन्तिम तर्क, तीनों गुणों का विभिन्न अनुपात में सम्मिश्रित होकर उसमें रहना है। गुण प्रकृति के स्वरूप के आधायक हैं। पुरुष का प्रकृति से सम्पर्क होने से उस पर गुणों का आरोप मात्र हो जाता है। प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध का मुख्य प्रयोजन पुरुष को कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराना है जो इस बात का प्रमाण है कि संयोग बद्ध-पुरुष और प्रकृति में ही है। इसकी पुष्टि-पुरुष के स्वरूप निरूपण से भी होती है। वह पुरुष मुक्त है जिसे यह ज्ञान हो जाये कि जगत् में प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपी जो भी क्रिया हो रही है उसका आश्रय मैं नहीं हूँ। जन्म, मरण एवं करण आदि जिन्हें मेरा कहा जाता है या आज तक जिन्हें मैं अपना समझता था वे मेरे अर्थात् मुझसे सम्बन्धित नहीं हैं। इतना ही नहीं, इनका भोक्ता भी मैं नहीं हूँ क्योंकि मैं इनका स्वामी नहीं हूँ। इनका आश्रय वस्तुत: मैं नहीं अपितु प्रकृति ही है।

सांख्य सूत्र में आत्मैक्यवाद का खण्डन करते हुए कहा है कि नित्य, एक रस एवं अखण्ड रूप में विद्यमान अवयवहीन आत्मा में जन्म, मरण आदि विरुद्ध धर्मों की प्रतीति सम्भव नहीं। आत्मा का एकत्व स्वीकार करने पर सभी उपाधियों से मुक्त आत्मा में विरुद्ध धर्मों का साङ्कर्य होता रहेगा। पर एक ही देश और काल में वर्तमान ज्ञाता में उपाधियों का अध्यास कथमपि सम्भव नहीं—'एकमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यास:' (सां. सूत्र १/५२)। जैसे स्फटिक मणि में रक्तिमा एवं नीलिमा आदि आरोपित धर्मों की भी एक व्यवस्था है उसी प्रकार पुरुष में सुख-दु:खादि बुद्धि-धर्मों तथा ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व आदि आरोपित शरीर-धर्मों की व्यवस्था भी शास्त्रों में प्रतिपादित है। आरोप का अधिष्ठान पुरुष यदि एक ही है तो उसमें आरोपित परस्पर विरुद्ध सुखादि धर्मों की व्यवस्था नहीं बनेगी। जिस प्रकार घटाकाश आदि में उपाधि की व्यवस्था बन जाती है उसी प्रकार आत्मा में नहीं बनती। क्योंकि जिस प्रकार घट उपाधि के नाश हो जाने पर घटाकाश की सत्ता समाप्त हो जाती है उसी प्रकार जन्म, मरण एवं करण आदि उपाधियों के हट जाने पर भी जीव की परिसम्पत्ति नहीं होती—अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेत्वात् (सां.सू. १५३)।

यदि कोई कहे कि सुखादि चित्त के धर्म हैं, अत: प्राणियों में सुख-दु:ख मोहात्मकता के भेद का कारण चित्त-भेद है न कि पुरुष भेद, तो इसका उत्तर यह है कि अनेकता के आरोप का आश्रयभूत पुरुष यदि अखण्ड और एक है तो वही कहीं दु:ख कहीं सुख तो कहीं मोह का भागी कैसे हो सकता है? श्रुतियों में आत्मा के अद्वैत भाव का प्रतिपादन जाति की दृष्टि से हुआ है। व्यक्ति की दृष्टि से नहीं—"नाद्वैतश्रुतिविरोधा जातिपरत्वात्" (सां.सू. १/१५४) प्रत्येक आत्मा एक रूप है। पुरुषों में परस्पर भेद कोई वास्तविक धर्म नहीं। अद्वैतपरक श्रुतियों का तात्पर्य सभी पुरुषों में विद्यमान इसी एकरूपता से है। पुरुषों में स्वरूपत: भेद की प्रतीति व्यवहार की दृष्टि से ही है तत्त्वत: नहीं, जो अविवेकियों को ही होती है।

किसी वस्तु के स्वरूप के विषय में अन्धों की राय से चक्षुष्मान् व्यक्ति के ज्ञान का खण्डन नहीं हो जाता। आत्मा की जातिगत व्यवस्था मानने पर वामदेव आदि के मुक्त हो जाने पर भी अन्य आत्माओं की स्थिति बने रहना उसी प्रकार अनुपयुक्त नहीं है जिस प्रकार अहर्निश मनुष्यों के मरते रहने पर भी मनुष्यता बनी ही रहती है। आत्मा

की अखण्डता की रक्षा के लिए यह मानना ठीक नहीं कि आज तक किसी की भी मुक्ति नहीं हुई है। क्योंकि ऐसा मानने पर तो यही सिद्ध हो जायेगा कि भविष्य में भी कोई मुक्त नहीं हो सकेगा। इसलिए यही मानना चाहिए कि पुरुष अनेक हैं।

लिङ्ग तथा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर

(अ) लिङ्ग—सांख्य सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति अच्छा-बुरा जो कुछ भी कार्य करता है उसके संस्कार बनते हैं, उन्हें ही भाव कहते हैं। उन भावों या संस्कारों का भोग होता है। उत्तम कर्म के संस्कार उत्तम भोग प्रदान करते हैं तो बुरे कर्म के संस्कार अधोगमन के हेतु होते हैं। लेकिन कर्म तो शरीर से ही होते हैं तथा शरीर की प्राप्ति कर्मों के अनुसार ही होती है। फिर प्रश्न यह उठता है कि पहले शरीर हुआ या कर्म संस्कार। इसके अतिरिक्त शरीर तो मृत्युपर्यन्त ही रहता है फिर उस व्यक्तिविशेष के कर्म-संस्कारों का भोग उसी को मिलेगा, इसका निर्धारण कैसे होता है ? मृत्यु के बाद क्या बचता है जो जन्म-जन्मान्तर एवं लोक-लोकान्तर तक जाता है ? सांख्य शास्त्र में इसका समाधान लिङ्ग की मान्यता के सिद्धान्त पर किया गया है।

सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति प्रत्येक पुरुष के लिए एक विशेष प्रकार के आवरण या शरीर पैदा करती है जिसे लिङ्ग कहते हैं। यह लिङ्ग सृष्टि के प्रारम्भ से ही उत्पन्न होकर प्रलयपर्यन्त बना रहता है, अत: नियत अर्थात् नित्य होता है। इसकी गति अबाध होती है। इसलिए यह शिला में भी प्रवेश कर सकता है तथा जल में भी बना रह सकता है। इसकी रचना महत्तत्व से लेकर सूक्ष्मभूत तन्मात्राओं तक को मिलाकर अठारह तत्त्वों से होती है जिसमें मन, बुद्धि एवं अहंकार सहित दसों इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्रायें होती है—'पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्' (सां.का. ४०), सप्तदशैकं लिङ्गम् (सां.सू. ३/९)। कुछ लोग इसमें अहंकार को अन्तर्भूत नहीं करते और लिङ्ग को शेष सत्रह तत्त्वों से ही गठित मानते हैं—

**''बुद्धिकर्मेन्द्रियैः प्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते।।''**

यह लिङ्ग शरीर ही किये गये कर्म के संस्कारों से समन्वित होकर पूर्व-पूर्व स्थूल शरीर का परित्याग करते हुए कर्मफल के भोग के अनुरूप उत्तरोत्तर नाना प्रकार के नये स्थूल शरीर धारण करता रहता है। लिङ्ग के बिना पुरुष के भोग का साधन स्थूल शरीर नहीं हो सकता। इस लिङ्ग में ही धर्म, विराग, ऐश्वर्य एवं अधर्म, अज्ञान, राग एवं अनैश्वर्य नामक भाव समन्वित रहते हैं जिनके भोग के लिए यह इन्हीं भावों से अधिवासित होकर नाना प्रकार के लोकों एवं योनियों में स्थूल शरीर धारण करता हुआ संसरण करता है—'संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्' (सां.का. ४०)।

सांख्य सूत्रकार का तो यहाँ तक कहना है कि पुरुष को सुख-दुःख का अनुभव भी लिङ्ग से ही होता है स्थूल शरीर से नहीं—'पूर्वोत्पत्तेस्तकार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य' (सां सू. ३/९)।

इसकी लिङ्ग संज्ञा इसलिए है कि अन्त में इसका लय प्रकृति में हो जाता है—लयं गच्छतीति लिङ्गम्। महाप्रलय के बाद लिङ्ग शरीर की स्थिति नहीं होती। प्रधान की स्थिति तो प्रलय के बाद भी होती है। यह लिङ्ग विभु अर्थात् व्यापक नहीं अपितु अणुपरिमाण होता है क्योंकि उसमें मन की ही प्रधानता है। मन अन्नमय होने से विभु नहीं हो सकता।

(ब) सूक्ष्म शरीर—लिङ्ग कभी निराश्रय नहीं रहता। पर उसका आश्रय क्या है ? इस सम्बन्ध में सांख्यकारिका के टीकाकारों में मतभेद है। गौडपाद अविशेष अर्थात् सूक्ष्मतन्मात्राओं को उसका आश्रय कहते हैं तो वाचस्पति मिश्र विशेष अर्थात् स्थूल शरीर को ही उसका आश्रय मानते हैं। लिङ्ग एवं स्थूल शरीर से भिन्न एक सूक्ष्मशरीर भी होता है जो त्रयोदश करणों का बना होता है। उसी को लिङ्ग का शरीर भी कहते हैं। यह सृष्टि के आदि से उत्पन्न नहीं

होता अपितु जीव के कर्मजन्य संस्कारों (भावों) से बनता और बिगड़ता रहता है। लिङ्ग के एक ही होते हुए भी सूक्ष्म शरीर प्रति जन्म में परिवर्तित हो जाता है। जिस प्रकार आम और जामुन की गुठलियों में तत्त्वत: कोई भेद नहीं होने पर भी भिन्न-भिन्न संस्कारवश फल में भेद हो जाता है। उसी प्रकार लिङ्ग के तत्त्वश: भिन्न होने पर भी व्यक्तियों में भेद का कारण उनके कर्मजन्य संस्कारों से युक्त सूक्ष्म शरीर ही है। तदनुरूप ही स्थूल शरीर भी प्राप्त होता है।

(स) स्थूल शरीर—लिङ्ग की रचना पुरुष के भोग की सिद्धि के लिए हुई है। पर वह विषयों का उपयोग करने में स्वत: समर्थ नहीं होता अपितु, स्थूल शरीर के द्वारा ही उनका भोग सम्भव है। इसलिए स्थूल देह की रचना आवश्यक है। यह शरीर पाञ्चभौतिक अर्थात् पाँचों स्थूल भूतों के योग से बनता है इसलिए स्थूल अर्थात् प्रत्यक्षत: परिदृश्यमान होता है। सांख्य सूत्रों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि कुछ लोग आकाशरहित चार भूतों से तथा कुछ अन्य लोग केवल पार्थिव तत्त्वों से ही स्थूल शरीर की सृष्टि मानते हैं।

स्थूल शरीर अनन्त है पर योनि भेद से इसके वर्गीकरण भी किये जाते हैं। इनकी रचना के भी विभिन्न प्रकार हैं। मनुष्य के स्थूलशरीर की रचना के प्रकार का निरूपण यहाँ किया जाता है। राग रजोगुण का धर्म है। उससे प्रेरित होकर ही स्त्री-पुरुष का संगम होता है जिससे गर्भाशय में रजवीर्य का मिश्रण होता है। प्रथम मास में वात, पित्त एवं श्लेष के क्षोभ से भूत चैतन्य से युक्त कलल मात्र की उत्पत्ति होती है। द्वितीय मास में वहीं कलल, अग्नि और वायु से सूख कर अर्बुद अर्थात् माँस का कील जैसा बना जाता है। उसके पश्चात् अंगों की रचना होती है।

गर्भस्थ शिशु को रोम, रक्त एवं माँस माता से प्राप्त होते हैं तथा स्नायु, अस्थि एवं मज्जा के निर्मापक तत्त्वों की प्राप्ति पिता से होती है। अतएव इस शरीर को षाट्कौशिक अर्थात् छ: कोशों वाला कहते हैं। इसके द्वारा ही बुद्धि के धर्मादिभावों की अभिव्यक्ति एवं शब्दस्पर्शादि बाह्य विषयों का उपभोग होता है। इस प्रकार प्राणी के जन्म से केवल स्थूल शरीर का ही उद्भव नहीं मानना चाहिए अपितु सूक्ष्म शरीर एवं लिङ्ग भी उसमें अन्तर्निहित होते हैं। व्यक्तित्व के विकास में भावों से अधिवासित सूक्ष्म शरीर ही इनमें सबसे अधिक महत्त्व का है।

बन्धन एवं मोक्ष अर्थात् भोग एवं अपवर्ग

सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि का प्रयोजन पुरुष के भोग और अपवर्ग की सिद्धि है। अत: यहाँ भोग और अपवर्ग इन्हीं दो को पुरुषार्थ माना गया है। इन दोनों में भी भोग की सार्थकता अपवर्ग की प्राप्ति में ही है। इस प्रकार भोग अपवर्ग का साधन तथा अपवर्ग भोग का साध्य है। वस्तुत: पुरुष को अपने स्वरूप के यथार्थबोध से ही कैवल्य की प्राप्ति सम्भव हो जाती है तथापि उसे अपने स्वरूप का बोध स्वत: इसलिए नहीं हो पाता कि वह अनादिकाल से बद्ध है। बन्धन चूँकि प्रकृति का कार्य है। अत: उससे मुक्ति के लिए भी प्रकृति का योग नितान्त अपेक्षित होता है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि भोग भी पुरुष में न होकर प्रकृति में ही होता है। शब्दादि विषयों का, जो महाभूतों के गुण हैं, अत: एवं बाह्य करणों से साक्षात्कार ही भोग है, जिसका आस्पद अर्थात् कर्त्ता व्यक्ति का अन्त:करण है। प्रकृति ही स्वयं ऐसे दो प्रकार के तत्त्वों को उत्पन्न करती है जिनमें से एक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि के रूप में भोग के विषय हो जाते है, तो दूसरे बाह्याभ्यन्तर करण विषयी। इस प्रकार का भोग प्रकृति के द्वारा प्रकृति का ही है न कि पुरुष के द्वारा प्रकृति का। गीता की उक्ति 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' की यही व्याख्या है। पुरुष यद्यपि चेतन है तथापि उसमें किसी भी प्रकार की क्रिया सम्भव नहीं। चूँकि भोग भी एक प्रकार की क्रिया है। अत: वह पुरुष में कैसे सम्भव हो सकती है? क्योंकि कोई भी क्रिया रजोगुण का धर्म है जिसका पुरुष में सर्वथा अभाव है। इस प्रकार सांख्य सिद्धान्त के अनुसार ही पुरुष में भोक्तृत्व सम्भव नहीं। अपतु उसे अपने भोक्ता होने की भ्रान्ति हो जाती है। इस भ्रान्ति का आधार प्रकृति और पुरुष का संयोग है, जिससे जड़ प्रकृति पर पुरुष की चेतनता एवं अकर्ता पुरुष पर गुणों की क्रियाशीलता का आरोप हो जाता है जिसके फलस्वरूप यह सृष्टि है।

प्रकृति और पुरुष के संयोग का स्थल बुद्धि है जिसमें पुरुष तो प्रतिबिम्बित होता ही है। बाह्य जगत् के क्रियाकलापों की भी सूचना एकत्र होती है तथा जो स्वयं क्रियाशील भी है। परिणामतः जल से प्रतिबिम्बित सूर्य-बिम्ब के सामन ही जो पानी के हिलने से हिलता हुआ दिखाई देता है, पुरुष भी बुद्धि की क्रियाशीलता से सक्रिय प्रतीत होता है। यह भ्रान्ति ही पुरुष के द्वारा विषयों के भोग की भ्रान्ति है जिससे वह अपने को सुखी, दुःखी और मुग्ध समझने लगता है। यही पुरुष की बद्धता है। प्रश्न यह उठता है कि पुरुष जिस प्रकार क्रिया का आश्रय नहीं है, अपितु उस पर क्रियाशीलता कर आरोप हो जाता है, उसी प्रकार ही वह ज्ञान का भी तो आश्रय नहीं है जो निश्चित रूप से प्रकृति के कार्य बुद्धि का धर्म है। फिर यह ज्ञान किसको होता है, प्रकृति या पुरुष को ? यदि प्रकृति को होता है तो उससे पुरुष का उपकार कैसे हो सकता है ? इसीलिए सांख्य शास्त्र में पुरुष के बन्धन और मोक्ष का निराकरण कर उसे प्रकृति का ही बन्धन और मोक्ष कहा गया है—

''तस्मान्न बाध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरपि कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।।'' (सां का. ६२)

उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया है कि बन्धन और मोक्ष पुरुष का नहीं अपितु प्रकृति का धर्म है। पुरुष न बन्धन में आता है न मुक्त होता है। वह तो प्रकृति के इस बन्धन मोक्ष की लीला का द्रष्टामात्र है। इसीलिए उसे साक्षी कहा गया है। प्रकृति अपने ही कार्य बुद्धि के धर्म-अधर्म, अज्ञान, विराग-राग तथा ऐश्वर्य-अनैश्वर्य नामक धर्मों से अपने को ही बाँधती है और ज्ञान नामक धर्म से मुक्त कर लेती है—

''रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थम्प्रति विमोचयत्येकरूपेण।।'' (सां. का. ६३)

वस्तुतः प्रकृति अन्य और पुरुष अन्य। इस प्रकार निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त पच्चीस तत्त्वों के निरन्तर मनन एवं निदिध्यासन से व्यक्ति में एक विशेष प्रकार का बोध जाग्रत होता है कि क्रियाशीलता गुणों में है, चेतन में नहीं और उसका अधिष्ठाता पुरुष नहीं अपितु प्रकृति है। मन, बुद्धि, अहंकार एवं इन्द्रियों सहित त्रयोदश अन्तःकरण मेरे नहीं अपितु प्रकृति के हैं। यह ज्ञान जब किसी भी प्रकार के संशय या मिथ्या ज्ञान से रहित होता है तो उसे सम्यक् ज्ञान कहते हैं और उसका वह बोध ही पुरुष का कैवल्य है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।। (सां का. ६४)

इस बोध के जाग्रत होने पर पुरुष प्रकृति के तमाम क्रियाकलापों से असम्पृक्त होकर प्रेक्षक के समान उसे देखता है जिसका परिणाम यह होता है कि उस पुरुष के प्रति लीला समाप्त हो जाती है और उसके समक्ष प्रकृति का केवल ज्ञानात्मक रूप ही शेष रहता है—

'तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात्सप्तरूपविनिवृत्ताम्।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः।।' (सां का. ६५)

पुरुष का यह दर्शन ही विवेक कहलाता है कि जिसके जाग्रत हो जाने पर सृष्टि की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। परिणामतः प्रकृति और पुरुष के संयोग के बने रहने पर भी प्रकृति उसके लिए सृष्टि से विरत हो जाती है—

'सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य।' (सां का. ६६)

प्रकृति और पुरुष के अलग-अलग होने का ज्ञान जब जीवन में चरितार्थ हो जाता है तो उसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति समझाना चाहिए। उसके होने पर व्यक्ति को धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य की प्राप्ति अनायास हो जाती है। वह प्रारब्ध के संस्कार वश आधिभौतिक शरीर को उसी प्रकार धारण किये रहता है जिस प्रकार बिजली के बटन को बन्द कर देने पर भी बिजली का पंखा पूर्व वेग के कारण कुछ देर तक अपने आप चलता रहता है।

NOTES

तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः। (सां. का. ६७)

यही जीवनमुक्ति की दशा है। इसके पश्चात् इस पाञ्चभौतिक शरीर के छूट जाने पर उसे ऐकान्तिक अर्थात् पूर्ण रूप से एवं आत्यन्तिक अर्थात् हमेशा के लिए उभयविध मुक्ति मिल जाती है—

ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।' (सां. का. ६७)

जहाँ तक लिङ्ग एवं सूक्ष्म शरीरों का सम्बन्ध है उनकी विनिवृत्ति तो विवेक होने के साथ ही हो जाती है। जिस प्रकार भुने हुए बीज पुनः अंकुर उत्पादन में समर्थ नहीं होते उसी प्रकार कर्म के संस्कारों एवं उनके परिणामस्वरूप बुद्धि के भावों से सम्बलित सूक्ष्म शरीर ज्ञान की अग्नि में जलकर भस्मसात् हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसके पुनर्जन्म या लोकलोकान्तर में संसरण की आवश्यकता नहीं होती। सांख्य दर्शन के अनुसार संक्षेप में मोक्ष का यही सिद्धान्त और स्वरूप है।

नास्तिक दर्शन

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में चार्वाक दर्शन, बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन की श्रेणी में रखा गया है। छः आस्तिक दर्शनों को वेदों को प्रामाणिक मानने के आधार पर वैदिक भी कहा जाता है। नास्तिक दर्शन अवैदिक दर्शन हैं क्योंकि ये वेदों को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। चार्वाक दर्शन का कोई क्रमबद्ध साहित्य प्राप्त नहीं होता अतः उसकी परम्परा भी ज्ञात नहीं होती। किन्तु बौद्ध एवं जैन दर्शनों की अपनी परम्पराएँ हैं। इनकी श्रमण परम्परा है। यह परम्परा आस्तिक दर्शनों की वैदिक परम्परा से प्रथक है। नास्तिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन पूर्णतः अनीश्ववादी, प्रत्यक्षवादी एवं जड़वादी दर्शन है। इसके प्रवर्त्तक ब्रहस्पति माने जाते हैं। बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध माने जाते हैं। बुद्ध भी ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं रखते तथा निर्विकल्प

प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं। जैन दर्शन भी बौद्ध दर्शन के समकालीन ही माना जाता है। जैनमत के प्रर्वत्तक इसके चौबीस तीर्थंकर माने जाते हैं। इन्होंने अपने प्रयत्नों के बल पर बन्धनों को त्याग कर मोक्ष को स्वीकार किया है। राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने के कारण ये 'जिन' कहलाते हैं। जैन दर्शन भी वेद विरोधी है और ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं मानता है।

नास्तिक दर्शनों का सामान्य परिचयः

1. चार्वाक दर्शन- यह जड़वादी दर्शन है, चार्वाक के अनुसार भूत ही परम सत्ता है। चार्वाक को कुछ विद्वानों ने 'चारुवाक्' अर्थात् मीठे वचन बोलने वाला माना है, अर्थात् जिस दर्शन के सिद्धान्त सामान्यजन को प्रिय एवं मधुर लगें वह चार्वाक दर्शन है। कुछ विद्वान चार्वाक को किसी व्यक्ति विशेष का नाम मानते हैं जो अनीश्वरवादी थे तथा जड़वाद के समर्थक थे। इस दर्शन को लोकायत मत भी कहा जाता है क्योंकि यह जन-सामान्य के मत- लोकमत का समर्थक है। कुछ विद्वानों के अनुसार चार्वाक दर्शन को लोकायत इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह इस लोक में ही विश्वास करता है परलोक में नहीं। चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष से ज्ञात भूतों की सत्ता ही स्वीकार करता है और उन्हीं पदार्थों या विचारों का प्रतिपादक है जो प्रत्यक्ष गोचर हैं। चार्वाक दर्शन अनुमान प्रमाण में विश्वास नहीं करता है। चार्वाक दर्शन में उपमान एवं शब्द प्रमाण का भी खंडन किया गया है। चार्वाक दर्शन दैहिक सुख या काम को ही स्वीकार करता है, अतः सुखवादी दर्शन भी कहा जाता है। इस दर्शन के अनुसार लोकायत ही एकमात्र शास्त्र है प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु ही तत्व हैं। सुखोपभोग ही मानव मात्र का एकमात्र श्रेय है। परलोक नाम की कोई वस्तु नहीं है तथा मृत्यु का अर्थ ही मोक्ष या निर्वाण है।

2. बौद्ध दर्शन: यह दर्शन भी अनीश्वरवादी नास्तिक दर्शन है। बौद्ध दर्शन क्षणिकवाद में विश्वास करता है। संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील एवं अनित्य है। क्षणिकवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व क्षणमात्र के लिए होता है, अत: विश्व की प्रत्येक वस्तु अनित्य एवं क्षणभंगुर है। यह दर्शन अनात्मवादी है, बुद्ध ने आत्मा के नित्य या शाश्वत होने का निषेध किया है। इस दर्शन की मान्यता है कि ईश्वर इस जगत का कर्ता या संचालक नहीं है, समस्त विश्व उत्पत्ति एवं विनाश के नियम से संचालित है। बौद्ध दर्शन की कई शाखाएँ हैं; इन में माध्यमिक (शून्यवादी), योगाचार, (विज्ञानवादी), सौत्रान्तिक (बाह्य अनुमेयवादी) तथा वैभाषिक (बाह्य प्रत्यक्षवादी) मुख्य हैं।

3. जैन दर्शन: जैन दर्शन के अनुसार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र ये तीनों ही मोक्ष के साधन हैं। इन्हें 'त्रिरत्न' या 'रत्नत्रय' कहा जाता है। जैन दर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष- ये सात तत्व प्रमुख हैं। ज्ञाता, कर्ता तथा भोक्ता होना जीव की विशेषताएँ हैं। उपशम, क्षय, क्षयोपशम, औदयिक तथा पारिमाणिक- ये जीव के पाँच भाव हैं। जैन दर्शन जीवों को दो श्रेणियों में विभाजित करता है- मुक्त जीव तथा बद्धजीव। ऐसे जीव जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, मुक्त जीव हैं। इसके विपरीत बन्धन में पड़ी हुई आत्माओं (जीवों) को बद्धजीव माना गया है। जैन दर्शन स्याद्वाद में विश्वास करता है। इसे सप्तभंगी न्याय भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इसके सातों वचनों में 'स्यात्' अर्थात् 'शायद' शब्द का प्रयोग किया गया है। जैन दर्शन बौद्धों के क्षणिकवाद का खंडन करता है। जैन दर्शन भी अपना अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को ही मानता है।

यद्यपि जैन दर्शन ब्राह्मण दर्शन के सामान्य विचारों व मान्यताओं को स्वीकार करता है तथापि उसके बन्धन सम्बन्धी विचारों तथा मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर है। इस अन्तर का कारण यह है कि जैन दर्शन जगत और आत्मा के सम्बन्ध में विपरीत मत रखता है। भारतीय दर्शनों में मोक्ष अथवा निर्वाण को ही व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। प्रत्येक दर्शन मोक्ष-प्राप्ति हेतु अलग-अलग साधनों का उल्लेख करता है। जैन दर्शन 'मुनि' को ही मोक्ष का अधिकारी स्वीकार करता है। जैन धर्म के दो सम्प्रदाय हैं- श्वेताम्बर एवं दिगम्बर। दोनों के मोक्ष सम्बन्धी विचारों में पूर्णत: समानता नहीं है। दिगम्बर जैन मानते हैं कि 'मुनि' को दिगम्बर अर्थात् वस्त्रहीन होना चाहिए। महिलाएँ क्योंकि वस्त्रों का त्याग नहीं कर सकतीं, अत: वे मोक्ष की अधिकारी नहीं हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय श्वेत वस्त्रधारी मुनियों एवं महिलाओं को भी मोक्ष का अधिकारी मानता है।

चार्वाक दर्शन

विश्व में सर्वप्रथम मानव सृष्टि की रचना कश्यप मेरू (कश्मीर) पर हुई। कश्यप मेरू प्रजापति कश्यप का अधिष्ठान था। प्रजापति कश्यप की पत्नियों से, अपनी माताओं के गुणों के अनुरूप संततियाँ उत्पन्न हुईं। उनके स्वभाव एवं गुणकर्मों में भिन्नताएँ होने से, वे संसार के विभिन्न भागों में निवास करने लगे। प्रजापति कश्यप की पत्नी दिति से उत्पन्न संतानें दैत्य कहलाती हैं तथा अदिति से उत्पन्न संततियाँ देव कहलाईं। देवों और असुरों में सदैव टकराव होता रहा है। समय-समय पर दैत्यों को खदेड़ कर भारत से बाहर किया जाता रहा और वे विभिन्न भागों में जाकर बसते रहे। विष्णु के द्वारा पराजित होने पर राक्षसों ने लंका से भाग कर अफ्रीका (रसातल) में सुमाली के नाम पर 'सोमालिया', माली के नाम पर 'माली' तथा माल्यवान के नाम पर 'मलावी' आदि देश बसाए। 'वाल्मीकि' रामायण के अनुसार-

चिराद् सुमाली व्यचरद् रसातलं स राक्षसो विष्णु भयार्दितः सदा ।
पुत्रैश्च पौत्रेश्च समन्वितो बली ततश्च लंका अवसत् धनेश्वरः ॥
सुमालिनम् समासाद्य राक्षसं रघुसत्तम । स्थिता प्रख्यात वीर्यास्ते वंशे सालकटं कटे ॥

इसी प्रकार वामन भगवान् ने बलि को बाँध कर जिस स्थान पर रखा वह स्थान "बलिवास:" अमेरिका में है, जिसे आज बोलोविया कहते हैं। वामन बलि के द्वारपाल बने और यूरोप की विभिन्न भाषाओं में बौना के लिए ड्वार्फ, त्स्वार्क आदि शब्द चल पड़े, जो क्रमश: द्वारप तथा दौवारिक शब्दों के इंग्लिश तथा जर्मन अपभ्रंश हैं।

इन आसुरी समुदाय के लोगों की दृष्टि अत्यंत स्थूल तथा देहवादी रही है। ऐहिक और दैहिक सुख ही इनके जीवन के चरम लक्ष्य रहे हैं; अत: मनुष्य जीवन के प्रति इनका जो दृष्टिकोण तथा आचार-व्यवहार रहा, उसी की प्रतिध्वनि **चार्वाक दर्शन** में गूँज रही है। भारतीय, सदैव दूसरों के विचारों का उत्तर विचार से ही देते रहे हैं। अपने से विरोधी विचारों को उन्होंने कभी हिंसा या बल प्रयोग से दबाया नहीं अपितु, उन विचारों को पूर्वपक्ष के रूप में सम्मुख रखकर उत्तर पक्ष के रूप में उनका खण्डन और अपने सिद्धान्तों का मण्डन करते रहे हैं।

नामकरण

आसुरी दर्शन- इस विचारधारा को मानने वाले असुर लोग थे, इसलिए इसे 'आसुरी दर्शन' भी कहते हैं। राक्षसी जातियों में असुर बालकों को इसका उपदेश दिया जाता था। प्रह्लाद को उनके आचार्य शण्डामर्क ने यही दर्शन पढ़ाने की चेष्टा की थी। यह बात अलग है कि प्रह्लाद के पिता तथा आचार्य, सब मिलकर के भी प्रह्लाद को, इस दर्शन को मान्य न करा सके। प्रह्लाद ने अनेक कष्ट सहकर भी इसे अस्वीकार किया और वे अपने सहपाठी बालकों से कहते थे-

'कौमारे आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।' (भाग॰तृ॰एक॰)

नास्तिक दर्शन - जगत्कर्त्ता ईश्वर को न मानने के कारण चार्वाक दर्शन को नास्तिक दर्शन भी कहते हैं। इस दर्शन में परलोक तथा पुनर्जन्म को मान्य नहीं किया गया है।

लोकायत - 'लोक में अर्थात् संसार में स्वाभाविक रूप से फैले होने के कारण उसे 'लोकायत' कहा गया है। "लोके आयतं विस्तृतं इति लोकायतम्", कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में इसे लोकायत ही कहा है। 'अर्थशास्त्र' के उपोद्घात में लिखा है-

"सांख्य योगोलोकायतं चेति आन्वीक्षिकी"

बार्हस्पत्य दर्शन- बृहस्पति द्वारा प्रणीत होने के कारण इस दर्शन को 'बार्हस्पत्य' दर्शन भी कहते हैं। 'बार्हस्पत्य' दर्शन के अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं। उनका उल्लेख ब्रह्मसूत्र के 'शांकर भाष्य' तथा 'भास्कर भाष्य' में मिलता है।

चार्वाक दर्शन : इस दर्शन के उत्तर कालीन प्रवक्ता कोई चार्वाक नाम के व्यक्ति थे, अत: इस दर्शन को चार्वाक दर्शन भी कहते हैं। इस नामकरण पर विद्वानों ने अनेक मत व्यक्त किए हैं। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि चार्वाक शब्द किसी व्यक्ति विशेष के नाम का बोधक नहीं है, उनके अनुसार यह शब्द उस विशेष विचारधारा का सूचक है, जो जीवन के मूल उद्देश्य को आमोद-प्रमोद, भोग-क्रीड़ा आदि के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझते। चार्वाक शब्द की व्युत्पत्ति चर्व् नामक 'धातु' से की गई है, जिसका अर्थ है खाना या चबाना। इस प्रकार खाने-पीने और भोग विलास के देहवादी दृष्टिकोण को मानने वाले व्यक्तियों के लिए चार्वाक शब्द का प्रयोग हुआ है।

मेरे मत से चर्व् धातु का अर्थ खाने, चबाने के अलावा काटना भी होता है, अत: जो लोग भोगवादी ध्येय के हों और ईश्वरवादी दर्शनों की आलोचना कर उन्हें चबा डालते हों तथा उसके स्थान पर अपना चबा-चबाया

भोगवादी दृष्टिकोण चबाकर उगल देते हों, ऐसे कटु, शुष्क, वितण्डावादियों को हिन्दी भाषी भू-भाग में आज भी 'चबाव' शब्द का प्रयोग ऊधम, धमाचौकड़ी धमैया आदि शब्दों के अर्थ में होता है। आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में ऊधमी, शैतान, उद्दण्ड तथा अनुशासनहीन बालकों को 'चबाई' कहा जाता है। अमुक व्यक्ति या बालक बड़ा 'चबाई' है, जन-जीवन में इस वाक्य का नित्य प्रयोग होता है। सूरदासजी ने कृष्ण के मुख से बलराम जी के लिए 'चबाई' शब्द का प्रयोग कराया है।

इसी प्रकार जो लोग जनता के बीच अपने कुतर्कों से धमा-चौकड़ी मचाकर नास्तिक विचारधारा का प्रचार-प्रसार करते थे उनको 'चार्वाक' कहा गया है।

चार्वाक का परिचय

एक विशेष मत के अनुयायी लोग चार्वाक कहलाते रहे हैं; परन्तु उनमें कुछ व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध भी हुए है जैसे प्राचीन काल में 'चारिका' (घुमक्कड़ी) करने वाले व्यक्तियों को 'चरक' कहा गया है; परन्तु उनमें से एक ऋषि 'चरक' नाम से प्रसिद्ध हुए और उनके द्वारा रचित आयुर्वेदिक ग्रंथ **'चरक संहिता'** है। उसी प्रकार से वर्तमान चार्वाक दर्शन के रचयिता का श्रेय उस चार्वाक नामक व्यक्ति विशेष को है, जिसका उल्लेख महाभारत में हुआ है और जिसने 'बार्हस्पत्य दर्शन' का दूसरा संस्करण 'चार्वाक दर्शन' के नाम से उपस्थित किया क्योंकि भारतीय इतिहास कुछ हजार वर्षों का न होकर लाखों वर्ष प्राचीन है, इसलिए हम पाश्चात्यों द्वारा लिखे इतिहास की तरह प्राचीन इतिहास को ईसा पूर्व और ईसा पश्चात् में नहीं बांट सकते। प्राकृतिक आपदाओं तथा विधर्मियों के आक्रमण ने विपुल भारतीय साहित्य को ध्वंस किया है, अत: ऐतिहासिक व्यक्तियों के कालक्रम निर्धारण में उतावली नहीं होनी चाहिए।

चार्वाक मत का उल्लेख

नास्तिक दर्शन आस्तिक दर्शनों के समान प्राचीन है-

1. प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद के इन्द्र सूक्त में इन्द्र की शक्ति एवं सामर्थ्य पर संदेह करने वाले लोगों को 'अपवृत' कहा गया है। वहाँ पर 'अपवृती' 'अवृती' शब्दों का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के चतुर्थ सूक्त के पाँचवें मंत्र में ऐसे नास्तिक लोगों से दूर रहने के लिए कहा जाता है-

"उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यश्चिदारत दधाना इन्द्र इद् दुवः"

2. कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की द्वितीय वल्ली के छठवें मन्त्र में मूर्ख नास्तिक लोगों को बाल बुद्धि और प्रमादी बताया गया है। जो व्यक्ति सम्पराय (परलोक) को सुधारने वाले साधनों को जानता-मानता नहीं है तथा जो इह लोक एवं परलोक नहीं मानता वह बार-बार जन्म मरण के चक्कर में फँसा रहता है।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तम् वित्तमोहने मूढम् ।

अयं लोको नास्ति पर इतिमानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ (कठोपनिषद् अ० 1 व 2, श्लोक 6)

छन्दोग्य उपनिषद् में देहात्मवादी विरोचन का नाम आया है। सातवें खण्ड में इसका उल्लेख प्राप्त होता है।

3. वाल्मीकि रामायण में वनवास से राम का प्रत्यागमन कराने के लिए जाबालि ऋषि ने नास्तिक मत का सहारा लिया है वहाँ उन्होंने श्राद्ध, यज्ञ तथा दान की निन्दा की है और कहा है कि "मरा हुआ मनुष्य कहीं खाता है? यदि ब्राह्मणों के द्वारा खाया हुआ अन्न पितरों के पास पहुँचता, तो प्रवासी व्यक्ति के घर पर कराया ब्राह्मण भोजन भी प्रवासी यात्री को मिल जाता" फिर वे आगे प्रत्यक्ष प्रमाण मानने के लिए कहते हैं-

NOTES

"स नास्ति परमित्येतत्कुरु बुद्धिं महामते ।
प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥"

4. महाभारत के **मोक्षधर्म** पर्व में महर्षि भृगु तथा भरद्वाज के वार्तालाप में महर्षि भरद्वाज ने आत्मा की सत्ता में शंका प्रकट की है तथा परलोक, पुनर्जन्म आदि को झुठलाया गया है।

5. **प्रबोध चंद्रोदय** नामक संस्कृत ग्रंथ में लिखा है कि बृहस्पति ने अपने शिष्य चार्वाक को नास्तिक दर्शन पढ़ाया। बौद्ध भिक्षु शांति रक्षित ने अपने **'तच्च संगहो'** नामक पालि ग्रंथ में किसी पुरन्दर नामक नास्तिक विचारक का उल्लेख किया है यह पुरंदर अनुमान प्रमाण में विश्वास नहीं रखता था।

चार्वाक दर्शन की विशेषताएँ

चार्वाक ने स्थापित मूल्यों पर प्रहार के साथ अपौरुषेय धर्मग्रन्थ, वेदों के ऊपर भी सीधा प्रहार किया है। यही नहीं वैदिक क्रियाओं आचार-विचार, यज्ञ-यागादि, श्राद्ध, दानादि सभी का खण्डन किया है। माधवाचार्य द्वारा संग्रहीत 'सरल दर्शन संग्रह' में तेरहवें श्लोक में लिखा है-

**"अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः त्रिदण्डम् भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धि-पौरुष-हीनानां जीविका धातृ निर्मिता ॥**

अर्थात् अग्नि होत्र, तीनों वेद, तीन प्रकार के दण्डों का धारण, तथा शरीर में भस्म लगाना; बुद्धि व पौरुष से हीन व्यक्तियों के लिए जीविकोपार्जन हेतु ब्रह्मा ने बनाए हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि चार्वाक ने वेदों को ब्रह्मा की रचना ही मान्य किया है। उसकी दृष्टि इतनी स्थूल थी कि उसने अग्निहोत्र के वैज्ञानिक महत्व को नहीं समझा, जिसके कारण रोगकारक विषाणुओं का नाश होता है, समय पर वर्षा होती है तथा पर्यावरण में संतुलन बनाए रखने में सहयोग मिलता है। आज के वैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोगों द्वारा अग्हिोत्र के वैज्ञानिक पक्ष को स्वीकारा है और उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इसी प्रकार से भस्म धारण का भी वैज्ञानिक पक्ष है। वानस्पतिक पदार्थों, गाय के गोबर आदि के संयोग से निर्मित यज्ञीय भस्म में अनेक प्रकार के औषधीय गुण होते हैं और यह भस्म वर्तमान युग में प्रचलित 'टेल्कम' पाउडरों की अपेक्षा अनेक गुणी लाभप्रद है। एक ओर जहाँ इसके लगाने से त्वचा की सतह एवं बालों आदि में विद्यमान जीवाणुओं का नाश होता है। वहीं दूसरी ओर यह शरीर को रोगाणुओं के आक्रमण से बचाती है। भारतवर्ष में भस्म का उपयोग बाह्य प्रयोग में ही नहीं बल्कि आभ्यंतरिक रूप में भी होता रहा है। अनेक ऋषि-मुनि, साधु-संत भस्म खिलाकर, रोगियों को रोगमुक्त करते रहे हैं। न्यूनाधिक रूप में यह कार्य आज भी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु चार्वाक की दृष्टि से भस्म धारण के ये गुण ओझल रहे और उसने जी भरकर कठोर शब्दों में वेदों तथा वैदिक ज्ञान-विज्ञान की निन्दा कर डाली है। इसमें दोष वेदों का नहीं अपितु चार्वाक का ही दृष्टि-दोष है। इतना ही नहीं चार्वाक ने वेदों के रचयिता तथा वेद वादियों को 'भण्डी धूर्त' 'निशाचरः' कहकर निन्दा की है।

आप्तोपदेश का खण्डन

ऐसे व्यक्ति जो वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और अनुभव सम्पन्न एवं सत्यवादी तथा सत्यसन्ध होते हैं, उनको 'आत्म पुरुष' कहा जाता है। उनके वचनों को प्रमाणस्वरूप सत्य माना जाता है, उन्हें 'आप्तपुरुष' कहते हैं। आप्तपुरुषों की बातों का नाम ही 'आप्तोपदेश' है। जहाँ 'चरक' जैसे सुप्रसिद्ध चिकित्सा शास्त्री 'आप्तोपदेश' प्रमाण के सहारे रोग निदान करने का उपदेश देते हैं, वहाँ 'चार्वाक' स्पष्ट शब्दों में 'आप्तप्रमाण' को नकार देता है। सुप्रसिद्ध आयुर्वेद ग्रन्थ 'चरक संहिता' जो कि 'अग्निवेश तंत्र' का प्रतिसंस्कृत रूप है, उसमें स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं कि "त्रिविधं खलु रोग विशेष विज्ञानं भवति। प्रत्यक्षं अनुमानं आप्तोपदेशं च।।" अर्थात् किसी रोग विशेष का निदान और ज्ञान तीन प्रकार से होता है- प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश द्वारा; परन्तु चार्वाक तत्वज्ञान में ऋषियों, मुनियों आदि के ज्ञान को नहीं स्वीकारते हैं।

अनुमान का खण्डन

भारतीय दर्शन में अष्टविध प्रमाणों के अंतर्गत आने वाले अनुमान प्रमाण को भी चार्वाक ने सर्वतोभावेन अस्वीकार किया है जबकि अनुमान प्रमाण का महत्व दर्शन शास्त्र में ही नहीं बल्कि लोक व्यवहार और विज्ञान में भी स्वयं सिद्ध है। कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे धुआँ अग्नि का कार्य है। किसी जंगल या निर्जन स्थान में यदि धुआँ उठ रहा हो, तो उस स्थान पर निश्चित रूप से अग्नि प्रज्वलित हो रही है; यह अनुमान कर लिया जाता है।

जगत्कर्त्ता की अस्वीकृति

प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों में सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर को माना गया है; परन्तु चार्वाक ने इस सृष्टि को 'स्वयंभू' बताया है और जिस प्रकार किण्व (खमीर) आदि द्रव्यों से मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार स्थूलता और कृशता दोनों का आधार शरीर को ही माना है। राजा को ही ईश्वर कहा है। राजा के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं होता और देह-नाश को ही मुक्ति माना है।

परलोक तथा पुनर्जन्म की अस्वीकृति

चार्वाक दर्शन पुनर्जन्म को अस्वीकार करता है, क्योंकि शरीर ही आत्मा है, तो इसके नष्ट हो जाने पर पुनर्जन्म कैसे संभव है? इसलिए उसका कथन है-

"भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः"

शरीर में काँटे आदि चुभ जाना ही नरक है तथा सभी प्रकार के सुखों की अनुभूति ही स्वर्ग है। चार्वाक ज्ञान से मुक्ति नहीं मानता। उपनिषद् के वाक्यानुसार- "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः"; परन्तु चार्वाक का कथन है- "देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्न मुक्ति ऋच्यते।"

चार्वाक का अरबी-यूनानी-तिब्बती चिकित्सा पद्धति पर प्रभाव

जिस प्रकार विश्व की सभी भाषाओं की जननी संस्कृत है उसी प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का जनक भारत ही है। आयुर्वेद से ही विश्व की समस्त चिकित्सा पद्धतियाँ निकली हैं। जहाँ आयुर्वेद अपने सिद्धांतों में पंचमहाभूतों को ग्रहण करता है, इस शरीर तथा पदार्थों को पांचभौतिक कहता है, वहाँ यूनानी चिकित्सा पद्धति ने अपने सिद्धान्तों में आकाश को छोड़कर केवल चतुर्महाभूत ही स्वीकार किए हैं।

भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति ने अरब में पहुँच कर, अपना रूप परिवर्तित कर लिया। अरबों ने तत्त्व चिंतन में चार्वाक दर्शन को ही ग्रहण किया। चार्वाक दर्शन में कहा है-

**"अत्र चत्वारि भूतानि भूमि वारि अनलानिलाः ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यं उपजायते ।।"**

यूनानी चिकित्सा पद्धति जिसे हिकमत, तिब्बी या अरबी चिकित्सा पद्धति कहते हैं, उसने अरबी भाषा में चतुर्महाभूतों के लिए 'अरकान अरबआ' कहा है। ये चार 'अरकान' (1) आतिश (अग्नि), (2) माड (जल, (3) हवा (वायु), (4) अर्ज (पृथ्वी) हैं। चतुर्महाभूत वाद का सिद्धान्त ग्रीस (यूनान) में सर्वप्रथम एम्पिडोक्लिस (Empedocles इ०पू० 495-435) नामक विद्वान् ने प्रारम्भ किया था, जिसको अरबी-यूनानी हकीमों ने ग्रहण किया। यद्यपि यूनानियों में भी आकाश, जिसे अंग्रेजी में (Eeather) तथा अरबी में असीर कहते हैं, उसे मानने वाला भी एक सम्प्रदाय था; परन्तु चिकित्सा पद्धति में केवल चार्वाक के तत्त्व दर्शन को ही स्वीकार किया गया।

NOTES

चार्वाक का ज्योतिष पर प्रभाव

भारतीय तथा पाश्चात्य ज्योतिष शास्त्र ने भी आंशिक रूप से लोकायतों की 'तत्व मीमांसा' को ग्रहण किया है। ज्योतिष ने भी आकाश को छोड़कर चार तत्वों को ही स्वीकार किया है, क्योंकि आकाश तो सब में समाहित अथवा आकाश में सभी ग्रह एवं राशियाँ स्थित हैं। आकाश ही इन सबका आधार है। मेष, सिंह, धनु ये अग्नि तत्त्व की राशियाँ हैं। मिथुन, तुला, कुंभ इनका वायु तत्त्व है तथा कर्क, वृश्चिक, मीन ये जल तत्त्व की राशियाँ हैं।

आचार मीमांसा

चार्वाक दर्शन में नेत्रों के सामने दिखने वाले इस संसार को छोड़कर अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह जगत् ही सत्य है। अपनी इसी धारणा के अनुसार मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण किया जाता है। काम और अर्थ ही पुरुषार्थ माने गए हैं। परलोक और पुनर्जन्म में आस्था न होने के कारण जीवन के भोग-विलास ही सब कुछ स्वीकार किए गए हैं। तदनुसार- **"यावज्जीवेत् सुखम् जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतम्-पिबेत्"** अर्थात् जब तक जियो सुखपूर्वक जियो के अनुसार, आचरण करने की सलाह दी गई है। राज्य के राजा को ही ईश्वर माना गया है। किसी भी प्रकार की पूजा, अर्चना, उपासना, ध्यान, भक्ति, ज्ञान-वैराग्य, साधना आदि का निषेध किया गया है। मानव को उच्छृंखल जीवन जीने की खुली छूट दी गई है।

चार्वाक दर्शन का बौद्ध दर्शन पर प्रभाव

नास्तिक दर्शन ने आदि काल से ही अन्य दर्शनों को प्रभावित किया है। बुद्ध का अनात्मवाद तथा अनीश्वरवाद लोकायतों की देन है। भगवान् बुद्ध के शब्दों में- "अत्ताहि अत्तनोनायो कोहि नाथो परोसिया" अर्थात् स्वयं ही स्वयं का स्वामी है, दूसरा कोई स्वामी या ईश्वर नहीं है; परन्तु बौद्ध दर्शन उच्छृंखलता तथा स्वेच्छाचारिता का पक्षपाती नहीं है। इसीलिए बौद्ध दार्शनिकों ने लोकायतों की जमकर निन्दा की है और सदाचार तथा सम्यक् श्रद्धा को पूरा महत्त्व दिया है। बौद्ध दर्शन में आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है, इसलिए उन्हें अनात्मवादी कहा जाता है। बौद्ध भी यज्ञ-यागादि को ढकोसला मानते हैं।

जैन दर्शन पर प्रभाव

लोकायतों ने जिस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड की खिल्ली उड़ाई है, उसी प्रकार जैन मतावलम्बियों को वैदिक ज्ञान तथा कर्मकाण्ड स्वीकार नहीं है। जैन मतावलम्बी भी संसार की सृष्टि करने वाले ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। यह सब 'बार्हस्पत्य दर्शन' के प्रभाव के कारण ही है; परन्तु चार्वाकों के आचार-व्यवहार से जैन मतावलम्बी कथमपि सहमत नहीं हैं।

चार्वाक दर्शन का सेमेटिक दर्शनों पर प्रभाव

यहूदी (मूसाई), क्रिश्चियन (ईसाई) तथा इस्लाम (मोहम्मदी) ये तीनों धार्मिक पंथ सेमेटिक या 'सामीय' कहे जाते हैं, क्योंकि प्रारम्भ में जिन जातियों ने इन पंथों को स्वीकार किया, पश्चिमेशिया की उन जातियों के पूर्वज का नाम 'साम' है। इन तीनों दर्शनों में अपने धार्मिक ग्रंथों को छोड़कर किसी अन्य धर्म की बात स्वीकार नहीं है। ये तीनों ही दर्शन पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते हैं, इसलिए इनका जीवन के प्रति अधिक मोह रहता है।

चार्वाक दर्शन का आधुनिक विज्ञान पर प्रभाव

जिस प्रकार चार्वाक ने संसार को बनाने वाले किसी ईश्वर को स्वीकार नहीं किया है; उसी प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक भी किसी जगत् कर्त्ता या ईश्वर को नहीं मानते। चार्वाकों की भाँति आधुनिक वैज्ञानिक

केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करते हैं। जो तथ्य उनकी प्रयोगशालाओं तथा उनके परीक्षणों में सिद्ध हो जाता है; उसे ही सत्य स्वीकार करते हैं।

चार्वाक दर्शन की महत्ता

मानव एवं प्राणिमात्र के कल्याण के लिए संसार के प्राचीनतम धर्मग्रन्थ वेद हैं। वेदों के उस शुद्ध ज्ञान को जब लोगों ने ठीक से नहीं समझा और जीवन-व्यवहार में वैदिक कर्मकाण्ड का स्वरूप विकृत हो गया, तो वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध आवाज उठने लगी। यज्ञ में हिंसा का बोलबाला हो गया। पुरोहित वर्ग ने जनता की श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाना प्रारम्भ कर दिया। तब उस स्थिति में हमें चार्वाक दर्शन का कुछ सुधारवादी स्वरूप दिखलाई पड़ता है। हमें चार्वाक का इस बात का आभार मानना चाहिए कि उसने ऋण करके घी पीने की सलाह दी है; परन्तु मद्य पीने की सलाह नहीं दी। चार्वाक के विचारों से प्रेरणा लेकर आधुनिक पदार्थ विज्ञान ने बहुत उन्नति की है। इसी तरह चार्वाक के 'वितण्डा' का उत्तर खोजते हुए भारत में खूब दार्शनिक उन्नति हुई है।

चार्वाक-दर्शनम् (व्याख्या भाग)

प्रत्यक्षमेव किलयस्य कृते प्रमाणं भूतार्थवादमथयो नितरां निविष्टः।
वेदादिनिन्दनपरः सुखमेव धत्ते सोऽयं बृहस्पति मुनिर्मम रक्षकोऽस्तु॥

चार्वाकदर्शन का पहला ही श्लोक परमेश्वर की सत्ता को विदीर्ण करता हुआ चार्वाक मत के संस्थापक बृहस्पति मुनि का स्मरण करता है, जिसके लिये केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। जो अनुमान अनुमिति, उपमिति शब्दादि प्रमाणों का खण्डन कर इन्द्रियसन्निकर्ष जन्य ज्ञान को ही ज्ञान मानता है। केवल भूतार्थवाद में ही श्रद्धा रखता है। पञ्च महाभूतों में से आकाश को न मानकर केवल चार महाभूतों को ही मानता है। जो वेद, स्मृति, पुराणों की निन्दाकर सुख की अनुभूति करता है। चार्वाक दर्शनकार इसी बृहस्पति नामक मुनि से रक्षा की कामना करता है।

शास्त्रकारों का मत है कि ग्रन्थ के आदि में, मध्य में और अन्त में मङ्गलाचरण अवश्य करना चाहिए। इससे ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति हो जाती है।

पुस्तक की रचना करते समय हमारे शिष्य भी मङ्गलाचरण करें; इस उद्देश्य से किया जाता है। इसके वाचन से पाठक भी सिद्धार्थ और दीर्घायु होते हैं। महाभाष्यकार मनीषी पतञ्जलि मुनि ने कहा है।

अथ कथं परमेश्वरस्य निःश्रेयसप्रदत्वमभिधीयते। बृहस्पतिमतानुसारिणा नास्तिकशिरोमणिना चार्वाकेण तस्य दूरितोत्सारित्वात् दुरुच्छेदं चार्वाकस्य चेष्टितम्। प्रायेण सर्व प्राणिनस्तावत्।

यावज्जीवं सुखं जीवेत्, नास्तिमृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

हिन्दी– परमेश्वर को मुक्तिदाता किस प्रकार कहा जाता है जबकि परमेश्वर नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। बृहस्पति के मत को स्वीकार करने वाले नास्तिक शिरोमणि चार्वाक निर्वाण या मुक्ति को अपने आकट्य तर्कों से खण्डित कर चुके हैं। उनके मत का खण्डन करना बड़ा कठिन है। प्रायः सभी लोग उनके मतानुकूल आचरण करते हैं। जैसे जब तक जीवन है सुख से जीओ। मृत्यु से बचना असम्भव है। जलने पर राख बनी देह का पुनरागमन कदापि सम्भव नहीं है। इस लोक को मानने वाले, नीतिशास्त्र और काम शास्त्रों के धर्म का अनुसरण करने वाले, अर्थ और काम को ही पुरुषार्थ मानने वाले, धर्म और मोक्ष कोई पुरुषार्थ नहीं हैं क्योंकि

उनके मत में पारलौकिक सुख है ही नहीं। इस चार्वाक के मत को सभी अनुभव करते हैं। इसीलिए चार्वाक के मत के प्रणेता महर्षि पाणिनि के सूत्र "क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्"से ठक् प्रत्यय करके लोकायति शब्द ही व्याकरणसम्मत है। पाप और पुण्य को चर्वण करने के कारण चार्वाक कहे जाते हैं।

तत्र पृथिव्यादीनि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहा कारपरिणितेभ्यः किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् चैतन्य-मुपजायते। विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति। तदाहुः "विज्ञानघन एवैतेभ्यः भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनाशयति स न प्रेत्य संज्ञास्तीति (बृह० उप० २-८-१२) तच्चैतान्यविशिष्टदेहः एवात्मा। देहातिरिक्ते आत्मनिप्रमाणाभावात्। प्रत्यक्षैक प्रमाणवादितया अनुमानादेः अनुङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात्।

प्रत्यक्ष प्रमाणातिरिक्तानुमानादि प्रमाणानां नास्ति सत्ता इन्द्रियजन्यसन्निकर्षरहितत्वात्। तथा च शावरभाष्येऽपि।

जडभूत विकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगद्राग इवोत्थितम्॥

हिन्दी– चार्वाक के मतानुसार चार महाभूतों के परस्पर सहयोग से शरीर का आकार और चैतन्य उत्पन्न होता है। इनके अनुसार आकाश की गणना महाभूतों में नहीं है, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता है। इन्द्रियसन्निकर्ष जन्य प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है। जब ये चार महाभूत परिणित होते हैं, तो शरीर का आकार और चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। जैसे मादक द्रव्यों से मद शक्ति उत्पन्न होती है। द्रव्यों के नष्ट होने पर चैतन्य भी स्वतः ही नष्ट हो जाता है। इसी बात को सिद्ध करने के लिए श्रुति को प्रमाण न मानने वाला चार्वाकमतानुयायी श्रुति को ही प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं। "विज्ञानघन शुद्ध चैतन्य इन्हीं भूतों से बाहर निकलकर शरीरों में दिखलाई पड़ता हैं मृत्यु के समय वह चैतन्य उनमें ही विलीन हो जाता है।

अतः चैतन्य से युक्त शरीर ही आत्मा है। देह के अलावा और कोई आत्मा नहीं है प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव होने के कारण। प्रत्यक्ष प्रमाण के अलावा अनुमानादि प्रमाणों की कोई सत्ता ही नहीं है, क्योंकि उनका इन्द्रियजन्य सन्निकर्ष नहीं होता है। शाबरभाष्य में भी कहा गया है–

जड़भूत वस्तुओं की विकृति में जो चैतन्य दिखाई देता है वह पान सुपारी मसालादि के संयोग से जो लालिमा दिखलाई देती है; उसकी ही तरह है।

इस प्रकार शरीर के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। इस बात की पुष्टि कर चार्वाक ने आत्मा और परमात्मा का खण्डन कर दिया है।

अङ्गनाद्यालिंगनादि जन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। न च अस्यदुःखसम्भिन्नतया पुरुषार्थत्वमेव नास्ति, इति मन्तव्यम्। अवर्जनीयतया प्राप्तस्य दुःखस्य परिहारेण सुखमात्रस्यैव भोक्तव्यत्वात्। तद्यथा मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते। स यावदोदयं तावदादाय निवर्तते।

यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यानि आहरति। सः यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। तस्माद् दुःखभयात् नानुकूल वेदनीयं सुखं त्यक्तुमुचितम्।

धूर्त प्रलाप मात्रत्वेन अग्निहोत्रादेः जीविकामात्र प्रयोजनत्वात्। तथा च आभाणकः-

अग्निहोत्र त्रयोवेदाः त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।।इति।

हिन्दी– परलौकिक सुख मानने वालों के मत का खण्डन करते हुए चार्वाक कहते हैं कि जो तुम कहते हो कि बहुत धन और शारीरिक श्रमसाध्य यज्ञादिकों को विद्यावृद्ध लोग क्यों करते हैं, तो उसका उत्तर है कि तुम्हारा कथन प्रामाणिक नहीं है। वेदों में अमृत व्याघात परस्पर विरोधी और पुनरुक्त दोष भरे पड़े हैं जैसे पुत्रेष्टि यज्ञ करने पर भी पुत्र का न होना यह झूठ है। उदय होने पर हवन करो, उदय से पूर्व हवन करो। यह परस्पर विरोधी वाक्य हैं। आप उदन्तु यहाँ पुनरुक्त दोष दीख रहा है, अतः इन दोषों से दूषित वेद का सहारा लेकर धूर्तवक जो परस्पर कर्मकाण्डी ज्ञानकाण्डियों की, ज्ञानकाण्डी कर्मकाण्डियों की निन्दा करते हैं। भाट, धूर्त्त, प्रलापी धूर्त वकों ने अपनी जीविका के लिए इन्हें बनाया है। जैसा कि बृहस्पति ने कहा है।

अग्निहोत्र, तीनों वेद, त्रिदण्ड ग्रहण कर सन्यास लेना, भस्म लगाना, ये तो बुद्धि और पुरुषार्थ हीन धूर्तों की जीविका के साधन मात्र हैं। इनमें कोई सार नहीं है। ये धूर्त सरलचित्त लोगों को नरकादि का भय दिखाकर लूटते रहते हैं।

तदेत्सर्वं समग्राहिः–
अङ्गनालिङ्गनाजन्य सुखमेव पुमर्थता।
कण्टकादि व्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते॥
लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापर स्मृतः।
देहस्य नाशोमुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते॥
अत्रचत्वारिभूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलुभूतेभ्यः चैतन्यमुपजायते॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यः द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूल कृशोऽस्मीति समानाधिकरण्यतः॥
देहस्थलौल्यादि योगाच्च स एवात्मानचापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी॥

हिन्दी– स्त्री के आलिंगन से प्राप्त सुख ही पुरुषार्थ है। काँटों से मिलने वाला दुःख ही नरक है। लोक में प्रसिद्ध राजा ही परमेश्वर है और कोई परमेश्वर नहीं है। देह के नाश को ही मुक्ति कहा जाता है। ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है।

भूमि, जल, अग्नि, वायु चार महाभूत ही सृष्टि के कारण हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में आकाश की कोई सत्ता नहीं हैं। चार महाभूतों से ही शरीरों में चैतन्य की उत्पत्ति होती है। जैसे मादक पदार्थों के संयोग से मद शक्ति उत्पन्न होती है, वैसे ही चारों महाभूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है। मैं मोटा हूँ, पतला हूँ। यह ज्ञान तो समानाधिकरण से होता है। शरीर ही आत्मा है, वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यह देह मेरी है, यह तो औपचारिक कथन है। देह से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है।

अतएव कण्टकादि जन्यं दुःखमेव नरकः लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः। देहोच्छेदो मोक्षः। देहात्मवादेच "स्थूलोहम्, कृशोऽहम् इत्यादिना समानाधिकरण्योपपत्तिः। मम शरीरम्, इति व्यवहारो राहोशिरः इत्यादिवदौपचारिकः।

हिन्दी– चार्वाक के मत में काँटों आदि से उत्पन्न दुःख ही नरक है। नरक की कोई अलग स्थिति नहीं है। दण्ड देने और कृपा करने में समर्थ राजा ही ईश्वर है। देह का नाश ही मोक्ष कहलाता है। ज्ञान से मोक्ष नहीं होता है। देह ही आत्मा है। मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ; यह व्यवहार तो समानाधिकरण से है। मेरा शरीर है। यह कहने से शरीर से अलग आत्मा की सिद्धि नहीं होती है। यहाँ सम्बन्ध में षष्ठी तो राहू का शिर की तरह केवल उपचार से है। राहू से अलग शिर की सत्ता नहीं होती है। औपचारिकता से लोग ऐसा प्रयोग करते हैं।

स्यादेतत्। स्यादेष मनोरथोपद्यनुमानादेः प्रामाण्यं न स्यात्। अस्ति च प्रामाण्यम्। कथमन्यथा धूमोपलम्भानन्तरं धूमध्वजे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरुपपद्येत्? नद्यास्तीरे सन्ति फलानि इति वचन श्रवण समनन्तरं फलार्थिनां नदीतीरे प्रवृत्तिरिति।

तदेतन्मनोराज्यविजृम्भणम्। व्याप्तिपक्षधर्मताशालि हि लिंगं गमकम्। अभ्युपगतमनुमान प्रामाण्यवादिभिः। व्याप्तिश्च उभयविधोपाधि विधुरः सम्बन्धः। स च सत्तया चक्षुरादिवन्नाङ्गभावं भजते किन्तु ज्ञाततया। कः खलु ज्ञानोपायोभवेत्?

हिन्दी– चार्वाक विरोधियों का कहना है कि ठीक है तुम ईश्वर और आत्मा को नहीं मानते; परन्तु अनुमानादि प्रमाणों से आत्मा और परमात्मा को सिद्ध किया जाता है। इसका उत्तर देते हुए चार्वाक कहते हैं, यह तो आपका मनमोदक मात्र है? मनमोदक कैसे? धुएँ को देखकर दर्शक अग्नि का अनुमान लगाता है। वहाँ जाकर उसे अग्नि की प्राप्ति भी होती है। नदी के तीर पर फल हैं। किसी सत्यवक्ता से सुनकर फलार्थी वहाँ जाते हैं, फल प्राप्त करते हैं। अतः अनुमान शब्द आदि प्रमाण हैं ही। यह तो आप की मनगढ़न्त बात है। आपके मत में व्याप्त पक्षधर्मताशाली लिङ्ग गमक होता है। और व्याप्ति उभयविध उपाधि विधुर सम्बन्ध होता है। वह सम्बन्ध अपनी सत्ता से आँखों की भाँति अङ्ग भाव को प्राप्त नहीं है; किन्तु जानने के द्वारा ही जाना जाता है। तो बताओ कि कौन निश्चय पूर्वक ज्ञान का साधक होगा? अतः अनुमानादि प्रमाण नहीं माने जा सकते हैं।

न तावत्प्रत्यक्षम्। तच्च बाह्यमान्तरं वाभिमतम्। न प्रथमः। तस्य सम्प्रयुक्त ज्ञान जनकत्वेन भवति प्रसर सम्भवेऽपि भूतभविष्यतोस्तदसम्भवेन सर्वोपसंहारवत्याः व्याप्तेर्दुज्ञानत्वात्। न च व्याप्तिज्ञानं सामान्यगोचरत्वमिति मन्तव्यम्। व्यक्त्योरविनाभावाभाव प्रसंगात्। नापिचरमः अन्तःकरणस्य वहिरिन्द्रियतन्मत्वेन बाह्येऽर्थे स्वातन्त्र्येण प्रवृत्यनुपपतेः। तदुक्तम्-चक्षुराद्युक्त विषयं परतन्त्रं वहिर्मनः (त०वि०२०) इति।

हिन्दी– यहाँ पूर्व पक्ष की उक्तियों को रखते हुए दर्शनकार ने लिखा है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है– बाह्य और आन्तरिक। वह वर्तमान कालिक ही होता है। भूतकाल और भविष्यत् काल के लिये प्रत्यक्ष असमर्थ है, अतः व्याप्तिज्ञान नहीं करा सकता। यदि कहो कि व्याप्तिज्ञान सामान्य होने से हो सकता है अतः कोई दोष नहीं है तो व्यक्तियों के अविनाभाव के अभाव से वह ग्रहण करने योग्य नहीं है। दूसरा आन्तरिक प्रत्यक्ष भी व्याप्तिज्ञान में कोई साधन नहीं रखता है। बहिर् इन्द्रिय तन्त्र बाह्य अर्थ में स्वतन्त्र होता है। अतः अन्तःकरण की बहिर् इन्द्रिय तन्त्र के बिना स्वतन्त्रतापूर्वक विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती। जैसा कि कहा भी गया है 'मन, चक्षु आदि इन्द्रियों से युक्त होकर ही विषयों का सेवन करता है।' अतः व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं है।

नाप्यनुमानं व्याप्तिज्ञानोपायः तत्र तत्रापि एवमित्यनवस्थादौःस्थ्यप्रसंगात्। नापिशब्दस्तदुपायः काणादमतानुसारेण अनुमाने एवान्तर्भावात्। अनन्तर्भावे वा वृद्धव्यवहार रूपलिङ्गावगति सापेक्षतया प्रागुक्तदूषण लङ्घनाजङ्घालत्वात्। धूमधूमध्वजयोः अविनाभावोऽस्तीति वचनमात्रे मन्वादिवद्विश्वासाभावाच्च। अनुपदिष्टाविनाभावस्य पुरुषस्यानन्तरदर्शनेन अर्थान्तरानुमत्याभावे स्वार्थानुमानकथायाः कथाशेषत्व प्रसंगाच्च कैव कथा परानुमानस्य।

हिन्दी– अनुमान से भी व्याप्तिज्ञान संभव नहीं है। वहाँ भी एक अनुमान की सिद्धि के लिए अन्य अनुमान की तथा उसकी सिद्धि के ऊपर अनुमान की आवश्यकता होगी, अतः अनवस्था दोष उपस्थित हो जाएगा। इस कारण अनुमान भी व्याप्तिज्ञान का उपाय नहीं है। शब्द प्रमाण से व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं। कणाद के मतानुसार शब्द का अनुमान में ही अन्तर्भाव माना गया है, अतः वहाँ भी यह दोष उपस्थित होगा। यदि अन्तर्भाव नहीं मानें तो भी वृद्धव्यवहार में लिङ्ग के ज्ञान की आवश्यकता होगी, अतः दोष तो आएगा ही। धूम और अग्नि का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध जरूरी है, अतः मनु आदि की तरह उसमें भी अविश्वास होगा ही। अविनाभाव

के उपदेश के बिना अन्य पुरुष के देखने से अर्थान्तर की अनुमिति का अभाव होने से स्वार्थ अनुमान नहीं होगा तथा परार्थ अनुमान का प्रयोक्ता कहाँ मिलेगा। अत: स्वार्थ और परार्थ अनुमान से व्याप्ति ज्ञान दुर्लभ है।

उपमानादिकन्तुदूरापास्तम्। तेषां संज्ञासंज्ञि सम्बन्धादि बोधकत्वेन अनौपाधिक सम्बन्ध बोध कत्वा-सम्भवत्वात्।

हिन्दी– उपमानादि से भी व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि उनमें संज्ञा गवयादि संज्ञी गोसदृशपिण्डादि में सम्बन्ध की अपेक्षा अत्यावश्यक है और उससे अनौपाधिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि उपमिति का करना ही उपमान कहलाता है, जो संज्ञा और संज्ञी सम्बन्ध से समुत्पन्न होता है, अत: उपमानादि से व्याप्तिज्ञान असम्भव है।

किञ्च उपाध्यभावोऽपि दुरवगम:। उपाधीनां प्रत्यक्षत्व नियमासम्भवेन प्रत्यक्षाणामभावस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि अप्रत्यक्षाणामभावस्य अप्रत्यक्षतया अनुमानाद्यपेक्षायामुक्त दूषणानतिवृत्ते:। अपि च साधनव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्ति:, इति तल्लक्षणं कक्षीकर्तव्यम्। तदुक्तम्-

साध्यस्यव्यापकोयस्तु हेतोव्यापकस्तथा।
स उपाधिभवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते॥

हिन्दी– साध्यभाव का ज्ञान भी दुरूह है। उपाधियों का प्रत्यक्षत्व नियम असम्भव होने से प्रत्यक्षों के अभाव का प्रत्यक्षत्व होने पर भी अप्रत्यक्षों के अभाव की अप्रत्यक्षता से अनुमानादि प्रमाणों की अपेक्षा में पूर्वोक्त दूषण आएगा ही और साधन व्यापकत्व होने पर साध्यसमव्याप्ति होती है, यह लक्षण मानना चाहिए।

अव्याप्तसाधनोय: साध्य समव्याप्तिरुच्यते स उपाधि: शब्देऽनित्येसाध्ये सकर्तृकत्वं घटत्वमश्रवताञ्च व्यावर्तयितुमुपातान्यत्र क्रमतो विशेषणानि त्रीणि तस्मादिदमनवद्यं समासमेत्यादिनोक्तमाचार्यैश्च॥

हिन्दी– जो साधन को छोड़कर साध्य में व्याप्ति करे तथा साध्य से ही व्याप्तिमान् हो, वह उपाधि कहलाती है। शब्द की अनित्यता सिद्धि के लिए तीन विशेषण दिए जाते हैं। लक्षण से साधनव्यापकत्व, साध्यव्यापकत्व, साध्यसमव्याप्तित्व ये तीन विशेषण देने की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि कहा गया है।

समासमाविनाभावावेकत्रस्तोयदातदा।
समेन यदिनोव्याप्त: तयोहीनोऽप्रयोजक:॥

अर्थात् सम-धूम से असम-अग्नि व्याप्त न हो तब हीन व्याप्तिमान् अग्नि प्रयोजक नहीं होती है। वह धूमरूपी साध्य का साधक नहीं हो सकती, अत: समव्याप्ति की अनिवार्यता अत्यावश्यक है।

तत्र विध्यध्यवसायपूर्वकत्वान्निषे धाध्यवसायस्य उपाधिज्ञाने जाते तदभावविशिष्टसम्बन्धरूप व्याप्तिज्ञानं व्याप्तिज्ञानाधीनं चोपाधिज्ञानमिति परस्पराश्रयवज्रप्रहारदोषो वज्रलेपायते। तस्मादविनाभावस्य दुर्बोध तयानानुमानाद्यवकाश:।

हिन्दी– विधि का निश्चय कर निषेध का निश्चय किया जाता है। उपाधिज्ञान के बाद निषेधधर्मा व्याप्ति का ज्ञान होता है। उपाधिज्ञान के बिना व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता और व्याप्तिज्ञान के बिना उपाधि का ज्ञान असम्भव है। ये दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं और अन्योन्याश्रयदोष से दूषित हैं। अन्योन्याश्रय कार्य नहीं होते। यह तर्क विरोधियों का मुँह बन्द करने के लिये प्लास्टर का (वज्रलेप) काम करता है। इसलिये अविनाभाव की दुर्बोधता से अनुमानादि प्रमाणों के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है।

धूमादिज्ञानानन्तरमग्न्यादिज्ञानेप्रवृत्तिः प्रत्यक्षमूलतया भ्रान्त्या वा युज्यते। क्वचिद् फलप्रतिलम्भस्तु मणिमन्यौषधादिवद् यादृच्छिकः। अतस्तत्साध्यमदृष्टादिकमपि नास्ति। नन्वदृष्टानिष्टौ जगद्वैचित्र्यमाकस्मकं स्यादितिचेन्न तद्मद्रम्। स्वभावादेव तदुपपत्तेः। तदुक्तम्-

NOTES

अग्निरुष्णोजलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्माद् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः।।इति

हिन्दी– धूमादि ज्ञान के बाद लोगों को जो अग्निज्ञान की प्रवृत्ति होती है, वह तो पूर्व समय से ही प्रत्यक्ष पर आधारित है अथवा भ्रान्ति से उत्पन्न होती है। कभी-कभी फल की उपलब्धि तो मणि, मन्त्र और औषधि यों की भाँति स्वाभाविक हो जाती है, अतः अन्वय और व्यतिरेक से रहित यहाँ कार्य-कारण भाव ही होता है। कभी-कभी काकतालीय न्याय से स्वभाव से ही ऐश्वर्य और रोगों से मुक्ति मिल जाती है। यह सब स्वाभाविक ही होता है। यह कहा भी गया है, स्वभाव से अग्नि का गर्म होना, जल का ठण्डा होना, वायु का समस्पर्श होना होता है। यह सब किसी का बनाया नहीं, अपितु स्वभाव से ही होता है।

तदेतत्सर्वं बृहस्पतिनाप्युक्तम्-
न स्वर्गोनापवर्गोवा नैवात्मापारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः।।
अग्निहोत्रं त्रयोवेदाः त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृ निर्मिता।
पशुश्चेन्निहितः स्वर्गं ज्योतिष्टोमेगमिष्यति।
स्वपितायजमानेन तत्रकस्मान्न हिंस्यते।
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्ति कारणम्।
निर्वाणस्यप्रदीपस्य स्नेहसंवर्धयेच्छिखाम्।।

हिन्दी– चार्वाक दर्शन के प्रतिपादक बृहस्पति मुनि ने भी कहा है। न तो स्वर्ग है और न अपवर्ग है; न कोई पारलौकिक आत्मा ही है। वर्ण और आश्रमों की क्रियाएँ भी कोई फल देने वाली नहीं है।

अग्निहोत्र करना, तीनों वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद 'अथर्ववेद इन तीनों वेदों का समवेत रूप होने से उसे अलग नहीं मानते, तीनों प्रकार के दण्ड धारण करना, भस्म लगाना ये तो बुद्धि और पौरुष से हीन व्यक्तियों के लिये ब्रह्मा नामक किसी व्यक्ति ने जीविका बना दी है।

यदि ज्योतिष्टोम यज्ञ में बलि देने से बकरा आदि जीव स्वर्ग को जाते हैं, तो यजमान अपने पिता की बलि क्यों नहीं देता, जिससे उसे भी स्वर्ग की प्राप्ति हो जाए।

मरे हुए व्यक्तियों को यदि श्राद्ध से तृप्ति मिल जाती है। यदि यह कथन सत्य है, तो तेल से बुझे हुए दीपक की लौ भी बढ़ जानी चाहिए, अतः ये सभी बातें कपोल कल्पित हैं। इनमें कुछ भी सत्य नहीं है।

गच्छतामिहजन्तूनाम् व्यर्थं पाथेयकल्पनम्।
गेहस्थ कृत श्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता।।
स्वर्गस्थिता यदातृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानां अत्र कस्मान्नदीयते।।
यावज्जीवेत्सुखंजीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्यदेहस्य पुनरागनमनं कुतः।।
यदिगच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद्भूयो न चायाति बन्धुस्नेह समाकुलः।।

यदि = चेत्, देहात् = शरीरात्, विनिर्गतः = यातः, एषः = आत्मा, परलोकम् = स्वर्गम्, गच्छेत् = गमनं कुर्यात्, बन्धुस्नेहसमाकुलः = बान्धवस्नेहविह्वलः, भूयः = पुनरपि, कस्मात् = कुतः, न = नैवः, समायाति = आगच्छति। तस्मादेतत्सर्वं धूर्तानां स्वजीविकार्थविहिताडम्बरं वर्तते।

हिन्दी– दूर दराज जाने वाले लोगों को नाश्ता बाँधना व्यर्थ है। घर पर ही उनका श्राद्ध कर दिया जाए तो रास्ते की भूख स्वतः ही मिट जाएगी। स्वर्ग में स्थित पितर यदि दान देने से वहाँ तृप्त हो जाते हैं, तो घर की छत पर बैठे लोग उस प्रकार के दान से तृप्त क्यों नहीं हो जाते हैं।

अतः जब तक जीओ सुख से जीओ कर्ज लेकर घृत पान करो। मरने के बाद यह देह फिर कर्ज उतारने के लिये नहीं आने वाली है।

यदि यह आत्मा इस शरीर से निकलकर परलोक जा सकती है, तो भाई बन्धुओं के दुःखी होने पर स्नेह से व्याकुल होकर पुनः शरीर में क्यों नहीं लौट आती।

अतः आत्मा–परमात्मा लोक–परलोक की बातें, पाखण्डियों ने अपनी जीविका चलाने के लिए बनाई हैं।

ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि नत्वन्यद्विद्यत्ते क्वचित्।।
त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्मरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्।
अश्वस्यात्र शिश्नन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातंप्रकीर्तितम्।।
मांसानां खादनं तद्वत् निशाचर समीरितम्।।

हिन्दी– इसलिए मृत व्यक्तियों का प्रेत कार्य कराना, ब्राह्मणों ने अपनी रोजी-रोटी के लिए चलाया है। इसके सिवाय उसका कोई सार नहीं है।

तीनों वेदों के बनाने वाले भाँड़, धूर्त और निशाचर हैं। अन्यथा जर्फरी, तुर्फरी ऐसे शब्द पण्डितों के वचन कहे गए हैं, जो अनर्गल प्रलाप मात्र ही हैं। ऐसे शब्द सभ्य व्यक्तियों की भाषा में दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

अश्वमेध यज्ञ में यजमान की पत्नी घोड़ेका लिंग ग्रहण कर स्वयोनि स्पर्श कराए, यह बात भण्डों की कही हुई हो सकती है तथा ऐसे ही और भी प्रसंग जो ग्राह्य नहीं है, ग्रहण योग्य बताई गई हैं।

जैसे मांस खाना, ये सब निशाचरों का ही कथन हो सकता है, अतः बहुत से प्राणियों के कल्याण के लिये चार्वाक का मत ही मानने योग्य है और रमणीय भी है।

बौद्ध दर्शन

अनुमान–प्रमाण की अपरिहार्यता: चार्वाक दर्शन एकमात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। उसने अन्य प्रमाणों अर्थात् अनुमान, उपमान और शब्द का खण्डन किया। बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणों को मान्यता देता है, इसलिए बौद्ध दर्शन ने चार्वाक दर्शन के उन तर्कों का खण्डन किया है जो चार्वाक दर्शन में अनुमान के विरोध में दिये गये हैं।

चार्वाक ने अनुमान के विरुद्ध आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। प्रत्येक अनुमान व्याप्ति पर आधारित है। व्याप्ति को अनुमान का प्राण कहा गया है। उदाहरण के लिए हम न्यायदर्शन के अनुमान को देख सकते हैं। यहाँ पर्वत पर धूम को देखकर पर्वत पर अग्नि का अनुमान किया गया है। इस अनुमान का आधार व्याप्ति है। 'जहाँ-जहाँ

धुआँ है, वहाँ-वहाँ आग है', दो वस्तुओं के बीच आवश्यक और सामान्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहा जाता है। यहाँ धुआँ और आग में व्याप्ति सम्बन्ध पाया जाता है।

बौद्ध दर्शन ने चार्वाक की आपत्तियों के उत्तर के रूप में व्याप्ति को सिद्ध करने के लिए कहा है -

चार्वाकों ने जो यह कहा है कि अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता, वह ठीक अर्थात् तर्कसम्मत् नहीं है। व्याप्ति ज्ञान तो तादात्म्य अर्थात् दो वस्तुओं की एकरूपता तथा तदुत्पत्ति अर्थात् कार्य-कारण का सम्बन्ध सरलता से हो सकता है।

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार तदुत्पत्ति अर्थात् कार्य-कारण सम्बन्ध के निश्चय के द्वारा अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति का निश्चय होता है। कार्य-कारण सम्बन्ध का निश्चय कार्य और कारण की प्रत्यक्ष प्राप्ति और अप्राप्ति रूपी पाँच अवयवों पर निर्भर करता है।

अनुमान का खण्डन करने वालों को बौद्ध दार्शनिकों ने इस प्रकार उत्तर दिया है - इतना होने पर भी यदि कोई व्यक्ति अनुमान-प्रमाण की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करता है तो उससे इस प्रकार पूछा जाये- आप केवल अनुमान प्रमाण नहीं है, इतना भर कहते हैं अथवा कोई हेतु भी उपस्थित करते हैं या नहीं करते हैं। यदि आपकी पहली बात पर अड़ते हैं तो यह ठीक है, किसी सिद्धान्त को बिना कारण के रखने अथवा बिना हेतु के वाक्य उपस्थित करने में साध्य की सिद्धि नहीं होती।

दूसरा पक्ष यह है कि अनुमान को प्रमाण न मानने के लिए साधन अर्थात् हेतु देना चाहिए, यह भी ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि जब आप लोग कहते हैं कि अनुमान प्रमाण नहीं होता है, तब तो आप अपने वचन को भी स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि अनुमान प्रमाण मानने के बाद ही आप्तपुरुषों की बात स्वीकार कर सकते हैं। तीन प्रकार के अनुमान तो आप स्वयं स्वीकार करते हैं।

बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद

चतुर्थ आर्य सत्य 'दुःखनिरोधमार्ग' के अन्तर्गत बताये गये 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के अनुसार प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति कारण के अनुसार होती है। कारण के नष्ट होने पर वस्तु भी नष्ट हो जाती है। प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त ही बौद्ध दर्शन के अनित्यवाद में परिवर्तित हो जाता है। इससे प्रत्येक वस्तु की नश्वरता प्रमाणित होती है। बौद्ध दर्शन यह स्वीकार करता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु सागर के जल के समान अस्थिर और चलायमान है। संसार की वस्तु जड़ हो, चाहे चेतन, पर वह होती अनित्य ही है। गौतम बद्ध ने अपने अनित्यवाद की व्याख्या इस प्रकार की है - "जो वृद्ध हो सकता है, वह वृद्ध होकर ही रहेगा। जिसे रोगी होना है, वह रोगी होकर ही रहेगा, जो मृत्यु के अधीन है, वह अवश्य मरेगा। जो नाशवान् है, उसका नाश अवश्य होगा।"

गौतम बुद्ध के अनित्यवाद के सिद्धान्त को उनके अनुयायी जनों ने बाद में क्षणिकवाद में परिवर्तित कर दिया। क्षणिकवाद अनित्यवाद का ही विकसित रूप है। क्षणिकवाद के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु केवल अनित्य ही नहीं है, बल्कि क्षणभंगुर भी है। जिस प्रकार नदी का एक बुद्बुद एक क्षण के लिए सामने आता है, दूसरे क्षण वह विलीन हो जाता है, उसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुएँ क्षणमात्र के लिए ही अपना अस्तित्व रखती हैं।

क्षणिकवाद के समर्थन में जो यह महत्त्वपूर्ण तर्क दिया जाता है, उसको 'अर्थक्रियाकारित्व' कहा जाता है। अर्थक्रियाकारित्व का तात्पर्य है- किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति। अर्थक्रियाकारित्व का लक्षण सत् अर्थात् किसी वस्तु की सत्ता तभी तक मानी जा सकती है, जब तक उसमें कार्य करने की क्षमता रहती है। आकाश कुसुम के समान जो असत् है, उससे किसी कार्य का विकास नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि यदि कोई वस्तु कार्य उत्पन्न कर सकती है तो उसकी सत्ता है। अगर वह कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती

तो उसकी सत्ता नहीं है। एक वस्तु से एक समय में एक ही कार्य होना सम्भव है। यदि एक समय में एक वस्तु से एक कार्य का निर्माण होता है तथा दूसरे समय दूसरे कार्य का निर्माण होता है तो इससे सिद्ध होता है कि पहली वस्तु का अस्तित्व क्षण मात्र के लिए ही रहता है, क्योंकि दूसरी वस्तु के निर्माण के साथ ही पहली वस्तु का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

क्षणिकवाद को स्वीकार कर लेने पर कर्म-सिद्धान्त का खण्डन होता है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्म अपना फल अवश्य देते हैं। यदि एक व्यक्ति ने कर्म किया और क्षणिक होने के कारण वह दूसरा व्यक्ति हो गया तो दूसरे व्यक्ति को पहले व्यक्ति के कर्मों का फल क्यों मिलना चाहिए ? इसे एक उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है – मान लीजिए 'क' ने चोरी की। चोरी करने का दण्ड दिया भी जायेगा तो वह 'क' के स्थान पर 'ख' को प्राप्त होगा। दण्ड 'क' को दिया ही नहीं जा सकता, क्योंकि वह तो नष्ट हो चुका है। 'क' के अपराध का दण्ड 'ख' को देना कर्म-सिद्धान्त का उल्लंघन करना है।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण का विचार महत्त्वपूर्ण है। क्षणिकवाद को स्वीकार कर लेने पर निर्वाण के विचार का भी खण्डन हो जाता है, निर्वाण का विचार भी खण्डित हो जाता है। यदि व्यक्ति क्षणिक है तो उसका दु:ख से छुटकारा प्राप्त करने का प्रयत्न निरर्थक है, क्योंकि दु:ख से छुटकारा उसे नहीं, दूसरे को मिलेगा।

क्षणिकवाद के समर्थन के बाद स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या करना असम्भव हो जायेगा। स्मरण तभी माना जा सकता है, जब स्मरण करने वाला क्षणिक न होकर कुछ समय तक स्थायी रहे। इसके साथ ही साथ पहचानी जाने वाली वस्तु में भी स्थिरता आवश्यक है। क्षणिकवाद व्यक्ति और वस्तु को क्षणिक मानकर स्मृति और प्रत्यभिज्ञा का आधार नष्ट कर देता है।

क्षणिकवाद अथवा प्रत्येक वस्तु के क्षणिकत्व की सिद्धि होने से विरोधियों की अक्रम और यौगपद्य दोनों की मान्यता का खण्डन हो जाता है। जब बौद्ध दर्शन क्षणिकत्व की स्थापना करता है तो उसके लिए क्षणिकत्व साध्य है। साथ ही अक्षणिक अर्थात् नित्य माने गये ईश्वर, घट, पट आदि विषय हैं। स्थायी भाव क्रम और अक्रम किसी भी स्थिति में क्रिया करने वाला नहीं हो सकता। जब ईश्वर आदि स्थायी पदार्थ में क्रम या अक्रम का भाव सिद्ध करते हैं तो अर्थक्रियाकारित्व का भी अभाव हो जाता है। प्रसंग और उसके विपर्यय से सत्व में अव्ययव्याप्ति का ग्रहण होता है।

क्षणिकवाद में बौद्धों की भावना 'सर्वमेवान क्षणिकम्' अर्थात् सभी क्षणिक हैं की व्याख्या विधिवत् हो जाती है। इससे स्थायित्ववाद का खण्डन भी हो जाता है। यह खण्डन युक्तियुक्त है तथा अपने पक्ष की भली-भाँति प्रतिष्ठा हुई है। इसके अनुसार संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे परिवर्तनशील अर्थात् बदलने वाली हैं। उनका बदलना क्षण-क्षण में होता रहता है। हम एक वस्तु को दो बार नहीं देख सकते, एक ही नदी में दो बार स्नान नहीं कर सकते। एक ही मनुष्य को दो बार प्रमाण नहीं कर सकते। सभी की सत्ता क्षणमात्र के लिए है। वस्तुओं का उद्देश्य कार्योत्पत्ति है। एक क्षण में रहना और दूसरे क्षण में अर्थक्रिया तथा विनाश, यही बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद का सिद्धान्त है।

बौद्ध दर्शन के प्रमाण

'सर्वदर्शन संग्रह' के रचयिता माधवाचार्य ने बौद्ध दर्शन पर विचार करते समय कहीं भी प्रमाणों का उल्लेख नहीं किया है। 'न्यायदर्शन' पर विचार करते समय माधवाचार्य ने नैयायिकों के द्वारा मान्य चार प्रमाण बताये हैं –

(1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान, (3) उपमान और (4) शब्द।

NOTES

डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' ने 'सर्वदर्शन संग्रह' की भूमिका में प्रमाणों पर विचार करते हुए बौद्धों द्वारा मान्य दो प्रमाणों-प्रत्यक्ष और उपमान का संकेत इन शब्दों में किया है - विभिन्न दर्शनों में अन्य विषयों पर भले ही मतभेद हो, किन्तु इस प्रश्न पर सब एकमत हैं कि मूल तत्त्व के साक्षात्कार से ही मोक्ष की उपलब्धि हो सकती है।

दूसरी ओर बौद्धों और जैनों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं। इनका कहना है कि व्याप्ति का ज्ञान प्राप्त करना कोई कठिन कार्य नहीं है। अनुमान व्याप्ति के अभाव में नहीं हो सकता। बौद्ध दार्शनिक व्याप्ति की स्थापना के लिए कार्य-कारण सम्बन्ध तथा तादात्म्य सम्बन्ध को उपाय के रूप में उपस्थित करते हैं किन्तु जैन दार्शनिक अन्वय और व्यतिरेक की विधि से ही सन्तुष्ट हैं। इतना ये दोनों अर्थात् बौद्ध और जैन दार्शनिक मानते हैं कि व्यभिचार की शंका न रहे। शब्द और उपमान आदि प्रमाणों को अनुमान के अन्तर्गत ही रखा जाता है। वैशेषिक लोग (वैशषिक दर्शन को मानने वाले) भी इसी विधि से केवल दो प्रमाण ही मानते हैं। उनका कहना है कि शब्द प्रमाण सभी स्थानों पर प्रमाण नहीं होता।

माधव सम्प्रदाय वाले दो ही प्रमाण मानते हैं, किन्तु उनमें अनुमान प्रमाण नहीं है। वे केवल प्रत्यक्ष और शब्द को प्रमाण मानते हैं। शब्द के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का बोधक होने पर ही अनुमान प्रमाण माना जा सकता है। रामानुज सम्प्रदाय वाले अनुमान को शब्द से पृथक मानकर प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द- ये तीन प्रमाण मानते हैं। सांख्य और योग दर्शन में भी ये ही तीन प्रमाण माने गये हैं।

शंकराचार्य भी उपर्युक्त छः प्रमाणों को ही मान्यता देते हैं। पौराणिकों का एक सम्प्रदाय है जो सम्भावना और ऐतिह्य को भी प्रमाण मानता है। नवम् प्रमाण चेष्टा है, जिसे तान्त्रिक और साहित्यिक लोग मानते हैं। यद्यपि इन प्रमाणों में प्रत्यक्ष को शिरोमणि कहा गया है, किन्तु अनेक ऐसे विषय हैं, जिनकी सिद्धि के लिए हमें अनुमान और शब्द पर अवलम्बित होना पड़ता है, जैसे ब्रह्म की सिद्धि के लिए श्रुति (वेद) को ही शंकराचार्य ने प्रमाण शिरोमणि माना है।

चार्वाक दर्शन के अनुमान प्रमाण का इस आधार पर खण्डन किया है कि अनुमान का आधार व्याप्ति है और व्याप्ति नहीं बन पाती। बौद्ध दर्शन ने चार्वाकों की इस मान्यता का विरोध करते हुए विस्तार से व्याप्ति सिद्ध की है।

इस सम्बन्ध में 'सर्वदर्शन संग्रह' के सम्पादक डॉ0 उमांशकर शर्मा 'ऋषि' ने लिखा है - "अविनाभाव का ही दूसरा नाम है- व्याप्ति। इसकी व्याख्या 'प्रमाणवार्तिक' की स्ववृत्ति (टीका) में इस प्रकार है - कार्यस्थ स्वभावस्य च लिंगस्याविनाभावः = साध्यधर्मं विना न भवतीत्यर्थः। अर्थात् अविनाभाव = कार्य (तदुत्पत्ति) और स्वभाव (तादात्म्य) रूपी लिंग का साध्य के बिना न देखा जाना।

किसी अनुमान में व्याप्ति की आवश्यकता होती है, जब तक साध्य और साधन में स्थायी सम्बन्ध न दिखलाया जाय, अनुमान हो नहीं सकता। पक्ष (पर्वत) में साध्य (अग्नि) को सिद्ध करने के लिए साधन या हेतु (धूम) में व्याप्ति दिखलानी पड़ती है। व्याप्ति को जानने के लिए यहाँ पर दो विधियाँ हैं - (1) अन्वय और (2) व्यतिरेक। उदाहरण के रूप में अन्वय विधि इस प्रकार होगी- जहाँ-जहाँ (जैसे-रसोईघर, कारखाना, चूल्हा आदि में) धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है। इस तरह विशिष्ट उदाहरणों में धूम देखकर अग्नि की सत्ता जानकर दोनों के व्याप्ति सम्बन्ध को अन्वय विधि से जानते हैं। व्यतिरेक विधि इस प्रकार होगी- जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है, जैसे-झील, नदी, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं है। इस प्रकार अग्नि के न होने से धूम भी नहीं है।

बौद्ध दर्शन के चार भेद

बौद्ध दर्शन में चार प्रकार की भावना से परम पुरुषार्थ का वर्णन किया गया है। भावना का अर्थ दृष्टिकोण है। वे चार भावनाएँ अथवा दृष्टिकोण निम्नलिखित हैं -

(1) माध्यमिक, (2) योगाचार, (3) सौत्रान्तिक, (4) वैभाषिक।

बौद्ध मतानुयायी इन चारों भावनाओं अथवा दृष्टिकोणों पर अड़े हुए हैं। इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

माध्यमिक यह बताते हैं कि सब कुछ शून्य है। योगाचार के अनुसार सभी बाह्य पदार्थ शून्य हो जाते हैं। सौत्रान्तिक यह स्वीकार करते हैं कि बाह्य पदार्थों का ज्ञान अनुमान से होता है। वैभाषिकों की यह मान्यता है कि बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से हो सकता है।

माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक-इन चारों सम्प्रदायों का मत संक्षेप में इस प्रकार है -

माध्यमिक – ये पूर्ण सत् अथवा पूर्ण असत् को अस्वीकार करके दोनों को सोपाधिक अर्थात् उपाधि सहित सत्ता मानने वाले मध्यम मार्ग का अवलम्बन करने वाले हैं। तात्पर्य यह है कि ये दोनों के बीच के मार्ग पर चलने वाले हैं।

योगाचार – यह सम्प्रदाय योग अर्थात् चित्त-वृत्ति की प्रवीणता और आचार अर्थात् आचरण का समन्वय अर्थात् तालमेल करने वाला है। यह सम्प्रदाय योग के द्वारा मानसिक सत्ता अर्थात् चित्त की वृत्ति की प्रवीणता अथवा आलय विज्ञान को ही स्वीकार करके बाह्य पदार्थों में विश्वास हटा देता है।

सौत्रान्तिक – सम्पूर्ण बौद्ध प्रवचन अथवा गौतम बुद्ध की विचारधारा से सम्बन्धित साहित्य तीन पिटकों में विभाजित था। सौत्रान्तिकों का सम्बन्ध सुत्तपिटक अर्थात् सूत्रपिटक से था। इसी आधार पर ये सौत्रान्तिक कहलाये। वैसे 'सूत्तान्त' के नाम से इनके बहुत से ग्रन्थ हैं।

वैभाषिक – विभाषा नाम के ग्रन्थ का दूसरा नाम अभिधम्म महाविभाषा है। इसमें वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्धों के सिद्धान्तों का वर्णन है। इसी आधार पर इनका यह नाम पड़ा है।

इसके बाद इन चारों भावनाओं अर्थात् दृष्टिकोणों पर अलग से भी विचार किया गया है। यह विचार विस्तार के साथ है। वैसे बौद्ध धर्म का विभाजन हीनयान और महायान सम्प्रदायों में हुआ। प्राचीन विचारों को मानने वाले हीनयान कहे जाते थे और नवीन विचारों के अनुयायी महायान कहे जाते थे।

योगाचार – विज्ञानवाद को योगाचार कहा गया है। योगाचार का अर्थ योग का अभ्यास करने वाला है। विज्ञानवादी विज्ञान के अस्तित्व को प्रतिपादित करने के लिए योग अभ्यास करते थे। इसीलिए इन्हें योगाचार नाम दिया गया।

सौत्रान्तिक – इनके अनुसार प्रमाण दो माने गये हैं। वे हैं- प्रत्यक्ष और अनुमान। अनुमान दो प्रकार का कहा गया है-स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान अपने आप के लिए तथा परार्थानुमान दूसरों के संशय को दूर करने के लिए निमित्त किया जाता है।

वैभाषिक – सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों में चार प्रकार की समानताएँ प्राप्त होती हैं। पहली समानता है- चित्त और वस्तु के अस्तित्व की स्वीकृति। दोनों जड़ तत्व की इकाई अणु को मानते हैं, यह दूसरी समानता है। दोनों की तीसरी समानता वस्तुओं और चित्त को धर्मों का संघात मानना है। चौथी समानता प्रत्यक्ष और अनुमान को समान मानना है। इस समानता का कारण यह है कि ये दोनों मत हीनयान से विकसित हुए हैं।

NOTES

बुद्धि का स्वयं प्रकाशित होना

बुद्धि को अपने अतिरिक्त कोई दूसरा ग्राह्य नहीं है, इसलिए उन विषयों के स्वरूप में रहने वाली यह बुद्धि स्वयं ही प्रकाश के समान अपने रूप को प्रकाशित करने वाली है। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है –

नान्योऽनुभाव्ये बुद्धास्ति तस्य नानुमवोऽपरः।
ग्राह्यं ग्राहक वैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते।

(बुद्धि के द्वारा ग्राह्य अर्थात् अनुभव करने योग्य दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। बुद्धि के द्वारा स्वयं बुद्धि ही ग्राह्य है, दूसरी वस्तुएँ ग्राह्य नहीं हैं। बुद्धि किसी दूसरे पदार्थ को अपना विषय नहीं बनाती है।)

बुद्धि से बढ़कर कोई अनुभव नहीं होता। यही कारण है कि बुद्धि के अतिरिक्त किसी भी ग्राह्य और ग्राहक के अभाव के कारण वह अर्थात् बुद्धि अपने आप ही प्रकाशित होती है। प्रकाश तो अपने आपको प्रकाशित करके संसार के अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, किन्तु बुद्धि केवल अपने आपको ही प्रकाशित करती है, बाह्य पदार्थों को नहीं। ग्राह्य का अर्थ है– ग्रहण करने योग्य तथा ग्राहक का अर्थ है – ग्रहण करने वाला। बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि ग्राह्य और ग्राहक में भेद नहीं होता है। यह अनुमान कर लेना चाहिए कि जिस वेदन अर्थात् ज्ञान से जिसको जाना जाता है, वह उससे अर्थात् ज्ञान से भिन्न नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान और ज्ञान की गयी वस्तु में भिन्नता नहीं है। इसमें कोई अन्तर नहीं है। जैसे ज्ञान से आत्मा अलग नहीं है, ज्ञान से आत्मा को जानते हैं। इस आधार पर वहाँ ज्ञान और आत्मा एक ही हैं। अद्वैत वेदान्तियों का अनुकरण करके यह दृष्टान्त लिया गया है। उन ज्ञानों के द्वारा ही नील आदि पदार्थों को जाना जाता है। क्षणिक पदार्थों का ज्ञान भी उसी में होता है।

इस प्रकार विषय और विज्ञान में अभेद दिखाकर भेद होने पर आपत्ति प्रदर्शित करते हैं कि यदि विषय और विज्ञान में भेद स्वीकार कर लिया जाये तो इस समय ज्ञान होने के साथ वस्तु का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा, क्योंकि सम्बन्ध का निश्चय बतलाने वाला कोई तादात्म्य अर्थात् सम्बन्ध नहीं रह जायेगा। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञान है तो विषय के साथ है। इस प्रकार ज्ञान के साथ विषय का नित्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का मूल तादात्म्य है, क्योंकि ज्ञान और विषय सहित होना ये दोनों समान अर्थ वाले हैं। यह तादात्म्य सम्बन्ध नहीं रह सकता। यदि ज्ञान और विषय को अलग-अलग मानें तो यह इस प्रकार सम्बन्ध का नियम असिद्ध हो जायेगा।

इतना होने पर भी यदि भेद पक्ष में अर्थ का निमित्त ज्ञान स्वीकार करें, तब तो विषय से उत्पन्न होने वाली ज्ञान की उत्पत्ति ही सम्बन्ध को बतला सकेगी। यह शंका होने पर अर्थात् प्रश्न उपस्थित होने पर उत्तर दिया जायेगा–"तदुत्पत्ति अर्थात् उसकी उत्पत्ति, कारण से कार्य की उत्पत्ति होने के रूप में कारण और कार्य के सम्बन्ध का नियम भी काम नहीं कर सकता। यह शंका व्यर्थ है। घटरूपी कार्य के साथ मिट्टी का सम्बन्ध तो नित्य है, पर कुम्हार, डंडा, चाक आदि कारणों का सम्बन्ध नित्य है। निष्कर्ष यह निकला कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति किसी भी सिद्धान्त के द्वारा विषय और विज्ञान में भेद करना कठिन है, क्योंकि ये दोनों एक हैं। यह जो ग्राह्य तथा ग्राहक की धारणाओं के अलग-अलग होने की प्रतीति होती है, वह दृष्टिदोष के कारण एक चन्द्रमा के दो चन्द्रमा दिखाई देने की प्रतीति के समान भ्रम है। यहाँ पर भी भ्रम का निमित्त कार्य और कारण की भिन्नता का जन्मजात संस्कार है। इस संसार का न तो कोई आदि है और न इसका प्रवाह कभी समाप्त होता है।" इस विषय में विद्वानों द्वारा कहा गया है –

"कार्य और कारण दोनों के एक साथ प्राप्त होने का नियम है। ऐसा नहीं हो सकता कि कारण यहाँ पर हो और कार्य किसी दूसरी जगह पर हो जाये। जहाँ पर कारण होगा, कार्य भी वहीं पर होगा। इसलिए नील और उसके ज्ञान में कोई भेद नहीं है। भेद तो भ्रमपूर्ण धारणा के कारण उसी प्रकार प्रतीत होता है, जिस प्रकार

एक चन्द्रमा के दो चन्द्रमा दृष्टिदोष के कारण प्रतीत होते हैं। नील और उसका ज्ञान क्रमशः विषय और विज्ञान है। तात्पर्य यह है कि नील विषय है और उसका ज्ञान, उसे जानना विज्ञान है। ये दोनों कारण और कार्य एक के अर्थात् कारण के न रहने पर दूसरा अर्थात् कार्य रह जाये, ऐसा नहीं हो सकता। जो नियम से जिसके साथ पाया जाता है, वह उससे अलग नहीं है, अपितु अभिन्न है। जैसे घड़ा मिट्टी से अभिन्न है।"

बौद्ध दर्शन में अनुमान प्रमाण

न्याय और वैशेषिक दर्शन निम्नलिखित चार प्रमाण मानता है –

(1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान, (3) उपमान और (4) शब्द।

कुछ भारतीय दर्शन अनुमान प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। बौद्ध दर्शन अनुमान प्रमाण को स्वीकार करता है और इसके विरोधियों को समुचित उत्तर देता है।

यदि कोई व्यक्ति अनुमान प्रमाण की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करता है तो उससे इस प्रकार प्रश्न पूछें–

"केवल अनुमान प्रमाण नहीं हैं, आप केवल इतना कहते हैं। इसमें कोई हेतु अर्थात् साधन या प्रमाण उपस्थित नहीं करते हैं या करते हैं ?"

(1) पहला पक्ष – यदि आपकी पहली बात सत्य है अर्थात् अपनी पहली बात पर दृढ़ हैं तो आपकी पहली बात ठीक नहीं है। किसी सिद्धान्त को बिना कारण के रखने में, बिना सिर अथवा हेतु वाक्य उपस्थित करने में साध्य की सिद्धि होती ही नहीं। अनुमान में किसी वाक्य के निगमन में रखने के लिए उचित और उपाधिविहीन हेतु की आवश्यकता होती है। उसके नहीं रहने पर अनुमान नहीं होगा। पर्वत में अग्नि सिद्ध करने के लिए उसमें धूमत्व अर्थात् धुएँ का हेतु रखना ही होगा। अशिरस्क वचन अर्थात् बिना साधना का वाक्य है अर्थात् अप्रामाणिक बात है।

(2) दूसरा पक्ष – अनुमान को प्रमाण न मानने के लिए तर्क और प्रमाण देना चाहिए। यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि जब आप लोग यह कहते हैं –

अनुमान प्रमाण नहीं होता है, तब तो आपके वचन को भी अर्थात् शब्द प्रमाण को भी स्वीकार नहीं कर सकते। कारण यह है कि अनुमान प्रमाण मानने के बाद ही आप्तपुरुषों की बात अर्थात् शब्द प्रमाण को स्वीकार कर सकते हैं। दूसरी ओर आपकी यह स्थिति है कि अपने से भिन्न दूसरों के शास्त्रों में प्रमाण रूप से स्वीकृत वचन अथवा शब्द प्रमाण का उपयोग कर रहे हैं। यदि आप अनुमान का प्रमाण नहीं मानकर कुछ तर्क या प्रमाण देते हैं तो आप पर दूसरों के मार्ग पर चलने का दोषारोपण होगा। आपको कम से कम न्यायशास्त्र की विधि को प्रामाणिक मानना होगा। उसकी बातों को यथावत् अर्थात् ज्यों-का-त्यों स्वीकार करना शब्द प्रमाण को मानना है। ऐसा करने पर व्यावहारिक असंगति होगी, जैसे-'मेरी माता वन्ध्या अर्थात् बाँझ है। इस वाक्य में होती है। तात्पर्य यह है कि यदि आपकी माता है तो वह वन्ध्या नहीं है। यदि वह वन्ध्या है तो आपकी माता नहीं है। दोनों की स्थिति एक दशा में असम्भव है। उसी प्रकार अगर आप अनुमान को प्रमाण नहीं मानते तो शब्द को भी प्रमाण नहीं मानना चाहिए।

(i) प्रमाण – जब एक बार ऐसा ज्ञात हुआ था, तब उसमें जल निकला था। इस बार भी उसी प्रकार का अथवा उसके समानजातीय ज्ञान है। यह जल ज्ञान भी प्रमाण है। आप स्वभाव के अनुमान से यह नियम बनाते हैं।

(ii) प्रमाणाभास – दूसरी ओर जब एक बार ऐसा ज्ञान हुआ था, तब जल नहीं मिला था। इस बार भी इस ज्ञान के पूर्व ज्ञान के सजातीय होने से जल नहीं मिलेगा। यह जल भी प्रमाणाभास है। यहाँ पर भी स्वभावानुमान की आवश्यकता पड़ी। स्वभावानुमान में पक्ष, साध्य और लिंग तीन अवयववाक्य होते हैं।

जो हमारे विरोधी हैं, उनकी सम्मति विपरीत है तात्पर्य यह है कि उनका ज्ञान सिद्धान्त के विरुद्ध है। यह ज्ञान उनके वचन रूपी साधन से होता है। दर्शनशास्त्र में साधन को लिंग भी कहा जाता है। यह कहने वाले आप कार्य को देखकर कारण को जानने वाला 'कार्यलिंगक' अनुमान भी स्वीकार करते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान के अनुसार ही बोलता है। ज्ञान कारण है और उसके वचन कार्य हैं। चार्वाक मतानुयायी दूसरे पक्ष वालों के शब्दों को सुनकर उनकी मान्यताओं का अनुमान कर लेते हैं। यह भी अनुमान ही हुआ, भले ही इसमें कार्य अर्थात् वचन लिंग अथवा हेतु का काम कर रहा है। विपक्षियों का विप्रतिपत्ति अर्थात् विरुद्ध सिद्धान्त साध्य है।

(3) तीसरा पक्ष – तीसरे जब आप किसी वस्तु की अनुपलब्धि अथवा अभाव देखते हैं तथा उसके आधार पर किसी पदार्थ की सत्ता का निषेध करते हैं; जैसे-आकाश तत्व, आत्मा, मोक्ष, परलोक का तो यहाँ भी आप अनुमान का सहारा ले रहे हैं। इसका लिंग है-अभाव। अभाव के आधार पर ही आप इन वस्तुओं का निषेध करते हैं। फिर आपके द्वारा अनुमान प्रमाण को खण्डित करने में अर्थात् अनुमान प्रमाण न मानने में क्या तुक रही ? आपकी बात का क्या औचित्य रहा ? जब आप तीन-तीन प्रकार के अनुमान धड़ाधड़ मान रहे हैं, फिर आप कैसे कह रहे हैं कि अनुमान प्रमाण है ही नहीं।

इसलिए तथागत अर्थात् गौतम बुद्ध ने अपने अनुयायियों से कहा है –

(i) दूसरे प्रमाण अर्थात् अनुमान में सामान्य अर्थात् समान जातीयता की स्थिति होने के कारण।

(ii) दूसरे की सम्मति में गति अथवा उसका अनुमान करने के कारण।

(iii) किसी के प्रतिषेध के कारण दूसरे प्रमाण अर्थात् अनुमान की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है।

बौद्ध दर्शन का शून्यवाद

शून्यवाद बौद्ध दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। कुछ विद्वान शून्यवाद का प्रवर्तक नागार्जुन को मानते हैं। नागार्जुन का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। इनके जन्म का समय ईसा की दूसरी शताब्दी है। इस मत का अर्थात् शून्यवाद का आधार नागार्जुन की पुस्तक 'माध्यमिक कारिका' है। अश्वघोष भी शून्यवाद के समर्थक थे। उन्होंने गौतम बुद्ध के जीवन पर आधारित महाकाव्य 'बुद्धचरित' की रचना की। डॉ. चन्द्रधर शर्मा ने नागार्जुन को शून्यवाद का प्रवर्तक मानने में आपत्ति प्रस्तुत की है।

अपनी इस मान्यता का कारण डॉ. चन्द्रधर शर्मा ने यह बताया है कि नागार्जुन से पहले भी 'महायान सूत्र' नाम के ग्रन्थ में शून्यवाद का स्पष्ट एवं पूर्ण रूप से उल्लेख किया गया है। यह सत्य है कि नागार्जुन माध्यमिक सम्प्रदाय के सबसे बड़े दार्शनिक थे। डॉ. चन्द्रधर शर्मा के अनुसार शून्यवाद को ठीक से जनता के बीच में संगत रूप में उपस्थित करने का श्रेय नागार्जुन को दिया जा सकता है। प्रोफेसर विधुशेखर भट्टाचार्य ने भी नागार्जुन को शून्यवाद का प्रवर्तक नहीं माना है। उनके अनुसार नागार्जुन ने शून्यवाद को क्रमबद्ध रूप में उपस्थित किया है। इस विवेचन से प्रमाणित होता है कि नागार्जुन शून्यवाद के मुख्य समर्थक थे। वे एक ऐसे समर्थक थे, जिन्होंने शून्यवाद को पुष्पित किया, उसे सँवारा तथा व्यवस्थित रूप प्रदान किया। इस दृष्टि से नागार्जुन को शून्यवाद का अग्रणी कहना उचित है।

साधारण रूप से लोग शून्यवाद को यह समझते हैं कि संसार शून्यमय है। दूसरे शब्दों में किसी भी वस्तु के अस्तित्व को नहीं मानना तथा पूर्ण रूप से निषेध करना ही शून्यवाद कहा जाता है। यह 'शून्यवाद' शब्द का शाब्दिक अर्थ है। माध्यमिक शून्यवाद में शून्य शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में किया गया है। अधिकांश पश्चिमी और भारतीय विद्वानों ने शून्य शब्द के शाब्दिक अर्थ से प्रभावित होकर शून्यवाद को गलत ढंग से समझा है। कुछ विचारकों ने शून्यवाद को सर्वविनाशवाद अर्थात् सबका नाश मानने वाली विचारधारा भी कहा

है। शून्यवाद वास्तव में वैज्ञानिक वाद है। तात्पर्य यह है कि शून्यवाद की विचारधारा विज्ञान-सम्मत है। ऐसे कहने वाले विद्वान भी भ्रम में हैं। यह नाम तभी उपयुक्त होता, जब शून्यवाद किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं मानता।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि माध्यमिक मत में 'शून्य' शब्द का क्या अर्थ है ? शून्य का अर्थ माध्यमिक मत में शून्यता नहीं है। इसके विपरीत शून्य शब्द का अर्थ वर्णनातीत है। नागार्जुन के अनुसार परम तत्त्व अवर्णनीय है। मनुष्य को वस्तुओं के अस्तित्व की प्रतीति होती है, किन्तु जब वह इनके तात्विक स्वरूप को जानने के लिए तत्पर होता है तो उसकी बुद्धि काम नहीं करती। उसकी बुद्धि यह निश्चय नहीं कर पाती कि वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप सत्य है या असत्य या सत्य तथा असत्य दोनों है या न तो सत्य है और न असत्य है।

नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को भी शून्य कहा है, प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार वस्तुओं की अर्थात् दूसरों की निर्भरता पर बल दिया जाता है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसकी उत्पत्ति किसी अन्य पर निर्भर न हो। इसलिए वस्तुओं की पर-निर्भरता को तथा उनकी अवर्णनीयता को शून्य कहा गया है।

शून्यवाद को सापेक्षवाद भी कहा जाता है। सापेक्षवाद के अनुसार वस्तुओं का स्वभाव अन्य वस्तुओं पर निर्भर होता है। किसी भी विषय का अपना कोई निश्चित, निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र स्वभाव नहीं है। किसी भी वस्तु को निरपेक्ष ढंग से सत्य नहीं कहा जा सकता।

शून्यवाद विषयों अर्थात् वस्तुओं की परनिर्भरता को मानता है। इस प्रकार शून्यवाद को सापेक्षवाद कहना समीचीन है।

शून्यवाद और मध्यम मार्ग – शून्यवाद को मध्यम मार्ग भी कहा जाता है। बुद्ध ने अपने जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति में मध्यम मार्ग अपनाया था। बुद्ध ने अपने आचारशास्त्र में विषय भोग तथा आत्म बलिदान इन दोनों का त्याग करके बीच का रास्ता अपनाने का आदेश दिया। जिस मध्यम मार्ग की चर्चा यहाँ की जा रही है, वह बुद्ध के मध्यम मार्ग से भिन्न है।

शून्यवाद को मध्यम मार्ग इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह वस्तुओं को न तो सर्वथा निरपेक्ष तथा आत्मनिर्भर और पूर्णत: असत्य नहीं मानता है। सत्य और असत्य जैसे एकान्तिक मतों का निषेध करके शून्यवाद वस्तुओं के परनिर्भर अस्तित्व को स्वीकार करता है। बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद को भी इसी आधार पर मध्यममार्ग कहा है। मध्यममार्ग को अपनाने के कारण शून्यवाद को मध्यममार्ग कहा गया है।

उक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि शून्यवाद एक नकारात्मक सिद्धान्त है। वैसे शून्यवाद को पूर्ण रूप से नकारात्मक कहना भूल है। डॉ. राधाकृष्णन् ने शून्यता को भावात्मक सिद्धान्त बतलाया है। शून्यता सभी विषयों अर्थात् वस्तुओं का आधार है। कुमार जीव ने कहा है –

"यह संयत के कारण है कि प्रत्येक वस्तु सम्भव हो सकती है, बिना उसके संसार में कुछ भी सम्भव नहीं है।"

माध्यमिक अर्थात् मध्यम मार्ग को अपनाने वाले बौद्धों ने पारमार्थिक सत्ता या विश्वास किया है। उनके मतानुसार प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा अनित्यवाद दृश्यजगत् पर लागू होता है। दृश्यजगत् के सभी अनुभव सापेक्ष हैं। निर्वाण में जो अनुभूति होती है, वह पारमार्थिक है, नित्य है तथा निरपेक्ष है। यह अनुभूति दृश्यजगत् के परे है अर्थात् अलग है।

NOTES

बौद्ध धर्म का अष्टांग मार्ग

दु:खों का निरोध किस प्रकार सम्भव है, इसके उत्तर में गौतम बुद्ध ने जो अष्टांग मार्ग बताया है, वह निम्नलिखित है। इस मार्ग को दु:ख निरोध मार्ग कहा गया है। इसी मार्ग पर चलकर सिद्धार्थ ने निर्वाण प्राप्त किया था और वे सिद्धार्थ गौतम से गौतम बुद्ध बन गये थे। इस मार्ग के आठ अंग हैं, इसलिए इसे अष्टांगिक मार्ग कहा गया है -

(1) सम्यक् दृष्टि – गौतम बुद्ध ने दु:ख का मूल कारण अविद्या को माना है। अविद्या के फलस्वरूप मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है। इसके कारण अवास्तविक विषयवस्तु को वास्तविक समझ लिया जाता है। सम्यक् दृष्टि से अर्थ भगवान बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का ज्ञान माना है। आत्मा और विश्व सम्बन्धी दार्शनिक विचार मानव की निर्वाण प्राप्ति में बाधा पहुँचाते हैं, अत: दार्शनिक चिन्तन के स्थान पर निर्वाण प्राप्ति के लिए चार आर्य सत्यों का मनन आवश्यक है।

(2) सम्यक् संकल्प – सम्यक् दृष्टि ही सम्यक् संकल्प में रूपान्तरित होती है। चार आर्य सत्यों का जीवन में पालन करने का निश्चय ही सम्यक् संकल्प है। आर्य सत्यों के ज्ञान से मानव अपने को तभी लाभान्वित कर सकता है, जब वह उनके अनुसार जीवन व्यतीत करे। निर्वाण के आदर्श को अपनाने के लिए एक साधक को इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों से अलग रहने, दूसरों के प्रति द्वेष तथा हिंसा के विचारों के त्याग करने का संकल्प करना आवश्यक है।

(3) सम्यक् वाक् – सम्यक् संकल्प की अभिव्यक्ति अथवा उसका बाह्य रूप ही सम्यक् वाक् है। सम्यक् वाक् का शब्दार्थ उचित वचनों का उच्चारण करना, बोलना है। कोई व्यक्ति सम्यक् वाक् का पालन तभी कर सकता है, जब वह निरन्तर सत्य एवं प्रिय बोलता हो। सम्यक् वाक् के लिए केवल सत्य बोलना ही पर्याप्त नहीं है। जिस वचन से दूसरों को कष्ट हो, उसका त्याग करना आवश्यक है। इस प्रकार सत्य और प्रिय वचनों का प्रयोग ही 'सम्यक् वाक्' है। आर्यदर्शन भी इसका समर्थन करते हैं।

(4) सम्यक् कर्मान्त – निर्वाण प्राप्त करने के लिए साधक को केवल सम्यक् वाक् का पालन करना ही पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। सत्यवादी और प्रियभाषी होने पर भी कोई भी साधक बुरे कर्मों को अपनाकर पथभ्रष्ट हो सकता है। इसीलिए भगवान बुद्ध ने सम्यक् कर्मान्त के पालन का आदेश दिया है। सम्यक् कर्मान्त का अर्थ बुरे कर्मों का परित्याग करना है। भगवान बुद्ध के अनुसार बुरे कर्म तीन हैं - हिंसा, स्तेय अर्थात् चोरी करना तथा इन्द्रियों के विषयों में लिप्त रहना। सम्यक् कर्मान्त इन तीनों के प्रतिकूल अर्थात् इन तीनों का त्याग है।

(5) सम्यक् आजीव – इसका अर्थ उचित जीविका अथवा आजीविका हो सकता है। इसका तात्पर्य ईमानदारी से जीविका का उपार्जन करना है। जीविका से जीवन का निर्वाह होता है। साधक के जीवन निर्वाह का ढंग उचित होना चाहिए। यदि कोई मनुष्य जीवन-निर्वाह के लिए निषिद्ध कार्य का आश्रय लेता है, तो यह अनैतिकता का सहारा लेना है। इसी कारण निर्वाण प्राप्ति के लिए कटुवचनों और बुरे कर्मों के परित्याग के साथ ही जीवन-निर्वाह के लिए अशुभ मार्ग का परित्याग भी परमावश्यक है। धोखा, रिश्वत, लूट, अत्याचार आदि अशुभ उपायों से जीविका निर्वाह करना महान पाप है।

(6) सम्यक् व्यायाम – ऊपर बताये गये पाँच मार्गों पर चलकर भी कोई साधक निर्वाण को प्राप्त करने में असफल हो सकता है। इसका कारण यह है कि हमारे मन में रहने वाले पुराने बुरे विचार अपना घर बना चुके होते हैं। निम्नलिखित चार प्रकार के प्रयत्नों को सम्यक् व्यायाम कहा जाता है-

(क) पुराने बुरे विचारों को बाहर निकालना, (ख) नवीन बुरे विचारों को मन में आने से रोकना, (ग) अच्छे भावों को मन में भरना तथा (घ) अच्छे भावों को मन में स्थायी रखने के लिए सतत् क्रियाशील रहना

सम्यक् व्यायाम कहा जाता है। इस प्रकार समझा जा सकता है कि सम्यक् व्यायाम उन क्रियाओं को कहते हैं, जिनसे अशुभ मन:स्थिति का अन्त होता है तथा शुभ मन:स्थिति का प्रादुर्भाव होता है।

(7) सम्यक् स्मृति – सम्यक् स्मृति का पालन करना तलवार की धार पर चलने के समान है। अभी तक जिन छः बातों का ज्ञान कराया जा चुका है, उन्हें सदैव स्मरण रखना परमावश्यक है। सम्यक् स्मृति के द्वारा इसी बात पर बल दिया जाता है। सम्यक् स्मृति का अर्थ वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में जागरूक रहना है। निर्वाण-प्राप्ति की कामना रखने वाले मनुष्य को शरीर, मन को मन और संवेदना को संवेदना समझना अत्यावश्यक है।

(8) सम्यक् समाधि – बताये गये सात नियमों का पालन करने वाला साधक अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करके समाधि की अवस्था अपनाने के योग्य हो जाता है। समाधि अर्थात् आत्मा को चार्वाक के अतिरिक्त भारत के सभी दार्शनिक किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करते हैं। बौद्ध दर्शन और योग दर्शन में समाधि पर विशेष बल दिया गया है। भगवान बुद्ध ने समाधि की चार अवस्थाओं को स्वीकार किया है। समाधि की प्रथम अवस्था में साधक को चार आर्य सत्यों का मनन और चिन्तन करना चाहिए। इसमें आनन्द और शान्ति अनुभव होती है। इसके बाद समाधि की दूसरी अवस्था सन्देह दूर होने की है। इस अवस्था में साधक के मन में सन्देहों का निराकरण होता है। समाधि की तीसरी अवस्था में शान्ति और आनन्द की चेतना के प्रति उदासीनता हो जाती है। समाधि की चौथी अवस्था में शरीर के सुख एवं शान्ति का भाव भी समाप्त हो जाता है।

बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद

गौतम बुद्ध ने उपनिषदों के आत्मवाद के विरुद्ध अनात्मवाद की प्रतिष्ठा करके एक नवीन दार्शनिक परम्परा प्रारम्भ की। अनात्मवाद को नैरात्मवाद भी कहा जाता है। वास्तव में यह कथन असत्य और भ्रामक है। बुद्ध ने उपनिषदों को शुद्ध चिदानन्द रूप निरपेक्ष तत्व अथवा अपरोक्षानुभूति का कभी खण्डन नहीं किया। खण्डन करना तो दूर, उन्होंने उसे लोक व्यवहार के अधिष्ठान के रूप में स्वीकार किया है। उपनिषदों के अद्वैतवाद का ही बुद्ध ने उपदेश दिया है। उपनिषदों और बुद्ध में महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि बुद्ध ने उपनिषदों के परम तत्त्व को शुद्ध आत्मतत्त्व की संज्ञा नहीं दी है, वे तत्त्व को नेति-नेति और अनिर्वचनीय मानकर उसके साक्षात्कार पर ही बल देते रहे। अनात्मवाद के विषय में भ्रान्ति का यही कारण बना। बुद्ध ने अपरोक्षानुभूति के लिए शुद्ध आत्मतत्त्व के स्थान पर निर्वाण शब्द का प्रयोग किया। उपनिषदों के ऋषियों ने परमात्म तत्त्व के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, उन्हीं विशेषणों का प्रयोग बुद्ध ने निर्वाण के लिए किया है।

बुद्ध आत्मा को अहंकार और ममता का केन्द्र मानकर उसे समस्त क्लेशों और अनर्थों का स्रोत बताते रहे, क्योंकि यह रागादि दोषों को जन्म देता है, विवेक और वैराग्य को नहीं। यह भोगों की तृष्णा और आसक्ति का स्रोत है। आसक्ति, आत्मदृष्टि, आत्मभाव और आत्मस्नेह- ये चारों क्लेश हैं। बुद्ध ने बहुत्ववादी वस्तुवाद के उस जीवात्मा का भी खण्डन किया, जिसे वह नित्य चेतन द्रव्य मानता है। यदि आत्मा द्रव्य है तो चेतन और जड़ में, ज्ञाता और ज्ञेय में, विषयी और विषय में क्या अन्तर रहेगा ? आत्मा को द्रव्य मानना उसे जड़, ज्ञेय और विषय के स्तर पर उतार देना है और उसके आत्मतत्त्व का निषेध करना है। फिर जीवात्माओं को वस्तुत: अनेक मानना भी असंगत है। बौद्ध दर्शन में जीव के लिए पुद्गल और सत्काय शब्दों का प्रयोग किया जाता है। पुद्गल का अर्थ है जो जन्म, जीर्णता, नाश से युक्त हो तथा सत्काय का अर्थ है, उस जीवित काया को ही आत्मा मानना। दोनों शब्दों में यही ध्वनि निकलती है कि लौकिक अनुभव में नित्य आत्मा नहीं आती, यहाँ तो परिवर्तनशील शरीर संघात और विज्ञान प्रवाह का ही अनुभव होता है, जिसमें कोई भी आत्मा नहीं है। यदि लोक व्यवहार के लिए, साधना के लिए आत्मा की कल्पना कर भी ली जाये, तब भी आपत्ति नहीं है, क्योंकि यह व्यावहारिक सत्ता ही है, तात्त्विक नहीं।

बुद्ध वचन है-"हे आनन्द! आत्मा को जतलाने वाले लोग इस प्रकार उसको जताते हैं- रूप आत्मा है, वेदना आत्मा है, संज्ञा आत्मा है, संस्कार आत्मा है, विज्ञान आत्मा है या पाँचों स्कन्ध मिलकर आत्मा हैं किन्तु हे आनन्द! ये सब धर्म अनित्य हैं, संस्कृत हैं, प्रतीत्य समुत्पन्न हैं, क्षय धर्म हैं, व्यय धर्म हैं, उत्पत्ति विनाशयुक्त हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि यह मैं हूँ, यह मेरा रूप है या वेदना है या संज्ञा है या संस्कार है या विज्ञान है या पञ्चस्कन्ध संघात है।"

"हे पोट्ठपाद! यदि कोई पुरुष यह कहे- 'इस देश में जो सर्वाधिक सुन्दरी है, मैं उसको चाहता हूँ, उसकी कामना करता हूँ, यदि लोग उससे पूछें- 'हे पुरुष! जिस सर्वाधिक सुन्दरी को तू चाहता है; जिसकी तू कामना करता है, क्या तू जानता है कि वह क्षत्रिय है, ब्राह्मणी है, वैश्या है या शूद्री है ? क्या तू उसका नाम और गोत्र जानता है ? क्या तू जानता है कि वह लम्बी है या छोटी है या मँझले कद की है ? काली है या श्याम है या मद्गुर वर्ण है ? किस गाँव में या कस्बे में या नगर में रहती है ?

ऐसा पूछने पर वह पुरुष उत्तर दे कि वह यह कुछ नहीं जानता। तो क्या वह उस पुरुष का भाषण अप्रामाणिक नहीं हो जाता? इसी प्रकार हे पोट्ठपाद! जो श्रमण और ब्राह्मण यह कहते हैं कि मरने के बाद आत्मा कष्टरहित और अत्यन्त सुखी होती है। मैं उनसे पूछता हूँ- क्या सचमुच आप लोग उस एकान्त सुख वाले लोक को जानते हो, देखते हो, वहाँ विहार करते हो ? क्या आप लोगों ने एक रात या एक दिन भी उस एकान्त-सुखी आत्मा को जाना है, देखा है ? ऐसा पूछने पर वे कहते हैं - नहीं, तो क्या तुम मानते हो पोट्ठपाद! कि ऐसा होने पर उन श्रमणों और ब्राह्मणों का भाषण अप्रामाणिक नहीं हो जाता ?"

"भिक्षुओ ! जो कोई यह कहे कि मैं तब तक तथागत् के पास ब्रह्मचर्य वास नहीं करूँगा, जब तक तथागत् लोक और आत्मा सम्बन्धी अव्याकृत प्रश्नों का उत्तर न दे दें, तो हे भिक्षुओ, वह बिना ब्रह्मचर्य वास किये ही मर जायेगा। हे भिक्षुओ! इसी को दृष्टियों का जंगल, दृष्टियों का जाल, दृष्टियों का बन्धन कहते हैं। इनमें बँधा व्यक्ति दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। हे भिक्षुओ! तथागत् सब दृष्टियों के ऊपर उठ गये हैं। हे आनन्द! जब बच्छ गोत्र ने मुझसे पूछा कि जीवात्मा क्या है ? तब यदि मैं उत्तर देता कि जीवात्मा है तो यह शाश्वतवाद होता और यदि मैं उत्तर देता कि जीवात्मा नहीं है तो यह उच्छेदवाद होता।"

बुद्ध की मान्यता यही है कि असली आत्मा बुद्धि के विकल्पों द्वारा गम्य नहीं है। समस्त पदार्थ संस्कृत हैं अर्थात् कर्म संस्कारों से उत्पन्न हैं। जो अनात्म है, वह मेरा नहीं है, मैं जड़ पदार्थ नहीं हूँ। इस भावना के अभ्यास से शुद्ध ज्ञानं उत्पन्न होता है। निर्वाण के कुछ समय पूर्व बुद्ध ने आनन्द से कहा था कि उन्होंने अपने उपदेशों में सब कुछ स्पष्ट कर दियां है। इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है जिस अर्थ में आर्यदर्शन आत्मा को मानते हैं, उस अर्थ में बौद्ध दर्शन नहीं मानता है।

बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्य

बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्य हैं - (क) दुःख, (ख) दुःख समुदाय, (ग) दुःख निरोध, (घ) दुःख निरोध का मार्ग।

इनका परिचय इस प्रकार है -

(क) दुःख – गौतम बुद्ध संसार को दुःखमय मानते थे। वृद्ध, रोगी और मृतक को देखकर ही उनका मन संसार से उचट गया था और वे संसार को दुःखपूर्ण मानकर घर से निकल पड़े थे। उन्होंने ज्ञान अर्थात् बोधि प्राप्त करके इन चार आर्य-सत्यों की घोषणा की। दुःख इस संसार का पहला आर्य सत्य है। उन्होंने कहा है - सर्वं दुःखम् दुःखम्। बुद्ध ने अपने इस निष्कर्ष को जीवन की विभिन्न अनुभूतियों का पर्याप्त विश्लेषण करके दुःख को पहला आर्य सत्य स्वीकार किया है। गौतम बुद्ध ने इस संसार के दुःखमय होने के निष्कर्ष

को जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का गम्भीर विश्लेषण करके सत्य माना था। इस सम्बन्ध में गौतम बुद्ध का यह कथन उद्‌धृत किया जाता है।

"जन्म में दुःख है, नाश में दुःख है, रोग दुःखमय है तथा मृत्यु दुःखमय है। अप्रिय से संयोग दुःखमय है, प्रिय से वियोग दुःखमय है। संक्षेप में जीवन से उत्पन्न पंच स्कन्ध दुःखमय हैं।" पंच स्कन्ध निम्नलिखित हैं-

(1) शरीर, (2) अनुभूति, (3) प्रत्यक्ष, (4) इच्छा और (5) विचार।

कुछ विद्वान इस संसार और सांसारिक जीवन को दुःखमय न मानकर सुखमय मानते हैं। अगर यह मान भी लिया जाये कि संसार सुखमय है, तब भी प्रत्यक्ष अनुभूति संसार को और सांसारिक जीवन को दुःखमय सिद्ध करती है। ये अनुभूतियाँ रोग, मृत्यु एवं चिन्ता हैं। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचकर दुःखी रहता है कि हमें एक दिन मरना है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य पृथ्वी पर कोई भी ऐसा स्थान नहीं पा सकता, जहाँ मृत्यु से बचा जा सके। मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह के लिए अनेक प्रकार के संघर्ष करता है, यह भी दुःख है।

महात्मा बुद्ध के प्रथम आर्य-सत्य की प्रामाणिकता सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। सभी दर्शनों का लक्ष्य मोक्ष या मुक्ति है। संसार का सबसे बड़ा दुःख जन्म और मरण है। इससे मुक्ति ही छुटकारा दिला सकती है।

(ख) दुःख समुदय – भारत के प्रत्येक दार्शनिक ने संसार को दुःखमय माना है। सभी दार्शनिकों के समान गौतम बुद्ध ने भी दुःखों के कारण को जानने का प्रयत्न किया है। द्वितीय आर्य-सत्य में गौतम बुद्ध ने दुःख को एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। संस्कृत भाषा में इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। पालि भाषा में यह सिद्धान्त परिच्यसमुत्पाद के नाम से प्रसिद्ध है। प्रतीत्यसमुत्पाद दो शब्दों – प्रतीत्य और समुत्पाद के मिश्रण से बना है। प्रतीत्य का अर्थ है- किसी वस्तु के उपस्थित होने पर और समुत्पाद का अर्थ है–किसी वस्तु की उपस्थिति। इस आधार पर प्रतीत्यसमुत्पाद का शाब्दिक अर्थ किसी एक वस्तु के उपस्थित होने पर किसी अन्य वस्तु की उपस्थिति है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार 'अ' के रहने पर 'ब' का प्रादुर्भाव होगा और 'ब' के रहने पर 'स' की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य अपने कारण को उपस्थित करता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार प्रत्येक विषय का कुछ न कुछ कारण होता है। दुःख एक घटना है। बौद्ध दर्शन में दुःख को जरा-मरण कहा गया है।

(ग) दुःख निरोध – यदि दुःख के कारण का अन्त हो जाये तो दुःख का भी अन्त हो जायेगा। जिस स्थिति में दुःखों का अन्त हो जाता है, उसे गौतम बुद्ध ने 'निर्वाण' नाम दिया है। अन्य दर्शन इसे मोक्ष या मुक्ति कहते हैं। बौद्ध दर्शन में निर्वाण शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि निर्वाण या मुक्ति की प्राप्ति मृत्यु के बाद होती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार जीवित दशा में भी निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है। यदि कोई मनुष्य अपने जीवनकाल में राग, द्वेष, मोह, आसक्ति, अहंकार आदि पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब उसकी स्थिति निर्वाण की होती है। अन्य भारतीय दर्शनों ने भी जीवनमुक्ति का उल्लेख किया है। जैन दर्शन में जीवनमुक्ति को 'अर्हत्' कहा गया है। गौतम बुद्ध ने 35 वर्ष की अवस्था में बुद्धत्व, बोधि अथवा ज्ञान प्राप्त किया था। इस पाकर वे निर्वाण की स्थिति में पहुँच गये थे तथा 35 वर्ष तक जीवित रहे थे। अन्य व्यक्ति भी जीवन में इस निर्वाण को पा सकते हैं।

(घ) दुःख निरोध मार्ग – तृतीय आर्य-सत्य दुःखों के निरोध को सम्भव बताता है। इस मार्ग के आठ अंग निम्नलिखित हैं-

(1) सम्यक् दृष्टि – दुःख का कारण अविद्या है। इस अविद्या के कारण ही मिथ्या दृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। मिथ्या दृष्टि का नाम सम्यक् दृष्टि से ही हो सकता है। वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप जानना ही सम्यक् दृष्टि है।

NOTES

(2) सम्यक् संकल्प – सम्यक् दृष्टि ही सम्यक् संकल्प में बदल जाती है। आर्य सत्यों के ज्ञान से मानव तभी लाभ प्राप्त कर सकता है, जब वह उनके अनुसार जीवन व्यतीत करे। मनुष्य मिथ्या दृष्टि से प्रभावित होकर नश्वर विश्व को स्थायी समझता है। सम्यक् संकल्प ही मनुष्यों को इससे छुटकारा दिला सकता है।

(3) सम्यक् वाक् – सम्यक् वाक् सम्यक् संकल्प का बाहरी रूप कहा जा सकता है। कोई व्यक्ति सम्यक् वाक् का पालन तभी कर सकता है, जब वह निरन्तर सत्य भाषण करता है।

(4) सम्यक् कर्मान्त – सम्यक् कर्मान्त का तात्पर्य बुरे कर्मों को त्यागना है। बौद्ध दर्शन हिंसा, स्तेय अर्थात् चोरी और इन्द्रिय भोग को बुरे कर्म मानता है।

(5) सम्यक् आजीविका – इसका अर्थ है–ईमानदारी से जीविका का उपार्जन करना। जीविका उपार्जन का ढंग निर्दोष होना चाहिए। सम्यक् कर्मान्त तभी सार्थक हो सकता है, जबकि मनुष्य की जीविका अर्थात् जीवन-निर्वाह का साधन निर्दोष हो।

(6) सम्यक् व्यायाम – मन के पुराने बुरे विचारों की समाप्ति और नये बुरे विचारों की उत्पत्ति न होना निर्वाण पाने के लिए आवश्यक है। सम्यक् व्यायाम का अर्थ नितान्त निर्दोष क्रियाशीलता है।

(7) सम्यक् स्मृति – अब तक जिन विषयों का ज्ञान हो चुका है, उन्हें सदैव स्मरण रखना परमावश्यक है। सम्यक् स्मृति का अर्थ वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में जागरूक रहना है।

(8) सम्यक् समाधि – उपर्युक्त सात मार्गों पर चलने के बाद निर्वाण की इच्छा रखने वाला मनुष्य अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करके समाधि की स्थिति प्राप्त करने की योग्यता से युक्त हो जाता है।

बौद्धों के धार्मिक सम्प्रदाय

बौद्ध धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय हीनयान और महायान हैं। इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है –

(1) हीनयान – बौद्ध धर्म का हीनयान सम्प्रदाय भगवान बुद्ध के उपदेशों पर आधारित है। इस सम्प्रदाय का आधार पालि साहित्य है, जिसमें भगवान बुद्ध की शिक्षाएँ संगृहीत हैं। यह सम्प्रदाय बौद्ध दर्शन की प्राचीन परम्परा को मानता है। हीनयान सम्प्रदाय में सभी वस्तुओं को क्षणभंगुर माना गया है। इसके अनुसार नित्य समझी जाने वाली वस्तुएँ भी असत् हैं। वे मूलतः अभाव रूप हैं। हीनयान आत्मा की सत्ता नहीं मानता। हीनयान में सभी द्रव्यों के अस्तित्व का निषेध है। हीनयान ईश्वर की सत्ता को भी नहीं मानता है। जब ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो ईश्वर को विश्व का स्रष्टा अर्थात् रचयिता और पालनकर्त्ता कहने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अनीश्वरवादी होने के कारण हीनयान सम्प्रदाय जैन धर्म से मिलता-जुलता है। इस सम्प्रदाय में ईश्वर का स्थान कम्म (कर्म) और धम्म (धर्म) को दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार शरीर, मन तथा निवास को प्राप्त करता है। हीनयान के अनुसार संसार का नियामक धम्म (धर्म) है। धम्म (धर्म) के कारण व्यक्ति के कर्मफल का नाश हो जाता है। इस प्रकार धम्म का हीनयान में महत्त्वपूर्ण स्थान है। धम्म के अतिरिक्त हीनयान सम्प्रदाय की संघ के प्रति निष्ठा प्राप्त होती है। अपने धर्म के अनुयायियों के साथ सम्बद्ध होने के फलस्वरूप साधक को आध्यात्मिक बल मिलता है। हीनयान के प्रत्येक अनुयायी को निम्नलिखित व्रत लेने आवश्यक हैं –

(क) बुद्धं शरणं गच्छामि। (मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ।)

(ख) धम्मं शरणं गच्छामि। (मैं धर्म की शरण में जाता हूँ।)

(ग) संघं शरणं गच्छामि। (मैं संघ की शरण में जाता हूँ।)

जीवन का चरम लक्ष्य – हीनयान सम्प्रदाय के मतानुसार जीवन का चरम लक्ष्य अर्हत् होना अथवा निर्वाण प्राप्त करना है। निर्वाण का अर्थ बुझ जाना है। जिस प्रकार दीपक के बुझ जाने से उसकी ज्वाला का अन्त हो जाता है, उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त करके मानव के समस्त दुःखों का नाश हो जाता है।

(2) महायान – हीनयान सम्प्रदाय की संकीर्णता और अव्यावहारिकता ने ही हीनयान सम्प्रदाय को जन्म दिया। हीनयान अनीश्वरवादी धर्म था, इसलिए जनसाधारण इसे ग्रहण करने में संकोच करता था। हीनयान के मूलमन्त्र संन्यास और स्वावलम्बन भी जनसाधारण के लिए कठिन थे। ज्यों-ज्यों बौद्ध धर्म का विकास हुआ, त्यों-त्यों इसके समर्थकों ने हीनयान के आदर्शों को धर्म की प्रगति में बाधा मानना आरम्भ किया। इस प्रकार हीनयान के विपरीत महायान के रूप में बौद्ध धर्म के अन्तर्गत दूसरा सम्प्रदाय सत्ता में आया। महायान का दूसरा नाम 'सहजयान' भी है। इसका कारण इसके सिद्धान्तों का सरलता से पालन किया जाना है।

महायान का अर्थ – इसका अर्थ है-बड़ी गाड़ी। जिस प्रकार बड़ी गाड़ी में अधिक लोग बैठ सकते हैं, उसी प्रकार महायान सम्प्रदाय में हीनयान की अपेक्षा अधिक व्यक्तियों के समावेश की क्षमता है।

महायान की सबसे बड़ी विशेषता – महायान सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता बोधिसत्व की कल्पना है। बोधिसत्व की प्राप्ति ही मानव जीवन का उद्देश्य है। महायान में अपनी मुक्ति की अपेक्षा संसार के सभी जीवों की मुक्ति पर बल दिया गया है। हीनयान सम्प्रदाय की प्रतिज्ञा है कि जब तक संसार का प्रत्येक प्राणी मुक्त नहीं हो जाता, तब तक हम निर्वाण सुख को नहीं भोगेंगे। हम सभी त्रस्त मानवों की निर्वाण-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहेंगे।

बोधिसत्व का अर्थ – बोधि का अर्थ है - ज्ञान। ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा रखने वाला प्राणी बोधिसत्व कहलाता है। महायान सम्प्रदाय बोधिसत्व उस व्यक्ति को कहता है जो बोधि की अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है। लोककल्याण में संलग्न रहना भी बोधिसत्व की पहचान है। बोधि प्राप्त करने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में है। इसलिए हर एक व्यक्ति बुद्ध बन सकता है।

महायान की मान्यता है कि बुद्ध को एक जन्म में बोधि अथवा ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। वे बुद्ध तो अपने इस जन्म में बने। पिछले अनेक जन्मों में वे बोधि-प्राप्ति का प्रयत्न करते रहे। भगवान बुद्ध अपने पूर्व जन्मों में बोधिसत्व के रूप में सभी प्राणियों पर करुणा करते रहे थे। बोधिसत्व की तुलना कमल से की गयी है। कमल कीचड़ में रहकर भी स्वच्छ तथा निर्मल रहता है। बोधिसत्व लोक-कल्याण के कारण जन्म ग्रहण करने के हेतु भी तत्पर रहे।

बौद्ध दर्शन का विज्ञानवाद

भगवान बुद्ध के विचारों के विपरीत बौद्ध विद्वानों ने दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश किया, जिसके फल बौद्ध धर्म में निम्नलिखित चार शाखाओं का विकास हुआ -

(1) माध्यमिक शून्यवाद (2) योगाचार विज्ञानवाद (3) सौत्रान्तिक बाह्यार्थानुमेयवाद और (4) वैभाषिक बाह्य प्रत्यक्षवाद।

योगाचार का ही दूसरा नाम विज्ञानवाद है। इसके प्रवर्तक असंग और वसुबन्धु माने जाते हैं। विज्ञानवाद का प्रमुख ग्रन्थ 'लंकावतार सूत्र' है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त असंग के द्वारा लिखित ग्रन्थों से भी योगाचार का ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसी पुस्तकों में 'महायान सूत्रालंकार', 'मध्यान्त विभाग' आदि प्रमुख हैं। योगाचार सम्प्रदाय की परम्परा को जीवित रखने का श्रेय दिङ्नाग, ईश्वरसेन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति आदि विचारकों को दिया जा सकता है। यह सम्प्रदाय तिब्बत, चीन, जापान, मंगोलिया आदि देशों में आज भी प्रचलित है। इन स्थानों में इस सम्प्रदाय से अनेक उप-सम्प्रदायों का विकास हुआ।

NOTES

विज्ञानवाद के मतानुसार विज्ञान सत्य है। माध्यमिकों ने बाह्य वस्तुओं तथा चित्त के अस्तित्व को नहीं माना है। विज्ञानवादी भी बाह्य वस्तुओं की सत्ता खण्डन करते हैं, परन्तु चित्त की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि यदि मन की सत्ता को नहीं माना जायेगा, तो सभी विचार असिद्ध हो जाते हैं। विचार की सम्भावना के लिए चित्त को स्वीकार करना उचित है।

विज्ञानवाद शून्यवाद से भिन्न है। शून्यवादी चित्त और अचित्त दोनों का अस्तित्व नहीं मानते, जबकि योगाचार विज्ञानवादी चित्त की सत्ता में विश्वास करते हैं। विज्ञानवाद विज्ञान को ही एकमात्र सत्य मानता है। 'लंकावतार सूत्र' के अनुसार विज्ञान के अतिरिक्त सभी धर्म असत् हैं। काम, रूप, अरूप-तीनों लोक इसी विज्ञान के विकल्प हैं। किसी भी बाहरी वस्तु का अस्तित्व नहीं है जो कुछ है, विज्ञान है। तीनों लोक इसी विज्ञान के विकल्प हैं। वसुबन्धु ने भी इसी प्रकार विज्ञान को ही एकमात्र तत्त्व माना है।

विज्ञानवाद बाह्य पदार्थ के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। इसके अनुसार जैसा कहा गया है, चित्त ही एकमात्र सत्ता है। ऐसे पदार्थ जो मन से बहिर्गत मालूम पड़ते हैं, वे सभी मन के अन्तर्गत हैं। जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न की अवस्था में वस्तुओं को बाह्य समझता है, वास्तव में वे वस्तुएँ मन के अन्तर्गत रहती हैं। उसी प्रकार साधारण मानसिक अवस्थाओं में बाह्य प्रतीत होने वाला पदार्थ विज्ञान मात्र हैं। सभी बाह्य पदार्थ विज्ञान मात्र हैं। इस प्रकार विज्ञानवादी मन के बाहर के शरीर आदि सभी पदार्थों को मानसिक विकल्प मानते हैं।

विज्ञान के दो भेद हैं– प्रवृत्ति विज्ञान और आलय विज्ञान। प्रवृत्ति विज्ञान के सात भेद हैं- चक्षुविज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, धारणाविज्ञान, रसनाविज्ञान, कामविज्ञान, मनोविज्ञान तथा विशिष्ट मनोविज्ञान। पहले पाँच विज्ञानों से वस्तु का ज्ञान होता है, मनोविज्ञान से उस पर विचार किया जाता है, विशिष्ट मनोविज्ञान से उसका प्रत्यक्ष होता है। इन सबका संयोजन करने वाला चित्त है, जिसे 'आलय विज्ञान' कहा जाता है।

आलय विज्ञान विभिन्न विज्ञानों का आलय है। आलय का अर्थ है - घर। प्रवृत्ति विज्ञान आलय विज्ञान पर अवलम्बित है। सभी ज्ञान बीज रूप में एकत्रित रहते हैं। आलय विज्ञान सभी विज्ञानों का आधार है। आलय विज्ञान दूसरे दर्शनों की आत्मा के समान प्रतीत होता है। आत्मा और आलय विज्ञान में मुख्य भेद यह है कि आत्मा नित्य है, जबकि आलय विज्ञान। साधारण रूप से अर्थ है- परिवर्तनशील चेतना का प्रवाह, परन्तु 'लंकावतार सूत्र' के अनुसार आलय विज्ञान नित्य अमर तथा कभी न बदलने वाला विज्ञान का आलय है। यदि आलय विज्ञान का यह अर्थ लिया जाये तो वह अन्य दर्शनों की आत्मा के समान हो जायेगा।

विज्ञानवाद के अनुसार, विज्ञान से अलग किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। योगाचार अर्थात् विज्ञानवाद बाह्य वस्तु के अस्तित्व का खण्डन करता है। विज्ञानवाद बाह्यवस्तु की अनुपस्थिति क्षणिकवाद के सिद्धान्त के आधार पर प्रमाणित करता है। वस्तुओं का ज्ञान उत्पत्ति पर ही निर्भर करता है, परन्तु ज्यों ही वस्तु की उत्पत्ति होती है, त्यों ही उसका ज्ञान हो जाता है। वस्तु का ज्ञान तभी हो सकता है, जब एक ही क्षण में वस्तु और उसका ज्ञान दोनों हो जायें। वस्तु ज्ञान का कारण है और ज्ञान कार्य है। कारण और कार्य दोनों एक समय में नहीं हो सकते। कारण का आगमन कार्य से पूर्ण होता है। ज्यों ही वस्तु का निर्माण होता है, त्यों ही उसका नाश हो जाता है। नाश के बाद वस्तु के ज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः बाह्य विषयों का ज्ञान असम्भव है।

बौद्ध दर्शन (व्याख्या भाग):

(1. चार्वाक मत का खण्डन-व्याप्ति की सुगमता)

अत्र बौद्धैरभिधीयते–यदभ्यधायि, 'अविनाभावो दुर्बोध इति' तदसाधीयः। तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावस्य सुज्ञानत्वात् तदुक्तम् –

1. कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनात्र न दर्शनात्।। (प्र. वा. १/३३)। इति।

प्रसंग– यह गद्यांश एवं श्लोक माध्वाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। चार्वाक दर्शन में अनुमान प्रमाण के लिए आवश्यक अविनाभाव अथवा व्याप्ति को दुर्बोध बताया गया है और इस आधार पर अनुमान प्रमाण का खण्डन किया गया है। बौद्ध दर्शन अनुमान प्रमाण को मानता है। इसी प्रकार चार्वाक मत का विरोध करते हुए अविनाभाव अथवा व्याप्ति को सुगम बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद – इसके विषय में अर्थात् व्याप्ति के विषय में बौद्ध दार्शनिकों द्वारा कहा जा रहा है– "चार्वाक ने जो यह कहा था कि अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति दुर्बोध है, उसे जानना कठिन है, वह अनुचित है। व्याप्ति का ज्ञान तादात्म्य और तदुत्पत्ति के द्वारा सरलता से हो सकता है। यही कहा गया है –

कार्य कारण के सम्बन्ध से अथवा नियम रखने वाले अर्थात् साध्य और साधन का अव्यभिचार अर्थात् साक्षात् सम्बन्ध सिद्ध करने वाले स्वभाव के द्वारा अविनाभाव अर्थात व्याप्ति का निर्णय होता है, अदर्शन अर्थात् व्यतिरेक अथवा दर्शन अर्थात् अन्वय से नहीं होता।

(2. अन्वय-व्यतिरेक से व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं)

'अन्वयव्यतिरेकी अविनाभावानिश्चायकौ' इति पक्षे साध्य-साधनयोरव्यभिचारी दुरवधारणो भवेत्। भूते भविष्यति वर्तमाने चानुपलभ्यमानेऽर्थे व्यभिचारशंकाया अनिवारणात्। ननु तथाविधस्थले तावकेऽपि मत व्यभिचारशंका दुस्परिहरा-इति चेत्; मैवं वोचः। विनापि कारणं कार्यमुत्पद्यतामित्येवंविधायाः शंकाया व्याघातावधिकतया निवृत्तत्वात्। तदेव ह्याशङ्क्येत यस्मिन्नाशङ्क्यमाने व्याघातादयो नावतरेयुः। तदुक्तम्–'व्याघातावधिराशंका' (कुसु. ३/७) इति।।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के भाग 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश में यह बताया गया है कि अन्वय व्यतिरेक के द्वारा व्याप्ति ज्ञान होना सही नहीं है। नैयायिकों की मान्यता यह है कि अन्वय और व्यतिरेक-ये दोनों विधियाँ अविनाभाव अर्थात् अनुमान प्रमाण की प्राण बनी हुई व्याप्ति का निश्चय करती हैं। बौद्ध दर्शन इसे नहीं मानता, इसलिए इस गद्यांश के द्वारा नैयायिकों की मान्यता का खण्डन किया जा रहा है।

हिन्दी अनुवाद – अन्वय और व्यतिरेक–ये दोनों विधियाँ अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति का निश्चय करती हैं, यदि नैयायिकों के इस पक्ष को स्वीकार किया जायेगा, तो साध्य और साधन में कभी व्यभिचार अर्थात् अलगाव नहीं हो सकता। इस बात को जानना बहुत कठिन होगा, क्योंकि भूतकाल में, भविष्यत् काल में तथा अनुपस्थित अर्थ अर्थात् वस्तु वाले वर्तमान काल में भी व्यभिचार की शंका नहीं हटाई जा सकेगी। निश्चय ही इस प्रकार के स्थल में अर्थात् इस प्रकार की स्थिति में आपके मत में अर्थात् नैयायिकों के मत में भी व्यभिचार होने शंका की सम्भावना है। उसका निवारण करना बहुत कठिन है। यदि ऐसा कहते हैं तो अनुचित

है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। कारण के बिना भी कार्य उत्पन्न हो सकता है, इस प्रकार की शंका होने से उसका निवारण विपरीत उदाहरण मिल जाने पर ही हो सकेगी। इसी प्रकार की शंका करनी चाहिए, जिसमें व्याघात आदि का अवतरण न हो, व्याघात आदि न आवे। ऐसा ही कहा है– आशंका व्याघात अर्थात् विपरीत उदाहरण मिलने तक ही रहती है।

(3. तदुत्पत्ति से अविनाभाव का ज्ञान–पञ्चकारिणी।)

तस्मात्तदुत्पत्तिनिश्चयेनाविनाभावो निश्चीयते। तदुत्पत्तिनिश्चयश्च कार्यहेत्वोः प्रत्यक्षोपलम्भानुपलम्भपञ्चकनिबन्धनः। कार्यस्योत्पत्तेः प्रागनुपलम्भः, कारणोपलम्भे सति उपलम्भः, उपलब्धस्य पश्चात्कारणानुपलम्भादनुपलम्भः इति पञ्चकारण्या धूमधूमध्वजयोः कार्यकारणभावो निश्चीयते॥

प्रसंग– यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के भाग 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश में कार्य और कार्य की उत्पत्ति से व्याप्ति ज्ञान के पाँच कारण बताये गये हैं।

हिन्दी अनुवाद – इसलिए कार्य और कारण के सम्बन्ध का निश्चय के द्वारा अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति का निश्चय किया जाता है। कार्य और कारण के सम्बन्ध का निश्चय कार्य और कारण के प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होने और अप्राप्त होने रूपी पाँच अवयवों अर्थात् भागों पर आधारित है। धूम और धूमध्वज अर्थात् अग्नि के मध्य कार्य और कारण का सम्बन्ध निम्नलिखित पाँच कारणों के समूह के द्वारा निश्चित किया जाता है –

(1) उत्पत्ति होने के पहले कार्य का न पाया जाना।

(2) कारण की प्राप्ति होने पर।

(3) कार्य का पाया जाना।

(4) कार्य के प्राप्त होने पर कारण का प्राप्त न होना।

(5) कारण के प्राप्त होने पर कार्य का भी प्राप्त न होना।

(4. तादात्म्य से अविनाभाव का ज्ञान)

तथा तादात्म्यनिश्चयेनाप्यविनाभावो निश्चीयते। 'यदि शिंशपा वृक्षत्वमतिपतेत्', स्वात्मानमेव जह्यादिति विपक्षे बाधकप्रवृत्तेः। अप्रवृत्ते तु बाधके भूयः सहभावोपलम्भेऽपि व्यभिचारशंकाया को निवारयिता ? शिंशपावृक्षयोश्च तादात्म्यनिश्चयो 'वृक्षोऽयं शिंशपेति' समानाधिकरण्यबलादुपपद्यते। न ह्यत्यन्ताभेदे तत्संभवति। पर्यायत्वेन युगपत्प्रयोगायोगात्। नाप्यत्यन्ताभेदे, गवाश्चयोरनुपलम्भात्। तस्मात्कार्यात्मानौ कारणात्मानौ अनुमापयत इति सिद्धम्॥

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के द्वारा तादात्म्य अर्थात् एकरूपता के द्वारा अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति का ज्ञान कराया गया है।

हिन्दी अनुवाद – इसी प्रकार तादात्म्य का निश्चय होने के पश्चात् भी अविनाभाव अथवा व्याप्ति का निश्चय किया जाता है। यदि शिंशपा वृक्षत्व अर्थात् वृक्ष होने का त्याग कर दे, शिंशपा वृक्षत्व से अलग हो जाय, तब तो इस बाधक वाक्य की प्रवृत्ति हो जायेगी कि शिंशपा अपनी आत्मा अथवा अपने सामान्य धर्म को ही त्याग देगा। यदि दैवयोग से असंगति न भी आवे और पुनः सहचार अर्थात् सदा साथ रहना हो जाये तो व्यभिचार अर्थात् अलग या विरोध होने की शंका को कौन रोक सकता है ? शिंशपा और वृक्ष में तादात्म्य का निश्चय

समानाधिकरण के आधार पर सिद्ध होता है। जैसे यह शिंशपा वृक्ष है। तादात्म्य सम्बन्ध तभी सम्भव होता है, जब दो पदार्थों में अत्यधिक अभेद हो। जिन शब्दों में तादात्म्य होता है, वे पर्यायवाची होते हैं, इसलिए उनका एक साथ प्रयोग नहीं हो सकता। दोनों का अत्यधिक भेद या भिन्नता होने पर भी एक साथ प्रयोग होना सम्भव नहीं है। उस स्थिति में 'गौ अश्व है' का प्रयोग होने लगेगा जो उचित नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि कार्य कारण सम्बन्ध से तथा आत्मा तादात्म्य सम्बन्ध से क्रमशः कारण और आत्मा का अनुमान करते हैं, ऐसा सिद्ध हो गया।

(5. अनुमान का खण्डन करने वालों को उत्तर)

यदि कश्चित्प्रामाण्यमनुमानस्य नाङ्गीकुर्यात्तं प्रति ब्रूयात्–अनुमानं प्रमाणं न भवतीत्येतावन्मात्रमुच्यते, तत्र न किंचन साधनमुपन्यस्यते, उपन्यस्यते वा ? न प्रथमः। अशिरस्कवचनस्योपन्यासे साध्यासिद्धेः।

'एकाकिनी प्रतिज्ञा हि प्रतिज्ञातं न साधयेत्।'

इति न्यायात्। नापि चरमः। अनुमानं प्रमाणं न भवतीति ब्रुवाणेन वचनप्रमाणमनभ्युपगच्छता त्वया स्वपरकीयशास्त्रे प्रामाण्येनोपगृहीतस्य वचनस्योपन्यासे मम माता वन्ध्येतिवद् व्याघातापातात्॥

प्रसंग– यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश में बौद्ध दार्शनिकों ने अनुमान प्रमाण का खण्डन करने वाले चार्वाक को उत्तर दिया है।

हिन्दी अनुवाद – यदि कोई व्यक्ति अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार न करता हो तो उससे कहना चाहिए– 'अनुमान प्रमाण नहीं होता है' आपके द्वारा केवल इतना ही कहा जाता है, इस विषय में कोई प्रमाण उपस्थित किया जाता है अथवा नहीं। यदि आप पहला विकल्प स्वीकार करते हैं तो आपकी बात उचित नहीं है। बिना प्रमाण का वचन उपस्थित करने पर साध्य की सिद्धि नहीं होती है।

अकेली प्रतिज्ञा स्वीकृत वचन को सिद्ध नहीं करती है, इस उक्ति के अनुसार। आपका दूसरा पक्ष भी उचित नहीं है। अनुमान प्रमाण नहीं होता है, ऐसा कहने वाले आपके द्वारा वचन अर्थात् शब्द का प्रामाण्य स्वीकार न करना स्पष्ट है। ऐसा करने पर उसी प्रकार की व्यावहारिक असंगति होगी, जैसे कोई कहे कि मेरी माता बाँझ है।

किं च प्रमाणतदाभासव्यवस्थापनं। तत्समानजातीयत्वादिति वदता भवतैव स्वीकृतं स्वभावानुमानम्। परगता विप्रतिपत्तिस्तु वचनलिंगेनेति ब्रुवता कार्यलिंगकमनुमानम्। अनुपलब्ध्या कश्चिदर्थं प्रतिषेधयतानुपलब्धिलिंगकमनुमानम्। तथा चोक्तं तथागतैः–

2. **प्रमाणान्तरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।**
   प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ।।इति।
   पराक्रान्तं चात्र सूरिभिरिति ग्रन्थभूयस्त्वभयादुपरम्यते।

प्रसंग – यह गद्यांश एवं श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। इस श्लोक और गद्यांश के द्वारा माधवाचार्य ने बौद्ध दार्शनिकों द्वारा अनुमान प्रमाण के समर्थन में अधिक न लिखना ग्रन्थ के विस्तार के भय से स्वीकार किया है।

हिन्दी अनुवाद – इसके अतिरिक्त प्रमाण, प्रमाणाभास की व्यवस्था उनके समान जातीय होने के कारण होती है, आपने स्वभावानुमान को स्वीकार किया है। यह कहते हुए तीन अनुमान तो आप स्वीकार कर चुके हैं। दूसरे विरोधियों की सम्मति का ज्ञान उनके वचन रूपी लिंग अर्थात् साधन से होता है। इस प्रकार का कथन

करके आप कार्य को देखकर कारण का ज्ञान कराने वाला अनुमान भी स्वीकार करते हैं, जिसे कार्यलिंगक अनुमान भी स्वीकार करते हैं। किसी वस्तु को अनुपलब्धि अर्थात् अभाव देखने वाले आपने किसी पदार्थ की सत्ता का निषेध किया है। इस स्थल पर भी आपने अनुमान का आश्रय लिया है। इसका लिंग या कारण है-अभाव। इसी कारण तथागत बुद्ध के अनुयायी दार्शनिकों ने कहा है-

"दूसरे प्रमाण अर्थात् अनुमान में समान जातीयता की स्थिति होने के कारण, दूसरे की सम्मति में गति अथवा उसका अनुमान करने के कारण तथा किसी के विरोध के कारण, दूसरे की गति अथवा उसके अनुमान के कारण तथा किसी के विरोध अथवा निषेध के कारण दूसरे प्रमाण अर्थात् अनुमान की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। इस श्लोक में इन तीनों प्रकार के अनुमान का समावेश है।"

विद्वानों ने इस विषय में अर्थात् अनुमान प्रमाण को मानने के विषय में पर्याप्त विचार-विमर्श किया है। ग्रन्थ का अधिक विस्तार होने के भय से विराम लेना पड़ रहा है।

(6. बौद्धदर्शन के चार भेद-भावना-चतुष्टय)

ते च बौद्धाश्चतुर्विधया भावनया परमपुरुषार्थं कथयन्ति। ते च माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धा यथाक्रमं सर्वशून्यत्व-बाह्यार्थशून्यत्व- बाह्यार्था-नुमेयत्वबाह्यार्थप्रत्यक्ष-त्ववादानातिष्ठन्ते। यद्यपि भगवान्बुद्धः एक एव बोधयिता तथापि बोद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चातुर्विध्यम्। यथा 'गतोऽस्तमर्कः' इत्युक्ते जारचौरानूचानादयः स्वेष्टानुसारेणा-भिसरणपरस्वहरणसदाचरणादिसमयं बुध्यन्ते। सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यमिति भावनाचतुष्टयमुपदिष्टं द्रष्टव्यम्।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इसमें बौद्ध दर्शन के चार भेदों भावना चतुष्ट्य का वर्णन किया गया है।

हिन्दी अनुवाद – वे बौद्ध धर्मानुयायी चार प्रकार की भावना अर्थात् दृष्टिकोण से परम पुरुषार्थ का वर्णन करते हैं। वे बौद्ध धर्मावलम्बी माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक नामों के द्वारा प्रसिद्ध हैं। ये क्रमानुसार सब कुछ शून्य है, बाह्य पदार्थ शून्य है, बाह्य पदार्थ अनुमान से जानने योग्य है और बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है-इन वादों अथवा सामान्य सिद्धान्तों पर अड़े हुए हैं, आरूढ़ हैं। यद्यपि भगवान् बुद्ध अकेले ही समझाने वाले थे, फिर भी समझने योग्य जनों के बुद्धिभेद के कारण ये चार सम्प्रदाय बन गये। जिस प्रकार 'सूर्य अस्त हो गया अर्थात् डूब गया' ऐसा कहने पर जार अर्थात् उपपति अथवा प्रेमी, चोर और वेदपाठी आदि अपनी इच्छा के अनुसार अभिसार अर्थात् प्रेयसी से मिलने के लिए संकेतस्थल पर जाना, दूसरे का धन चुराना और अच्छे आचरण आदि का समझ लेते हैं। 'सब कुछ क्षणिक है-क्षणिक है', 'सब कुछ दुःख है-दुःख है', 'सबका लक्षण अपने आप में है-सबका लक्षण अपने आप में है' तथा 'सब कुछ शून्य है, शून्य है।' ये चारों भावनाएँ देखनी चाहिए।

(7. क्षणिकत्व की भावना-अर्थक्रियाकारित्व)

तत्र क्षणिकत्वं नीलादिक्षणानां सत्त्वेनानुमातव्यं-यत्सत्तत्क्षणिकं, यथा जलधरपटलं, सनतश्चामी भावा इति। न चायमसिद्धो हेतुः, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणस्य सत्त्वस्य नीलादिक्षणानां प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्यव्यावृत्तिरिति न्यायेन व्यापकक्रमाक्रमव्यावृत्तौ अक्षणिकात्सत्त्वव्यावृत्तेः सिद्धत्वाच्च। तच्चार्थक्रियाकारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्। न च क्रमाक्रमाभ्यामन्यः प्रकारः संभवति।

3. **परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः।
नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः॥ (कुसु. ३/८),
इति न्यायेन व्याघातस्योद्भटत्वात्।**

प्रसंग – यह गद्यांश और श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश "बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। इस गद्यांश और श्लोक के माध्यम से माधवाचार्य ने क्षणिक होने की भावना और सार्थक क्रिया करने की शक्ति का विवेचन किया है।

हिन्दी अनुवाद – इन चार भावनाओं में क्षणिक भावना का अनुमान नील आदि क्षणिक पदार्थों की सत्ता अर्थात् अस्तित्व देखकर अनुमान करना चाहिए। जो भी सत् है अर्थात् जिसकी भी सत्ता है, वह क्षणिक है, जैसे मेघमण्डल अर्थात् बादलों की घटा। इन भावों का अस्तित्व है, सत्ता है। यह नहीं कह सकते कि ऊपर बताये गये अनुमान में हेतु प्रयोजनमूलक कार्य करने की क्षमता विद्यमान होती है। यह सत्व या सत्ता नील आदि क्षणिक पदार्थों में प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध होती है। व्यापक अर्थात् व्याप्त करने वाले का व्यावर्तन अर्थात् निष्कासन करने से व्याप्त का निष्कासन हो जाता है, ऐसा नियम है। इस नियम के कारण व्यापक के क्रम अर्थात् व्याप्य वस्तुओं से सत्ता अलग हो जाती है, यह सिद्ध होता है। यह सार्थक कार्य करने की शक्ति क्रम अर्थात् सत्ता क्रम अर्थात आगे-पीछे और अक्रम अर्थात् एक साथ होने के नियम से व्याप्त है। इन क्रम और अक्रम के मध्य किसी तीसरे विकल्प की सम्भावना नहीं है।

श्लोक का अनुवाद – यह निश्चित है कि आपस के विरोध में किसी अन्य विकल्प की स्थिति नहीं होती। विरुद्ध वचनों में कथनमात्र का विरोध होने पर भी एकता नहीं होती है।

इस नियम के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से बहुत विकट स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

तौ च क्रमाक्रमौ स्थायिनः सकाशाद् व्यावर्तमानौ अर्थक्रियामपि व्यावर्तयन्तौ क्षणिकत्वपक्ष एव सत्त्वं व्यवस्थापयतः इति सिद्धम्।

प्रसंग – ये गद्य पंक्तियाँ माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से ली गयी हैं। इन पंक्तियों के माध्यम से माधवाचार्य ने यह सिद्ध किया है कि व्यापक अर्थात् व्याप्त करने वाले के क्रम और अक्रम स्थायी पदार्थ से अलग होकर सत्व में व्यवस्थित करते हैं।

हिन्दी अनुवाद – और ये दोनों क्रम और अक्रम स्थायी पदार्थ के समीप से अलग होते हुए भी स्थायी पदार्थ से अलग कर देते हैं। ये क्षणिकत्व के पक्ष में सत्ता की व्यवस्था करते हैं, ऐसा सिद्ध हो गया।

(8. अक्षणिक पदार्थ का 'क्रम' से अर्थक्रियाकारी नहीं होना)

नन्वक्षणिकस्य अर्थक्रियाकारित्वं किं न स्यादिति चेत्–तदयुक्तम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि–वर्तमानार्थक्रियाकरणकालेऽतीतानागतयोः किम् अर्थक्रिययोः स्थायिनः सामर्थ्यमस्ति नो वा। आद्ये तयोरनिराकरणप्रसङ्गः, समर्थस्य क्षेपायोगात्। यद्यदा यत्करणसमर्थं तत्तदातत्करोत्येव यथा सामग्री स्वकार्यं समर्थश्चायं भाव इति प्रसङ्गानुमानाच्च।

द्वितीये कदापि न कुर्यात्। सामर्थ्यमात्रानुबन्धित्वादर्थक्रियाकारित्वस्य। यद्यदा यन्न करोति तत्तदा तत्रासमर्थं यथा हि शिलाशकलमङ्कुरे। न चैष वर्तमानार्थक्रियाकरणकाले वृत्तवर्तिष्यमाणे अर्थक्रिये करोतीति तद्विपर्ययाच्च॥

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के माध्यम से यह बताया है कि अक्षणिक अर्थात् स्थायी पदार्थ क्रम से अर्थक्रिया नहीं कर सकता।

हिन्दी अनुवाद – बौद्ध दर्शन का विरोध करने वाले पूछ सकते हैं कि अक्षणिक अर्थात् स्थायी पदार्थ में कार्य उत्पन्न करने की क्षमता क्यों नहीं हो सकती ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा प्रश्न करना अनुचित है। नीचे जो दो विकल्प दिये हुए हैं, उनसे यह असिद्ध होता है। वर्तमान काल में कार्य उत्पन्न करने के समय, स्थायी पदार्थ भूतकाल और भविष्यत् काल में कार्य उत्पन्न करने में समर्थ होगा या नहीं ? पहला विकल्प स्वीकार करने पर अर्थात् समर्थ होगा, यह कहने पर भूत और भविष्यत् के कार्य उत्पन्न करने को आप त्याग नहीं सकते। कार्य करने में समर्थ वस्तु कालक्षेप अर्थात् समय बिताना सहन नहीं कर सकती। जो पदार्थ जिस कार्य को करने में जिस समय समर्थ होता है, वह उस कार्य को उसी समय करता ही है। अक्षणिक अर्थात् स्थायी पदार्थ कार्य करने में समर्थ होता है, वह उसी समय कार्य उत्पन्न कर देता है। इस प्रसंग अर्थात् परिस्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

यदि आप दूसरा विकल्प स्वीकार नहीं करते हैं कि स्थायी पदार्थ में भूत और भविष्यत् काल में अर्थक्रिया करने की अर्थात् कार्य उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है, तब स्थायी पदार्थ कभी भी कार्य उत्पन्न नहीं करेगा, क्योंकि कार्य का उत्पन्न करना केवल सामर्थ्य पर ही आधारित है। जो पदार्थ किसी कार्य को किसी समय नहीं करता, वह उस कार्य को करने में असमर्थ समझा जायेगा, जैसे शिला का टुकड़ा अंकुर उगाने में असमर्थ समझा जाता है। यह स्थायी पदार्थ वर्तमान क्रिया उत्पन्न करने के समय भूतकाल और भविष्यत्काल में अर्थक्रिया उत्पन्न नहीं करेगा, इस प्रकार का विपर्यय अर्थात् विरोध उपस्थित हो जायेगा।

(9. सहकारियों की सहायता पाकर भी अक्षणिक अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता)

ननु क्रमवत्सहकारिलाभात् स्थायिनोऽतीतानागतयोः क्रमेण करणमुपपद्यत इति चेत्–तत्रेदं भवान्पृष्टो व्याचष्टाम्। सहकारिणः किं भावस्योपकुर्वन्ति न वा ? न चेन्नापेक्षणीयास्ते। अकिञ्चित्कुर्वतां तेषां तादर्थ्यायोगात्। अथ भावस्तैः सहकारिभिः सहैव कार्यं करोति इति स्वभाव इति चेत्-अङ्ग! तर्हि सहकारिणो न जह्यात्। प्रत्युत पलायमानानपि गले पाशेन बद्ध्वा कृत्यं कुर्यात्। स्वभावस्यानपायात्।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के माध्यम से यह बताया है कि अक्षणिक अर्थात् स्थायी पदार्थ अपने सहयोगियों की सहायता प्राप्त करके भी अर्थक्रियाकारी अर्थात् कारण और कार्य को उत्पन्न करने वाला होना सम्भव नहीं है।

हिन्दी अनुवाद – आगे-पीछे रहने वाले सहकारियों अर्थात् सहयोगियों को प्राप्त करके स्थायी अर्थात् अक्षणिक पदार्थ भूतकाल और वर्तमान काल के क्रम से अर्थक्रियाकारी होना कार्य उत्पन्न करना सिद्ध हो सकता है, यदि ऐसा कहा जाये तो इस विषय में यह पूछे जाने पर आपको उत्तर देना चाहिए, समझना चाहिए। सहकारी अर्थात् सहयोग करने वाले पदार्थ भाव अर्थात् स्थायी पदार्थ का उपकार अथवा सहायता करते हैं अथवा नहीं। यदि आप यह मानते हैं कि सहकारी पदार्थ स्थायी पदार्थ का कोई उपकार अर्थात् सहायता नहीं करते तो वे अपेक्षा अर्थात् आवश्यकता के योग्य नहीं हैं। इसका कारण कुछ भी सहायता न करने वाले उन सहकारियों अथवा सहायकों की व्यर्थता या निकम्मापन है। यदि भाव अर्थात् अक्षणिक या नित्य पदार्थ अपने उन सहकारियों या सहयोगियों के साथ ही कार्य करता है, आप ऐसा मानते हैं कि यह तो अक्षणिक अथवा नित्य पदार्थ का स्वभाव ही है, तब तो यह अपने सहकारियों अर्थात् सहयोगियों को नहीं छोड़ सकता। यदि वे भागेंगे तो भागने वालों को गले में रस्सी बाँधकर कार्य करेगा, अपने करने योग्य कार्य को करेगा। इसका कारण स्वभाव का न त्याग करना है।

उपकारकत्वपक्षे सोऽयमुपकारः किं भावादि्भद्यते न वा। भेदपक्ष आगन्तुकस्येव तस्य कारणत्वं स्यात्। न भावस्याक्षणिकस्य। आगन्तुकातिशयान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्कार्यस्य तदुक्तम् –

4. वर्षातपाभ्यां कि व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः ॥ इति॥

प्रसंग– यह गद्यांश एवं श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। माधवाचार्य ने इस गद्यांश और श्लोक के माध्यम से उपकार अथवा सहायक की स्थिति पर प्रकाश डाला है।

हिन्दी अनुवाद – यदि स्थायी अर्थात् नित्य पदार्थ का उपकार करने वाला मानते हो तो इस स्थिति में प्रश्न हो सकता है कि सहकारी यह उपकार भाव से अलग होकर करते हैं अथवा उसके सहयोगी होकर करते हैं। तात्पर्य यह है कि यह उपकार स्थायी पदार्थ से भिन्नता से करते हैं अथवा उसके साथ रहकर करते हैं। यदि उपकारी की स्थायी पदार्थ से भिन्नता अर्थात् अलग होना किया जायेगा तो जो सहकारी पदार्थ आगन्तुक हैं अर्थात् बाहर से आये हैं, वे कार्य के कारण कहलायेंगे, उसका कारण भाव या स्थायी पदार्थ नहीं होगा। आगन्तुक अर्थात् बाहर से आने वाले सहायक के अत्यधिक अन्वय और व्यतिरेक से कार्य सिद्ध होगा। इसलिए कहा गया है –

वर्षा और धूप से आकाश को क्या प्रयोजन है। इन दोनों का प्रभाव त्वचा अथवा चर्म पर पड़ेगा। यदि स्थायी पदार्थ चमड़े के समान है तो अनित्य है और यदि आकाश के समान है तो असत्य फल वाला अर्थात् फलहीन होता है।

(10. अतिशय का दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में दोष)

किं च, सहकारिजन्योऽतिशयः किमतिशयान्तरमारभते न वा ? उभयथाऽपि प्रागुक्तदूषणपाषाणवर्षणप्रसङ्गः। अतिशयान्तरारम्भपक्षे बहुमुखानवस्थादौःस्थ्यमपि स्यात्। अतिशये 'जनयितव्ये सहकार्यन्तरापेक्षायां तत्परम्परापात इत्येकानवस्थाऽऽस्थेया।

तथा सहकारिभिः सलिलपवनादिभिः पदार्थसार्थैराधीयमाने बीजस्यातिशये बीजमुत्पादकमभ्युपेयम्। अपरथा तदभावेऽप्यतिशयः प्रादुर्भवेत्।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के भाग 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य जी ने इस गद्यांश के माध्यम से एक अतिशय द्वारा दूसरे अतिशय को उत्पन्न करने से होने वाले दोष का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – इसके अतिरिक्त सहकारी अर्थात् सहायक से उत्पन्न होने वाला अतिशय दूसरे अतिशय को आरम्भ करता है अर्थात् जन्म देता है या नहीं देता। दोनों प्रकार की स्थितियों में ही पहले कहे गये दोषों रूपी पत्थरों के बरसने की स्थिति आ जायेगी। एक अतिशय के द्वारा दूसरे अतिशय को आरम्भ अर्थात् उत्पन्न करने के पक्ष में बहुमुखी अनवस्था अर्थात् अव्यवस्था के दोष का आरम्भ भी हो सकता है। अतिशय को उत्पन्न करने की स्थिति में अन्य सहकारी अर्थात् सहायक की आवश्यकता होने पर अतिशयों की परम्परा के आ जाने पर एक अनवस्था अर्थात् अव्यवस्था को मान लेना चाहिए।

उसी प्रकार जल, वायु आदि सहकारियों के द्वारा रखे गये बीजों को अतिशय अर्थात् अधिकता में बीज को उत्पन्न करने वाला समझ लेना चाहिए। यदि बीज में रहने वाले, अतिशय अगर दूसरे अतिशय को उत्पन्न करें, तब अतिशय को स्वाभाविक समझना चाहिए।

NOTES

(11. दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में अनवस्था सं. 1)

बीजं चातिशयमादधानं, सहकारिसापेक्षमेवाधत्ते। अन्यथा सर्वदोपकारापत्तौ अङ्कुरस्यापि सदोदयः प्रसज्येत तस्मादतिशयार्थमपेक्ष्यमाणैः सहकारिभिः अतिशयान्तरमाधेयं बीजे। तस्मिन्नप्युपकारे पूर्व-न्यायेन सहकारिसापेक्षस्य बीजस्य जनकत्वे सहकारिसम्पाद्यबीज-गतातिशयानवस्था प्रथमा व्यवस्थिता।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से माधवाचार्य ने दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में पहली अनवस्था का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – एक अतिशय को धारण करने वाले बीज को दूसरे सहकारी की आवश्यकता रखने वाला माना जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस बीज में एक अतिशय होता है, वह दूसरे सहकारी की आवश्यकता न हो, तो सदा सहायक की आपत्ति होने पर भी सदा उदय अर्थात् उत्पत्ति होने लगती है। उससे अतिशय की अपेक्षा करने पर ऐसी स्थिति हो जायेगी कि बीज से सदा अंकुर की उत्पत्ति होती रहेगी। तात्पर्य यह है कि बीज से सदा अंकुर निकलता रहेगा। इसलिए पहले अतिशय को धारण करने के निमित्त दूसरे सहकारी भावों बीज में दूसरे सहकारी भावों को धारण करना चाहिए। जो बीज पहले के समान सहकारियों अर्थात् सहयोगियों की आवश्यकता धारण करता है। इसके साथ ही पहले के समान अनवस्था अर्थात् अव्यवस्था दोष उत्पन्न हो जाने पर सहकारियों की सहायता से युक्त बीज के अतिशय से सम्बन्ध रहता है। यह पहली अनवस्था अर्थात् पहली अव्यवस्था होती है।

(11. क. अनवस्था सं. 2)

अथोपकारः कार्यार्थमपेक्ष्यमाणोऽपि बीजादिनिरपेक्षं कार्यं जनयति तत्सापेक्षं वा। प्रथमे बीजादेरहेतुत्वमापतेत्। द्वितीयेऽपेक्ष्यमाणेन बीजादिनोपकारेऽतिशय आधेयः। एवं तत्र तत्रापीति बीजादिजन्यातिशय- निष्ठातिशयपरम्परापात इति द्वितीयानवस्था स्थिरा भवेत्।

प्रसंग– यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के माध्यम से दूसरी अनवस्था अर्थात् अव्यवस्था उत्पन्न होने का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – इस प्रकार का उपकार अर्थात् अतिशय को धारण कार्य को उत्पत्ति के लिए अपेक्षित अर्थात् आवश्यक होने पर बीज आदि के बिना अर्थात् बीज आदि से अलग होकर भी अंकुर उत्पन्न करने रूपी कार्य को करता है अथवा बीज आदि की अपेक्षा से अर्थात् सहयोग से कार्य उत्पन्न करता है। यह प्रश्न उपस्थित होगा। यदि पहला विकल्प स्वीकार करते हैं तो अंकुर उत्पन्न करने में बीज आदि का कारण न होने का दोष आ जायेगा। दूसरा विकल्प स्वीकार करने पर कि उपकारी बीज आदि की सहायता से अंकुर उत्पन्न करने का कार्य करता है तो बीज आदि कारण न होकर उपकारी बन जायेंगे और उन्हें अतिशय की सहायता लेनी पड़ेगी। इस प्रकार जहाँ-जहाँ भी बीज आदि से उत्पन्न अतिशयों में रहने वाली, बीज आदि के अतिशयों से सम्बन्धित ऐसी परम्परा बन जायेगी, जिसका कहीं अन्त नहीं होगा। इस प्रकार दूसरी अनवस्था अथवा अव्यवस्था दृढ़ अथवा स्थायी हो जायेगी।

(11. ख. अनवस्था सं. 3)

एवमपेक्ष्यमाणेनोपकारेण बीजादौ धर्मिण्युपकारान्तरमाधेयम्-इत्युपकाराधेयबीजाश्रयातिशयपरम्परापात इति तृतीयानवस्था दुरवस्था स्यात्।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के द्वारा तीसरी अनवस्था का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – इस प्रकार जो उपकारी या सहायक अपेक्षित है, उसको यह चाहिए कि वह अतिशय के धर्मी, विषय अथवा आश्रय बीज आदि के दूसरे उपकारों का आधान करे, दूसरे उपकारी को रखे। इस प्रकार उपकारी से उत्पन्न बीज के आश्रय अर्थात् अतिशय में उन अतिशयों की अन्तहीन परम्परा आरम्भ हो जायेगी जो बीज में रहने वाले अतिशय में रहेंगे। यह तीसरी अव्यवस्था होगी, जिसे हटाना बहुत कठिन होगा।

(12. स्थायी भाव से अतिशय के अभिन्न होने पर आपत्ति)

अथ भावादभिन्नोऽतिशयः सहकारिभिराधीयत इत्यभ्युपगम्येत, तर्हि प्राचीनो भावोऽनतिशयात्मा निवृत्तोऽन्यश्चातिशयात्मा कुर्वद्रूपादिपदवेदनीयो जायत इति फलितं ममापि मनोरथद्रुमेण। तस्मात्क्रमेण अक्षणिकस्य अर्थक्रिया दुर्घटा।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से माधवाचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि स्थायी भाव से अतिशय को अभिन्न मानने पर भी आपत्ति हो सकती है।

हिन्दी अनुवाद – यदि यह स्वीकार करते हैं कि अतिशय भाव स्थायी पदार्थ अलग नहीं है अर्थात् पकड़ा जाता है, उस दशा में प्राचीन भाव अर्थात् स्थायी या अक्षणिक पदार्थ निश्चय ही समाप्त हो जायेगा, निवृत्त हो जायेगा, लौट जायेगा। इसके बाद अतिशय के रूप में एक अन्य अर्थात् स्थायी पदार्थ जन्म लेगा। इसको 'कुर्वद्रूप' आदि शब्दों के द्वारा जाना जाता है। मेरे मनोरथरूपी वृक्ष का भी यही फल है। तात्पर्य यह है कि मैं भी यही चाहता हूँ। इस कारण क्रम के सहारे अक्षणिक अर्थात् स्थायी पदार्थ अर्थक्रिया करता है अर्थात् कार्य का उत्पादक है, यह सिद्ध करना कठिन है।

(13. अक्षणिक पदार्थ का 'अक्रम' से अर्थक्रियाकारी नहीं होना)

नाप्यक्रमेण घटते। विकल्पासहत्वात्। तथाहि–युगपत्सकलकार्यकरणसमर्थः स्वभावस्तदुत्तरकालमनुवर्तते न वा ? प्रथमे तत्कालवत्कालान्तरेऽपि तावत्कार्यकरणमापतेत्। द्वितीये स्थायित्ववृत्त्याशा मूषिकभक्षितबीजादौ अङ्कुरादिजननप्रार्थनामनुहरेत्।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से माधवाचार्य ने अक्षणिक पदार्थ के अक्रम अर्थात् एक साथ कार्य उत्पन्न करने से अर्थक्रियाकारी न होने पर विचार किया है।

हिन्दी अनुवाद – अक्रम अर्थात् एक साथ उत्पन्न होने के नियम के अनुसार अक्षणिक अर्थात् स्थायी पदार्थ का अर्थक्रियाकारी होना सिद्ध नहीं हो पाता। सिद्ध न होने का कारण यह है कि एक साथ उत्पन्न होना विकल्प के नियम को सहन नहीं कर पाता। जैसे कि एक साथ सभी कार्य करने में समर्थ स्वभाव कार्य को उत्पन्न करने के बाद भी सुरक्षित रहता है अथवा नहीं रहता है। पहला विकल्प स्वीकार करने पर स्वभाव समय में जितना कार्य करता है, उतना ही कार्य उसके बाद के अन्य समय में भी करने में समर्थ होगा। दूसरा विकल्प स्वीकार करने पर स्वभाव के स्थायी होने की आशा चूहे के द्वारा खाये गये बीजों से अंकुर उत्पन्न करने की प्रार्थना के समान हो जाता है।

NOTES

(13. क. असामर्थ्य-साधक प्रसंग और उसका विपर्यय)

यद्विरुद्धधर्माध्यस्तं तन्नाना, यथा शीतोष्णो। विरुद्धधर्माध्यस्तश्चायमिति जलधरे प्रतिबन्धसिद्धिः। न चायमसिद्धो हेतुः। स्थायिनि कालभेदेन सामर्थ्यासामर्थ्ययोः प्रसङ्गतद्विपर्ययसिद्धत्वात्। तत्रासामर्थ्यसाधकौ प्रसङ्गतद्विपर्ययौ प्रागुक्तौ।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के भाग 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के द्वारा माधवाचार्य जी ने असामर्थ्य के साधक प्रसंग और उसके विरोध का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – जिन वस्तुओं के ऊपर दो विरुद्ध धर्मों का आरोप किया जाता है, वे वस्तुएँ अनेक प्रकार की हैं, एक प्रकार की नहीं हैं। उनमें आपस में भिन्नता, जैसे- ठण्डा और गर्म। यह स्वभाव परस्पर विरोध ी धर्मों का आरोप है। इस प्रकार बादल में प्रतिबन्ध अर्थात् व्याप्ति की सिद्धि हो जाती है। यहाँ पर यह हेतु अर्थात् विरोधी धर्म का आरोप होना असिद्ध नहीं है। इसका कारण यह है कि बीज आदि स्थायी पदार्थ में काल के भेद के कारण सामर्थ्य और असामर्थ्य दोनों का प्रसंग है। इससे प्रसंग और उसका विपर्यय अर्थात् अप्रसंग दोनों सिद्ध होना कारण है। इस विषय में असामर्थ्य के साधक प्रसंग और उसका विपर्यय अर्थात् विरोध दोनों पहले ही कहे जा चुके हैं।

(13. ख. सामर्थ्य-साधक प्रसंग और तद्विपर्यय)

सामर्थ्यसाधकावभिधीयते। यद्यदा यज्जननासमर्थं तत्तदा तन्न करोति यथा शिलाशकलमङ्कुरम् असमर्थश्चायं वर्तमानार्थक्रियाकरणकालेऽतीतानागतयोरर्थक्रिययोरिति प्रसङ्गः। यद्यदा यत्करोति तत्तदा तत्र समर्थं यथा सामग्री स्वकार्ये। करोति चायमतीतानागतकाले तत्कालवर्तिन्यावर्थक्रिये भाव इति प्रसङ्गव्यत्ययो विपर्ययः।

प्रसंग– यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के माध्यम से सामर्थ्य के साधक प्रसंगानुमान और उसके विरोध का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – अब सामर्थ्य के दो साधक प्रसंगानुमान और उसका विरोध कहे जा रहे हैं। जिस समय में जो पदार्थ जिस किसी दूसरे पदार्थ को जन्म देने में अर्थात् उत्पन्न करने में असमर्थ है, वह उस समय में उस कार्य को नहीं करता है। जिस प्रकार शिला का टुकड़ा अंकुर को जन्म देने में अर्थात् उत्पन्न करने में असमर्थ है, यह भाव अर्थात् बीज आदि का होना वर्तमान काल की अर्थक्रिया करने के समय भूतकाल और भविष्यत् काल की क्रियाओं को करने में असमर्थ होगा, इस प्रकार प्रसंगानुमान अर्थात् प्रसंग नाम का अनुमान हुआ। जो जिस समय में जो करता है, वह उस समय उस कार्य को करने में समर्थ होता है। जैसे सामग्री अर्थात् कारणों को पूरा समूह अपना कार्य करने में समर्थ है। यह भाव भूतकाल और भविष्यत्काल में अर्थात् इन कालों में होने वाली अर्थक्रियाओं को उत्पन्न करता है, इसलिए वह उन्हें करने में समर्थ है। इस प्रकार यह प्रसंगानुमान उल्लंघन करने वाला अर्थात् उसका विरोधी है।

(14. निष्कर्ष-क्षणिकवाद की स्थापना)

तस्माद्विपक्षे क्रमयौगपद्यव्यावृत्त्या, व्यापकानुपलम्भेन अधिगतव्यतिरेकव्याप्तिक, प्रसङ्गतद्विपर्ययबलाद् गृहीतान्वयव्याप्तिकं च सत्त्वं क्षणिकत्वपक्ष एव व्यवस्थास्यतीति सिद्धम्। तदुक्तं ज्ञानश्रिया-

प्रसंग–यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य जी ने इस गद्यांश के द्वारा बौद्ध दर्शन के क्षणिकत्व अथवा क्षणिकवाद को सिद्ध किया है।

हिन्दी अनुवाद – इस कारण से विपक्ष में अर्थात् अक्षणिकत्व या पदार्थों के स्थायी होने में क्रम और योगपद्य अर्थात् अक्रम दोनों की व्यावृत्ति असिद्ध हो जाने से व्यापक की असिद्धि प्राप्त होती है। प्रसंगानुमान और उसके विरोध के बल से सत्व में अन्वय व्याप्ति का ग्रहण होता है। इससे सत्व क्षणिक होने के पक्ष में ही व्यवस्थित होती है, यह सिद्ध हो गया। यही कहा है ज्ञानश्री नाम के विद्वान ने।

5. यत्सत्तत्क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा।
नाप्येकैव विधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेद्
द्वैधापि क्षणभङ्गसङ्गतिरतः साध्ये च विश्राम्यति॥

प्रसंग – यह शार्दूलविक्रीडित छन्द माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने ज्ञानश्री आचार्य के इस शार्दूलविक्रीडित छन्द के द्वारा बौद्ध दर्शन के क्षणिकत्व सिद्धान्त का समर्थन किया है।

हिन्दी अनुवाद – जिसकी सत्ता है, वह क्षणिक है, क्षणभंगुर है। जैसे जलधर अर्थात् बादल। ये सत्ता सम्पन्न अर्थात् सत्ता वाले भाव अर्थात् घट, पट आदि वस्तुएँ भी क्षणिक हैं। अर्थ कर्म अर्थात् सार्थक क्रियाओं की जो शक्ति है अर्थात् उत्पन्न करने की सामर्थ्य है, वही सत्ता है। यही इसमें प्रमाण है। यह सत्ता सिद्ध अर्थात् नित्य पदार्थ में स्थिर नहीं है। इसका अर्थात् क्षणिक पदार्थ से कार्य के उत्पन्न होने का एक ही ढंग नहीं है। अन्यथा दूसरे के द्वारा अन्य की क्रिया उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार क्रम और अक्रम दोनों रीतियों से क्षण में पदार्थों के भंग अर्थात् नष्ट होने की सिद्धि होती है तथा अन्त में हमारे साध्य अर्थात् सब कुछ क्षणभंगुर हैं, इसको भी सिद्ध करती है।

(15. सामान्य का खण्डन)

न च कणभक्षाक्षचरणादिपक्षकक्षीकरणे सत्तासामान्ययोगित्वमेव सत्त्वमिति मन्तव्यम्। सामान्यविशेष समवायानामसत्त्वप्रसङ्गात्।

न च तत्र स्वरूपसत्तानिबन्धनः सद्व्यवहारः। प्रयोजकगौरवापत्तेः। अनुगतत्वाननुगतत्व-विकल्पपराहतेश्च। सर्षपमहीधरादिषु विलक्षणेषु क्षणेष्वनुगतस्याकारस्य मणिषु सूत्रवद्, भूतगणेषु गुणवच्चाप्रतिभासनाच्च।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के द्वारा माधवाचार्य ने सामान्य का खण्डन किया है।

हिन्दी अनुवाद – कणों अर्थात् दानों को एकत्र करके खाने वाले कणाद और चरणों में आँखों वाले गौतम आदि दार्शनिकों के पक्षों को स्वीकार करने वालों को यह नहीं मान लेना चाहिए कि सत्ता की सामान्य दशा में भाग लेना अर्थात् योगदान करना ही सत्ता है। अगर ऐसा नहीं मानेंगे तो सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थों की भी सत्ता न रहने का भय उत्पन्न हो जायेगा।

वहाँ पर अर्थात् सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थों पर सत्ता का आरोप करना अपने रूप की सत्ता पर निर्भर करता है, ऐसा भी नहीं कह सकते। ऐसा करने से बहुत से प्रयोजकों अर्थात् स्वरूप सत्ताओं की

NOTES

आवश्यकता होगी, ऐसा करना बहुत कठिन होगा। सामान्य की सत्ता को अर्थात् अनेक में एक की उपस्थिति और अनुपस्थिति सम्बन्धी विकल्पों की द्विविधा अर्थात् परेशानियों में डालकर असिद्ध किया जा सकता है। सरसों और पर्वत जैसे परस्पर भिन्न पदार्थों में रहने वाले आकार की एकता को मणियों में धागे के समान छिपा हुआ मानना अथवा पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि पदार्थों में भी रूप-रस आदि के समान कोई भी आकार प्रतीत नहीं होता, प्रत्यक्ष रूप में देखा नहीं जाने के कारण।

किं च सामान्यं सर्वगतं स्वाश्रयसर्वगतं वा ? प्रथमे सर्ववस्तुसङ्कप्रसङ्गः। अपसिद्धान्तापत्तिश्च। यतः प्रोक्तं प्रशस्तपादेन– 'स्वविषयसर्वगतमिति'।

किं च विद्यमाने घटे वर्तमानं सामान्यमन्यत्र जायमानेन सम्बध्यमानं तस्मादागच्छत्सम्बध्यते अनागच्छद्वा ? आद्ये द्रव्यत्वापत्तिः। द्वितीये सम्बन्धानुपपत्तिः।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के माध्यम से सामान्य की अनेक स्थितियाँ बताकर सामान्य का खण्डन किया है।

हिन्दी अनुवाद – सामान्य सभी में व्याप्त है अथवा अपने आश्रय में पूरी तरह व्याप्त है। यदि पहला विकल्प स्वीकार किया जाता है तो सभी वस्तुओं के आपस में मिलने का दोष उपस्थित होगा और आपका विरोधी सिद्धान्त आकर उपस्थित हो जायेगा, क्योंकि वैशेषिक सूत्र भाष्य के रचनाकार प्रशस्तपाद ने कहा है– "सामान्य अपने विषयों अथवा आश्रयों में सभी स्थानों पर विद्यमान है।"

यदि दूसरा विकल्प स्वीकार करते हैं कि सामान्य केवल आश्रय में ही पूर्ण रूप से अथवा सर्वतोभाव से विद्यमान है तो स्पष्ट करें कि पहले से उपस्थित घड़े में रहने वाला सामान्य दूसरे स्थान पर उत्पन्न होने वाले घड़े से सम्बन्धित कर दिये जाने पर पहले घड़े से निकलकर आता और दूसरे घड़े से सम्बन्धित बन जाता है अथवा पहले घड़े से बिना निकले ही दूसरे घड़े से सम्बन्धित होता है। अगर पहला विकल्प स्वीकार करते हैं तो सामान्य को द्रव्य कहे जाने का दोष होता है। यदि दूसरा विकल्प मानें कि सामान्य पहले घड़े से निकले बिना ही दूसरे घड़े से सम्बन्धित हो जाता है तो यह सम्बन्ध न बनने का दोष प्रस्तुत होगा।

किं च विनष्टे घटे सामान्यमवतिष्ठते, विनश्यति, स्थानान्तरं गच्छति वा ? प्रथमे निराधारत्वापत्तिः। द्वितीये नित्यत्ववाचोयुक्त्ययुक्तिः। तृतीये द्रव्यत्वप्रसक्तिः– इत्यादि दूषणग्रहग्रस्तत्वात्सामान्यमप्रामाणिकम्। तदुक्तम् –

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के माध्यम से सामान्य के आश्रय घड़े के नष्ट हो जाने पर उसके रहने के तीन विकल्प प्रस्तुत करके तीनों में दोष उपस्थित किया है। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों के मत को प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अनुवाद – और क्या घड़े के नष्ट हो जाने पर सामान्य घड़े में ही स्थित रहता है, नष्ट हो जाता है अथवा दूसरे स्थान पर चला जाता है। पहला विकल्प स्वीकार करने पर सामान्य के निराधार होने का दोष होता है। अगर दूसरा विकल्प स्वीकार करते हैं कि सामान्य नष्ट हो जाता है तो सामान्य को नित्य मानने का वचन अयुक्त अर्थात् असत्य हो जायेगा। यदि तीसरा विकल्प स्वीकार करते हैं तो सामान्य के द्रव्य बनने का दोष उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार के दोषों के समूह से ग्रसित होने के कारण सामान्य अप्रामाणिक हो जायेगा। यही कहा है।

6. अन्यत्र वर्तमानस्य ततोऽन्यस्थानजन्मनि।
तस्मादचलतः स्थानाद् वृत्तिरित्यतियुक्तता।

प्रसंग – यह श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस श्लोक के माध्यम से माधवाचार्य ने बौद्ध दार्शनिकों के सामान्य का खण्डन प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अनुवाद – सामान्य दूसरी जगह अर्थात् एक घट में वर्तमान है। उस घट से भिन्न अर्थात् अलग स्थान में घट उत्पन्न होता है। पहले स्थान वाले घट के सामान्य अर्थात् घटत्व का वहाँ तक जाना बहुत अत्युक्ति है, क्योंकि सामान्य तो अचल है।

7. यत्रासौ वर्तते भावस्तेन सम्बध्यते न तु।
तद्देशिनं च व्याप्नोति किमप्येतन्महाद्भुतम्॥

प्रसंग – यह श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस श्लोक के माध्यम से वैशेषिक और न्याय दर्शनों द्वारा मान्य सामान्य का बौद्ध दार्शनिकों द्वारा खण्डन प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अनुवाद – जिस स्थान पर यह भाव अर्थात् घट है, उस स्थान से तो इस सामान्य का अर्थात् घटत्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। उस स्थान पर रहने वाले घट को व्याप्त करता है। यह क्या एक महान् आश्चर्य नहीं है ? अद्भुत बात नहीं है।

8. न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥ इति ॥

प्रसंग – यह श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस श्लोक के माध्यम से माधवाचार्य जी ने बौद्ध दार्शनिकों की सामान्य सम्बन्धी मान्यता का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – सामान्य न तो जाता है, न वह वहाँ पर था और न उस स्थान पर अंशों वाला अर्थात् टुकड़ों वाला होकर रहता है। वह अपने पहले आधार को भी नहीं छोड़ता है। सामान्य के सम्बन्ध में कठिनाइयों की विचित्र परम्परा है। तात्पर्य यह है कि बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं।

अनुवृत्तप्रत्ययः किमालम्बन इति चेत् – अङ्ग, अन्यापोहालम्बन एवेति सन्तोष्टव्यमायुष्मता, इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से माधवाचार्य जी ने बौद्ध दार्शनिकों की सामान्य सम्बन्धी मान्यता प्रस्तुत की है।

हिन्दी अनुवाद – यवि आप यह प्रश्न करें कि एक की सत्ता अर्थात् होना अनेक में है, यह विश्वास किस पर आधारित है तो हमारे द्वारा यह उत्तर होगा कि हे मित्र ! आप अधिक आयु वाले हों तथा यह सन्तोष करें कि दूसरे पदार्थ के अपोह अर्थात् उससे भिन्न-भिन्न पर ही आधारित है। अब इस प्रसंग को अर्थात् सामान्य सम्बन्धी विवाद को अधिक विस्तार देना बेकार है।

(16. दुःख और स्वलक्षण की भावनाएँ)

सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थङ्करसम्मतम्। अन्यथा तन्निविवृत्सूनां तेषां तन्निवृत्युपाये प्रवृत्यनुपपत्तेः। तस्मात्सर्वं दुःखं दुःखमिति भावनीयम्।

ननु किंवदिति पृष्टे दृष्टान्तः कथनीय इति चेत्–मैवम्। स्वलक्षणानां क्षणानां क्षणिकतया सालक्षण्याभावादेतेन सदृशमपरमिति वक्तुमशक्यत्वात्। ततः स्वलक्षणं स्वलक्षणमिति भावनीयम्।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के द्वारा बौद्ध दार्शनिकों की दुःख और स्वलक्षण सम्बन्धी भावनाओं को प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अनुवाद – पूरे संसार को दुःखात्मक अर्थात् दुःखपूर्ण समझना यह आस्तिक और नास्तिक दोनों दर्शनों के शास्त्रों की रचना करने वालों के द्वारा माना गया है। अगर ऐसा नहीं होता तो उस दुःख को दूर करने के इच्छुक उनकी उस दुःख को दूर करने के उपाय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी। इसलिए सभी दुःख है, दुःख है, ऐसी भावना बनानी चाहिए।

यदि यह पूछा जाये कि यह दुःखपूर्ण होना किसके समान है ? इसका कोई उदाहरण कहना चाहिए। तब हम अर्थात् बौद्ध दार्शनिक इस प्रकार उत्तर देंगे- ऐसी बात नहीं है। सभी पदार्थ अपने-अपने लक्षण वाले हैं और सभी क्षणिक हैं अर्थात् क्षणभंगुर हैं। किसी सामान्य लक्षण अथवा समान लक्षण के अभाव में अर्थात् सामान्य लक्षण न होने पर यह कहना सम्भव नहीं हो सकता कि इसके समान वह दूसरा है। इसलिए स्वलक्षण स्वलक्षण है अर्थात् अपना लक्षण है, अपना लक्षण है, ऐसी भावना सभी दार्शनिकों को करनी चाहिए।

(17. शून्य की भावना-माध्यमिक-सम्प्रदाय)

एवं शून्यं शून्यमित्यपि भावनीयम्। स्वप्ने जागरणे च न मया दृष्टमिदं रजतादीति विशिष्टनिषेध स्योपलम्भात्! यदि दृष्टं सत्तदा तिद्विशिष्टस्य दर्शनस्येदन्ताया अधिष्ठानस्य च तस्मिन्नध्यस्तस्य रजतत्वादेस्तत्संबन्धस्य च समवायादेः सत्त्वं स्यात्। न चैतदिष्टं कस्यचिद्वादिनः। न चार्धजरतीयमुचितम्। न हि कुक्कुट्या एको भागः पाकायापरो भागः प्रसवाय कल्प्यतामिति कल्प्यते।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से माधवाचार्यजी ने बौद्ध दर्शन की शून्य की भावना का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – इसी प्रकार 'सब कुछ शून्य है, शून्य है' यह भावना भी करनी चाहिए। स्वप्न देखने की दशा में और जागने की दशा में भी मैंने रजत अर्थात् चाँदी आदि को नहीं देखा, इससे एक विशेष प्रकार के निषेध की प्राप्ति हो जाने के कारण। जो कुछ दिखाई दे, वह अगर सत् हो तो उससे सम्बन्धित देखने की इस रूप में उसके आधार की जैसे सीप की। उस पर आरोप किये गये, रजतत्त्व आदि की और उन दोनों की अर्थात् रजत और सीप, सीप के समय अर्थात् नित्य सम्बन्ध की सत्ता हो जायेगी अर्थात् नित्य सम्बन्ध भी बन जायेगा। किन्तु यह किसी भी वादी अर्थात् विपक्षी या विरोधी शास्त्रार्थी को इष्ट नहीं है। इसे कोई भी नहीं चाहता। यह भी नहीं हो सकता कि मुर्गी का एक भाग यह अर्धजरतीय सत्ता अर्थात् आधे में एक और आध में दूसरी सत्ता भी ठीक नहीं है, उचित नहीं है। मुर्गी का एक भाग पचाने के लिए है और दूसरा प्रजजन अर्थात् अण्डा देने के लिए छोड़ दें, ऐसी कल्पना करना भी सम्भव नहीं है।

तस्मादध्यस्ताधिष्ठान-सत्सम्बन्ध-दर्शन-दृष्टृणां मध्य एकस्यानेकस्य वा असत्वे निषेधविषयत्वेन सर्वस्यासत्त्वं बलादापतेदिति भगवतोपदिष्टे 'माध्यमिकाः' तावदुत्तमप्रज्ञा इत्थमचीकथन्-भिक्षुपादप्रसारणन्यायेन, क्षणभङ्गाद्यभिधनमुखेन, स्थायित्वानुकूलवेदनीयत्वानुगतत्वसर्वसत्यत्वभ्रमव्यावर्तनेन सर्वशून्यतायामेव पर्यवसानम्। अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मकचतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दशर्नम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के द्वारा बौद्ध धर्म के माध्यमिक सम्प्रदाय की 'शून्यत्व' की भावना की सिद्धि का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – इसलिए आरोपित वस्तु अर्थात् रजत होने का अधिष्ठान अर्थात् सीपी, इन दोनों का सम्बन्ध, देखने की क्रिया और देखने वालों के बीच में एक के अथवा अनेक के अर्थात् एक से अधिक के असत् अर्थात् शून्य या सत्ताविहीन होने से, निषेध का विज्ञय होने से सभी की असत्ता बलपूर्वक आ जाती है। भगवान बुद्ध के द्वारा इस प्रकार का उपदेश करने पर श्रेष्ठ बुद्धि वाले माध्यमिकों ने इस प्रकार कहा–"भिक्षुओं के पैर फैलाने के समान अर्थात् धीमी चाल से 'क्षणभंग' इत्यादि शब्दों के कहने से तथा स्थायित्व, अनुकूल वेदना अर्थात् अनुभव होना, सामान्य का उपस्थित होना, सब सत्व होना, इन भ्रमों को हटाने का यही अभिप्राय है कि सब कुछ शून्य है। इसलिए दर्शन का मूल पदार्थ अर्थात् तत्व शून्य ही है। यह शून्यत्व अर्थात् शून्य होने का भाव चार कोटियों अर्थात् दशाओं से अत्यधिक अर्थात् सभी प्रकार रहित है- (क) सत्, (ख) असत्, (ग) उभयात्मक अर्थात् सत् और असत् दोनों, (घ) अनुभयात्मक अर्थात् सत् और असत् दोनों नहीं।

तथा हि–यदि घटादेः सत्त्वं स्वभावस्तर्हि कारकव्यापारवैयर्थ्यम्।
असत्वं स्वभाव इति पक्षे प्राचीन एव दोषः प्रादुःष्यात्। यथोक्तम्।

9. न सतः कारणापेक्षा व्योमादेरिव युज्यते।
कार्यस्यासम्भवी हेतुः खपुष्पादेरिवासतः ॥ इति ।

प्रसंग – यह गद्यांश और श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित। 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। इस गद्यांश और श्लोक के माध्यम से माधवाचार्य ने बौद्ध दार्शनिकों के सम्प्रदाय 'माध्यमिक' की शून्यवाद की मान्यता प्रस्तुत की है।

हिन्दी अनुवाद – और इस प्रकार यदि घट आदि का स्वभाव सत् होना है तो उन घट आदि को बनाने वाले की चेष्टाएँ अर्थात् क्रियाएँ व्यर्थ हो जायेंगी। यदि यह पक्ष स्वीकार किया जाये कि घट आदि का स्वभाव असत् होना है, तब वही पुराना ही दोष इसे दूषित कर देगा। जैसा कि कहा है–

आकाश आदि के समान सत् वस्तु को किसी कारण की आवश्यकता होना उचित नहीं जान पड़ती। आकाश कुसुम के समान जो कार्य असत् है, उसका कारण भी असम्भव है। ऐसा।

विरोधादितरौ पक्षावनुपपन्नौ। तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे –

10. बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च दर्शिताः ॥ इति।

प्रसंग – यह गद्यांश और श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। माधवाचार्य ने इस गद्यांश और श्लोक के माध्यम से बौद्ध धर्म के माध्यमिक सम्प्रदाय द्वारा मान्य शून्यवाद का वर्णन किया है।

NOTES

हिन्दी अनुवाद – विरोध के कारण अन्य दो पक्ष अर्थात् सत् और असत् दोनों होना, सत् और असत् दोनों न होना, आपस में विरोधी होने के कारण असिद्ध हो जाते हैं। ऐसा ही कहा है भगवान बुद्ध ने 'लंकावतार' नामक ग्रन्थ में।

श्लोक का अनुवाद – बुद्धि के द्वारा विवेचित किये गये पदार्थों के स्वभाव का निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिए वे पदार्थ अनिर्वचनीय तथा स्वभावहीन दिखलाये गये हैं। ऐसा।

11. इदं वस्तु बलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा।। इति च।

न क्वचिदपि पक्षे व्यवतिष्ठत इत्यर्थः।

प्रसंग – यह श्लोक और गद्य वाक्य माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। इस श्लोक और गद्य वाक्य के माध्यम से माधवाचार्य ने बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय माध्यमिक के शून्यवाद के सिद्धान्त का परिचय दिया है।

हिन्दी अनुवाद – विद्वान लोग ऐसा कहते हैं कि जो वस्तुएँ अथवा पदार्थ बल से आये हैं अर्थात् बल से उत्पन्न हुए हैं, जैसे-जैसे उन वस्तुओं अथवा पदार्थों का विवेचन किया जाता है, वैसे-वैसे वे नष्ट हो जाते हैं।

इसका अर्थ यह है कि वे पदार्थ किसी भी पक्ष में, किसी भी कोटि में व्यवस्थित नहीं किये जा सकते।

दृष्टार्थव्यवहारश्च स्वप्नव्यवहारवत्संवृत्या संगच्छते। अत एवोक्तम् –

12. परिव्राट्-कामुक-शुनामेकस्यां प्रमदातनौ।
कुणपः कामिनी भक्ष्य इति तिस्रो विकल्पनाः ।। इति।

तदेवं भावनाचतुष्टयवशान्निखिलवासनानिवृत्तौ परनिर्वाणं शून्यरूपं सेत्स्यतीति वयं कृतार्थाः, नास्माकमुपदेश्यं किंचिदस्तीति।

प्रसंग – ये दो गद्यांश और एक श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। माधवाचार्य ने इन दो गद्यांशों और एक श्लोक के माध्यम से बौद्ध धर्म के माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्यों की मान्यता प्रस्तुत की है।

हिन्दी अनुवाद – देखी जाने वाली वस्तुओं अथवा पदार्थों का व्यवहार स्वप्न के व्यवहार के समान कल्पना अथवा अविद्या से चलता है। इसलिए कहा है –

श्लोक का अनुवाद – एक नारी के एक ही शरीर में संन्यासी, कामुक पुरुष और कुत्ते की तीन अलग-अलग कल्पनाएँ-अस्थिपंजर, कामवासना का साधन और खाने योग्य मांस होती हैं। ऐसा।

इसीलिए इसी प्रकार क्षणिक, दुःख, स्वलक्षण और शून्य इन चार भावनाओं के कारण पूरी वासनाओं की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् सभी वासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं। उनकी निवृत्ति अर्थात् समाप्ति पर शून्य रूपी परम निर्वाण प्राप्त हो जायेगा। इस प्रकार हम कृतार्थ हो गये, हमारा काम समाप्त हो गया। अब हमारे लिए कुछ भी उपदेश नहीं है, अब हमें किसी भी उपदेश की आवश्यकता नहीं है।

शिष्यैस्तावद्योगश्चाचारश्चेति द्वयं करणीयम् तत्राप्राप्तस्यार्थस्य प्राप्तये पर्यनुयोगो योगः। गुरूक्तस्यार्थस्याङ्गीकरणमाचारः। गुरूक्तस्याङ्गीकरणादुत्तमाः, पर्यनुयोगस्याकरणादधमाश्च। अतस्तेषां माध्यमिका इति प्रसिद्धिः।।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश में बौद्धों के एक वर्ग का अथवा बौद्ध धर्म के एक सम्प्रदाय का नाम माध्यमिक पड़ने का कारण बताया है।

हिन्दी अनुवाद – शिष्यों के द्वारा तो योग और आचार - ये दो कार्य किये जाने चाहिए। इनमें अप्राप्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रश्न करना योग है। गुरु के द्वारा कही हुई बातों को स्वीकार करना आचार है। गुरु द्वारा कही हुई बातों को स्वीकार करने के कारण बौद्ध उत्तम हैं। प्रश्न न करने के कारण बौद्ध अधम भी हैं। इसीलिए इनकी माध्यमिक के रूप में विशेष ख्याति है।

(18. योगाचार-मत-विज्ञानवाद)

गुरूक्तं भावनाचतुष्टयं बाह्यार्थस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृत्यान्तरस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृतं कथमिति पर्यनुयोगस्य करणात् केषाञ्चिद्योगाचारप्रथा। एषा हि तेषां परिभाषा – स्वसंवेदनं तावदङ्गीकार्यम्। अन्यथा जगदान्ध्यं प्रसज्येत। तत्कीर्तितं धर्मकीर्तिना–

अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति। इति।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के माध्यम से बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय योगाचार का परिचय दिया है।

हिन्दी अनुवाद – आध्यात्मिक गुरुओं द्वारा कही गयी चारों भावनाओं तथा बाहरी पदार्थ की शून्यता को स्वीकार करके पुनः यह प्रश्न करते हैं कि चित्त आदि आन्तरिक पदार्थों की शून्यता को क्यों स्वीकार करते हैं। निश्चित रूप से उनकी यह परिभाषा है कि कम से कम स्वसंवेदन अर्थात् अपना ज्ञान तो स्वीकार करें ही, अन्यथा इसके न होने पर ऐसी स्थिति उपस्थित हो जायेगी कि पूरे संसार को अंधा मानना पड़ सकता है। ऐसा ही कहा है धर्मकीर्ति ने –

प्रत्यक्ष को भी न मानने वाले पदार्थों के प्रति दृष्टि भी ठीक नहीं रहती। ऐसा।

(19. बाह्य पदार्थ का खण्डन)

बाह्यं ग्राह्यं नोपपद्यते एव। विकल्पानुपपत्तेः। अर्थो ज्ञानग्राह्यो भवन्नुत्पन्नो भवति अनुत्पन्नो वा ? न पूर्वः, उत्पन्नस्य स्थित्यभावात्। नापरः, अनुत्पन्नस्यासत्त्वात्। अथ मन्येथाः–'अतीत एवार्थो ज्ञानग्राह्यस्तज्जनकत्वादिति' तदपि बालभाषितम्। वर्तमानतावभासविरोधात्। इन्द्रियादेरपि ज्ञानजनकत्वेन ग्राह्यत्वप्रसंगाच्च।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के द्वारा बौद्ध दार्शनिकों द्वारा ग्राह्य पदार्थ के खण्डन को प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अनुवाद – बाह्य पदार्थ ग्राह्य के रूप में सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इसके सम्बन्ध में दिये गये दोनों विकल्पों के असिद्ध होने के कारण। तात्पर्य यह है कि इसके जो दो विकल्प दिये गये हैं, वे सिद्ध नहीं होते। घटादि पदार्थ ज्ञान के द्वारा ग्राह्य उत्पन्न हुआ होता है अथवा बिना उत्पन्न हुआ ? पहला विकल्प उचित नहीं है, क्योंकि उत्पन्न की स्थिति का अभाव हो जाता है। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होता है, उसकी सत्ता नहीं होती। यदि आप मानते हैं कि भूतकाल का पदार्थ ही ज्ञान के

NOTES

द्वारा ग्राह्य हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञान का जनक है, जन्म देने वाला है। आपका यह कथन मूर्ख की बात है। ऐसा मानने पर वस्तुओं की वर्तमान काल में प्रतीति का विरोध हो जायेगा। इन्द्रियों आदि के भी ज्ञानजनक होने के कारण पदार्थ के रूप ग्राह्य होने की स्थिति बन जायेगी, इन्द्रियाँ आदि भी ज्ञान को उत्पन्न करने वाली बन जायेंगी।

किं च, ग्राह्यः किं परमाणुरूपोऽर्थोऽवयविरूपो वा। न चरमः कृत्स्नैकदेशविकल्पादिना तन्निराकरणात्। न प्रथमः अतीन्द्रियत्वात्। षट्केन युगपद्योगस्य बाधकत्वाच्च। यथोक्तम् –

13. षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता।
तेषामप्येकदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥ इति।

प्रसंग – यह गद्यांश और श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। माधवाचार्य ने इस गद्यांश और श्लोक के माध्यम से यह बताया है कि पदार्थ घट आदि परमाणु रूप और सम्पूर्ण रूप- दोनों में ही ग्रहण नहीं किया जा सकता, जाना नहीं जा सकता।

हिन्दी अनुवाद – और क्या ग्राह्य अर्थ अर्थात् ग्रहण करने योग्य पदार्थ परमाणु रूप में है अथवा अवयव अर्थात् अंग-प्रत्यंग से युक्त शरीरी के रूप में। इनमें दूसरा विकल्प उचित नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण अथवा एक भाग में ग्राह्य है, यह विकल्प होने पर उसका विरोध हो जाने के कारण। पहला विकल्प भी उचित नहीं है, अतीन्द्रिय होने के कारण तथा छः दिशाओं से एक साथ संयोग बाधक हो जाने के कारण ऐसा ही कहा है।

श्लोक का अनुवाद – छः दिशाओं के साथ एक साथ अर्थात् समान काल वाला या संयोग होने से परमाणु के छः भाग सिद्ध हो जाते हैं। यदि परमाणु के एक-एक भाग को लिया जाये तो अणुमात्र पिण्ड हो जायेगा। ऐसा।

(20. बुद्धि का स्वयं प्रकाशित होना)

तस्मात्स्वव्यतिरिक्तग्राह्यविरहात्तदात्मिका बुद्धिः स्वयमेव स्वात्मरूप-प्रकाशिका प्रकाशवदिति सिद्धम्। तदुक्तम्–

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से माधवाचार्य ने बौद्ध दार्शनिकों द्वारा बुद्धि के स्वयं प्रकाशित होने का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – अपने अतिरिक्त किसी अन्य ग्राह्य को ग्रहण न करने के कारण, उन विषयों के स्वरूप में रहने वाली वह बुद्धि अपने आप ही अपने आपको स्वयं प्रकाशित करने वाली, जिस प्रकार प्रकाश अपने आपको प्रकाशित करता है, ऐसा सिद्ध हो गया।

14. नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते॥ इति।

प्रसंग – यह श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्यजी ने इस श्लोक के द्वारा बौद्ध दार्शनिकों द्वारा मान्य बुद्धि के स्वयं प्रकाशित होने का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – बुद्धि के द्वारा ग्राह्य अर्थात् करने योग्य दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि किसी दूसरे पदार्थ को विषय नहीं बनाती। बुद्धि से बढ़कर कोई भी अनुभव नहीं है। बुद्धि के अतिरिक्त न कोई ग्रहण करने योग्य है और न ग्रहण करने वाला है। इसलिए बुद्धि अपने आपको प्रकाशित करती है।

ग्राह्यग्राहकयोरभेदश्चानुमातव्यः। यद्वेद्यते येन वेदनेन, तत्ततो न भिद्यते यथा ज्ञानेनात्मा। वेद्यन्ते तैश्च नीलादयः।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य जी ने इस गद्यांश के द्वारा जानने योग्य और जानने वाले की एकता पर प्रकाश डाला है।

हिन्दी अनुवाद – ग्रहण करने योग्य और ग्रहण करने वाले का अनुमान अभेद जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ज्ञेय और ज्ञाता में अभेद है, दोनों एक हैं। जिसे जिस ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, वह उससे भिन्न नहीं है। ज्ञान जानी हुई वस्तु से उसी प्रकार भिन्न नहीं, जिस प्रकार ज्ञान से आत्मा भिन्न नहीं है। उन ज्ञानों के द्वारा नील आदि पदार्थों को जाना जाता है।

भेदे हि सति अधुना अनेनार्थस्य सम्बन्धित्वं न स्यात्, तादात्म्यस्य नियमहेतोरभावात्। तदुत्पत्तेरनियामकत्वात्। यश्चायं ग्राह्यग्राहकसंवित्तीनां पृथगवभासः स एकस्मिंनश्चन्द्रमसि द्वित्वावभास इव भ्रमः। अत्राप्यनादिरविच्छिन्नप्रवाहा भेदवासनैव निमित्तम्। यथोक्तम्-

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के माध्यम से ज्ञेय और ज्ञान में भेद मानने पर होने वाली विकृति का वर्णन बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार किया है।

हिन्दी अनुवाद – यदि ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य विषय और जानने वाले ज्ञान में भिन्नता होने पर, भेद स्वीकार किया जाने पर इस समय ज्ञान के साथ ज्ञात की गयी वस्तु, ज्ञात किये गये पदार्थ का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा, सम्बन्ध समाप्त हो जायेगा। इसका कारण सम्बन्ध का नियम बतलाने वाले तादात्म्य का अभाव हो जायेगा, तादात्म्य अर्थात् एकरूपता बताने वाला हेतु नहीं रहेगा। तदुत्पत्ति अर्थात् कार्य-कारण भाव भी इस सम्बन्ध का नियमन नहीं कर सकता। कार्य और कारण का भाव भी इस सम्बन्ध को रोक नहीं सकेगा और यह जो ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य और ग्राहक अर्थात् ग्रहण करने वाले की धारणाओं अर्थात् चेतनाओं की प्रतीति का भ्रम है, वह एक चन्द्रमा में दूसरे चन्द्रमा की प्रतीति के समान ही भ्रम है। यह जो ग्राह्य और ग्राहक की संवित्तियों अर्थात् धारणाओं की अलग होने की प्रतीति है, वह भी भ्रम है। यहाँ भी भ्रम का कारण अनादि और अविच्छिन्न नित्य और न रुकने वाला प्रवाह ही है। जैसा कि कहा गया है।

**15. सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥ इति।**

प्रसंग – यह श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इसमें माधवाचार्य ने नीले रंग और उसके ज्ञान के एक साथ प्राप्त होने की दशा का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – दोनों के एक साथ प्राप्त होने के इन दोनों में नियम होने के कारण नील और उसके ज्ञान में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, भेद नहीं है। इन दोनों में भेद का कारण तो भ्रान्त अर्थात् भ्रमपूर्ण ज्ञान है। इसके कारण एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं।

NOTES

**16. अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लभ्यते।। इति च।**

प्रसंग – यह श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमांशकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस श्लोक के माध्यम से माधवाचार्य जी ने बौद्ध दर्शन की इस मान्यता को प्रस्तुत किया है कि ग्राह्य और ग्राहक अर्थात् वस्तु और ज्ञान एक हैं, अलग-अलग नहीं।

हिन्दी अनुवाद – बुद्धि आत्मा अर्थात् बुद्धि का स्वरूप एक है, उनमें विभाग नहीं है, फिर भी भ्रमपूर्ण नेत्रों के कारण ग्राह्य अर्थात ग्रहण करने योग्य वस्तु और ग्राहक अर्थात् ग्रहण करने वाले ज्ञान की चेतना के कारण इनमें भेद बना हुआ है, इन्हें अलग-अलग समझा जा रहा है।

न च रसवीर्यविपाकादि समानमाशामोदकोपार्जितमोदकानां स्यादिति वेदितव्यम्। वस्तुतो वेद्य-वेदकाकारविधुराया अपि बुद्धेः व्यवहर्तृपरिज्ञानानुरोधेन विभिन्नग्राह्यकाकाररूपवत्तया तिमिराद्युपहताक्ष्णा केशोण्डुकनाडीज्ञानभेदवत् अनाद्युपप्लववासनासामर्थ्यात् व्यवस्थोपपत्तेः पर्यनुयोगायोगात्। यथोक्तम् –

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के माध्यम से बौद्ध दर्शन के द्वारा मान्य ज्ञेय, ज्ञान और बुद्धि के विषय में व्याप्त भ्रम का निवारण किया है।

हिन्दी अनुवाद – ऐसा न समझें कि आशा के मोदक अर्थात् कल्पना के लड्डू और बनाये गये वास्तविक लड्डुओं के खाने से एक समान रस और वीर्य का विपाक होगा। वास्तव में वेद्य अर्थात् जानने योग्य वस्तु और वेदक अर्थात् जानने वाले ज्ञान के रूपों से पूरी तरह अलग बुद्धि के व्यवहार करने वालों के ज्ञान के अनुरोध से भिन्न-भिन्न आकार होने पर रतौंधी रोग आदि से दूषित आँखों के कारण आकाश में बाल, मकड़ी का जाला, नाड़ी अर्थात् धागे के भेद के समान ज्ञान के सम्बन्ध में फैली एक मिथ्या वासना अर्थात् भावना के चित्त में जमी होने के कारण होती है। इस प्रकार का प्रश्न उठाना अनुचित है। जैसा कि कहा गया है।

**17. अवेद्यवेदकाकारा यथा भ्रान्तैर्निरीक्ष्यते।
विभक्तलक्षणग्राह्यग्राहकारविप्लवा।।**

प्रसंग – यह श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य जी ने इस श्लोक के माध्यम से बौद्धों की बुद्धि के विषय में भेद मानने की विचारधारा का समर्थन प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अनुवाद – वास्तव में बुद्धि वेद्य अर्थात् जानने योग्य वस्तु और वेदक अर्थात् जानने को ज्ञान के आकार वाली नहीं है, किन्तु भ्रम की भावना से ग्रसित लोग इस बुद्धि के स्वरूप को ग्राह्य और ग्राहक के आकारों से युक्त देखते हैं।

**18. तथा कृतव्यवस्थेयं केशादिज्ञानभेदवत्।
यदा तदा न संचोद्या ग्राह्यग्राहकलक्षणा।। इति।**

प्रसंग – यह श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस श्लोक के माध्यम से माधवाचार्यजी ने बुद्धि के ग्राह्य और ग्राहक के भेदों को स्वीकार किया है।

हिन्दी अनुवाद – जिस समय आकाश में केश आदि के भेद या भिन्नतापूर्ण ज्ञान के समान वृद्धि के ग्राह्य और ग्राहक दो स्वरूपों की मान्यता की जाती है, तब यह सिद्ध हुआ कि चित्त में व्याप्त अनादि भावना के कारण बुद्धि के ये दो रूप निःसन्देह हैं। बुद्धि के दो रूपों वाली होने पर सन्देह नहीं करना चाहिए।

तस्माद् बुद्धिरेवानादिवासनावशात् अनेकाकारावभासत-इति सिद्धम्। ततश्च प्रागुक्त-भावना-प्रचय-बलात् निखिल वासनोच्छेद-विगलित-विविधविषयाकारोपप्लव-विशुद्ध-विज्ञानोदयो महोदय इति।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इसमें माधवाचार्य ने अनेक आकार स्वीकार किये हैं।

हिन्दी अनुवाद – इस कारण बुद्धि ही अनादि वासना के कारण अनेक आकारों वाली प्रतीत होती है। ऐसा सिद्ध हो गया। इसके बाद पहले बताये गये भावना के क्षीण बुद्धि वाली होने के कारण सभी वासनाओं की समाप्ति हो जाती है तथा अनेक प्रकार के विषयों के आकार का उदय हो जाता है और मिथ्या ज्ञान समाप्त हो जाता है। इस दशा में विशुद्ध ज्ञान का उदय होता है। यह महान उदय अर्थात् महती उन्नति है।

21. सौत्रान्तिक मत–बाह्यार्थानुमेयवाद

अन्ये तु मन्यन्ते–यथोक्तम् 'बाह्यं वस्तुजातं नास्तीति' तदयुक्तम्। प्रमाणाभावात्। न च सहोपलम्भनियमः प्रमाणमिति वक्तव्यम्। वेद्यवेदकयोरभेदसाधकत्वेनाभिमतस्य तस्याप्रयोजकत्वेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात्।

ननु भेदे सहोपलम्भनियमात्मकं साधनं न स्यादितिचेन्न। ज्ञानस्यान्तर्मुखतया, ज्ञेयस्य बहिर्मुखतया च भेदेन प्रतिभासमानत्वात्। एकदेशत्वैककालत्व-लक्षणसहत्व-नियमासम्भवाच्च।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दशर्नम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस गद्यांश के माध्यम से बौद्ध धर्म के सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के अनुयायी दार्शनिकों की मान्यता को प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अनुवाद – अन्य अर्थात् सौत्रान्तिक सम्प्रदाय वाले बौद्ध दार्शनिक तो मानते हैं-जो यह कहा गया है कि बाहरी वस्तुओं का समूह है ही नहीं, वह अनुचित है, युक्तिपूर्ण नहीं है। इसका कारण प्रमाण का अभाव है। यह नहीं कहा जा सकता कि साथ-साथ पाये जाने का नियम प्रमाण है। इसका कारण यह है कि वेद्य अर्थात् जानने योग्य घट आदि और वेदक अर्थात् जानने वाले ज्ञान के अभेद को सिद्ध करने वाले के रूप में माने गये सहोपलम्भ अर्थात् साथ-साथ रहने के नियम को सिद्ध करने में प्रयोजक अर्थात् कारण नहीं बन सकता, क्योंकि वह संदिग्ध विपक्ष से व्यावृत्त नहीं होता, सन्देहपूर्ण विपक्ष में न रहने के कारण। उसके अर्थात् आत्मनिष्ठ ज्ञान और बाहरी वस्तुओं में रहने वाले विषयों के एक स्थान में रहने और एक काल में रहने वाला नियम असम्भव है।

किं च नीलाद्यर्थस्य ज्ञानाकारत्वेऽहमिति प्रतिभासः स्यात्। न तु 'इदमिति' प्रतिपत्तिः। प्रत्यायाद्रव्यतिरेकात्। अथोच्यते-ज्ञानस्वरूपोऽपि नीलाकारो भ्रान्त्या बहिर्वत् भेदेन प्रतिभासत इति, न च तत्राहमुल्लेख इति। तथोक्तम्-

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य जी ने इस गद्यांश के माध्यम से जैन धर्म के सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के बाह्यार्थानुमेयवाद का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – इसके अतिरिक्त नील आदि पदार्थ यदि ज्ञान अर्थात् बुद्धि के ही स्वरूप होने पर ज्ञाता आत्मा ज्ञान के आकार में 'अहम्' अर्थात् मैं ऐसी प्रतीति होगी। यह प्रतीति बाहरी पदार्थ में 'यह है' ऐसी नहीं होगी। बाहरी पदार्थों को अपना समझेगा, अपने से भिन्न नहीं समझेगा। इसका कारण यह है कि बाहरी पदार्थ ज्ञान से भिन्न नहीं है। इस विषय में कहा जाता है- नील आदि आकार ज्ञान के अपने रूप में होने की स्थिति

में भी भ्रम के कारण भेद होने से बाहरी पदार्थ के समान प्रतीत होता है, जान पड़ता है। यही कारण है कि उसमें 'अहम्' की प्रतीति नहीं होती। ऐसा ही कहा गया है।

19. परिच्छेदान्तराद्योऽयं भागो बहिरिव स्थितः।
ज्ञानस्याभेदिनो भेदप्रतिभासोऽप्युपप्लवः॥ इति।

20. यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं तबोहिर्वदवभासते। इति च।

प्रसंग – यह श्लोकार्द्ध एवं श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य ने इस श्लोक एवं श्लोकार्द्ध में आवरण के कारण भीतरी भाग के बाहरी के समान प्रतीत होने का कारण बताया है।

हिन्दी अनुवाद – ज्ञान का अन्तर अर्थात् भीतरी भाग आवरण के कारण जो बाहरी के समान प्रतीत होता है, वह ज्ञान भेद-रहित है। उस ज्ञान के भेद नहीं हैं अथवा उस ज्ञान का किसी से विरोध नहीं है, भिन्नता नहीं है। ऐसा होने में मिथ्याज्ञान कारण है। वह मिथ्याज्ञान के कारण ऐसा जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त जो तत्त्व आन्तरिक रूप से जानने के योग्य है, वह बाहरी के समान जान पड़ता है।

तदयुक्तम्। बाह्यार्थाभावे तद्व्युत्पत्तिरहिततया बहिर्वदित्युपमानोक्तेरयुक्तः। न हि वसुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति प्रेक्षावानाचक्षीत। भेदप्रतिभासस्य भ्रान्तत्त्वेऽभेदप्रतिभासस्य प्रामाण्यं, तत्प्रामाण्ये च भेदप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वमिति परम्पराश्रयप्रसंगाच्च। अविसंवादान्नीलतादिकमेव संविदाना बाह्यमेवोपाददत्ते, जगत्युपेक्षन्ते चान्तरमिति व्यवस्था-दर्शनाच्च।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से माधवाचार्यजी ने योगाचार सम्प्रदाय के अनुयायी बौद्ध दार्शनिकों के पक्ष का खण्डन किया है।

हिन्दी अनुवाद – आपका अर्थात् योगाचार सम्प्रदाय के दार्शनिकों का यह कहना ठीक नहीं है। जब बाहरी वस्तुओं की सत्ता का अभाव हो जायेगा तो बहिः शब्द का अर्थ ज्ञान भी नहीं रहेगा। ऐसी दशा में बाहरी वस्तु के समान प्रतीत होता है, उपमान सम्बन्धी यह उक्ति भी व्यर्थ हो जायेगी। कोई भी चेतना वाला व्यक्ति यह नहीं कहता कि वसुमित्र बाँझ के पुत्र के समान जान पड़ता है। भेद की प्रतीति को भ्रान्त मानने पर अभेद अर्थात् एकता की प्रतीति को प्रामाणिक मानना तथा एकता की प्रतीति को प्रामाणिक मानकर भिन्नता की प्रतीति को अप्रामाणिक मानना, इससे अन्योन्याश्रय दोष की दशा आ जायेगी। विरोध न होने से, विरोध न करते हुए नील आदि पदार्थों को ज्ञान का विषय मानते हैं तथा इसके आधार पर केवल बाहरी पदार्थों को ग्रहण करते हैं। संसार में जो आन्तरिक पदार्थ हैं, उनकी उपेक्षा करते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था देखी जाती है।

(22. बाह्यार्थ की सत्ता-निष्कर्ष)

एवं चायमभेदसाधको हेतुर्गोमयापायसीयन्यायवत् आभासतां भजेत्। अतो बहिर्वदिति वदता बाह्यं ग्राह्यमेवेति भावनीयमिति भवदीय एव बाणो भवन्तं प्रहरेत्।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से माधवाचार्य जी ने सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा मान्य बाह्य पदार्थ की सत्ता को सिद्ध किया है।

हिन्दी अनुवाद – और इस प्रकार यह विज्ञान और विषय अर्थात् पदार्थ की एकता को सिद्ध करने वाला जो गोबर और गोदुग्ध से सम्बन्धित न्याय के समान हेतु आपने दिया, वह हेत्वाभास हो जायेगा। इसलिए 'बाह्य

के समान' कहने वाले आपके द्वारा बाह्य पदार्थ ग्रहण करने योग्य ही है, ऐसा मानना चाहिए। इस प्रकार आपका बाण आपको ही घायल करेगा, आप अपने ही बाण का प्रहार सहन करेंगे।

(23. बाह्यार्थ प्रत्यक्ष नहीं, अनुमेय है)

ननु ज्ञानाद्भिन्नकालस्यार्थस्य ग्राह्यत्वमनुपपन्नमिति चेत्-तदनुपपन्नम्। इन्द्रियसन्निकृष्टस्य विषयस्योत्पाद्ये ज्ञाने स्वाकारसमर्पकतया समर्पितेन चाकारेण तस्यार्थस्यानुमेयतोपपत्तेः। अत एव पर्यनुयोगपरिहारौ समग्राहिषाताम्-

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। श्री माधवाचार्य जी ने इस गद्यांश के माध्यम से यह सिद्ध किया है कि बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष का विषय नहीं, अनुमान का विषय है।

हिन्दी अनुवाद – निश्चय ही ज्ञान से अर्थ का काल भिन्न होने के कारण ज्ञान के द्वारा ग्रहण होना असम्भव है। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। यह आशंका अनुचित है। पहले क्षण में विषय का इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है। इससे ज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसी ज्ञान में वह पहला विषय अपने आकार को समर्पित कर देता है। द्वितीय क्षण में उसी समर्पित किये हुए आकार से पहले अर्थ का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार उस अर्थ का अनुमान के योग्य होना सिद्ध हो जाता है। इसलिए इस विषय में प्रश्न और उत्तर को स्वीकार कर लेना चाहिए।

21. भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव च व्यक्तेर्ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥ इति।

प्रसंग – यह श्लोक माधवाचार्य जी द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस श्लोक के द्वारा माधवाचार्य जी ने ग्राह्य अर्थ के अनुमेय अर्थात् अनुमान के योग्य होने का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – यदि यह प्रश्न हो कि भिन्न काल वाली वस्तु का ग्रहण किस प्रकार सम्भव है तो उत्तर देना चाहिए कि घटादि पदार्थ के ज्ञानाकार के समर्पित करने में समर्थ होने के कारण लोग हेतु को ही ग्रहण करने योग्य समझते हैं। वही हेतु है, जिसे हम ग्रहण करते हैं।

तथा च यथा पुष्ट्या भोजनमनुमीयते, यथा च भाषया देशः, यथा वा सम्भ्रमेण स्नेहः, तथा ज्ञानाकारेण ज्ञेयमनुमेयम्। तदुक्तम्-

22. अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।
तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता॥ इति।

प्रसंग – जिस ग्रन्थ की रचना माधवाचार्य के द्वारा हुई है तथा जिसका सम्पादन डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' ने किया है, उस ग्रन्थ का नाम है- सर्वदर्शन संग्रह। 'सर्वदर्शन संग्रह' ग्रन्थ का एक अंश है- बौद्ध दर्शनम्। यह गद्यांश तथा श्लोक उसी से लिया गया है। इसमें ज्ञेय का वर्णन किया गया है।

हिन्दी अनुवाद – जिस प्रकार पोषण अर्थात् पुष्ट शरीर को देखकर भोजन का अनुमान होता है, जिस प्रकार भाषा सुनकर देश का अनुमान होता है तथा आदर का भाव देखकर प्रेम का अनुमान होता है, उसी प्रकार ज्ञान के आकार से ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ का अनुमान करना चाहिए। ऐसा ही कहा गया है।

ज्ञाता अर्थात् जानने वाला इस ज्ञान को जो अर्थ के साथ संयुक्त करता है, मिलाता है, वह अर्थ के साथ अपने आकार के समान आकार को हटाकर नहीं मिलाता, अपितु उससे संयुक्त करके ही मिलाता है। इसलिए ज्ञान का रूप ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ हो जाता है। यह ज्ञेय पदार्थ अर्थात् पदार्थ के रूप में होना ही विषय के ज्ञान का प्रमाण है।

(24. आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान)

न हि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता। तस्याः सर्वत्राविशेषात्। तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयितुं घटयेदिति च। यथा बाह्यार्थसद्भावे प्रयोगः-ये यस्मिन्सत्यपि कदाचित्कास्ते सर्वे तदतिरिक्तसापेक्षाः। यथा-अविवक्षति अजिगमिषति मयि वचनगमनप्रतिभासा विवक्षु-जिगमिषु-पुरुषान्तरसन्तानसापेक्षाः। तथा च विवादाध्यासिताः प्रवृत्तिप्रत्ययाः सत्यप्यालयविज्ञाने कदाचिदेव नीलाद्युल्लेखिन॥ इति॥

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। श्री माधवाचार्य जी ने इस गद्यांश के द्वारा विज्ञानवादियों अर्थात् योगाचार सम्प्रदाय वाले बौद्धों के दो सिद्धान्तों-आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान का प्रयोग उन्हीं के अन्य सिद्धान्तों को असत्य सिद्ध करने के लिए किया है।

हिन्दी अनुवाद – ज्ञान की सत्ता अर्थात् ज्ञान का होना ही, उन विषयों अंर्थात् पदार्थों, वस्तुओं आदि का ज्ञान है, इस प्रकार की बात नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा करने पर वह ज्ञान सभी जगह एक समान हो जायेगा। लेकिन सारूप्य अर्थात् एकरूपता में प्रवेश करके उस ज्ञान को समान रूप वाला अर्थात् पदार्थ या वस्तु के आकार वाला करने के लिए विषय अर्थात् पदार्थ या वस्तु के साथ संयुक्त करता है, मिलाता है।

बाहरी अर्थ अर्थात् कारण के अतिरिक्त अन्य पदार्थों अथवा वस्तुओं की सत्ता के लिए एक प्रयोग इस प्रकार है- जो कार्य जिस कारण के रहने पर भी कभी-कभी उत्पन्न अर्थात् कभी उत्पन्न होते हैं और कभी उत्पन्न नहीं होते हैं, वे सभी कार्य उस विशेष कारण के अतिरिक्त अन्य कारणों के साथ भी सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए जब मेरे द्वारा बोलने या जाने की इच्छा नहीं की जाती, तब मेरे बोलने या जाने की जो प्रतीतियाँ होंगी, जो ज्ञान होंगे, वे दूसरे पुरुषों के समूह के विषय हैं, जो पुरुष बोलने और जाने की इच्छा करते होंगे।

उसी प्रकार इस प्रसंग में आये हुए प्रवृत्ति के प्रत्यय अर्थात् क्रियाशीलता की प्रतीतियाँ-क्रियाशीलता के ज्ञान आलयविज्ञान अर्थात् आत्मा अथवा ज्ञाता अर्थात् जानने वाले के रहने पर भी कभी-कभी ही नील आदि पदार्थों के रूप में व्यक्त होते हैं, प्रकट होते हैं।

तत्रालयविज्ञानं नामाहमास्पदं विज्ञानम्। नीलाद्युल्लेखि च विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानम्। यथोक्तम् –

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से माधवाचार्य जी द्वारा 'आलयविज्ञान' और 'प्रवृत्ति विज्ञान' का अन्तर बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद – उनमें आलयविज्ञान वह चैतन्य है अर्थात् बुद्धि है जो अहम् का स्थान है, अहम् का आधार है। नील आदि पदार्थों को व्यक्त करने वाला विज्ञान प्रवृत्ति विज्ञान है।

23. तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्।
तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्॥ इति॥

प्रसंग – यह श्लोक माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य जी ने इस श्लोक के माध्यम से विज्ञानवादियों के दो सिद्धान्तों आलयविज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान का लक्षण बताया है।

हिन्दी अनुवाद – वह आलयविज्ञान है जो आत्मा का स्थान है। वह प्रवृत्ति विज्ञान है जो नील आदि पदार्थों को व्यक्त करता है।

तस्मादालयविज्ञानसन्तानातिरिक्तः कादाचित्कप्रवृत्तिविज्ञानहेतुर्बाह्योऽर्थो ग्राह्य एव, न वासनापरिपाक प्रत्ययकादाचित्कत्वात् कदाचिदुप्ताद इति वेदितव्यम्।

प्रसंग – यह गद्यांश श्री माधवाचार्य जी द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य जी ने इस गद्यांश के माध्यम से योगाचार दर्शन के दो सिद्धान्तों-आलयविज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान का परिचय कराया है।

हिन्दी अनुवाद – इसलिए आलयविज्ञान के प्रवाह के अतिरिक्त कभी-कभी होने वाले प्रवृत्ति विज्ञान का कारण बाह्य पदार्थ है, अतः इसे तो ग्रहण करना ही पड़ेगा। वासना के परिणाम का ज्ञान कभी-कभी होता है, इसलिए बाह्य अर्थ अर्थात् पदार्थ या वस्तु की उत्पत्ति कभी भी होगी, ऐसा नहीं समझना चाहिए।

(25. विज्ञानवादियों के मत पर दोषारोपण)

विज्ञानवादिनये हि वासना नाम एकसन्तानवर्तिनामालय-विज्ञानानां तत्तत्प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्तिः। तस्याश्च स्वकार्योत्पादं प्रत्याभिमुखं परिपाकः। तस्य च प्रत्ययः कारणं स्वसन्तानवर्तिपूर्वक्षणः कक्षीक्रियते। सन्तानान्तरनिबन्धनत्वानङ्गीकारात्।

प्रसंग – यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्य जी ने इस गद्यांश के माध्यम से विज्ञानवादियों के मत में दोषारोपण प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अनुवाद – विज्ञानवादियों के मत के अनुसार एक प्रवाह अथवा परम्परा में वर्तमान रहने वाला जो आलयविज्ञानों का समूह है, वह समूह जब अपने से सम्बन्ध रखने वालों के समूह को उत्पन्न करता है, उस समय उसकी शक्ति का नाम वासना होता है। उस वासना का अपने कार्य की उत्पत्ति की ओर उन्मुख होना, चलना, प्रवृत्त होना ही परिपाक है। तात्पर्य यह है कि वासना का परिणाम परिपाक कहलाता है। उस परिणाम की प्रतीति होने का कारण अपने प्रवाह में स्थित जो पूर्वक्षण है, उसे हम स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि हम वासना के इस प्रवाह को किसी दूसरे के अधीन स्वीकार नहीं कर सकते।

ततश्च प्रवृत्तिविज्ञानजनकालयविज्ञानवर्तिवासनापरिपाकं प्रति सर्वेऽप्यालयविज्ञानवर्तिनः क्षणाः समर्था एवेति वक्तव्यम्। न चेदेकोऽपि न समर्थः स्यात्। आलयविज्ञानसन्तानवर्तित्वाविशेषात्। सर्वे समर्था इति पक्षे कालक्षेपानुपपत्तिः। ततश्च कादाचित्कत्वनिर्वाहाय शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः सुखादिविषयाः षडपि प्रत्ययाश्चतुरः प्रत्ययान् प्रतीत्योत्पाद्यन्त इति चतुरेणानिच्छताप्यच्छमतिना स्वानुभवमनाच्छाद्य परिच्छेत्तव्यम्।

प्रसंग – यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। श्री माधवाचार्य ने इस गद्यांश के द्वारा सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के बौद्धों द्वारा मान्य प्रवृत्ति विज्ञान और आलयविज्ञान के सम्बन्ध में अपना पक्ष प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अनुवाद – इसीलिए प्रवृत्ति विज्ञान की उत्पत्ति करने वाले आलयविज्ञान में निवास करने वाली वासना को उत्पन्न करने में आलयविज्ञान में स्थित सभी क्षणिक वासनाएँ हैं- ऐसी बात कहनी चाहिए। यदि सभी क्षणिक वासनाओं में यह क्षमता नहीं होती, उस स्थिति में एक भी क्षणिक वासना अपना कार्य करने में समर्थ नहीं हो पाती।

यदि इस प्रकार की बात कहें कि सभी क्षणिक वासनाएँ कार्य उत्पन्न करने में समर्थ हैं, उस दशा में कालक्षेप नहीं होगा, समय नहीं बीतेगा। इसी कारण वासनाओं का 'कभी-कभी होना' सिद्ध करने के लिए चतुर मनुष्य को अपनी इच्छा के विपरीत कभी न चाहते हुए भी स्वच्छ बुद्धि से तथा अपनी अनुभूति को ढके बिना विचार करना चाहिए कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के विषय तथा सुखादि के विषय- ये छ: प्रकार की प्रतीतियाँ चार कारणों को प्राप्त करके ही उत्पन्न की जाती हैं।

(26. ज्ञान के चार कारण)

ते चत्वारः प्रत्ययाः प्रसिद्धा आलम्बन-समनन्तर-सहकार्यधिपतिरूपाः। तत्र ज्ञानपदवेदनीयस्य नीलाद्यवभासस्य चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता भवति। समनन्तरप्रत्ययात् प्राचीनज्ञानोद्बोध रूपता। सहकारिप्रत्ययात् आलोकात् स्पष्टता। चक्षुतुषोऽधिपतिप्रत्ययाद्विषयग्रहणप्रतिनियमः।

प्रसंग – यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्यजी ने इस गद्यांश के माध्यम से ज्ञान के चार आन्तरिक कारणों और साकार चित्त का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद - वे चार कारण प्रसिद्ध हैं- (1) आलम्बन, (2) समनन्तर, (3) सहकारी, (4) अधि पति। इन चार में ज्ञान अर्थात् साकार चित्त से समझे जाने वाले नील आदि की प्रतीति का कारण जिसे चित्त भी कहा जाता है, नील से आलम्बन के कारण ही नीलरूप बनता है। समनन्तर के कारण ही पूर्वक्षण के ज्ञान से आकार को ग्रहण करने की शक्ति आती है। सहकारी प्रमाण के कारण प्रकाश से स्पष्टता होती है। स्पष्टता होने का तात्पर्य है- किसी एक का स्पष्टीकरण होता है। अधिपति के कारण आँख के द्वारा विषय के ग्रहण का नियन्त्रण होता है।

उदितस्य ज्ञानस्य रसादिसाधारण्ये प्राप्ते नियामकं चक्षुरधिपतिर्भवितुमर्हति। लोके नियामकस्याधि पतित्वोपलम्भात्। एवं चित्तचैत्तात्मकानां सुखादीनां चत्वारि कारणानि द्रष्टव्यानि।

प्रसंग– यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। माधवाचार्यजी ने इस गद्यांश के द्वारा सुखादि की अनुभूति के चार कारणों का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद – रस आदि विषयों को भी एक समान रूप से ग्रहण कर लेने के कारण उत्पन्न ज्ञान का नियन्त्रण चक्षु इन्द्रिय करती है, इसलिए वह इस प्रकार के ज्ञान की अधिपति होने योग्य है। संसार में ऐसा देखा जाता है कि जो नियन्त्रण करता है, उसी को अधिपति कहा जाता है। इसी प्रकार चित्त और चित्त के अनेक विकारों के रूप में सुख आदि के भी चार कारण देखने चाहिए।

(27. चित्त और उसके विकार-पाँच स्कन्ध)

सोऽयं चित्तचैत्तात्मकः स्कन्धः पञ्चविधो रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञासंस्कारसंज्ञकः। तत्र रूप्यन्त एभिर्विषया इति रूप्यन्त इति च व्युत्पत्त्या सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः। आलयविज्ञान-प्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः। प्रागुक्तस्कन्धद्वयसम्बन्धजन्यः सुखदुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः।

गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः। वेदनास्कन्ध-निबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशाः उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः।

प्रसंग – यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से श्री माधवाचार्य ने चित्त और उसके विकार के रूप में पाँच स्कन्धों का परिचय दिया है।

हिन्दी अनुवाद – चित्त और चित्त के विकारों के रूप में यह स्कन्ध अर्थात् अमूर्त तत्त्व पाँच प्रकार का है - (1) रूप स्कन्ध, (2) विज्ञान स्कन्ध, (3) वेदना स्कन्ध, (4) संज्ञा स्कन्ध, (5) संस्कार स्कन्ध। इन स्कन्धों में विषयों के साथ इन्द्रियों के नाम रूप स्कन्ध कहलाता है। इसकी व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार हैं-

(क) जिनसे विषयों का निरूपण होता है, वे इन्द्रियाँ हैं।

(ख) जो निरूपित होते हैं, वे विषय हैं।

आलयविज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान का प्रवाह अथवा परम्परा विज्ञान स्कन्ध है। पहले कहे गये इन दोनों स्कन्धों अर्थात् रूप स्कन्ध और विज्ञान स्कन्ध के सम्बन्ध से उत्पन्न सुख-दुःख आदि प्रवृत्तियों का प्रवाह अर्थात् परम्परा वेदना स्कन्ध है। गौ इत्यादि शब्दों को प्रकट करने वाले ज्ञानों का प्रवाह अर्थात् परम्परा संज्ञा स्कन्ध है। वेदना स्कन्ध पर आधारित राग, द्वेष आदि क्लेश अर्थात् कष्ट, मदमान आदि उपक्लेश अर्थात् छोटे-कष्ट और धर्म-अधर्म का नाम संस्कार स्कन्ध है।

(28. चार आर्य सत्य–दुःख, समुदाय, निरोध, मार्ग)

तदिदं सर्व दुःखं दुःखायतनं दुःखसाधनं चेति भावयित्वा तन्निरोधोपायं तत्वज्ञानं संपादयेत्। अत एवोक्तम्-दुःखसमुदायानिरोधमार्गाश्चत्वार आर्यबुद्धस्याभिमतानि तत्त्वानि। तत्र दुःखं प्रसिद्धम्।

प्रसंग – यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से श्री माधवाचार्य ने बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्यों का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद– सो यह पूरा संसार दुःख है, दुःख का आयतन अर्थात् घर है और दुःख का साधन है, ऐसा विचार करके इसके निरोध का उपाय, इससे बचने का उपाय तत्व ज्ञान है, उसे प्राप्त करना चाहिए। इसलिए कहा है—दुःख, समुदाय, निरोध और मार्ग-ये चार आर्य बुद्ध के द्वारा माने गये चार तत्व हैं। इनमें दुःख प्रसिद्ध है।

समुदाय दुःखकारणम्। तद् द्विविधं–प्रत्ययोपनिबन्धनो हेतूपनिबन्धनश्च। तत्र प्रत्ययोपनिबन्धनस्य संग्रहकं सूत्रम्–'इदं प्रत्ययफलम्' इति। इदं कार्य ये अन्ये हेतवः प्रत्ययन्ति गच्छन्ति, तेषामवमानानां हेतूनां भावः प्रत्ययत्वं कारणसमवायः, तन्मात्रस्य फलं, न चेतनस्य कस्यचिदति सूत्रार्थः।

प्रसंग– यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से श्री माधवाचार्य ने समुदाय का विवेचन किया है जो दूसरा आर्य सत्य है।

हिन्दी अनुवाद– समुदाय का अर्थ है- दुःख का कारण। वह समुदाय दो प्रकार का है- (1) प्रत्यय उपनिबन्धन और (2) हेतु उपनिबन्धन। इस विषय में प्रत्यय उपनिबन्धन को समझाने वाला सूत्र है-यह कार्य समूह प्रत्यय अर्थात् कारण समूह का फल है, परिणाम है। यह कार्य है और जो अन्य कारण है।, वे कार्य को

NOTES

उत्पन्न करने की ओर गति करते हैं, जाते हैं अर्थात् कार्य को उत्पन्न करते हैं, उन कार्य उत्पन्न करने के प्रति किये जाने वाले कारणों के साथ मिलने वाले कारणों का भाव ही प्रत्यय है। कार्य उन प्रत्ययों अर्थात् कारण समूह का ही फल है, चेतन का नहीं, यह सूत्र का अर्थ है।

यथा बीजहेतुरङ्कुरो धातूनां षण्णां समवायाज्जायते। तत्र पृथिवीधातुरङ्कुरस्य काठिन्यं गन्धं च जनयति। अब्धातुः स्नेहं रसं च जनयति। तेजोधातु रूपमौष्ण्यं च। वायुधातुः स्पर्शनं चलनं च। आकाशध ातुरवकाशं शब्दं च। ऋतुधातुर्यथायोगं पृथिव्यादिकम्।

प्रसंग – यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से श्री माधवाचार्य ने बौद्ध दर्शन की उस मान्यता पर प्रकाश डाला है, जिसके अनुसार अंकुर आदि की उत्पत्ति में किसी चेतन सत्ता का सहयोग नहीं होता।

हिन्दी अनुवाद – जिस प्रकार अथवा उदाहरण के रूप में बीज कारण वाला अंकुर छः धातुओं अर्थात् मूल कारणों के समूहों से अथवा मिलने से उत्पन्न होता है, वहाँ अर्थात् इस प्रसंग में पृथिवी नाम की धातु अर्थात् मूल कारण अंकुर में कठोरता और गंध को उत्पन्न करती है। जल धातु अर्थात् अग्नि नाम की धातु अर्थात् मूल कारण रूप और कठोरता, वायु धातु अर्थात् मूल कारण स्पर्श एवं गति देता है। आकाश धातु अर्थात् मूल कारण शब्द और स्थान अर्थात् खाली जगह देता है। ऋतु धातु अर्थात् मूल कारण योग्यता अथवा आवश्यकता के अनुसार पृथिवी आदि तत्वों को प्रदान करती है।

(28. क. हेतूपनिबन्धन समुदाय का स्वरूप)

हेतूपनिबन्धनस्य च संग्राहकं सूत्रम्–उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैवैषां धर्माणां धर्मता ध र्मस्थितिता धर्मनियामकता च प्रतीत्यसमुत्पादानुलोमता। तथागतानां बुद्धानां मते धर्माणां कार्यकारणरूपाणां या धर्मता कार्यकारणभावरूपा, एषा उत्पादादनुत्पादाद्वा स्थिता। यस्मिन्सति यदुत्पद्यते, यस्मिन्नसति यन्नोत्पद्यते तत्तस्य कारणस्य कार्यम्-इति। 'धर्मता' इत्यस्य विवरणं धर्मस्थितितेत्यादि। धर्मस्य कार्यस्य कारणानतिक्रमेण स्थितिः। स्वार्थिकः तल् प्रत्ययः, धर्मस्य कारणस्य कार्यं प्रति नियामकता।

प्रसंग – यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से श्री माधवाचार्य जी ने हेतूपनिबन्धन समुदाय का स्वरूप प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अनुवाद – हेतूपनिबन्धन समुदाय की व्याख्या करने वाला सूत्र इस प्रकार है-तथागतों के मतानुसार इन धर्मों अर्थात् कार्यकारण की धर्मता अर्थात् कार्यकारण भाव, कार्यकारण का होना उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति न होना के रूप में स्थित इन धर्मों अर्थात् कार्यकारण के रूप में स्थित होने की जो धर्मता प्रतीत्य समुत्पाद के अनुकूल है। तथागत बुद्धों के मत में धर्मों अर्थात् कार्यकारण रूपों की जो धर्मता है, वह कार्य और कारण के भावरूप वाली है। धर्मता का अर्थ प्रकृति या स्वभाव है। यह धर्मता उत्पाद और अनुत्पाद अर्थात् उत्पत्ति होने और उत्पत्ति न होने के रूप में स्थित है। जिसके होने पर जो उत्पन्न होता है और जिसके होने पर जो उत्पन्न नहीं होता है, वह उसके कारण का कार्य है। धर्मता का विवरण अर्थात् अर्थ में स्थिति का भाव है। धर्म का अर्थात् कार्य का कारण का अतिक्रमण न करना त्याग न करने के रूप में स्थिति है। स्थितिता शब्द स्थिति शब्द के बाद स्वार्थवाचक 'तल्' प्रत्यय लगने से बना है। इसका अर्थात् स्थितिता का अर्थ है- धर्म अर्थात् कारण का अपने कार्य का नियामक होना। इसका आशय कार्य को कारण के बिना न रहना है।

नन्वयं कार्यकारणभावश्चेतनमन्तरेण न संभवतीत्यत उक्तम्-प्रतीत्येति। कारणे सति तत्प्रतीत्य प्राप्य समुत्पादेऽनुलोमता = अनुसारिता या, सैव धर्मतोत्पादादनुत्पादाद्वा धर्माणां स्थिता। न चात्र कश्चिच्चेतनोऽधिष्ठानोपलभ्यत-इति सूत्रार्थः॥

प्रसंग – यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से श्री माधवाचार्य ने प्रतीत्य समुत्पाद का परिचय दिया है।

हिन्दी अनुवाद – यह नहीं कहना चाहिए कि कार्य और कारण का सम्बन्ध किसी चेतन सत्ता के अभाव में सम्भव नहीं है। इस शंका को व्यर्थ सिद्ध करने के लिए कहा गया है – प्रतीत्यसमुत्पाद की अनुकूलता। कारण के होने पर उसे पाकर उत्पत्ति होने पर अनुलोम होना अर्थात् उसके पीछे रहना धर्मता है अर्थात् कार्यकारण भाव है। उत्पत्ति नियम और अनुत्पत्ति नियमों के धर्मों अर्थात् कार्यों से सिद्धि होती है। इसमें कोई चेतन अधिष्ठाता अर्थात् सम्बन्ध जोड़ने वाला नहीं पाया जाता। प्रतीत्यसमुत्पाद के सूत्र का यही अर्थ है।

प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धनो यथा-बीजादङ्कुरः, अङ्कुरात्काण्डं, काण्डान्नालः, नालाद् गर्भ, ततः शूकं, ततः पुष्पं, ततः फलम्। न चात्र बाह्ये समुदाये कारणं बीजादि कार्यमङ्कुरादि वा चेतयते-'अहमङ्कुरं' निर्वर्तयामि, अहं बीजेन निर्वर्तितः' इति। एवमाध्यात्मिकेष्वपि कारणद्वयमवगन्तव्यम्। पुरः स्थिते प्रमेयाब्धौ ग्रन्थविस्तरभीरुभिः' इति न्यायेनोपरम्यते।

प्रसंग – यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से श्री माधवाचार्य जी ने प्रतीत्यसमुत्पाद के हेतूनिबन्धन नाम के कारण का परिचय दिया है।

हिन्दी अनुवाद – प्रतीत्यसमुत्पाद के हेतुओं का परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार है। बीज से अंकुर उत्पन्न होता है। अंकुर से गाँठ उत्पन्न होती है। गाँठ से डंठल, डंठल से कली, कली से दल, दल से फूल और फूल से फल। इस प्रकार पहला कार्य दूसरे कार्य का कारण बना हुआ है। हेतु एक दूसरे से बँधे हुए हैं। इसी का नाम हेतूपनिबन्धन है। बीज ने अंकुर को उत्पन्न किया तो बीज अंकुर का कारण है। अंकुर ने गाँठ को उत्पन्न किया तो अंकुर गाँठ का कारण है। गाँठ ने कली को उत्पन्न किया तो गाँठ कली का कारण है। कली ने दल को उत्पन्न किया तो कली दल का कारण है। दल ने फूल को उत्पन्न किया तो दल फूल का कारण है। फूल ने फल को उत्पन्न किया तो फलरूपी कार्य का कारण स्वयं में फूल के होने में क्या सन्देह है। कली से दल, उससे फूल और फूल से फल उत्पन्न होता है। यहाँ पर बाहरी कारणों में, बीज आदि कारण तथा अंकुर आदि यह नहीं जानते कि मैं अंकुर का निर्माण कर रहा हूँ अथवा मैं बीज आदि से बना हूँ। इसी प्रकार आध्यात्मिक पदार्थों में भी दो कारणों को जान लेना चाहिए। वे दो कारण प्रत्यय और हेतु हैं। जानने योग्य वस्तुओं के सागर के सामने स्थित होने पर ग्रन्थ के विशाल हो जाने के भय से रुकना पड़ रहा है।

(29. सौत्रान्तिक-मत उपसंहार)

तदुभयनिरोधः। तदनन्तरं विमलज्ञानोदयो वा मुक्तिः। तन्निरोधोपायो मार्गः। स च तत्वज्ञानम्। तच्च प्राचीनभावनाबलाद्भवतीति परमं रहस्यम्। सूत्रस्यान्तं पृच्छतां कथितं-'भवन्तश्च सूत्रस्यान्तं पृष्टवन्तः, सौत्रान्तिका भवन्तु' इति। भगवताऽभिहिततया सौत्रान्तिकसंज्ञा संजातेति॥

प्रसंग- यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से श्री माधवाचार्य ने सौत्रान्तिक सम्प्रदाय वाले बौद्धों के मत का उपसंहार किया है, उसे समाप्त किया है।

हिन्दी अनुवाद- इन दोनों का अर्थात् दु:ख और दु:ख के कारण का निरोध अर्थात् समाप्ति होता है। इसके बाद विमल ज्ञान का उदय होता है अथवा मुक्ति अर्थात् छुटकारा होता है। दु:ख और दु:ख के कारण के विनाश के उपाय का मार्ग है। वह मार्ग तत्वज्ञान है। वह तत्वज्ञान प्राचीन भावनाओं के बल से होता है, यह परम रहस्य है। सूत्र के अन्तिम भाग को पूछने से भगवान बुद्ध ने कहा- "आप लोगों ने सूत्र का अन्तिम भाग पूछा है, इस कारण आप सौत्रान्तिक हो।" इस प्रकार भगवान बुद्ध के द्वारा कहने के कारण उनका सौत्रान्तिक नाम हुआ।

(30. वैभाषिक-मत-बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववाद)

केचन बौद्धा:-बाह्येषु गन्धादिष्वान्तरेषु रूपादिस्कन्धेषु सत्स्वपि, तत्रानास्थामुत्पादयितुं सर्वं शून्यमिति प्राथमिकान्विनेयान् अचकथद्भगवान्, द्वितीयांस्तु विज्ञानमात्रग्रहाविष्टान्विज्ञानमेवैकं सदिति, तृतीयानुभयं सत्यमित्यास्थितान्विज्ञेयमनुमेयमिति, सेयं विरुद्धा भाषेति वर्णयन्त:- वैभाषिकाख्यया ख्याता:।

प्रसंग- यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से श्री माधवाचार्य जी ने वैभाषिक सम्प्रदाय के बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद- कुछ बौद्धों ने गंध आदि बाहरी पदार्थों और रूप आदि आन्तरिक के होने पर भी, उनमें अनास्था अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न कराने के लिए 'सब कुछ शून्य है' ऐसा अपने पहले अनुयायियों अर्थात् शिष्यों से कहा। भगवान बुद्ध ने दूसरों को, शिष्यों के दूसरे वर्ग को केवल विज्ञान के आग्रह से युक्त देखकर विज्ञान ही एकमात्र सत्य है, शिष्यों के तीसरे वर्ग को दोनों ही सत्य हैं, ऐसी अवस्था में स्थिति जानकर जानने योग्य है और अनुमान करने योग्य है, ऐसा कहा। वे यह अर्थात् इन तीनों की भाषा के विरुद्ध वर्णन करने वाले वैभाषिक इस नाम से प्रसिद्ध हुए।

एषा हि तेषां परिभाषा संमुन्मिषति। विज्ञेयानुमेयत्ववादे प्रात्यक्षिकस्य कस्यचिदप्यर्थस्याभावेन, व्याप्तिसंवेदनस्थानाभावेन अनुमानप्रवृत्त्यनुपपत्ति: सकललोकानुभवविरोधश्च।

ततश्चार्थो द्विविध:- ग्राह्योऽध्यवसेयश्च। तत्र ग्रहणं निर्विकल्पकरूपं प्रमाणम्। कल्पनापोढत्वात्। अध्यवसाय: सविकल्पकरूपोऽप्रमाणम्। कल्पनाज्ञानत्वात्।

प्रसंग- यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से श्री माधवाचार्य जी ने वैभाषिक सम्प्रदाय वालों की परिभाषा अर्थात् शब्दावली का परिचय दिया है।

हिन्दी अनुवाद - उनकी अर्थात् वैभाषिक सम्प्रदाय वाले बौद्धों की पारिभाषिक शब्दावली इस प्रकार निकलती है। विज्ञेय अर्थात् बाह्य पदार्थ को अनुमान का विषय मानने वाले सौत्रान्तिक प्रत्यक्ष रूप से किसी भी पदार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि व्याप्ति के ज्ञान के स्थान के होने की कोई सम्भावना नहीं रहती, व्याप्ति का ज्ञान कराने वाला कोई स्थान नहीं रह जाता। इससे अनुमान की प्रवृति नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि अनुमान नहीं किया जा सकेगा तथा पूरे संसार के अनुभव का विरोध भी होगा।

इसके बाद पदार्थ दो प्रकार के होते हैं- ग्राह्य तथा अध्यवसेय। इन दोनों में निर्विकल्पक के रूप में ग्रहण अर्थात् ग्राह्य का ज्ञान होता है, वही प्रमाण है, क्योंकि वह कल्पना से रहित होता है। सविकल्पक के रूप में जो अध्यवसाय अर्थात् ज्ञान होता है, वह अप्रमाण होता है अर्थात् प्रमाण नहीं होता है, क्योंकि उसमें कल्पना का ज्ञान होता है।

(31. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।)

तदुक्तम् -

**24. कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।
विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लवः ॥ इति।**

**25. ग्राह्यं वस्तु प्रमाणं हि ग्रहणं यदितोऽन्यथा।
न तद्वस्तु न तन्मानं शब्दलिङ्गेन्द्रियादिजम् ॥ इति च।**

प्रसंग- यह श्लोक श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। श्री माधवाचार्य जी ने इन श्लोकों के माध्यम से बौद्ध धर्म के वैभाषिक सम्प्रदाय द्वारा एकमात्र प्रमाण 'प्रत्यक्ष' का विवेचन किया है।

हिन्दी अनुवाद - ऐसा ही कहा गया है- जो कल्पना से रहित है तथा भ्रम नहीं है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान है और प्रमाण है। विकल्प अर्थात् सविकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तुओं की प्रतीति नहीं होती, इसमें असंवाद अर्थात् एक मति से ज्ञान नहीं होता, इसलिए यह भ्रम है।

इसके अतिरिक्त ग्राह्य अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय जो वस्तु है, केवल वही सत्य है। केवल ग्रहण अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष रूप में जो ग्राह्य अर्थात ग्रहण करने योग्य वस्तु का ज्ञान है, वही प्रमाण है, क्योंकि वह विकल्प से रहित है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है, वह वस्तु अथवा पदार्थ नहीं है। वह शब्दलिङ्ग और इन्द्रियों आदि से उत्पन्न होने के कारण प्रमाण भी नहीं है।

ननु सविकल्पकस्याप्रामाण्ये कथं ततः प्रवृत्तस्यार्थप्राप्तिः संवादश्चोपद्येयातामिति चेत्-न तद् भद्रम्। मणिप्रभाविषयमणिविकल्पन्यायेन पारंपर्येणार्थप्रतिलम्भसंभवेन तदुपपत्तेः। अवशिष्टं सौत्रान्तिकप्रस्तावे प्रपञ्चितमिति नेह प्रतन्यते।

प्रसंग- यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया गया है। इस गद्यांश के माध्यम से श्री माधवाचार्य जी सविकल्पक ज्ञान के विषय में की गयी शंका का समाधान किया है।

हिन्दी अनुवाद - आपके द्वारा सविकल्पक अर्थ ग्रहण को अप्रामाणिक मानने पर जो मनुष्य इस सविकल्पक ज्ञान को प्राप्त करके वस्तु अर्थात् पदार्थ को प्राप्त करता है, जिससे सभी सहमत हैं अर्थात् कोई भी इसका विरोध नहीं करता, इसकी सिद्धि का क्या प्रकार है, कौन-सा ढंग है? इस प्रकार की शंका करना उचित नहीं है। मणि की प्रभा अर्थात् चमकरूपी वस्तु या पदार्थ से जिस प्रकार मणि की कल्पना की जाती है, उसी क्रम से अन्य प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान भी हो सकता है, यह सिद्ध है। शेष बातें बौद्धों के सौत्रान्तिक सम्प्रदाय की प्रस्तावना के अवसर पर बता दी गयी हैं। इसी कारण यहाँ उनका विस्तार नहीं किया गया है।

(32. तत्त्व की अभिन्नता-मार्गों के लिए)

न च विनेयाशयानुरोधेनोपदेशभेदः साम्प्रदायिको न भवतीति भणितव्यम्। यतो भणितं बोधि चित्तविवरणे -

प्रसंग - यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिया है। इस गद्यांश के माध्यम से श्री माधवाचार्य जी ने शिष्यों की भिन्नता के कारण उपदेशों के भेद को उचित बताया है।

हिन्दी अनुवाद - ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि शिष्यों के अभिप्रायों की भिन्नता के कारण गुरु के उपदेश में विविधता अथवा अनेकरूपता सम्प्रदाय से सम्बन्धित नहीं होती । तात्पर्य यह है कि गुरु शिष्यों के अभिप्राय के कारण भिन्न प्रकार के उपदेश देता हुआ अपने सम्प्रदाय के भाव को नहीं छोड़ता है, क्योंकि इसी कारण बोधि चेतना अर्थात् बोधि ज्ञान के विवरण में कहा गया है।

26. देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभिः पुनः॥

27. गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्ना हि देशनाभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा ॥ इति।

प्रसंग - ये श्लोक श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। श्री माधवाचार्य जी ने इन श्लोकों के माध्यम से बौद्ध धर्म के आचार्यों के उपदेश का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद - आचार्यों के उपदेश समझने वाले के वश में होकर उनके अनुगामी हुए। लोक अर्थात् संसार में, समाज मे अनेक उपायों के आधार पर अनेक रूप अलग-अलग हो जाते हैं। वे उपदेश कहीं पर गम्भीर हैं और कहीं पर उत्तम अर्थात् स्पष्ट हैं। वे उपदेश कहीं पर दोनों लक्षणों वाले हैं अर्थात् दोनों प्रकार के हैं। इतना होने पर भी उनका तत्त्व एक ही है, जिसे शून्य, अदृश्य और अभिन्न कहना चाहिए।

(33. द्वादश आयतनों की पूजा)

द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धनये प्रसिद्धम्-

28. अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि वै।
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितैः॥

बौद्ध दर्शनम्

29. ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
मनोबुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः ॥ इति।

प्रसंग - यह एक गद्यांश और दो श्लोक श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित ' सर्वदर्शन संग्रह' के अंश ' बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। श्री माधवाचार्य जी ने इस गद्यांश और इन श्लोकों के द्वारा बौद्ध धर्म में बारह आयतनों की पूजा का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद - द्वादश आयतनों की पूजा ' बौद्ध दर्शन' में श्रेयस्करी अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराने वाली है-

अर्थों अर्थात् धनों का उपार्जन करके इन बारह आयतनों की भली-भाँति पूजा करनी चाहिए। अन्य आयतनों की पूजा से क्या प्रयोजन है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच ही कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि-ये विद्वानों ने बारह आयतन कहे हैं।

(34. बौद्ध-मत का संग्रह)

विवेकविलासे बौद्धमतमित्थमभ्यधायि-

30. बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभंगुरम्।
आर्यसत्याख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात् ॥

31. दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः ।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः॥

प्रसंग- यह गद्यांश और दो श्लोक श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। श्री माधवाचार्य जी ने इस गद्यांश और श्लोकों के माध्यम से बौद्ध सम्प्रदाय का सार प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अनुवाद - 'विवेकविलास' नाम के ग्रन्थ में बौद्ध मत को इस प्रकार कहा है- बौद्ध धर्म को मानने वालों के देवता भगवान बुद्ध हैं तथा संसार क्षण में नष्ट होने वाला है, आर्य सत्य के नाम वाले आर्य सत्यों को क्रमशः जानना उचित है।

दुःख, दुःख का स्थान, समुदाय तथा मार्ग-ये सुप्रसिद्ध आर्य सत्य हैं। अब इनकी क्रमशः व्याख्या सुननी चाहिए।

32. दुखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥

33. पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतानि तु ॥

34. रागादीनां गणो यस्मात्समुदेति नृणां हृदि।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः ॥

प्रसंग- ये श्लोक श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। श्री माधवाचार्य जी ने इन श्लोकों के माध्यम से बौद्ध धर्म का सार प्रस्तुत किया है।

हिन्दी अनुवाद- दुःख का अर्थ है- संसार के प्राणियों में निवास करने वाले प्राणियों के स्कन्ध। वे पाँच स्कन्ध जो कहे गये हैं, इस प्रकार हैं- विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप।

दुःख के आयतन अथवा स्थान हैं- पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और शब्द आदि उनके पाँच विषय।

जिससे राग आदि का समूह मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न होता है, आत्मा के अपने स्वभाव के नाम से विख्यात है, वही समुदाय कहलाता है।

35. क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ॥

36. प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा।
चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः॥

प्रसंग- ये श्लोक श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। श्री माधवाचार्य जी ने इन दो श्लोकों के माध्यम से बौद्ध ध र्म का सार प्रस्तुत किया है।

NOTES

हिन्दी अनुवाद- सभी संस्कार क्षणिक अर्थात् क्षणभंगुर हैं, यह जो स्थिर वासना है अर्थात् विचार है, इसे ही मार्ग जानना चाहिए। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण बौद्ध दर्शन द्वारा मान्य हैं। बौद्धों के चार प्रस्थान अर्थात् सम्प्रदाय वैभाषिक आदि प्रसिद्ध हैं।

37. अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः॥

38. आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता ।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यते मध्यमाः पुनः॥

प्रसंग- ये श्लोक श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। श्री माधवाचार्य जी ने इन श्लोकों के माध्यम से बौद्ध धर्म के चार सम्प्रदायों के लक्षण बताये हैं।

हिन्दी अनुवाद- वैभाषिक सम्प्रदाय वाले अर्थ को अर्थात् पदार्थ को ज्ञान से युक्त अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से जानने योग्य मानते हैं। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय वाले अर्थ को अर्थात् बाह्य पदार्थ को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं मानते। ये लोग पदार्थ को अनुमेय अर्थात् अनुमान प्रमाण से जानने योग्य मानते हैं। योगाचार सम्प्रदाय वाले बुद्धि को साथ मानते हैं। उनके अनुसार बाह्य पदार्थ बुद्धि के साथ ही चले आते हैं। उनमें और बुद्धि में कोई भेद नहीं है। माध्यमिक सम्प्रदाय वाले अपने में केवल ज्ञान की स्थिति मानते हैं। उनके अनुसार उनमें केवल ज्ञान ही स्थित है।

39. रागादिज्ञानसंतानवासनोच्छेदसम्भवा ।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता॥

40. कृत्तिः कमण्डलुमौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम् ।
सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः ॥

प्रसंग- ये श्लोक श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' के अंश 'बौद्ध दर्शनम्' से लिये गये हैं। श्री माधवाचार्य जी ने इन श्लोकों के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति और बौद्ध भिक्षुओं की दिनचर्या पर प्रकाश डाला है।

हिन्दी अनुवाद- राग आदि ज्ञान की परम्परा अर्थात समूह रूपी जो वासना है, वह जब नष्ट हो जाती है, उसके नाश से मुक्ति की उत्पत्ति होती है। यह मुक्ति बौद्धों के चारों सम्प्रदायों ने स्वीकार की है। चारों सम्प्रदायों के बौद्धों के लिए उसे मुक्ति कहा गया है।

बौद्ध भिक्षु चमड़ा, कमण्डल, केशों का मुण्डन, दोपहर से पहले दिन में एक बार भोजन करना, संघ में रहना तथा लाल रंग के कपड़े पहनना- इसी प्रकार की जीवनचर्या को स्वीकार करते हैं।

(इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे बौद्धदर्शनम् ॥)

जैन दर्शन

जैन दर्शन के अनुसार त्रिरत्न- त्रिरत्न शब्द का अर्थ है– तीन रत्न। तीन रत्न निम्नलिखित हैं–

(1) सम्यक् दर्शन, (2) सम्यक् ज्ञान, (3) सम्यक् चारित्र।

इन तीन रत्नों का निरूपण 'परमागमसार' नाम के ग्रन्थ में हुआ है। यह ग्रन्थ अर्हतों के प्रवचनों का संग्रह है। आचार्य उमास्वाति ने अपने ग्रन्थ 'तत्वार्थाधिगमसूत्र' में इन तीन रत्नों को मोक्ष का मार्ग बताया है। इस ग्रन्थ का पहला सूत्र इस प्रकार है–

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्षमार्गः।

(सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र मोक्ष का मार्ग है।)

डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' के अनुसार जैन दर्शन का सम्पूर्ण आचारशास्त्र इन तीन रत्नों पर ही अवलम्बित है। ये तीनों एक साथ मिलकर मोक्ष के मार्ग का निर्माण करते हैं। इनके लिए 'दण्डचक्रादिन्याय है'। जैसे दण्ड, चक्र, सूत्र, मृत्तिका आदि मिलकर घट का निर्माण करते हैं, न कि पृथक्-पृथक्, उसी प्रकार ये रत्न मिलकर ही मोक्ष-मार्ग बनाते हैं। तृणारणिमणि न्याय से ये काम नहीं करते। तृण अग्नि का कारण है, उसी प्रकार अरणि, उसी प्रकार मणि। तीनों रत्न भिन्न हैं।

सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। मोक्ष से जन्म-मरण के कष्टों से छुटकारा मिल जाता है। अधिकांश भारतीय दर्शनों में मोक्ष-प्राप्ति के लिए इन तीनों रत्नों अर्थात् मार्गों में से किसी एक को आवश्यक माना गया है। कुछ दर्शनों में मोक्ष प्राप्ति के लिए केवल सम्यक् ज्ञान को पर्याप्त माना गया है। कुछ अन्य दर्शनों ने मोक्ष-प्राप्ति का आधार केवल सम्यक् दर्शन स्वीकार किया है। भारत में कुछ ऐसे दर्शन भी हैं जो मोक्ष-मार्ग के रूप में केवल सम्यक् चरित्र अथवा चारित्र को ही पर्याप्त समझते हैं। जैन दर्शन की यह विशेषता है कि उसने इन तीनों एकांगी मार्गों का समन्वय किया है। इस दृष्टि से जैन दर्शन का मोक्ष-मार्ग अद्वितीय कहा जा सकता है। जैन दर्शन को इन तीनों मार्गों या त्रिरत्नों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है–

(1) सम्यक् दर्शन– सत्य के प्रति श्रद्धा रखने का नाम सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन अर्थात् सत्य के प्रति श्रद्धा की भावना कुछ मनुष्यों में जन्मजात होती है। कुछ लोग इसे अभ्यास से और अन्य लोग इसे विद्या के माध्यम से सीखते हैं। सम्यक् दर्शन का अर्थ अन्धविश्वास नहीं है। जैन दर्शन के रचयिताओं ने अंधविश्वास का पूरी तरह खण्डन किया है। उनके अनुसार कोई व्यक्ति सम्यक् दर्शन का पात्र तभी हो सकता है, जब उसने सभी प्रकार के प्रचलित अंधविश्वासों से स्वयं को अलग कर लिया हो। साधारण मनुष्य समझते हैं कि किसी नदी में स्नान करने अथवा किसी वृक्ष की परिक्रमा करने से मनुष्य पवित्र हो जाता है, इस प्रकार के विश्वास भ्रम हैं।

(2) सम्यक् ज्ञान– जीव और अजीव के मूल तत्वों का ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। जीव और अजीव के अन्तर को न समझने से ही बन्धन की उत्पत्ति होती है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। सम्यक् ज्ञान संशयहीन और दोषरहित होता है। कुछ कर्म ऐसे हैं जो सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति में बाधा बनते हैं। उन कर्मों को रोकना अथवा उन कर्मों से बचना आवश्यक है। कर्मों के पूर्ण विनाश के लिए सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है। जब तक कर्मों का पूर्ण विनाश नहीं होता, तब तक मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं होती।

(3) सम्यक् चारित्र– हितकर कार्यों का आचरण तथा अहितकर कार्यों से बचना ही सम्यक् चारित्र है। मोक्षप्राप्ति के लिए तीर्थंकरों के प्रति श्रद्धा तथा सत्य का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता, अपितु अपने आचरण का संयम भी परमावश्यक है। सम्यक् चारित्र व्यक्ति को मन, वचन और कर्म पर नियन्त्रण का निर्देश देता है। जैन दार्शनिकों के मतानुसार सम्यक् चारित्र के पालन से जीवन अपने कर्मों से मुक्त हो जाता है। कर्म के कारण ही मनुष्य को दुःख और बन्धन सहन करने पड़ते हैं। कर्मों से मुक्ति पाने का अर्थ है–बन्धन और दुःख से छुटकारा प्राप्त करना। सम्यक् चारित्र को ही मोक्ष मार्ग में सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है।

NOTES

जैन दर्शन का जीव-विचार

अन्य भारतीय दार्शनिक जिसे आत्मा कहते हैं, जैन मतावलम्बी दार्शनिकों ने उसी को जीव कहा है। इस दृष्टि से जीव और आत्मा में कोई भेद नहीं है, दोनों शब्द पर्यायवाची हैं।

जीव का लक्षण– जैन दर्शन के अनुसार जीव का लक्षण चेतना अथवा चैतन्य है। आचार्य पद्मनन्दी ने इसी चेतना अथवा चैतन्य को चित् कहा है। उन्हेंने इसे परम ज्योति भी बताया है। डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' के अनुसार इस परम ज्योति के भी दो भेद हैं– उपयोग और लब्धि। जीव में स्थित चेतना का नाम लब्धि है। जब यही चेतना कार्य रूप में परिणत हो जाती है तो उसे उपयोग कहा जाता है। उपयोग साकार और निराकार दो प्रकार का होता है। साकार उपयोग ज्ञान और निराकार उपयोग दर्शन कहलाता है। चैतन्य जीव में सदा अनुभूति अर्थात् अनुभव करने की शक्ति रहती है, इसलिए जैन दर्शन जीव को प्रकाशमान स्वीकार करता है। जिस प्रकार दीपक अपने आपको तथा दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जीव अपने आपको तथा दूसरों को प्रकाशित करता है।

जीव और शरीर की भिन्नता– जीव नित्य है। यह नित्यता का गुण शरीर में नहीं पाया जाता, इसलिए शरीर अनित्य है। जीव और शरीर में दूसरी भिन्नता यह है कि जीव निराकार है तथा शरीर साकार होता है।

जीव की विशेषताएँ– जीव में निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं–

(1) ज्ञाता– जीव ज्ञाता अथवा जानने वाला है। यह भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु यह स्वयं ज्ञान का विषय कभी नहीं होता।

(2) कर्त्ता– जीव कर्त्ता है। सांसारिक कर्मों में भाग लेने के कारण यह कर्त्ता कहलाता है। जीव कर्म करने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। जीव शुभ और अशुभ कर्म करके अपने भाग्य का निर्माता स्वयं बनता है।

(3) भोक्ता- जीव अपने कर्मों का फल स्वयं भोगता है, इसलिए यह सुख और दु:ख का अनुभव करता है। शुभ कर्म जीव को सुख और अशुभ कर्म दु:ख देते हैं।

जैन दर्शन का अनन्त चतुष्ट्य–जैन दर्शन के अनुसार जीव अनन्त अर्थात् इसका अन्त नहीं होता। जीव में जो चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती हैं, उन्हें अनन्त चतुष्ट्य अर्थात् चार अनन्त कहा जाता है। ये चार अनन्त हैं- (1) अनन्त ज्ञान (2) अनन्त दर्शन, (3) अनन्त शक्ति और (4) अनन्त सुख। ये अनन्त चतुष्ट्य अथवा चार अनन्त मुक्त जीव में रहते हैं। जब जीव बन्धन में पड़ जाता है, तब उसके गुण क्षीण अथवा नष्ट हो जाते हैं। इसके लिए अभिभूत शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ पराजित समझा जा सकता है।

जीव की साकारता–जीव वैसे निराकार है, अमूर्त है, पर शरीर ग्रहण करने के कारण वह आकार ग्रहण कर लेता है। इसी आधार पर जैन दर्शन ने जीव को द्रव्यों के अस्तिकाय वर्ग में रखा है। अस्तिकाय का अर्थ है काया वाला, जिसमें काया है। जीव के इस स्वरूप की तुलना प्रकाश से की जाती है। जीव के समान प्रकाश का भी कोई आकार नहीं होता। प्रकाश जिसको प्रकाशित अथवा आलोकित करता है, प्रकाश का आकार कुछ-कुछ उसी के आकार के अनुसार का हो जाता है। शरीरों के आकार में अन्तर होता है, इसलिए जीवों के आकार में भी अन्तर माना जाता है। हाथी में निवास करने वाले जीव का आकार वृहत् है। इसके विपरीत चींटी में रहने वाले जीव का आकार सूक्ष्म है। इस प्रकार जैन दार्शनिक जीव का विस्तार स्वीकार करते हैं।

जीव के पाँच भाव अथवा अवस्थाएँ– 'तत्वार्थदर्शन सूत्र' के रचयिता वाचकाचार्य ने जीव के पाँच भावों को उसका अपना रूप बताया है। इन भावों को डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' ने अवस्था कहा है। पाँच भाव और उनका परिचय इस प्रकार है–

(1) उपशम– उपशम का अर्थ है– थोड़ी देर के लिए उत्पन्न होना। जिस प्रकार फिटकरी के प्रयोग से पानी का कीचड़ नीचे बैठ जाता है, यह कीचड़ या पंक का उपशम है। वैसे ही आत्मा अथवा जीव में कर्म का अपनी शक्ति के कारणवश दब जाना उपशम है। जिस भाव का लक्ष्य केवल उपशम करना है, उसे औपशमिक कहते हैं जो जीव की एक विशिष्ट अवस्था है।

(2) क्षय– किसी पदार्थ के आत्यन्तिक अथवा पूरी तरह होने वाले अभाव को क्षय कहते हैं। इसका भाव प्रध्वंस है, क्योंकि वर्तमान पदार्थ का ही क्षय करना अभीष्ट है। भ्रम से इसे अत्यन्ताभाव न समझें, जिसमें अन्त-आदि किसी का पता नहीं रहता। जैसे काँच के बर्तन में रखे हुए अथवा बादलों में स्थित जल में पंक अर्थात् कीचड़ का पूरी तरह विनाश हो जाता है। जिस भाव का लक्ष्य कर्म का क्षय करना है, उस भाव को क्षायिक कहते हैं।

(3) क्षयोपशम– क्षय और उपशम इन दोनों भावों के मिश्रण को क्षयोपशम कहते हैं। जैसे कुएँ के जल में कहीं पर तो कीचड़ का क्षय अर्थात् पूर्ण विनाश है या अभाव है और कहीं उपशम है अर्थात् कुछ समय के लिए अभाव है। ये दोनों प्रकार के लक्ष्य रहने पर भाव क्षयोपशमिक कहलाता है। यह भी जीव अथवा आत्मा की एक विशिष्ट दशा है।

(4) औदयिक– द्रव्य आदि निमित्तों के कारण जब कर्म फल मिलना आरम्भ हो जाता है, उस भाव को उदय कहते हैं। जल में पंक का ऊपर उठना उदय है। इससे सम्बन्धित भाव औदयिक कहा जाता है।

(5) पारिणामिक– द्रव्य का अपने स्वरूप में मिल जाने की स्थिति परिणाम है। इसमें कर्मोपशम आदि नहीं रहते हैं। जीव को अपना स्वाभाविक रूप प्राप्त हो जाता है। इससे सम्बन्धित भाव औदयिक है।

इन पाँचों भावों में पारिणामिक भाव जीव अथवा आत्मा के लिए स्वाभाविक है। इसमें कर्मोदय, उपशम आदि नहीं रहते हैं।

जीवों की भव्यता– जैन दर्शन में जीवों की भव्यता पर विशेष विचार किया गया है। जीव अंधकार में भटकते हैं। जब तक वे आध्यात्मिकता का विकास करने के लिए स्वयं प्रयास नहीं करते, तब तक उन्हें सम्यक् दर्शन की स्थिति प्राप्त नहीं होती। इसके हेतु उनमें सत्य की प्राप्ति के लिए प्रेम उत्पन्न होता है। सभी जीवों में यह लक्षण नहीं पाया जाता। जो इस सम्यक् दर्शन से युक्त होकर मोक्ष के इच्छुक हैं, वे **भव्य जीव** हैं। जिनमें यह लक्षण नहीं, वे **अभव्य जीव** हैं। इन्हें कभी मोक्षप्राप्ति नहीं होती। पारिणामिक भाव ही जीव को मोक्ष प्राप्त कराता है।

जीवों के भेद–जैन दर्शन के अनुसार जीवों के दो भेद हैं–मुक्त और बद्ध। मुक्त जीव उन आत्माओं को कहा जाता है, जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। बद्ध जीव इनके विपरीत हैं। बद्ध जीव उन आत्माओं को कहा जाता है जो बन्धन में पड़ी हैं।

बद्ध जीवों का विभाजन– बद्ध जीवों का विभाजन भी दो रूपों में किया जाता है। वे रूप हैं–स्थावर और त्रस। जो जीव गतिहीन होते हैं, उन्हें स्थावर कहा जाता है। स्थावर जीवों का निवास पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पतियों में होता है। इन जीवों में एक ही ज्ञानेन्द्रिय होती है–स्पर्श। इसी आधार पर इन्हें एकेन्द्रिय जीव कहा जाता है। इन्हें केवल स्पर्श का ही ज्ञान होता है। त्रस जीव वे हैं जो गतिशील हैं। ये विश्व में निरन्तर

भटकते रहते हैं। त्रस जीव अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ त्रस जीव दो इन्द्रियों वाले होते हैं। घोंघा, सीप आदि दो इन्द्रियों वाले जीव हैं। इनकी दो इन्द्रियाँ स्पर्श और स्वाद हैं। कुछ त्रस जीवों की तीन इन्द्रियाँ भी होती हैं। ऐसे जीवों का उदाहरण चींटी है। इनकी तीन इन्द्रियाँ स्पर्श, स्वाद और गंध होती हैं। ऐसे जीव तीन इन्द्रियों वाले माने जाते हैं। कुछ त्रस जीवों की चार इन्द्रियाँ–स्पर्श, स्वाद, गन्ध और दृष्टि हैं। कुछ जीवों में पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। इस प्रकार के जीव मनुष्य, पशु, पक्षी आदि हैं। इनकी पाँच इन्द्रियाँ–स्पर्श, स्वाद, गंध, दृष्टि और शब्द हैं।

जैन तत्त्व मीमांसा

जैन दर्शन के अनुसार तत्वों की मीमांसा तीन प्रकार से हुई है। तात्पर्य यह है कि जैन मतावलम्बी दार्शनिकों में तत्वों की संख्या के विषय में मतभेद है। कुछ जैन आचार्य दो तत्व मानते हैं, कुछ पाँच तत्व मानते हैं और कुछ सात तत्व मानते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

(क) दो तत्व– आचार्य पद्मनन्दी के अनुसार दो तत्व हैं-पहला जीव और दूसरा अजीव। जीव में चेतना होती है और अजीव चेतनाविहीन होता है। जीव ज्ञान का रूप है और अजीव अज्ञान का रूप हैं। आचार्य पद्मनन्दी ने जीव को चित् और अजीव को अचित् कहा है। उनके अनुसार ये दोनों परम तत्व हैं। उनका कथन इस प्रकार है-

चिदचिद् द्वे परे तत्वे विवेकस्तद्विवेचनम्

(चित् और अचित् दो मरम तत्व हैं। उनका विवेचन अर्थात् विभाजन विवेक के आधार पर होता है।)

तात्पर्य यह है कि जब कर्ता यह समझने लगे कि किसको ग्रहण करना चाहिए और किसको त्यागना चाहिए, तब समझिये कि उसमें विवेक उत्पन्न हो गया है। विवेक के आधार पर तत्वों का विभाजन अर्थात् उनका जीव और अजीव के रूप में बँटवारा उचित प्रतीत नहीं होता। जैन दर्शन के अनुसार जीव को आत्मा भी कहा गया है। अर्थात् जीव और आत्मा एक ही हैं। यदि किसी मनुष्य में त्यागने योग्य को त्यागने की और ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करने की क्षमता या बुद्धि नहीं है तो क्या वह पुरुष अजीव अर्थात् आत्मा से रहित कहा जायेगा।

(ख) पाँच तत्व– ऐसे कुछ अन्य जैन दार्शनिक हैं जो जीव और अजीव तत्वों का विभाजन दूसरे प्रकार से करते हैं। ये जीव को तो ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं, पर अजीव के स्थान पर चार तत्व मानते हैं– आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। इन्हें अजीव का भेद कहना उचित नहीं है, फिर भी कुछ विद्वान् इन्हें अजीव के स्थान पर ही मानते हैं। जीव के दो भेद हैं–संसारी और मुक्त। जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल को अस्तिकाय भी कहा जाता है। यह 'अस्तिकाय' शब्द दो शब्दों अर्थात् अस्ति और काय से मिलकर बना है। इन्हीं के आधार पर इन्हें अस्तिकाय नाम दिया गया है। इन्हें अस्तिकाय कहने के विषय में सर्वदर्शनसंग्रह के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' के आधार पर कहा जा सकता है– "इन पाँच तत्वों का सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों से है, ये पाँचों तत्व तीनों कालों में स्थित हैं, इसलिए इनकी स्थिति का बोध अस्ति शब्द से कराया जाता है। स्थिति का अर्थ सत्ता है। ये पाँचों तत्व अनेक स्थान पर रहते हैं, इनकी स्थिति काया अर्थात् शरीर के समान है, इसलिए इनके लिए 'काय' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। अस्ति से काल का और काय से देश अर्थात् स्थान का बोध होता है। इस दृष्टि से इन पाँचों को 'अस्तिकाय' कहना उचित है। संसारी जीवों के भी दो भेद हैं–समनस्क और अमनस्क। जो जीव एक जन्म से दूसरे जन्म की तैयारी करते हैं, वे संसारी कहलाते हैं। जो संसारी जीव संज्ञा से युक्त हैं, उनहें समनस्क कहा जाता है। जो जीव संज्ञा से रहित हैं, वे अमनस्क कहलाते हैं।

(ग) सात तत्व– कुछ जैन दार्शनिक सात तत्व मानते हैं। उनके अनुसार सात तत्व हैं-(1) जीव, (2) अजीव, (3) आस्रव, (4) बन्ध, (5) संवर (6) निर्जरा और (7) मोक्ष। इनमें जीव और अजीव का निरूपण हो चुका है। शेष का परिचय प्रस्तुत है-

(1) आस्रव– औदारिक आदि कार्यों तथा दूसरे साधनों अर्थात् मन और वचन के चलने से आत्मा का चलना आस्रव है। आस्रव का दूसरा नाम योग है। यह योग जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। इसे ध्यान, धारणा, समाधि आदि वाला योग नहीं समझना चाहिए। पानी में डूबा हुआ किसी नली का छेद आस्रव कहा जा सकता है। इसका कारण है–इसी छेद से होकर जल का आस्रवण अर्थात् गिरना, बहना अथवा बाहर निकलना। इसी प्राकर योग अथवा आस्रव आत्मा की चंचलतारूपी नली है। उसी के द्वारा आत्मा या जीव में कर्म का आस्रवण अर्थात् प्रवाह या बहाव होता है। जीव का कर्म से बँध जाना ही आस्रव अथवा योग है। आस्रव के अन्य दृष्टान्त भी 'सर्वदर्शनसंग्रह' में दिये गये हैं। जैसे भीगा हुआ कपड़ा चारों ओर से हवा के द्वारा लायी गयी धूल को पकड़ लेता है, उसी प्रकार कषाय अर्थात् पाप रूपी जल में भीगी हुई आत्मा आस्रव अथवा योग के द्वारा लाये गये कर्म को सभी स्थानों से ग्रहण कर लेती है अथवा जिस प्रकार खूब गर्म किया गया लोहे का टुकड़ा पानी में डाले जाने पर चारों ओर से पानी को खींचता है, उसी प्रकार कषाय अर्थात् पाप से उष्ण अर्थात् संतप्त जीव अथवा आत्मा योग अर्थात् आस्रव द्वारा लाये हुए कर्म को चारों ओर से खींच लेता है।

(2) बन्ध– जब मिथ्या दर्शन, अविरति अर्थात् आसक्ति, प्रमाद अर्थात् असावधानी और कषाय अर्थात् पाप के तथा योग अर्थात् आस्रव के कारण आत्मा उन पुद्गलों अर्थात् शरीरों का आलिंगन करती है जो शरीर के सूक्ष्म क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, अनन्त स्थानों में निवास करते हैं और कर्मों के बन्धन में पकने योग्य होते हैं, इस प्रकार की क्रिया का नाम बन्ध है। मिथ्या दर्शन अर्थात् झूठा विश्वास, अविरति, प्रमाद और कषाय बन्ध के कारण हैं।

(3) संवर– आस्रव अथवा योग को रोकना संवर है। संवर के भेद गुप्ति, समिति, ईर्या, भाषा आदि हैं।

(4) निर्जरा– जो कर्म अर्जित किया गया है, उसे अपनी तपस्या, ध्यान, जप आदि से नष्ट कर देना निर्जरा है। पर्याप्त दिनों से प्राप्त किये हुए कषायों के समूह से उत्पन्न पुण्य तथा सुख और दुःख को भी यह निर्जरा तत्व देह से ही नष्ट करता है। निर्जरा के दो भेद सकाम निर्जरा और निष्काम निर्जरा हैं। सकाम निर्जरा के भेद यथाकाल और औपक्रमिक हैं। अकाम निर्जरा मुक्ति का कारण बनती है।

जैन दर्शन के सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दार्शनिकों के मतानुसार तत्वों की संख्या दो, पाँच और सात है। सात तत्वों को ही अधिकांश आचार्य स्वीकार करते हैं। इन सात तत्वों अर्थात् (1) जीव, (2) अजीव, (3) आस्रव, (4) बन्ध, (5) संवर, (6) निर्जरा, (7) मोक्ष का विवेचन और मान्यता तर्कसम्मत तथा पूर्ण प्रतीत होती है। जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाना मोक्ष है। मोक्ष को नित्य माना जाता है। मोक्ष प्राप्त करने वाला जीव अथवा आत्मा की ऊर्ध्व गति हो जाती है। उसे पुनः धरती पर आकर जन्म नहीं लेना पड़ता।

जैन दर्शन ही क्या, सभी दर्शन अपना लक्ष्य मोक्ष ही मानते हैं। नाम अलग-अलग हैं। बौद्ध इसी को निर्वाण नैयायिक मुक्ति और वेदान्ती अपर्वा कहते हैं। वेद, ईश्वर और परलोक का मुखर विरोध करने वाले चार्वाक ने भी मुक्ति को स्वीकार किया है। उसने मृत्यु को मुक्ति घोषित करते हुए लिखा है-**मरणमेवापवर्गः**। (मरना ही मुक्ति है।)

NOTES

बन्धन और मोक्ष

भारतीय धर्म, संस्कृति और दर्शन में मोक्ष का महत्व सबसे अधिक स्वीकार किया गया है। वैदिक दर्शन के अनुसार चार पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष स्वीकार किये गये हैं। पुरुषार्थ का तात्पर्य है–पुरुष के जन्म का प्रयोजन। भारतीय दर्शन मुक्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति में ही मानव जीवन की सफलता मानता है। जैन दर्शन तो मुनि को ही मोक्ष का अधिकारी स्वीकार करता है। जैन धर्म के दो सम्प्रदाय हैं-श्वेताम्बर और दिगम्बर। इनके विचारों में कहीं-कहीं विरोध है, पर मोक्ष की मान्यता दोनों में समान है। दिगम्बर जैन स्वीकार करते हैं कि मुनि को दिगम्बर होना ही चाहिए। उनके मुनि बनने की अनेक कोटियाँ हैं। जैन मुनि बनने का इच्छुक सबसे पहले ब्रह्मचारी बनता है। उसके बाद वह सुल्लक, एलक आदि श्रेणियाँ पार करने के बाद धीरे-धीरे कपड़े उतारता जाता है। अन्त में पूर्ण दिगम्बर अर्थात् नंगा हो जाने पर ही उसका नाम मुनि होता है। स्त्रियाँ कपड़े नहीं उतार सकतीं, उस आधार पर दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में उन्हें मोक्ष का अधिकारी नहीं माना गया है। जैनियों का श्वेताम्बर सम्प्रदाय श्वेत वस्त्र पहनने वाले मुनियों और स्त्रियों को भी मोक्ष का अधिकारी मानता है।

मोक्ष और बन्धन का सम्बन्ध– 'सर्वदर्शनसंग्रह' में आचार्य माधव ने बन्धन के स्थान पर 'बन्ध ' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार बन्ध एक पारिभाषिक शब्द है। वैसे इसका अर्थ भी माधवाचार्य और सर्वदर्शन के सम्पादक डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' ने बन्धन ही किया है।

बन्धन बुरा होता है, किन्तु जिस प्रकार राम के साथ रावण, पुण्य के साथ पाप, गाय के साथ कसाई और भलाई के साथ बुराई जुड़ी हुई है, उसी प्रकार मोक्ष के साथ बन्धन जुड़ा हुआ है। यदि बन्धन नहीं होगा तो मोक्ष, मुक्ति अथवा छुटकारा किससे होगा। बँधे हुए को ही छोड़ा जा सकता है। छूटे हुए को, स्वतन्त्र को, मुक्त को न तो बन्धन की आवश्यकता है और उसे मुक्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से मोक्ष से पहले बन्ध अथवा बन्धन पर विचार कर लेना उचित है।

भारतीय दर्शन में बन्ध अथवा बन्धन का अर्थ है- निरन्तर जन्म ग्रहण करना तथा संसार के दुःखों को सहन करना। भारतीय दार्शनिक होने के कारण जैन दर्शन ने तथा जैन आचार्यों ने बन्धन के सामान्य विचार को बन्ध की संज्ञा दी है और इसका पर्याप्त, विस्तृत और गम्भीर विवेचन किया है। जैन दार्शनिकों के मतानुसार बन्धन का अर्थ जीवों द्वारा दुःखों का सामना तथा जन्म-जन्मान्तर तक भटकना है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जीव के द्वारा दुःखों की अनुभूति ही बन्ध अथवा बन्धन है। इस अनुभूति के लिए ही जीव बन्ध न में पड़ता है।

यद्यपि जैन दर्शन ब्राह्मण दर्शन के सामान्य विचारों और मान्यताओं को स्वीकार करता है, फिर भी उसके बन्धन सम्बन्धी विचारों और मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर है। इस अन्तर का कारण जैन दर्शन का जगत् और आत्मा के प्रति आस्तिक दर्शन अथवा ब्राह्मण दर्शन से भिन्न दृष्टिकोण है। जैन दार्शनिकों के जगत् तथा आत्मा सम्बन्धी विचार आस्तिक दर्शन से मेल नहीं खाते, सर्वथा भिन्न हैं। जैन दर्शन के अनुसार जीव स्वाभाविक रूप से अनन्त है। जीवों में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अर्थात् श्रद्धा, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द पूर्णताएँ व्याप्त हैं। बन्धन की अवस्था में ये सारी पूर्णताएँ आवरण के द्वारा ढक दी जाती हैं। जिस प्रकार मेघ सूर्य के प्रकाश का आवरण बनकर उसे ढक देता है, उसी प्रकार बन्धन आत्मा अथवा जीव के स्वाभाविक गुणों को निष्क्रिय और प्रभावहीन बना देता है। जैन दर्शन का चिन्तन यहाँ से आरम्भ होता है कि जीव बन्ध न में आता किस प्रकार है। जैन दार्शनिकों के बन्धन सम्बन्धी विचारों और मान्यताओं को जानना परमावश्यक है। बन्धन का कारण जीवन में शरीर से संयोग की कामना है।

मोक्ष– माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में मोक्ष का जो लक्षण प्रस्तुत किया है, उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है– "मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के कारण हैं। उनका निरोध कर लेने पर नवीन कर्मों का अभाव हो

जाता है तथा निर्जरा रूपी कारण के सम्पर्क में आने से पहले प्राप्त किये गये कर्मों का विनाश हो जाता है। इसके बाद सभी प्रकार के कर्मों से सदा के लिए अर्थात् आत्यन्तिक मुक्ति मिल जाती है। यही मोक्ष है। उसके बाद प्राणी ऊपर चला जाता है।"

इसकी व्याख्या करते हुए डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' ने लिखा है- "जैन लोग (जैन दार्शनिक) मोक्ष के दो कारण मानते हैं- संवर और निर्जरा। संवर से आस्रव अर्थात् कर्मोदय रुकता है, नये कर्म उत्पन्न नहीं होते। निर्जरा से अर्जित कर्मों का भण्डार भस्म हो जाता है। इस प्रकार कर्मों के बन्धन से बिल्कुल निकल जाना मोक्ष है। इसके विपरीत कर्म संवृत होना बन्ध है। मोक्ष होने पर प्राणी ऊपर की ओर उठता हुआ लोकों को पार करके ऊपर पहुँच जाता है।''

इस विषय में शंका हो सकती है कि जब आत्मा के पूर्वकृत कर्म नष्ट हो जाते हैं और नवीन कर्मों का निर्माण रुक जाता है, तब जीव अथवा आत्म की ऊर्ध्व गति किस प्रकार हो जाती है। ऊर्ध्व गति अर्थात् ऊपर जाना भी तो कर्म है।

बन्ध और मोक्ष को पुनः समझा जा सकता है। परस्पर एक-दूसरे के प्रदेश में आत्मा और शरीर द्वारा प्रवेश करने पर अविभक्त रूप से रहना बन्ध है। एक-दूसरे का केवल सम्पर्क होना संग है। यह कहा है कि पूर्व के संस्कार के प्रयोग से संग न होने अथवा संग का अभाव हो जाने के कारण बन्ध का नाश हो जाने तथा अपनी गति के प्रस्फुटन से आत्मा की गति ऊपर की ओर होती है। भ्रमण का संस्कार पाये हुए कुम्हार के चाक के समान, लेप छूट जाने से लौकी की तरह, अंडी के बीज की तरह और अग्नि की शिखा के समान आत्मा की यह गति होती है।

भारत में कुछ दर्शन मोक्ष-प्राप्ति के लिए केवल सम्यक् ज्ञान को आवश्यक मानते हैं। वेदान्त दर्शन की मान्यता इसी प्रकार की है। कुछ दर्शनों के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए केवल सम्यक् दर्शन अर्थात् दृढ़ विश्वास ही पर्याप्त माना जाता है। कुछ भारतीय दर्शनों ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यक् चरित्र अर्थात् उत्तम चरित्र, श्रेष्ठ जीवनक्रम को ही पर्याप्त माना है। जैन दर्शन ने सभी का समन्वय किया है। इस प्रकार जैन दर्शन पर एकांगी होने का आरोप समाप्त हो जाता है।

इस विवेचन से जैन दर्शन में बन्ध और मोक्ष का महत्व समझा जा सकता है।

जैन दर्शन का सप्तभंगी न्याय

जैन दर्शन के सप्तभंगीन्याय को 'स्याद्वाद' भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इसके सातों वचनों में 'स्यात्' अर्थात् 'शायद' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसकी सात श्रेणियाँ होती हैं। इस आधार पर इसे सप्तभंगीनय या न्याय कहा जाता है। इसकी सात सीढ़ियाँ अथवा सातों सम्भावनाएँ निम्नलिखित हैं-

(1) स्यात् अस्ति = शायद है।

(2) स्यान्नास्ति = स्यात् + नास्ति = शायद नहीं है।

(3) स्यात् अस्ति च नास्ति च = शायद है भी और नहीं भी है।

(4) स्यात् अवक्तव्यः अस्ति = शायद अवक्तव्य है अर्थात् न कहने योग्य है।

(5) स्यादस्ति चावक्तव्यं च = स्यात् + अस्ति + च + अवक्तव्यम् + च = शायद है और कहने योग्य नहीं है।

(6) स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च = स्यात् + न + अस्ति + च + अवक्तव्यम् + = शायद नहीं है और अकथनीय है।

(7) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च = स्यात् + च + न + अस्ति + च + अवक्तव्यं + च = शायद है भी और नहीं भी है और अकथनीय भी है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण हैं। एक समय में मनुष्य किसी वस्तु के एक ही गुण को ग्रहण करने की क्षमता रखता है। जो व्यक्ति ज्ञान मुक्त है, वही एक समय में एक व्यक्ति का ज्ञान सम्पूर्ण रूप से कर सकता है। साधारण मनुष्यों का ज्ञान अपूर्ण और आंशिक होता है। नय शब्द का प्रयोग वस्तु के इसी आंशिक अथवा अपूर्ण ज्ञान के लिए किया जाता है। नय किसी भी वस्तु को समझने का दृष्टिकोण है। ये नय अथवा दृष्टिकोण सत्य के आंशिक रूप कहे जा सकते हैं। इनके माध्यम से सापेक्ष वस्तु की प्राप्ति होती है। इससे निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्याद्वाद ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है।

किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में हम जो निर्णय करते हैं, वह सभी दृष्टियों से सत्य नहीं होता है। उसकी सत्यता का आधार विशेष परिस्थिति तथा विशेष दृष्टि का ही होना सम्भव है। मनुष्यों में और विशेष रूप से विद्वानों में मतभेद इस कारण रहता है कि वे अपने विचारों को नितान्त अर्थात् सर्वथा और विशेष रूप से सत्य समझते हैं। वे यह विश्वास करते हैं कि ईश्वर या प्रकृति ने डेढ़ बुद्धि बनायी थी। एक बुद्धि मुझे दे दी और आधी सारी संसार को बाँट दी। इसी आधार पर वे दूसरों के कथनों, वचनों और सिद्धान्तों को असत्य और अप्रामाणिक मानते हैं। इसी कारण वे दूसरों के विचारों और मान्यताओं की उपेक्षा करते हैं। इसी विरोधाभासमयी समस्या अथवा उलझन को पूर्ण रूप से समझने के लिए जैन दार्शनिकों ने हाथी और उसका स्पर्श करने वाले छः अंधे व्यक्तियों का उदाहरण दिया है।

वह उदाहरण इस प्रकार है। एक बार छः अन्धे व्यक्तियों ने हाथी को टटोलकर देखा। एक ने उसकी पूँछ को छुआ और बोला हाथी रस्सी की तरह होता है। दूसरे ने उसके पैर को टटोलकर देखा और कहने लगा कि हाथी खम्भे की तरह होता है। तीसरे ने उसका कान टटोला और चिल्लाया कि तुम सब गलत कह रहे हो हाथी तो पंखे की तरह होता है। एक अंधे का हाथ हाथी के दाँत पर चला गया। उसने दाँत को टटोला और कहा कि नहीं, हाथी तो छोटे डंडे की तरह होता है। छठे अंधे ने हाथी की सूँड़ का ठीक से स्पर्श किया और बोला- नहीं, तुम सब गलत कह रहे हो, हाथी तो पेड़ से लटकती लता की तरह होता है।

प्रत्येक अंधा सोच रहा था और विश्वास कर रहा था कि हाथी के विषय में उसका ज्ञान सच्चा और पूर्ण है। इसी कारण वह अपने शेष पाँच साथियों को गलत और झूठ बोलने वाला समझ रहा था। वास्तविकता यह थी कि हाथी के सम्बन्ध में सभी के ज्ञान गलत थे। उनमें से कोई भी नहीं जान पाया था कि हाथी कैसा होता है ?

आस्तिक और नास्तिक दर्शनों में आपस में जो मतभेद और वाद-विवाद है कि सभी अपने दृष्टिकोण को सत्य और संगत समझ रहे थे और दूसरों के दृष्टिकोणों को असत्य और असंगत समझकर उनका विरोध कर रहे थे। सभी दार्शनिकों का दृष्टिकोण आंशिक रूप से अथवा एकदेशीयता के विचार से सत्य हो सकता है। इन दर्शनिकों का अधिक बल विरोध पर है। वास्तविकता को कोई नहीं समझना चाहता।

इस समस्या को सुलझाने के लिए जैन दर्शन के आचार्यों ने सभी का समन्वय करने के लिए सभी का दृष्टिकोण स्वीकार कर लिया तथा किसी को भी पूर्ण रूप से सत्य नहीं माना। एक वस्तु के जितने भी रूप या भाग हो सकते हैं, उन सभी का समावेश करने के लिए जैन दर्शन के विद्वानों ने सप्तभंगीनय अथवा

स्याद्वाद को प्रस्तुत किया। स्याद्वाद का आधार यह है कि किसी भी मनुष्य का ज्ञान पूर्ण नहीं होता। सभी का ज्ञान एकांगी और आंशिक होता है।

यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने प्रत्येक मत के आरम्भ में 'स्यात्' लगा दिया है, जिसका अर्थ शायद या अनिश्चय होता है। उदाहरण के रूप में एक मेज को ले सकते हैं। अगर यह मेज लाल दिखाई देती है तो हमें जैन दर्शन के स्याद्वाद अथवा सप्तभंगीनय के अनुसार कहना चाहिए- शायद मेज लाल है। अगर हम मेज लाल कहते हैं तो उसे काली, सफेद, बादामी, पीली और हरी समझने वाले हमारा मुखर विरोध करने लगेंगे। अगर हम सन्देह और सम्भावना का आश्रय लेकर स्यात् अथवा शायद शब्द का प्रयोग करेंगे तो सभी को लगेगा कि उनकी बात अथवा अनुभूति भी सत्य हो सकती है।

जैन दर्शन के परामर्श के जो दो प्रकार हैं, उनके अन्तर्गत इन दो परामर्शों का भी समावेश हो सकता है। यदि जैन दर्शन के 'स्याद्वाद' अथवा 'सप्तभंगीनय' की विस्तृत व्याख्या की जाये तो उसका रूप इस प्रकार होगा-

(1) प्रथम परामर्श 'स्यात् अस्ति' है। उदाहरण के रूप में किसी लाल दीवार को कहा जा सकता है कि स्यात् भित्तिः रक्ता अस्ति = शायद दीवार लाल है। इसका तात्पर्य यही समझना चाहिए कि किसी विशेष देश, काल और प्रसंग में दीवार लाल हो सकती है। यह भावात्मक वाक्य है।

(2) द्वितीय परामर्श 'स्यात् नास्ति' है। यह अभावात्मक परामर्श है। दीवार के सम्बन्ध में अभावात्मक परामर्श इस प्रकार का होता है- "स्यात् भित्तिः रक्ता नास्ति, (शायद दीवार लाल नहीं है।) यहाँ पर 'स्यात्' शब्द से इस तथ्य का बोध होता है कि विशेष रूप से और रंग हैं, विशेष समय में और विशेष स्थान पर लाल रंग का नहीं है। इस परामर्श में स्यात् का अर्थ स्थान, काल और रंग की सम्भावना है।

(3) तीसरा परामर्श है- 'स्यात् अस्ति चास्ति च'। इसका आशय यह है कि वस्तु की सत्ता, स्थान, देश और काल की दृष्टि से सम्भावना है भी और नहीं भी है। लाल घड़े के विषय में यह परामर्श इस रूप में हो सकता है कि शायद घड़ा लाल है भी और लाल नहीं भी है। इसके रंग के विषय में न तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है और न निषेध किया जा सकता है।

(4) इसका परामर्श है-स्यात् अवक्तव्यम् = शायद कहने योग्य नहीं है। यदि किसी पदार्थ में विरोधी गुण के रूप में सत्ता तथा असत्ता दोनों का और किसी भी प्रकार का निश्चय नहीं है तो असमर्थता व्यक्त करना ही उचित है। यह कहकर पीछा छुड़ाया जा सकता है कि दीवार, मेज और घड़े के विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।

(5) स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् = यह वस्तु है, पर कहने योग्य नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु एक समय और स्थान में है, पर उसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि दृष्टि का स्पष्ट संकेत नहीं हो, पुस्तक, कलंम आदि की सत्ता है, पर कहने योग्य नहीं है।

(6) स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् अस्ति च = शायद वस्तु नहीं है और उसे कहा नहीं जा सकता है। दूसरे और चौथे परामर्श को असम्भावना से मिला देने पर सत्ता का अभाव तो है, पर कहने की स्थिति में नहीं हूँ।

(7) स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्यतव्यं च = इसका अर्थ यह है कि वस्तु है भी और नहीं भी है, पर कुछ कहा नहीं जा सकता। जैसे कोई व्यक्ति श्वेत रंग के वस्त्र के विषय में कहे कि यह वस्त्र श्वेत नहीं है और है भी, पर इसके विषय में कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ।

NOTES

जैन दर्शन (व्याख्या भाग)

1. जीवादितत्त्वनिचयं समुपादिशद्यो
ज्ञानप्रपञ्चमखिलं सरलं तथैव।
संदिश्य दर्शनमथापि चरित्रमेवं
जैनो भवेत्पथि निदर्शक एष वीर:॥ ऋषि:

प्रसंग– डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा विरचित यह छन्द आचार्य माधव द्वारा विनिर्मित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' के आरम्भ में परिचयात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें जैन धर्म के प्रचारक महावीर स्वामी की प्रशंसा प्रस्तुत की गयी है।

हिन्दी अनुवाद– जिसने जीव आदि तत्वों के समूह का भलीभाँति उपदेश किया तथा सम्पूर्ण प्रपंच का ज्ञान सरलतम रूप में प्रस्तुत किया। दर्शन और चरित्र का सन्देश देकर ये महावीर स्वामी मेरे मार्ग में प्रदर्शक हों।

(1. क्षणिक भावना का खण्डन)

2. तदित्थं मुक्तकच्छानां मतमसहमाना विवसना: कथंचित्स्थायित्वमास्थाय क्षणिकत्वपक्षं प्रतिक्षिपन्ति। यद्यात्मा कश्चिन्नास्थीयेत स्थायी, तदैहलौकिकपारलौकिकफलसाधनसम्पादं विफलं भवेत्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में बौद्धों के क्षणिकत्व सिद्धान्त का खण्डन किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– सो इस प्रकार काँच अर्थात् धोती के पिछले भाग को खुला रखने वाले बौद्धों के मत को सहन न करते हुए वस्त्र न पहनने वाले अर्थात् दिगम्बर जैन किसी प्रकार सत्ता का स्थायित्व स्वीकार करके क्षणिकत्व मत का खण्डन करते हैं। यदि कोई आत्मा के स्थायी होने में विश्वास न करे, तब इस लोक के और परलोक के फलों के साधन का सम्पादन विफल हो सकता है।

3. न ह्येतत्सम्भवत्यन्य: करोत्यन्यो भुङ्क्त इति। तस्माद्योऽहं प्राक् कर्म अकरवं सोऽहं सम्प्रति तत्फलं भुञ्ज इति पूर्वापरकालानुयायिन: स्थायिनस्तस्य स्पष्टप्रमाणावसिततया पूर्वापरभागविकलकालकलावस्थितिलक्षणक्षणिकता परीक्षकैरर्हद्भिर्न परिग्रहार्हा॥

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस गद्यांश में जैन मतानुयायी विद्वानों ने ऐसे कालखण्ड कला अथवा क्षण का आधार लेकर बौद्धों के क्षणिकत्व अर्थात् क्षण-क्षण में परिवर्तन होने के सिद्धान्त का विरोध किया है।

हिन्दी अनुवाद– यह कभी सम्भव नहीं होता कि एक कर्म करता है और उसके फल का अनुभव अन्य करता है। इस दृष्टि से जो मैंने पहले कर्म किया था और अब उसका फल भोग रहा हूँ। इस प्रकार स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत होता है कि पहले और बाद के समय में होने वाले कार्य अथवा भाव स्थायी हैं। तात्पर्य यह है कि ये कार्य और भाव क्षणिक नहीं हैं। यही कारण है कि सत्य की खोज करने वाले जैन मतानुयायी उस क्षणिकता के सिद्धान्त को स्वीकार करने में समर्थ नहीं हैं जो पूर्वापर अर्थात् पहले और बाद के क्रम से रहित हो। तात्पर्य यह है कि समय का एक अंश कला कहलाता है, जिसमें पहला और बाद का दो भाग नहीं है। इसको परीक्षा करने वाले जैन मतानुयायी स्वीकार करने योग्य नहीं समझते।

(2. क्षणिक पक्ष में बौद्धों की युक्ति)

4. अथ मन्येताः–

प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते ?

इति न्यायेन 'यत्सत्तत्क्षणिकम्' इत्यादिना प्रमाणेन क्षणिकतायाः प्रमिततया, तदनुसारेण समानसंतानवर्तिनामेव प्राचीनः प्रत्ययः कर्मकर्त्ता, तदुत्तरः प्रत्ययः फलभोक्ता।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस गद्यांश में आचार्य माधव ने क्षणिकत्व को सिद्ध करने वाले बौद्धों की युक्ति प्रस्तुत की है।

हिन्दी अनुवाद– आप लोग यह मानते हैं कि प्रमाणों वाला होने के कारण आया हुआ सत्ता की क्षणिकता के प्रवाह को किसके द्वारा रोका जा सकता है। इस नियम से जो कुछ है, जिसकी भी सत्ता है, वह क्षणिक है, इस नियम के कारण क्षणिकता के प्रमाणित होने के कारण उसके अनुसार एक ही परम्परा के वर्तमान ज्ञानों के आधार पर ज्ञान कार्यकर्त्ता होता है और पश्चाद्वर्ती अर्थात् बाद में होने वाला ज्ञान उसका फल भोक्ता होता है।

5. न चातिप्रसंगः। कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात्। यथा मधुररसभावितानामाम्रबीजानां परिकर्षितायां भूमावुप्तानामङ्कुरकाण्डस्कन्धशाखापल्लवादिषु तद्द्वारा परम्परया फले माधुर्यनियमः। यथा वा लाक्षरसावसिक्तानां कार्पासबीजादीनामङ्कुरादिपारम्पर्येण कार्पासादौ रक्तिमनियमः।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में क्षणिकत्व को सिद्ध करने वाले बौद्ध मतानुयायी दार्शनिकों का पक्ष प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– इसमें अतिप्रसंग भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि इसमें प्रस्तुत विषय के अतिरिक्त किसी दूसरे विषय का समावेश नहीं है। ऐसा इसलिए नहीं है, क्योंकि दोनों में कार्य-कारण भाव का समावेश है। जैसे मीठे रस में डुबोये गये आम के बीज अर्थात् आम की गुठलियों को जुती हुई भूमि में बोने से क्रम के अनुसार मिठास अंकुर, तने, डालियों और पत्तियों के फल में पहुँच जाती है अथवा लाख के लाल रस से सींचे गये कपास के बीजों अर्थात् बिनौलों से क्रमशः अंकुर आदि से होती हुई कपास में पहुँच जाती है।

6. यथोक्तम्–

**यस्मिन्नेव हि संताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव बध्नाति कार्पासे रक्तता यथा॥1॥**

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें कपास का उदाहरण सम्बन्धित कार्य का फल एकत्व से सम्बद्ध होने पर ही मिलना स्वीकार किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– ऐसा ही कहा भी गया है– जिस परम्परा में कर्म की वासना लगा दी जाती है, उसी परम्परा में फल प्राप्त होता है। उदाहरण के रूप में कपास में लाली समझी जा सकती है।

NOTES

7. कुसुमे बीजपूरादेर्यल्लाक्षाद्यवसिच्यते।
शक्तिराधीयते तत्र काचित्तां किं न पश्यसि ?॥2॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें बिजौरा नीबू के फूल पर लाख का रस छिड़क जाने का उदाहरण देकर बौद्धों के क्षणिकवाद का समर्थन किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– बिजौरा नीबू आदि के फूल पर जो लाख आदि का रस सींचा जाता है, वहाँ अर्थात् बिजौरा नीबू में एक विशेष प्रकार की शक्ति आ जाती है। क्या तुम इसे नहीं देखते हो ?

3. जैनों द्वारा उपर्युक्त मत का खण्डन

8. तदपि काशकुशावलम्बनकल्पम्। विकल्पासहत्वात्। जलधरादौ दृष्टान्ते क्षणिकत्वमनेन प्रमाणेन प्रमितं, प्रमाणान्तरेण वा। नाद्य:। भवदभिमतस्य क्षणिकत्वस्य क्वचिदप्यदृष्टचरत्वेन दृष्टान्तासिद्धा. वस्यानुमानस्यानुत्थानात्। न द्वितीय:। तेनैव न्यायेन सर्वत्र क्षणिकत्वसिद्धौ सत्त्वानुमानवैफल्यापत्ते:। अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमित्यङ्गीकारे मिथ्यासर्पदंशादेरप्यर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वापादनाच्च। अत एवोक्तम्-उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में बौद्ध धर्मावलम्बी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत क्षणिकत्व की सिद्धि का जैन धर्मावलम्बी दार्शनिकों द्वारा विरोध प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– बौद्धों की यह मुक्ति भी काँस और कुशा का सहारा लेने के समान है। यह उक्ति विकल्पों को सहन नहीं कर सकती। जलधर अर्थात् बादल आदि के दृष्टान्त में क्षणिकत्व इस प्रमाण से सिद्ध होता है अथवा किसी अन्य प्रमाण से ? आपका पहला विकल्प उचित और सत्य नहीं है, क्योंकि आपके मत के अनुसार जो क्षणिकत्व है उसके कहीं भी दिखाई न देने के कारण। आपका दूसरा विकल्प भी उचित और सत्य नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो सभी जगह क्षणिकत्व की सिद्धि होने पर सत्ता का कोई भी अनुमान करना व्यर्थ अथवा विफल होने रूपी आपत्ति उपस्थित हो जायेगी। सार्थक क्रिया करने वाला ही सत्त्व होता है, ऐसा स्वीकार कर लेने पर बनावटी साँप के काटने आदि के भी सार्थक क्रिया करने के कारण सत्त्व मानने के कारण, इसलिए कहा है–उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता जिसमें हो, वह सत्त्व होता है।

(4. क्षणिकवाद के खण्डन की दूसरी विधि)

9. अथोच्यते–सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यासात्तत्सिद्धिरिति, तदसाधु। स्याद्वादिनामनेकान्तता – वादस्येष्टतया विरोधासिद्धे:। यदुक्तं कार्पासादिदृष्टान्त इति, तदुक्तिमात्रम्। युक्तेरनुक्ते:। तत्रापि निरन्वयनाशस्यानङ्गीकाराच्च।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत किया गया है। इसमें बौद्ध धर्मावलम्बियों के क्षणिकवाद की दूसरी विधि का खण्डन किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– इस विषय में बौद्ध धर्मावलम्बियों के द्वारा कहा जाता है कि एक ही पदार्थ में सामर्थ्य और असामर्थ्य दो विरोधी धर्मों की एक साथ स्थिति होने लगेगी। इससे उनके क्षणिकवाद की सिद्धि हो जायेगी। बौद्धों का यह तर्क ठीक नहीं है। स्याद्वाद का सिद्धान्त स्वीकार करने वाले जैन धर्मावलम्बियों द्वारा अनेकान्तता के सिद्धान्त को मानने के कारण विरोध की सिद्धि न होने के कारण। बौद्धों ने जो कहा है

कपास आदि का उदाहरण, वह केवल कहने भर के लिए है। उस सम्बन्ध में कोई युक्ति अर्थात् तर्क नहीं दिया गया है। वहाँ पर भी बौद्धों का सम्बन्धहीन नाश स्वीकार नहीं किया जा सकता।

10. **न च संतानिव्यतिरेकेण संतानः प्रमाणपदवीमुपारोढुमर्हति। तदुक्तम्–**
सजातीयाः क्रमोत्पन्नाः प्रत्यासन्नाः परस्परम्।
व्यक्तयस्तासु संतानः स चैक इति गीयते॥3॥
न च कार्यकारणभावनियमोऽतिप्रसङ्गं भङ्क्तुमर्हति। तथा
ह्युपाध्यायबुद्ध्यनुभूतस्य शिष्यबुद्धिः स्मरेत्तदुपचितकर्मफलमनुभवेद्वा।

प्रसंग– यह गद्यांश एवं श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इनमें परम्परा की प्रामाणिकता का विचार किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– संतान अर्थात् परम्परा तब तक प्रामाणिक स्वीकार नहीं की जा सकती, जब तक सन्तानी अर्थात् इस परम्परा को मिलाने वाली वस्तु न हो। ऐसा कहा गया है-

व्यक्ति अर्थात् अलग-अलग ढंग की वस्तुएँ अगर एक ही तरह की हैं, उनकी उत्पत्ति क्रम से हुई हो तथा वे आपस में मिले हुए हों तो उनकी एक ही परम्परा कही जाती है, मानी जाती है।

यह कहा जा सकता है कि अतिप्रसंग कार्य-कारण भाव का नियामक अर्थात् रोकने वाला हो सकता है, पर इससे अतिप्रसंग रुकना सम्भव नहीं है। अगर आपकी बात मान ली जाये तो अध्यापक की बुद्धि जिस वस्तु का अनुभव करती है, उसका स्मरण शिष्य की बुद्धि भी कर सकती है। अध्यापक के द्वारा किये गये कर्मों के फल का अनुभव भी शिष्य की बुद्धि कर सकती है।

11. **तथा च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः। तदुक्तं सिद्धसेनवाक्यकारेण–**
कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिकः परोऽसौ॥4॥

(वी. स्तु. 18) इति।

प्रसंग– यह गद्यांश और श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें क्षणिकवाद को मानने वाले बौद्धों को महान साहसी बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– और इसी प्रकार किये गये कर्म के नाश और बिना किये कर्म का फल भोगने का प्रसंग प्रस्तुत होगा। इस तथ्य को सिद्धसेन के सिद्धान्तों पर वार्तिकों की रचना करने वाले ने अपनी टीका में इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

किये हुए कर्म का नाश, न किये हुए कर्म का फल भोगना, जगत् का विनाश, मोक्ष का विनाश, स्मरणशक्ति नष्ट हो जाना–इन दोषों की स्पष्ट रूप से उपेक्षा करके हमारा जो विरोधी अर्थात् बौद्ध दार्शनिक क्षणिकवाद को मानने की इच्छा करता है, वह बहुत बड़ा साहसी है।

(5. क्षणिकत्व-पक्ष में ग्राह्य-ग्राहक-[illegible]न होना)

12. किं च क्षणिकत्व-पक्षे ज्ञानकाले ज्ञेयस्यासत्त्वेन, ज्ञेयकाले ज्ञानस्यासत्त्वेन च ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तौ सकललोकयात्रास्तमियात्। न च समसमयवर्तिता शङ्कनीया। सव्येतरविषाणवत्कार्यकारणभावा सम्भवेनाग्राह्यस्यालम्ब- नप्रत्ययत्वानुपपत्तेः।

NOTES

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें क्षणिकत्व के पक्ष में ग्राह्य और ग्राहक भाव का निषेध किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– इसके अतिरिक्त क्षणिकवाद को स्वीकार करने पर ज्ञान के समय ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ की सत्ता का अभाव होगा और ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ के समय ज्ञान की सत्ता का अभाव होगा। ऐसा इसलिए होगा कि ज्ञेय पदार्थ कारण और ज्ञान कार्य है। इस प्रकार सकल लोकयात्रा अर्थात् संसार के सभी कार्य समाप्त हो जायेंगे। ग्राह्य और ग्राहक की एक समय की सत्ता भी नहीं मानी जा सकती, पशु के बायें और दायें सींग के समान ऐसा मानना सम्भव नहीं होगा। जो वस्तु ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य नहीं है, उसे आलम्बन प्रत्यय अर्थात् विषय के रूप में नहीं माना जा सकता।

(6. ज्ञान का साकार होना और दोष)

13. अथ भिन्नकालस्यापि तस्याकारार्पकत्वेन ग्राह्यत्वम्–तदप्यपेशलम्। क्षणिकस्य ज्ञानस्याकारार्पकताश्रयताया दुर्वचत्वेन साकारज्ञानवादप्रत्यादेशात्।

निराकारज्ञानवादेऽपि योग्यतावशेन प्रतिकर्मव्यवस्थाया: स्थितत्वात्। तथा हि प्रत्यक्षेण विषयाकार-रहितमेव ज्ञानं प्रतिपुरुषमहमहमिकया घटादिग्राहकमनुभूयते, न तु दर्पणादिवत्प्रतिबिम्बाक्रान्तम्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में ज्ञान के साकार होने के दोष पर विचार किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– इसके बाद यदि ऐसा कहा जाये कि वस्तु का ज्ञान अलग-अलग समयों में भी हो, तब भी वह अपने आकार की छाप छोड़ने के कारण ग्रहण करने योग्य है तो यह कहना भी अनुचित है। इसका कारण घट, पट आदि क्षणिक पदार्थों पर ज्ञान पर अपने आकार की छाप छोड़ेगा, इसका आश्रय लेने की बात कहना कठिन है। इस प्रकार 'ज्ञान साकार है' इस मान्यता का भी खण्डन हो जायेगा।

ज्ञान को निराकार मानने पर भी योग्यता के आधार पर सभी कर्मों की अवस्था स्वीकार करनी पड़ेगी। प्रत्यक्ष के आधार पर विषय और आकार से रहित जो ज्ञान घट आदि को ग्रहण करने वाला है, प्रत्येक पुरुष का व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया हुआ होता है। जिस प्रकार दर्पण केवल प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह ज्ञान प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं करता।

14. विषयाकारधारित्वे च ज्ञानस्यार्थे दूरनिकटादिव्यवहाराय जलाञ्जलिर्वितीर्येत। न चेदमिष्टापादानमेष्टव्यम्। दवीयान्महीधरो नेदीयान्दीर्घो बाहुरिति व्यवहारस्य निराबाधं जागरूकत्वात्।

न चाकाराधायकस्य तस्य दवीयस्त्वादिशालितया तथा व्यवहार इति कथनीयम्। दर्पणादौ तथानुपलम्भात्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' उद्धृत है। इसमें ज्ञान को साकार मानने में दूसरा दोष प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– यदि ज्ञान का प्रयोजन अपने विषय के आकार को धारण करता है तो ज्ञान में दूर और समीप आदि के व्यवहार को त्याग देना पड़ेगा। इस मनचाही वस्तु को खोजने की आवश्यकता भी नहीं

है। यह पर्वत अधिक दूर है, यह बड़ी भुजा अधिक समीप है, इस प्रकार का व्यवहार बिना किसी बाधा के चलता रहता है।

आकार का समर्पण करने वाले उस पर्वत आदि में ही दूर होने आदि का गुण है, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि दर्पण आदि में इस प्रकार का व्यवहार नहीं पाया जाता है।

15. किं चार्थादुपजायमानं ज्ञानं यथा तस्य नीलाकारतामनुकरोति तथा यदि जडतामपि, तर्हि अर्थवत्तदपि जडं स्यात्। तथा च वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि ते नष्टं स्यादिति महत्कष्टमापन्नम्।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया ज्ञानं जडतां नानुकरोति–इति ब्रूषे, हन्त, तर्हि तस्या ग्रहणं न स्यादित्येकमनुसंधित्सतोऽपरं प्रच्यवत इति न्यायापातः।

प्रसंग– यह गद्यांश माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित ग्रंथ 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैनदर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। माधवाचार्य जी ने इस गद्यांश के माध्यम से ज्ञान के साकार होने का दोष उपस्थित किया है।

हिन्दी अनुवाद– और इसके अतिरिक्त भी दूसरा दोष हो सकता है कि वस्तुओं से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह जिस प्रकार उस वस्तु के नील आदि आकार का अनुकरण करता है, उसके पीछे-पीछे चलता है, उसी प्रकार यदि ज्ञान उस पदार्थ या वस्तु की जड़ता को ग्रहण करे तो पदार्थ के समान वह ज्ञान भी जड़ हो सकता है। इस प्रकार जहाँ आप वृद्धि की इच्छा कर रहे थे वहाँ आपका मूल भी नष्ट हो सकता है। यह बहुत बड़ी विपत्ति उपस्थित होगी।

यदि इस दोष को दूर करने की इच्छा से आप यह कहें कि ज्ञान पदार्थ की जड़ता का अनुकरण नहीं करता, तब तो बहुत अच्छा लगेगा, क्योंकि तब ज्ञान की दशा का ग्रहण नहीं होगा। इस प्रकार एक की खोज करने के इच्छुक के सामने दूसरी वस्तु के भूलने की स्थिति आ जायेगी। यह नियम उपस्थित हो जायेगा।

16. ननु मा भूज्जडताया ग्रहणम्। किं नश्छिन्नम् ? तदग्रहणेऽपि नीलाकारग्रहणे तयोर्भेदोऽनेकान्तो वा भवेत्। नीलाकारग्रहणे चागृहीता जडता कथं तस्य स्वरूपं स्यात् ? अपरथा गृहीतस्य स्तम्भस्यागृहीतं त्रैलोक्यमपि रूपं भवेत्। तदेतत् प्रमेयजातं प्रभाचन्द्रप्रभृतिभिरर्हन्मतानुसारिभिः प्रमेयकमलमार्तण्डादौ प्रबन्धे प्रपञ्चितमति ग्रन्थभूयस्त्वभयान्नोपन्यस्तम्।

प्रसंग– यह गद्यांश श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम्' से लिया गया है। श्री माधवाचार्य जी ने इस गद्यांश में ज्ञान के द्वारा पदार्थ का ग्रहण करने तथा ज्ञान के जड़ हो जाने की शंका का निराकरण किया है।

हिन्दी अनुवाद– हम स्वीकार करते हैं कि ज्ञान के द्वारा पदार्थ की जड़ता का ही ग्रहण नहीं हो सकेगा। इससे हमारी क्या हानि होगी ? इसका उत्तर यह है कि जड़ पदार्थ की जड़ता का ग्रहण न होने पर जब नील आदि के आकार को ज्ञान के द्वारा ग्रहण किया जाता है, उस समय जड़ता और पदार्थ दोनों में भेद होता, भिन्नता होती है अथवा व्यभिचार होता है अर्थात् दोनों एक साथ नहीं मिलते हैं। नील आकार का ग्रहण हो जाने पर भी जिस जड़ता का ग्रहण होता है, जो जड़ता प्राप्त की जाती है, वह उसका स्वरूप किस प्रकार हो सकता है। नहीं तो ग्रहण किये खम्भे का रूप ग्रहण न किये गये त्रैलोक्य अर्थात् तीनों लोकों के समान हो जायेगा। इन सभी विषयों का प्रतिपादन प्रभाचन्द्र आदि विद्वानों ने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' आदि ग्रन्थों में किया है जो अर्हत् अर्थात् जैन मत के मानने वाले हैं। ग्रन्थ बड़ा हो जायेगा, इस आशंका से इसे यहाँ विस्तार नहीं दिया जा रहा है।

NOTES

(7. अर्हत्-मत की सुगमता, अर्हत् का स्वरूप)

17. तस्मात्पुरुषार्थाभिलाषुकैः पुरुषैः सौगती गतिर्नानुगन्तव्या, अपि तु आर्हती एवार्हणीया। अर्हत्स्वरूपं च हेमचन्द्रसूरिभिराप्तनिश्चयालङ्कारे निरटङ्कि–

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन्परमेश्वरः॥5॥

प्रसंग– यह गद्यांश एवं श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें अर्हत् मत अर्थात् जैन धर्म की सुगमता और अर्हत् का स्वरूप बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– इस कारण पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा करने वाले पुरुषों के द्वारा बौद्धों की परम्परा का अनुगमन नहीं करना चाहिए, अपितु जैन मत की परम्परा ही स्वीकार करनी चाहिए। हेमचन्द्र सूरि ने अपने ग्रन्थ 'आप्तनिश्चयालंकार' में अर्हत् का स्वरूप इस प्रकार लिखा है–

जो सर्वज्ञ, राग अर्थात् आसक्ति आदि दोषों को जीतने वाला, तीनों लोकों में पूजित और वस्तुओं का जैसा रूप है, उन्हें वैसा ही बताने वाला है, वह अर्हत् देव परमेश्वर है।

(8. अर्हत् के विषय में विरोधियों की शंका)

18. ननु न कश्चित्पुरुषविशेषः सर्वज्ञपदवेदनीयः प्रमाणपद्धतिमध्यास्ते। तत्सद्भावग्राहकस्य प्रमाणपञ्चकस्य तत्रानुपलम्भात्। तथा चोक्तं तौतातितैः–

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥6॥
न चागमविधिः कश्चिन्नित्यसर्वज्ञबोधकः ।
न च तत्रार्थवादानां तात्पर्यमपि कल्प्यते ॥7॥

प्रसंग– यह गद्यांश तथा दोनों श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिये गये हैं। इनमें अर्हत् अर्थात् जैन मतानुयायियों के ईश्वर के विषय में मीमांसकों की शंका प्रस्तुत की गयी है।

हिन्दी अनुवाद– सर्वज्ञ शब्द के द्वारा जाना गया कोई विशेष पुरुष नहीं है, जो प्रमाण की पदवी को प्राप्त कर सकता हो। उसके होने के विषय में पाँचों प्रमाण प्राप्त नहीं होते। मीमांसकों ने ऐसा ही कहा है–

हमने तथा अन्य दार्शनिकों ने ऐसा कोई पुरुष नहीं देखा है, जिसका ज्ञान सर्वज्ञ पद अथवा अर्थ के द्वारा समझने योग्य हो। हमने कोई ऐसा स्थान भी नहीं देखा है जो सर्वज्ञ के प्रमाण का अनुमान करा सके।

न तो वेदों का कोई आदेश है जो नित्य और सर्वज्ञ का बोध करा सके और न इस विषय में वाक्यों का तात्पर्य भी इस प्रकार का है।

19. न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते।
न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः॥8॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें मीमांसकों के अनुसार शब्द आदि प्रमाणों से अर्हत् मत की असिद्धि प्रदर्शित की गयी है।

हिन्दी अनुवाद– जो वाक्य ऐसे अर्थ वाले हैं, जिनमें दूसरों के कथन अर्थात् तात्पर्य को प्रधानता दी है, उनके द्वारा अर्हत् अर्थात् बौद्ध मत का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। जिसका किसी पूर्ववर्ती आचार्य के द्वारा ज्ञान नहीं कराया गया है, उसका अनुवाद अर्थात् पुन: कथन नहीं हो सकता।

**20. अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ? ॥9॥**

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम)' से उद्धृत है। इस श्लोक के मीमांसक ने शब्द प्रमाण अर्थात् वेद के द्वारा जैनियों के ईश्वर सर्वज्ञ की सिद्धि न होने का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद– सर्वज्ञ अर्थात् जैनियों का ईश्वर यदि आदि वाला है तो वेद उसका वर्णन नहीं कर सकते। यदि जैनियों का ईश्वर सर्वज्ञ आदि है तो वेद कृत्रिम और असत्य सिद्ध हो जायेंगे। वे सर्वज्ञ का प्रतिपादन अर्थात् सिद्धि नहीं कर सकते।

**21. अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रतीयते।
प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयो:॥10॥**

प्रसंग– यह श्लोक श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित एवं डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम्' (आर्हत दर्शनम्) से लिया गया है। श्री माधवाचार्य ने इस श्लोक के माध्यम से सर्वज्ञ और मूर्ख को अन्योन्याश्रय बताया है।

हिन्दी अनुवाद– अब यदि इन सर्वज्ञ मुनि के वचनों से ही सर्वज्ञ का ज्ञान होने लगे, मूर्ख लोग भी ज्ञानी बनने लगें, तब उन दोनों की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है। ये दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। यहाँ अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जायेगा।

**22. सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता।
कथं तदुभयं सिध्येत्सिद्धमूलान्तरादृते॥11॥**

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम)' से उद्धृत है। इस श्लोक के द्वारा मीमांसकों के मतानुसार सर्वज्ञ और उनके वाक्य की सिद्धि न होने का तर्क प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– यदि यह कहा जाये कि सर्वज्ञ के द्वारा कहे जाने के कारण वाक्य सत्य है और वाक्य के कारण सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध हो जाती है। मूल के सिद्ध होने के अभाव में ये दोनों किस प्रकार सिद्ध हो सकते हैं।

**23. असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात्।
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किं न जानते ? ॥12॥**

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें मूलहीन वाक्य से सर्वज्ञ का ज्ञान करने वालों को परामर्श दिया गया है।

हिन्दी अनुवाद– सर्वज्ञ से अन्य के द्वारा विरचित और मूल आधार से हीन वचन से सर्वज्ञ को जानने वाले उसे अपने वचन से ही क्यों नहीं जान लेते ?

NOTES

24. सर्वज्ञसदृशं कञ्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति।
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम्॥13॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस श्लोक के द्वारा उपमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ के सिद्ध न होने की बात कही गयी है।

हिन्दी अनुवाद– इस समय यदि हम सर्वज्ञ के समान किसी अन्य व्यक्तिं को देखें, तभी हम उपमान प्रमाण से उसे जान सकेंगे।

25. उपदेशोऽपि बुद्धस्य धर्माधर्मादिगोचरः।
अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ्यं यदि नाभवत्॥14॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस श्लोक में अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ की असिद्धि को निश्चित किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– बुद्ध अथवा जिन का उपदेश धर्म और अधर्म दोनों का ज्ञान कराने वाला है। यह बात तभी सिद्ध हो सकती है, जब बुद्ध का सर्वज्ञ होना सिद्ध हो जायेगा।

26. एवमर्थापत्तिरपि प्रमाणं नात्र युज्यते।
उपदेशस्य सत्यत्वं यतो नाध्यक्षमीक्ष्यते॥15॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत् दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें जैन दर्शन के विषय में मीमांसकों ने यह शंका प्रस्तुत की है कि अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।

हिन्दी अनुवाद– (इससे पूर्ववर्ती श्लोक में अर्थापत्ति का सहारा लिया गया है।) वह अर्थापत्ति प्रमाण का भी यहाँ सहारा लेना अनुचित है, क्योंकि यहाँ उपदेश की सत्यता ही अध्यक्ष अर्थात् नियन्त्रक के रूप में नहीं देखी जाती है।

(9. अर्हत् पर मीमांसकों की शङ्का का समाधान)

27. अत्र प्रतिविधीयते। यदभ्यधायि 'तत्सद्भावग्राहकस्य प्रमाणपञ्चकस्य तत्रानुपलम्भात्' इति तदयुक्तम्। तत्सद्भावावेदकस्यानुमानादेः सद्भावात्। तथा हि कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्। यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं, तत्तत्साक्षात्कारिः यथा–अपगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें अर्हत् को सर्वज्ञ न मानने वाले मीमांसकों को जैन मतावलम्बी विद्वानों द्वारा उत्तर दिया गया है।

हिन्दी अनुवाद– यहाँ उसका अर्थात् मीमांसकों की शंका का उत्तर दिया जा रहा है। आप लोगों ने यह कहा कि उसकी अर्थात् सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करने वाले जो पाँच प्रमाण हैं, उनमें से यहाँ कोई प्राप्त नहीं है। यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि उस सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करने वाले अनुमान आदि का अस्तित्व है।

कोई आत्मा अर्थात् अर्हत्, सर्वज्ञ, मुनि सभी पदार्थों का साक्षात्कार कर सकती है, यदि उसका स्वभाव सभी पदार्थों को ग्रहण करने का होने पर ज्ञान का प्रतिबन्ध करने वाले अर्थात् ज्ञान को रोकने वाले तत्व नष्ट हो जायें। किसी व्यक्ति का जिस वस्तु को ग्रहण करने का स्वभाव है अर्थात् योग्यता है तो उस ज्ञान प्रतिबन्ध करने वाला तत्वों के नष्ट हो जाने पर वह व्यक्ति उस वस्तु का साक्षात्कार अवश्य करेगा। जैसे अंधकार आदि प्रतिबन्धों अर्थात् रुकावटों के नष्ट हो जाने पर दृष्टि विज्ञान अर्थात् आँख रूप का साक्षात्कार अवश्य करेगी।

28. तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मा। तस्मात्सकलपदार्थसाक्षात्कारीति। न तावदशेषार्थग्रहणस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धम्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें एक किसी आत्मा का सर्वज्ञ के रूप में होना सिद्ध किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– सर्वज्ञ के रूप में ऐसी कोई आत्मा हो सकती है, जिसका स्वभाव सभी पदार्थों को ग्रहण करने का है। उसके ज्ञान में प्रतिबन्धक अर्थात् रुकावट डालने वाले सभी पदार्थों को ग्रहण कर सकती है।

29. चोदनाबलान्निखिलार्थज्ञानोत्पत्त्यन्यथानुपपत्त्या, सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादिति व्याप्तिज्ञानोत्पत्तेश्च। 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयति' (मी. सू. 1/1/2 शाबरभाष्य) इत्येवंजातीयकैरध्वरमीमांसागुरुभिर्विधिप्रतिषेधविचारणानिबन्धनं सकलार्थविषयज्ञानं प्रतिपद्यमानैः सकलार्थग्रहणस्वभावकत्वमा- त्मनोऽभ्युपगतम्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'आर्हत दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें आत्मा सर्वार्थग्रहण स्वभाव न मानने वाले मीमांसकों का जैन मतावलम्बी दार्शनिकों ने विरोध किया है।

हिन्दी अनुवाद– सर्वज्ञत्व सिद्ध करने का हेतु सम्पूर्ण अर्थ ग्रहण करने का स्वभाव नहीं मानें तो चोदना अर्थात् विधि के सहयोग से सभी विषयों अर्थात् इन्द्रियार्थों के ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं होगी। इसके अतिरिक्त नीचे कही जाने वाली जो व्याप्ति ज्ञान है, उसकी उत्पत्ति भी सम्भव नहीं होगी। चोदना अर्थात् विधि व्यतीत हो चुके विषयों की, वर्तमान विषयों की, भविष्य में होने वाली विषयों की, सूक्ष्म वस्तुओं की, व्यवध ान वाली वस्तुओं अर्थात् दूर की वस्तुओं की प्रतीति कराती है। यह मीमांसा सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के द्वितीय सूत्र के शबर स्वामी के भाष्य में बताया गया है।

इस प्रकार की यज्ञ सम्बन्धी मीमांसा अर्थात् विवेचना में निपुण मीमांसकों द्वारा विधि और निषेध के विचार पर आधारित सभी वस्तुओं के ज्ञान को सिद्ध करते हुए आत्मा के उस स्वभाव को मानते हैं, जो सभी अर्थों को ग्रहण करने वाला है।

30. न चाखिलार्थप्रतिबन्धकावरणप्रक्षयानुपपत्तिः। सम्यग्दर्शनादित्रयलक्षणस्यावरणप्रक्षयहेतुभूतस्य सामग्रीविशेषस्य प्रतीतत्वात्। अनया मुद्रयापि क्षुद्रोपद्रवा विद्राव्याः।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें जैन मतावलम्बी दार्शनिकों ने मीमांसकों आदि विरोधी दार्शनिकों के आक्षेपों को दबाने की बात कही है।

हिन्दी अनुवाद– ऐसा नहीं है कि सभी वस्तुओं के प्रकाशन अथवा ज्ञान में बाधा डालने वाले आवरण अर्थात् ढक्कन या पर्दे के विनाश की सिद्धि नहीं होती। तात्पर्य यह है कि सिद्धि होती है, सम्यक्

दर्शन आदि तीन रत्नों के लक्षण वाले आवरण के विनाश के कारण बने हुए विशेष साधन की प्रतीति होने के कारण। इस रीति से तुच्छ विरोधियों अर्थात् मीमांसक आदि दार्शनिकों के आक्षेप दबा दिये जायें।

NOTES

(10. नैयायिकों की शंका और उसका उत्तर)

31. नन्वावरणप्रक्षयवशादशेषविषयं विज्ञानं विशुद्धं मुख्यप्रत्यक्षं प्रभवतीत्युक्तं, तदयुक्तम्। तस्य सर्वज्ञस्यानादिमुक्तत्वेनावरणस्यैवासम्भवादिति चेत्-तन्न। अनादिमुक्तत्वस्यैवासिद्धेः। न सर्वज्ञोऽनादिमुक्तः। मुक्तत्वादितरमुक्तवत्। बद्धोपेक्षया हि मुक्तव्यपदेशः। तद्रहिते चास्याप्यभावः स्यादाकाशवत्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें सर्वज्ञ के विषय में नैयायिकों अर्थात् न्याय दर्शन के आचार्यों की शंका और उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– नैयायिकों की यह शंका है कि जैन दार्शनिक जो यह कहते हैं कि आवरण अर्थात ढक्कन या पर्दे के भली-भाँति समाप्त हो जाने पर सभी पदार्थों के विषय में विशुद्ध ज्ञान का मुख्य प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाता है, यह बात उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि वह सर्वज्ञ अनादिकाल से मुक्त है, इसलिए उसमें आवरण की सम्भावना नहीं है। जैन दार्शनिकों का कथन है-यह शंका अनुचित है, आपको नहीं करनी चाहिए। अनादि मुक्त होने की भावना ही असिद्ध हो जायेगी। सर्वज्ञ अनादिकाल से मुक्त नहीं है। वह भी अन्य मुक्त पुरुषों के समान मुक्त है। बद्ध शब्द मुक्त की अपेक्षा रखता है। बद्ध के अभाव में इसका अर्थात् मुक्त का भी अभाव होगा, आकाश के समान।

32. नन्वनादेः क्षित्यादिकार्यपरम्परायाः कर्तृत्वेन तत्सिद्धिः। तथा हि–क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवद्। तदप्यसमीचीनम्। कार्यत्वस्यैवासिद्धेः। न च सावयवत्वेन तत्साधनमित्यभिधातव्यम्। यस्मादिदं विकल्पजालमवतरति।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है, इसमें नैयायिकों के उत्तर और जैन दार्शनिकों द्वारा उसे अस्वीकार करने का वर्णन है।

हिन्दी अनुवाद– न्यायदर्शन के आचार्य ईश्वर अथवा सर्वज्ञ को अनादिकाल से मुक्त मानते हैं। जैन मतावलम्बी दार्शनिकों ने अनादिकाल से मुक्त होने का खण्डन कर दिया। उन्होंने कहा कि आप अपने ईश्वर को अनादिकाल से मुक्त मानते हैं। इस मान्यता में बन्धन की सत्ता नहीं रहती। बन्धन के बिना कोई मुक्त भी नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हुए कहा– पृथ्वी आदि की जो परम्परा चली आ रही है, उसके आधार पर उनके कर्ता के रूप में उस ईश्वर की सिद्धि हो जाती है। जैसे कि पृथ्वी आदि कर्ता वाले हैं, घड़े के समान। यह भी कहना अनुचित है। इन वस्तुओं के कार्य होने की सिद्धि नहीं होती। पृथिवी आदि पदार्थों के अवयवों से युक्त होने से इनके कार्य होने की सिद्धि होती है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। कार्य होने की सिद्धि मानने से विकल्पों का समूह यहाँ पर आ जायेगा।

(11. सावयवत्व के पाँच विकल्प और उनका खण्डन)

33. सावयवत्वं किमवयवसंयोगित्वम्, अवयवसमवायित्वम्, अवयवजन्यत्वम्, समवेतद्रव्यत्वम्, सावयवबुद्धिविषयत्वं वा ?

न प्रथमः। आकाशादौ अनैकान्त्यात्। न द्वितीयः। सामान्यादौ व्यभिचारात्। न तृतीयः। साध्याविशिष्टत्वात्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें न्याय दर्शन के आचार्यों के द्वारा आकाश आदि के सावयव अर्थात् अवयवों सहित होने का विरोध किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– अवयवों सहित होना क्या अवयवों के साथ संयोग है या अवयवों के समवायि अर्थात् नित्य सम्बद्ध होना है या अवयवों से उत्पन्न होना है अथवा नित्य रूप से सम्बद्ध द्रव्य होना है या अवयवों का विचार रखने वाली बुद्धि का विषय होना है।

इन पाँच में पहला विकल्प उचित नहीं है, क्योंकि आकाश आदि पदार्थों में अतिव्याप्ति दोष हो जायेगा। दूसरा विकल्प भी उचित नहीं है, क्योंकि इससे सामान्य अथवा जाति में अतिव्याप्ति दोष हो जायेगा। तीसरा विकल्प भी उचित नहीं है, क्योंकि यह हमारे साध्य कार्यत्व से अभिन्न हो जायेगा।

34. न चतुर्थः। विकल्पयुगलार्गलग्रहगलत्वात्। समवायसम्बन्धमात्रवद् द्रव्यत्वं समवेतद्रव्यत्वमन्यत्र समवेतद्रव्यत्वं वा विवक्षितं हेतूक्रियते ?

आद्ये गगनादौ व्यभिचारः। तस्यापि गुणादिसमवायवत्वद्रव्यत्वयोः सम्भवात्। द्वितीये साध्याविशिष्टता। अन्यशब्दार्थेषु समवायकरणभूतेष्ववयवेषु समवायस्य साधनीयत्वात्। अभ्युपगम्यैतदभाणि। वस्तुतस्तु समवाय एव न समस्ति। प्रमाणाभावात्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस गद्यांश में नैयायिकों द्वारा सावयव के अर्थ के चौथे विकल्प में दोष बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– चौथा विकल्प भी उचित नहीं है, इसकी गर्दन दो विकल्पों रूपी अर्गला द्वारा जकड़ ली गयी है। आपके विचार से केवल समवाय सम्बन्ध रखने वाले द्रव्य समवेत द्रव्य हैं अथवा किसी अन्य द्रव्य से समवाय सम्बन्ध रखने वाला द्रव्य समवेत द्रव्य है। समवेत द्रव्य के पहले अर्थ में गगन आदि में व्यभिचार अर्थात् प्रसक्ति हो जायेगी, क्योंकि आकाश में भी अपने गुण शब्द से समवाय सम्बन्ध है तथा आकाश द्रव्य भी है। दूसरे अर्थ में आने वाले जो अवयव समवाय कारण के रूप में हैं, उन अवयवों में भी समवाय सम्बन्ध की सिद्धि करने के कारण। हमने यह आपके कथन के अनुसार ही कहा है। वास्तव में तो प्रमाण के अभाव में समवाय सम्बन्ध ही नहीं है।

35. नापि पञ्चमः। आत्मादिनानैकान्त्यात्। तस्य सावयवबुद्धिविषयत्वेऽपि कार्यत्वाभावात्। न च निरवयवत्वेऽप्यस्य सावयवार्थसम्बन्धेन सावयवबुद्धिविषयत्वमौपचारिकमित्येष्टव्यम्। निरवयवत्वे व्यापित्वविरोधात्परमाणुवत्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। नैयायिकों ने सावयव के अर्थ का जो पाँचवाँ विकल्प 'अवयवों के विचार से युक्त बुद्धि का विषय होना' प्रस्तुत किया था, उसका इस गद्यांश में विरोध किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– सावयवत्व का अर्थ 'अवयवों के विचार से बुद्धि का विषय होना है' भी उचित नहीं है, क्योंकि यह अर्थ या लक्षण आत्मा आदि पदार्थों को भी व्याप्त कर सकता है, यह ठीक है कि आत्मा भी अवयवों की दृष्टि से बुद्धि का विषय है, किन्तु उसे कार्य नहीं माना जाता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि आत्मा के अवयवों से हीन होने पर अवयवों वाले पदार्थों–जैसे शरीर आदि के साथ सम्बन्ध होने के कारण

औपचारिक अथवा लाक्षणिक भाषा में अवयवों से युक्त बुद्धि का विषय कह सकते हैं। इसका कारण यह है कि परमाणु के समान अवयवों से हीन पदार्थ में तथा व्यापक पदार्थ में विरोध है।

(12. ईश्वर के कर्त्ता बनने पर आपत्ति)

36. किं च, किमेकः कर्त्ता साध्यते, किं वाऽनेके ? प्रथमे प्रसादादौ व्यभिचारः। स्थपत्यादीनां बहूना पुरुषाणां तत्र कर्तृत्वोपलम्भात्। द्वितीये बहूनां विश्वनिर्मातृत्वे तेषु मिथो वैमत्यसम्भावनाया अनिवार्यत्वादेकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया सर्वमसमञ्जसमापद्येत। सर्वेषां सामर्थ्यसाम्येनैकेनैव सकलजगदुत्पत्तिसिद्धौ इतरवैयर्थ्यं च।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में जैन मतावलम्बी दार्शनिकों द्वारा ईश्वर के कर्त्ता होने पर आपत्ति अर्थात् विरोध प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– और क्या एक कर्ता सिद्ध किया जा रहा है अथवा अनेक कर्ता सिद्ध किये जा रहे हैं ? यदि एक कर्ता होने का पहला विकल्प स्वीकार करते हैं तो प्रासाद अर्थात् महल आदि में व्यभिचार अर्थात् विरोध हो जायेगा। वहाँ अर्थात् महल में राजमिस्त्री आदि अनेक कर्ताओं की प्राप्ति होने के कारण एक कर्ता मानना उचित नहीं है। यदि अनेक कर्ता होने का दूसरा विकल्प स्वीकार करते हैं तो संसार का निर्माण करने वाले बहुत से हो जायेंगे और उनमें परस्पर मतभेद की सम्भावना अनिवार्य हो जाने से एक-एक वस्तु अलग-अलग रूप होने से सब गड़-बड़ हो जायेगा। सभी कर्ताओं में समान शक्ति मानने पर एक के द्वारा ही संसार की उत्पत्ति सिद्ध हो जाने पर अन्य कर्ताओं की व्यर्थता सिद्ध हो जायेगी।

37. तदुक्तं वीतरागस्तुतौ–

कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः
स सर्वगः स स्ववशः स नित्य।
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्॥16॥ (वी. स्तुति-6)

प्रसंग– वीतराग स्तुति का यह छठा उपजाति छन्द आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया है। इसमें जिनेन्द्र को नैयायिकों का उपदेशक न होने की बात कही गयी है।

हिन्दी अनुवाद– यह कहा गया है, वीतराग स्तुति में–

इस संसार का कोई कर्ता है। वह एक है, सर्वव्यापक है, स्वतन्त्र है और नित्य है। हे जिनेन्द्र! इस प्रकार की असत्य हठपूर्ण जिनकी विडम्बनाएँ हैं, तुम उनके उपदेशक नहीं हो, शिक्षक नहीं हो।

38. अन्यत्रापि–

कर्त्ता न तावदिह कोऽपि यथेच्छया वा।
दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि तत्प्रसङ्गः।
कार्यं किमत्रभवतापि च तक्षकाद्यै-
राहत्य च त्रिभुवनं पुरुषः करोति॥17॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस श्लोक में ईश्वर की मान्यता को अस्वीकार किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– इस संसार में कोई भी अपनी इच्छा से कार्य करने वाला देखा नहीं गया है। यदि कोई होता तो चटाई बनाने में भी उसकी प्रवृत्ति अर्थात् संलग्नता हो जाती। उस स्थिति में आपके लिए तथा बढ़ई आदि के लिए भी क्या कार्य रह जाता ? वह पुरुष अर्थात् ईश्वर ही तीनों भुवनों का संग्रह करके सबका निर्माण कर लेता।

(13. सर्वज्ञ की सिद्धि)

39. तस्मात्प्रागुक्तकारणत्रितयबलादावरणप्रक्षये सार्वज्ञ्यं युक्तम्। न चास्योपदेष्ट्रन्तराभावात् सम्यग्दर्शनादि- त्रितयानुपपत्तिरिति भणनीयम्। पूर्वसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवत्वादमुष्य अशेषार्थज्ञानस्य। न चान्योन्याश्रयादिदोषः। आगमसर्वज्ञपरम्पराया बीजांकुरवदनादित्वाङ्गीकारादित्यलम्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें सर्वज्ञ की सिद्धि की गयी है।

हिन्दी अनुवाद– इसलिए पहले बताये तीनों कारण–सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की शक्ति से ज्ञान के आवरण के नष्ट होने पर सर्वज्ञ होना उचित है। इस वाक्य अर्थात् त्रिरत्न का कोई अन्य होने के कारण इन तीनों कारणों की असिद्धि हो जायेगी, ऐसा नहीं कहना चाहिए। पहले होने वाले सर्वज्ञों के द्वारा बताये गये आगमों में सभी वस्तुओं का यह ज्ञान उत्पन्न होता है और यहाँ अन्योन्याश्रय आदि दोषों की कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आगम और सर्वज्ञों की परम्परा बीज और अंकुर के समान स्वीकार कर ली गयी है।

(14. त्रिरत्नों का वर्णन–सम्यक् दर्शन)

40. रत्नत्रयपदवेदनीयतया प्रसिद्धं सम्यग्दर्शनादित्रितयमर्हत्वप्रवचनसंग्रहपरे परमागमसारे प्ररूपितम्-'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इति (त. सू. 1/1)।

विवृतं च योगदेवेन– 'येन रूपेण जीवाद्यर्थो व्यवस्थितस्तेन रूपेण अर्हता प्रतिपादिते तत्त्वार्थे विपरीताभिनिवेशरहितत्वाद्यपरपर्यायं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।' तथा च तत्वार्थसूत्रं–तत्त्वार्थं (र्थे) श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में जैन दर्शन में मान्य तीन रत्नों का सामान्य और सम्यक् दर्शन का विशेष वर्णन किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– 'तीन रत्न' पद से समझे जाने के कारण प्रसिद्ध सम्यक् दर्शन आदि तीन अर्हत् के प्रवचन के संग्रह के रूप में है, ऐसा परमागमसार नामक ग्रन्थ में निरूपण हुआ है- 'सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र'–ये मोक्ष के मार्ग हैं। यह उदाहरण 'तत्वार्थसूत्र' नाम के ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में कहा गया है।

सोमदेव ने इसकी विवृत्ति अर्थात् व्याख्या करते हुए लिखा है– जिस रूप में जीव आदि पदार्थों की व्यवस्था संसार में उसी रूप में है, अर्हत् ने उसका प्रतिपादन उसी रूप में किया है, इन कथनों में श्रद्धा रखना सम्यक् दर्शन है। इसका दूसरा नाम इसके सिद्धान्तों में श्रद्धा न रखना है। इसी प्रकार तत्वार्थसूत्र में भी कहा गया है कि तत्व अर्थ के प्रति श्रद्धा रखना सम्यक् दर्शन है।

NOTES

41. अन्यदपि–
रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक्श्रद्धानमुच्यते।
जायते तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेन वा॥18॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हतं दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें सम्यक् दर्शन की परिभाषा और उसकी उत्पत्ति बतायी गयी है।

हिन्दी अनुवाद– दूसरे स्थान पर भी कहा गया है–जिनदेव के द्वारा कहे गये तत्वों में रुचि रखना सम्यक् श्रद्धान अर्थात् सम्यक् दर्शन कहा जाता है। यह या तो स्वभाव से उत्पन्न होता है अथवा गुरु की शिक्षा से जन्म लेता है।

42. परोपदेशनिरपेक्षमात्मस्वरूपं निसर्गः। व्याख्यानादिरूपपरोपदेशजनितं ज्ञानमधिगमः।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें निसर्ग और अधिगम की परिभाषा प्रस्तुत की गयी है।

हिन्दी अनुवाद– दूसरे किसी के उपदेश की अपेक्षा अर्थात् आवश्यकता न रखना आत्मस्वरूप अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान निसर्ग है। व्याख्यान आदि के रूप में दूसरों के उपदेश से उत्पन्न ज्ञान अधिगम कहलाता है।

(15. सम्यक् ज्ञान और उसके पाँच रूप)

43. येन स्वभावेन जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन स्वभावेन मोहसंशयरहितत्वेनावगमः सम्यग्ज्ञानम् यथोक्तम्–

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में सम्यक् ज्ञान का स्वरूप बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– जिस स्वभाव से अथवा जिस रूप में जीव आदि पदार्थ व्यवस्थित रहते हैं, व्यवस्था के अधीन रहते हैं, उसी स्वभाव अर्थात् रूप से मोह और संशय से हीनता की स्थिति में रहकर जानना सम्यक् ज्ञान है।

44. यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः॥19॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस श्लोक में सम्यक् ज्ञान का स्वरूप बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– तत्व जिस दशा में हैं, उनको उसी दशा के अनुसार संक्षेप में अथवा विस्तार से होने वाले बोध को बुद्धिमान लोग सम्यक् ज्ञान कहते हैं।

45. तज्ज्ञानं पञ्चविधं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदेन। तदुक्तम्–मतिश्रुतावधि -मनःपर्याय-केवलानि ज्ञानमिति। अस्यार्थः– ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति इन्द्रियमनसी पुरस्कृत्य व्यापृतः सन्याथर्थं मनुते सा मतिः। ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति मतिजनितं स्पष्टं ज्ञानं श्रुतम्। सम्यग्दर्शनादिगुणजनित–

क्षयोपशमनिमित्तवच्छिन्नविषयं ज्ञानमवधिः। ईर्ष्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमे सति परमनोगतस्यार्थस्य स्फुटं परिच्छेदं ज्ञानं मनःपर्यायः। तपःक्रियाविशेषान्यदर्थं सेवन्ते तपस्विनः तज्ज्ञानमन्यज्ञानासंसृष्टं केवलम्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें सम्यक् ज्ञान के भेद तथा उनका परिचय दिया गया है।

हिन्दी अनुवाद– वह अर्थात् सम्यक् ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल के भेद से पाँच प्रकार का होता है। इस विषय में कहा गया है–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल-ज्ञान हैं। ज्ञान को ढकने वाले आवरण के पूर्ण रूप से अथवा कुछ समय के लिए नष्ट हो जाने पर ज्ञानेन्द्रियों और मन की सहायता से पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना मति है। ज्ञान को ढकने वाले आवरण का पूर्ण रूप से अथवा कुछ समय के लिए नष्ट हो जाने पर जो मति नाम का ज्ञान होता है, उससे उत्पन्न स्पष्ट ज्ञान श्रुत है। सम्यक् दर्शन आदि तीन रत्नों के कारण उत्पन्न जो गुण अथवा शक्ति है, उससे ज्ञान को ढकने वाले आवरण का पूर्ण रूप से अथवा कुछ समय के लिए विनाश का कारण तथा विषयों को व्याप्त करने वाला ज्ञान अवधि है। ज्ञान को ढकने वाले ईर्ष्या आदि आवरणों का पूर्ण रूप से तथा कुछ समय के लिए विनाश हो जाने पर अन्य व्यक्तियों के मन में रहने वाली बातों को जानने वाला ज्ञान मनःपर्याय है, जिसके लिए तपस्वी तपस्या से सम्बन्धित विशेष क्रियाएँ करते हैं और जो शेष सभी ज्ञानों से भिन्न है, वह ज्ञान केवल ज्ञान कहलाता है।

46. तत्राद्यं, परोक्षं प्रत्यक्षमन्यत्। तदुक्तम्–

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस गद्यांश में मति को पहला ज्ञान बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– इनमें पहला अर्थात् मतिज्ञान परोक्ष है तथा शेष सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इस विषय में कहा गया है–

47. विज्ञानं त्वपराभासि प्रमाणं बाधवर्जितम्–
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा ज्ञेयं विनिश्चयात्॥20॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें विज्ञान का लक्षण बताया गया है तथा प्रमाण ज्ञान और ज्ञान के भेद बताये गये हैं।

हिन्दी अनुवाद– विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान अपना और दूसरों का प्रकाशक होता है। बाधाओं से रहित ज्ञान प्रमाण माना जाता है। जानने योग्य वस्तुओं का विशेष निश्चय दो प्रकार से होने के कारण विशेष ज्ञान भी प्रत्यक्ष और परोक्ष-दो प्रकार का जानना चाहिए।

48. अन्तर्गणिकभेदस्तु सविस्तरः तत्रैवागमेऽवगन्तव्यः।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस गद्यांश में पाँचों प्रकार के ज्ञानों के भेद और उपभेद होने की बात कही गयी है।

हिन्दी अनुवाद– (इन पाँचों प्रकार के ज्ञानों के) भेद और उपभेद तो वहीं अर्थात् आगम ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक जानने चाहिए।

(16. सम्यक् चारित्र और पाँच महाव्रत)

NOTES

49. संसरणकर्मोच्छित्तावुद्यतस्य श्रद्दधानस्य ज्ञानवतः पापगमनकारणक्रियानिवृत्तिः सम्यक्चारित्रम्। तदेतत्सप्रपञ्चमुक्तमर्हता–

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें सम्यक् चारित्र का लक्षण बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– संसार के प्रवर्तन के कारण बने हुए कर्मों के नष्ट हो जाने पर पापों के नाश के लिए तत्पर, श्रद्धा से युक्त और ज्ञानयुक्त पुरुष को पाप में ले जाने वाली क्रिया की समाप्ति ही सम्यक् चारित्र है। इसका विस्तार के साथ वर्णन अर्हत् ने आगम सम्बन्धी ग्रन्थों में कहा है।

50. सर्वथावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते।
कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा॥
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः॥21॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें सम्यक् चारित्र का परिचय दिया गया है।

हिन्दी अनुवाद– पाप के साथ संयोग का सभी प्रकार त्याग सम्यक् चारित्र कहा जाता है। वह चारित्र अहिंसा आदि व्रतों के भेद से पाँच प्रकार का कहा गया है। वे अहिंसा, सूनृता अर्थात् सत्य, अस्तेय अर्थात् चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अर्थात् सभी वस्तुओं की इच्छा का त्याग है।

51. न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम्।
चराणां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम्॥22॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस श्लोक में अहिंसा व्रत का लक्षण बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– जो असावधानी से भी चलने वाले और एक स्थान पर रहने वालों के जीवन का विनाश न करना है, उसे अहिंसा व्रत माना गया है।

52. प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्॥23॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें सूनृता अर्थात् सत्यभाषा व्रत का लक्षण बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– प्रिय, अन्त में सुख देने वाला तथा यथार्थ वचन सूनृत व्रत कहा जाता है। जो यथार्थ वचन अप्रिय और अहितकारी हो, वह सत्य नहीं है।

53. अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम्।
बाह्याः प्राणाः नृणामर्थो हरता तं हता हि ते ॥24॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें अस्तेय व्रत का लक्षण बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– बिना दी हुई वस्तु को न लेना अस्तेय व्रत अर्थात् चोरी न करना कहा गया है। धन मनुष्यों के बाहर रहने वाले प्राण हैं। उनको छीनने अथवा चुराने वाले ने निश्चय ही उन्हें मार डाला।

54. दिव्यौदरिककामनां कृतानुमतकारितैः।
मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम्॥ 25॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– आगामी जीवन में भोगने योग्य तथा शरीर से भोगने योग्य कामनाओं का स्वयं की गयी, अनुमति दी गयी और कराई गयी विधियों का मन, वचन और कर्म से त्याग देना अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य व्रत है।

55. सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः।
यदसत्स्वपि जायेत मूर्च्छया चित्तविप्लवः ॥26॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस श्लोक में अपरिग्रह का लक्षण स्पष्ट किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– सभी वस्तुओं में इच्छा का त्याग अपरिग्रह व्रत है। जो वस्तुएँ नहीं हैं अथवा जो बुरी हैं, उनमें इच्छा के कारण चित्त का विकार सम्भव है।

(17. प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ)

56. भावनाभिर्भावितानि पञ्चभिः पञ्चधा क्रमात्।
महाव्रतानि लोकस्य साधयन्त्यव्ययं पदम्॥27॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस श्लोक के द्वारा प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ अर्थात् भेद बताये गये हैं।

हिन्दी अनुवाद– पाँच भावनाओं के द्वारा क्रम से व्यवहार में लाये गये पाँच प्रकार के ये अहिंसा आदि महाव्रत सांसारिक व्यक्तियों के नष्ट न होने वाले मोक्ष पद को प्राप्त कराते हैं।

57. भावनापञ्चकप्रपञ्चनं च निरूपितम्–
हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानैर्निरन्तरम्।
आलोच्य भाषणेनापि भावयेत्सूनृतं व्रतम्॥28॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें सूनृत व्रत अर्थात् सत्य भाषण की पाँच भावनाएँ बतायी गयी हैं।

हिन्दी अनुवाद– पाँच भावनाओं के विस्तार का निरूपण इस प्रकार हुआ है–हँसी-विनोद, लालच, भय और क्रोध का निषेध अथवा विरोध करके लगातार आलोचना करता हुआ भाषण के द्वारा भी सूनृत व्रत अर्थात् सत्य भाषण का निर्वाह करे।

58. इत्यादिना। एतानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मिलितानि मोक्षकारणं न प्रत्येकम्। यथा रसायनम्, तथा चात्र ज्ञानश्रद्धानाचरणानि सम्भूय फलं साधयन्ति, न प्रत्येकम्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र के द्वारा सम्मिलित रूप से मोक्ष-प्राप्ति की बात कही गयी है।

हिन्दी अनुवाद– इत्यादि के द्वारा निरूपित है। ये सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मिलकर मोक्षप्राप्ति के कारण बनते हैं, प्रत्येक अर्थात् अलग-अलग नहीं बनते हैं। जिस प्रकार रसायन में उसके सभी तत्व मिलकर लाभ करते हैं, अलग-अलग अथवा कोई एक तत्व नहीं। उसी प्रकार यहाँ ज्ञान, श्रद्धा और आचरण एकत्र होकर फल प्रदान करते हैं, अलग-अलग नहीं।

18. जैन तत्त्व-मीमांसा–दो तत्त्व

59. अत्र संक्षेपतस्तावज्जीवाजीवाख्ये द्वे तत्त्वे स्त:। तत्र बोधात्मको जीव:। अबोधात्मस्त्वजीव:। तदुक्तं पद्मनन्दिना।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें जैन तत्व-मीमांसा के अन्तर्गत दो तत्व बताये गये हैं।

हिन्दी अनुवाद– यहाँ अर्थात् संसार में अथवा जैन दर्शन में संक्षेप से तो जीव और अजीव नाम के दो तत्व हैं। उनमें बोधात्मक अर्थात् ज्ञान वाला जीव है और अबोधात्मक अर्थात् ज्ञानहीन अजीव है। ऐसा ही आचार्य पद्मनन्दी ने कहा है।

60. चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम्।
उपदेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वत: ॥29॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें आचार्य पद्मनन्दी के मतानुसार दो तत्वों का वर्णन है।

हिन्दी अनुवाद– चित् और अचित् दो प्रधान अथवा परम तत्व हैं। उनमें से उपादेय अर्थात् उपयोगी का ग्रहण करते हुए और त्यागने योग्य का त्याग करते हुए विवेचन करना विवेक है।

61. हेयं हि कर्तृरागादि तत्कार्यमविवेकिता।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम्॥30॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस श्लोक में परम ज्योति के सन्दर्भ में बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– निश्चित रूप से कर्ता में रहने वाले राग आदि दोष त्यागने योग्य हैं। उसका कार्य अविवेकिता अर्थात् विवेकहीनता है। वह परम ज्योति अर्थात् ज्ञान ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य है। जिसका एकमात्र लक्षण या चिन्ह या पहचान उपयोग है।

62. सहजचिद्रूपपरिणतिं स्वीकुर्वाणे ज्ञानदर्शने उपयोगः। स परस्परप्रदेशानां प्रदेशबन्धात्कर्मणैकीभूतस्यात्मनोऽन्योन्यत्वप्रतिपत्तिकारणं भवति। सकलजीवसाधारणं चैतन्यम् उपशमक्षयोपशमवशात् औपशमिकक्षयात्मक-क्षायौपशमिकभावेन कर्मोदयवशात्कलुषान्याकारेण च परिणतजीवपर्यायविवक्षायां जीवस्वरूपं भवति। यदवोचद्वाचकाचार्यः– 'औषशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' (त. सू. 2/1) इति।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें जीव के स्वरूप के विषय में विचार किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– जीवात्मा के स्वाभाविक चैतन्य में होने वाले परिवर्तन को स्वीकार करने वाले ज्ञान और दर्शन को जीवात्मा की क्रियाओं के वास्तविक प्रयोग स्वीकार करते हैं। जीव और कर्म के एक-दूसरे के अवयवों के मिलने के कारण कर्म के साथ एकाकार हुई आत्मा की कर्म से पृथकता को जानने का साधन उपयोग अर्थात् ज्ञान और दर्शन है। चैतन्य सभी जीवों में समान रूप से प्राप्त होता है। एक ओर उपशम और क्षय के द्वारा तथा क्षय और उपशम के वश में होकर और क्षय सम्बन्धी तथा क्षय और उपशम सम्बन्धी भाव के द्वारा और दूसरी ओर कर्मों के उदय हो जाने के कारण पाप अथवा अन्य आकार के द्वारा परिवर्तन होने से मुक्त जीव अवस्थाओं की समस्या प्रस्तुत होती है। उस समय जीव का निजी रूप बन जाता है। इसी प्रकार का कथन वाचकाचार्य का है– "औपशमिक अर्थात् उदय सम्बन्धी तथा पारिणामिक अर्थात् परिणाम सम्बन्धी–ये पाँच भाव जीव के अपने रूप हैं।" यह कथन 'तत्वार्थ सूत्र' के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र में है।

63. अनुदयप्राप्तिरूपे कर्मण उपशमे सति जीवस्योत्पद्यमानोभाव औपशमिकः। यथा पङ्के कलुषतां कुर्वति कतकातिद्रव्यसम्बन्धादधः पतिते जलस्य स्वच्छता। (आर्हततत्त्वानुसन्धानवशाद् रागादिपङ्कक्षालनेन निर्मलतापादकः क्षायिको भावः।) कर्मणः क्षये सति जायमानो भावः क्षायिकः। यथा पङ्कात्पृथग्भूतस्य निर्मलस्य स्फाटिकादिभाजनान्तर्गतस्य जलस्य स्वच्छता। यथा मोक्षः।

उभयात्मा भावो मिश्रः। यथा जलास्यार्धस्वच्छता। कर्मोदये सति भवन्भाव औदयिकः। कर्मोपशमाद्यनपेक्षः सहजो भावश्चेतनत्वादिः पारिणामिकः। तदेतद्यथासम्भवं भव्यस्याभव्यस्य वा जीवस्य स्वरूपमिति सूत्रार्थः॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में जीव के रूप में वाचकाचार्य के सूत्र का अर्थ बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– ऐसे कर्म का उपशम अर्थात् कुछ समय के लिए विनाश होने पर तथा आने वाले समय को प्रभावित करने के लिए नये कर्म के उदय की सम्भावना समाप्त हो जाने पर जीव का जो भाव उत्पन्न होता है, वह औपशमिक कहलाता है। जैसे कीचड़ द्वारा जल को गन्दा बनाने पर जल को साफ करने वाले द्रव्य आदि के सम्बन्ध से कीचड़ के नीचे गिर जाने पर जल की स्वच्छता। अर्हतों के द्वारा उपदेश किये गये तत्वों की खोज करने के कारण आसक्ति आदि भावरूपी कीचड़ को धोने के कारण जिस प्रकार कीचड़ से अलग हुए जल की निर्मलता उत्पन्न करना भावक्षायिक कहलाता है। कर्म के पूर्ण रूप से नष्ट होने पर उत्पन्न होने वाला भाव क्षायिक कहलाता है। जिस प्रकार कीचड़ से अलग हुए और संगमरमर के बर्तन में रखे गये निर्मल जल की स्वच्छता होती है, वही प्रकार मोक्ष का है।

NOTES

औपशमिक और क्षायिक दोनों प्रकार के भावों का मिला-जुला रूप मिश्र कहलाता है। जैसे जल की आधी स्वच्छता होती है। नवीन कर्म का उदय होने पर जो भाव होता है, वह औदयिक कहलाता है। कर्म के उपशम और क्षय की अपेक्षा न रखने वाला अर्थात् इन सबसे भिन्न जो स्वाभाविक चेतनत्व आदि भाव है, वह पारिणामिक कहलाता है। वही यह यथासम्भव भव और अभव्य जीव का जो स्वरूप है, यह वाचकाचार्य के सूत्र का अर्थ है।

64. तदुक्तं स्वरूपसम्बोधने–
ज्ञानाद् भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः॥31॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें आत्मा का स्वरूप बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– यह 'स्वरूपसम्बोधन' नाम के ग्रन्थ में कहा गया है–जो ज्ञान से भिन्न नहीं है और न अभिन्न अर्थात् समान है तथा किसी प्रकार जो भिन्न और अभिन्न दोनों है। जिसके पहले और बाद में अर्थात् आदि और अन्त में ज्ञान है, वह आत्मा कहा गया है।

65. ननु भेदाभेदयोः परस्परपरिहारेण अवस्थानादन्यतरस्यैव वास्तवत्वादुभयात्मकत्वमयुक्तमिति चेत्–तदयुक्तम्। बाधे प्रमाणाभावात्। अनुपलम्भो हि बाधकं प्रमाणम्। न सोऽस्ति। समस्तेषु वस्तुष्वनेकान्तात्मकत्वस्य स्याद्वादिनो मते सुप्रसिद्धत्वादित्यलम्।

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में भेद और अभेद एक स्थान पर रहने के विषय में की गयी शंका का समाधान किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– भेद और अभेद एक-दूसरे का विरोध करते हुए स्थित रहते हैं, इसलिए इनमें से एक की ही स्थिति रहने के कारण दोनों का एक साथ रहना असंगत है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, ऐसी शंका अनुचित है। इनके एक स्थान पर न रहने के विषय में प्रमाण का अभाव है। किसी वस्तु की अप्राप्ति ही बाधक प्रमाण कहलाता है। बाधक प्रमाण यहाँ पर नहीं है। स्याद्वाद के सिद्धान्त को मानने वाले जैनमत के दार्शनिकों के अनुसार सभी वस्तुएँ अनेकान्त रूप वाली हैं। इतना ही कहना पर्याप्त है।

(19. पाँच तत्त्व–दूसरा मत)

66. अपरे पुनर्जीवाजीवयोरपरं प्रपञ्चमाचक्षते जीवाकाशधर्माधर्मपुद्गलास्तिकायभेदात्। एतेषु पञ्चसु तत्वेषु कालत्रयसम्बन्धितया अस्तीति स्थितिव्यपदेशः। अनेकप्रदेशत्वेन शरीरवत्कायव्यपदेशः।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें जैन दार्शनिकों के अन्य वर्ग के द्वारा माने जाने वाले तत्वों के पाँच भेदों का वर्णन है।

हिन्दी अनुवाद– अन्य जैन दार्शनिक फिर जीव और अजीव के अतिरिक्त अन्य ही विस्तार का वर्णन करते हैं। उनके अनुसार पाँच पदार्थ हैं- जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल के भेद से। इन पाँच तत्वों का सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीन कालों से होने के कारण तीनों कालों में ये स्थित हैं। इस आधार उनकी सत्ता का ज्ञान 'है' शब्द के आधार पर पर बताया जाता है। इसी प्रकार अनेक स्थानों में रहने के आधार पर, रहने के कारण शरीर के समान काया का बोध कराया जाता है।

67. तत्र जीवा द्विविधाः, संसारिणो मुक्ताश्च। भवाद्भवान्तरप्राप्तिमन्तः संसारिणः। ते च द्विविधाः–समनस्का, अमनस्काश्च। तत्र संज्ञिनः समनस्काः। शिक्षाक्रियाऽऽलापग्रहणरूपा संज्ञा। तद्विधुरास्त्वमनस्काः। ते चामनस्का द्विविधाः, त्रसस्थावरभेदात्। तत्र द्वीन्द्रियादयः शङ्खगण्डोलकप्रभृतयः चतुर्विधास्त्रसाः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में पाँच तत्व मानने वाले जैन दार्शनिकों के मतानुसार दो प्रकार के जीवों का विवेचन है।

हिन्दी अनुवाद– जीव दो प्रकार के होते हैं– संसारी और मुक्त। एक जन्म से दूसरे जन्म को प्राप्त करने वाले जीव संसारी होते हैं। संसारी भी दो प्रकार के होते हैं– समनस्क और अमनस्क। इनमें संज्ञा वाले जीव समनस्क कहलाते हैं। शिक्षा, क्रिया और आलाप अर्थात् बातचीत का ग्रहण रूपा संज्ञा है। संज्ञा से रहित जीव अमनस्क कहलाते हैं। वे अमनस्क भी दो प्रकार के होते हैं–त्रस और स्थावर के भेद से। उनमें दो इन्द्रियों आदि से युक्त शंख, गण्डोलक अर्थात् गण्डकी नाम का पत्थर, आदि चार प्रकार के जीव त्रस हैं। पृथ्वी, जल, तेज अर्थात् अग्नि, वायु और वनस्पतियाँ स्थावर जीव हैं।

68. तत्र मार्गगतधूलिः पृथिवी। इष्टकादिः पृथिवीकायः। पृथ्वी कायत्वेन येन गृहीता सः पृथिवीकायिकः। पृथिवीं कायत्वेन यो ग्रहीष्यति स पृथिवीजीवः। एवमम्बादिष्वपि भेदचतुष्टयं योज्यम्। तत्र पृथिव्यादि कायत्वेन गृहीतवन्तो ग्रहीष्यन्तश्च स्थावरा गृह्यन्ते न पृथिव्यादिपृथिवीकायादयः। तेषामजीवत्वात्। ते च स्थावराः स्पर्शनैकेन्द्रियाः। भवान्तरप्राप्तिविधुरा मुक्ताः।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस गद्यांश में स्थावर जीवों के भेद बताये जा रहे हैं।

हिन्दी अनुवाद– यहाँ पर मार्ग की धूलि पृथिवी है। ईंट व पत्थर आदि पृथिवीकाय हैं। पृथिवी को शरीर के रूप में जिसने ग्रहण किया है, वह पृथिवीकायिक जीव है। पृथिवी को शरीर के रूप में जो ग्रहण करेगा, वह पृथिवी जीव है। इसी प्रकार जल आदि में भी चार-चार भेद समझने चाहिए। वहाँ पृथिवी आदि को शरीर के रूप में ग्रहण कर चुके और भविष्य में ग्रहण करने वाले स्थावर जीवों में सम्मिलित किये जाते हैं, पृथिवी और पृथिवीकाय आदि नहीं। इसका कारण इनमें जीव का अभाव है। वे स्थावर जीव स्पर्श एक इन्द्रिय वाले हैं। दूसरा जन्म प्राप्त न करने वाले जीव मुक्त जीव हैं।

69. धर्माधर्माकाशास्तिकायाः ते एकत्वशालिनो निष्क्रियाश्च द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतवः। तत्र धर्माधर्मौ प्रसिद्धौ। आलोकेनावच्छिन्ने नभसि लोकाकाशपदवेदनीये तयोः सर्वत्रावस्थितः। गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः। अतएव धर्मास्तिकायः प्रवृत्त्यनुमेयः। अधर्मास्तिकायः स्थितयनुमेयः। अन्यवस्तु-प्रदेशमध्येऽन्यस्य वस्तुनः प्रवेशोऽवगाहः। तदाकाशकृत्यम्।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें धर्म, अधर्म और आकाश का वर्णन किया है।

हिन्दी अनुवाद– धर्म, अधर्म, आकाश और अस्तिकाय-ये एक भेद वाले हैं। तात्पर्य इनके अन्य भेद नहीं हैं। ये निष्क्रिय हैं और द्रव्य को दूसरे स्थान पर ले जाने में कारण बनते हैं। इनमें धर्म और अधर्म प्रसिद्ध हैं। प्रकाश से व्याप्त आकाश को लोकाकाश के नाम से समझा जाता है, वहाँ इन दोनों अर्थात् धर्म और अधर्म की स्थिति है। गति और स्थिति के ग्रहण से धर्म और अधर्म को समझा जाता है। इसलिए धर्मास्तिकाय का

अनुमान गति से और अधर्मास्तिकाय का अनुमान स्थिति से होता है। एक वस्तु के स्थान में दूसरी वस्तु का प्रवेश अवगाह कहलाता है। वह आकाश का कार्य है।

70. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः (त. सू. 5/24)। ते च द्विविधाः–अणवः स्कन्धाश्च। भोक्तुमशक्या अणवः। द्व्यणुकादयः स्कन्धाः। तत्र द्व्यणुकादिस्कन्धभेदात् अण्वादिरुत्पद्यते। अण्वादिसङ्घाताद् द्व्यणुकादिरुत्पद्यते। क्वचिद् भेदसङ्घाताभ्यां स्कन्धोत्पत्तिः (त. सू. 5/26)। अतएव पूरयन्ति गलन्तीति पुद्गलाः।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में पुद्गल का परिचय दिया गया है।

हिन्दी अनुवाद– स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण अर्थात् रंग वाले पुद्गल होते हैं। यह वाचकाचार्य के तत्वार्थ सूत्र के चतुर्थ पाद के चौबीसवें सूत्र में कहा गया है। वे पुद्गल दो प्रकार के होते हैं– अणु और स्कन्ध । अणुओं का उपभोग करना सम्भव नहीं है। द्व्यणुक आदि को स्कन्ध कहा जाता है। उन द्व्यणुक आदि स्कन्ध ों का भेद अर्थात् विश्लेषण करने पर अणु आदि उत्पन्न होते हैं। अणु आदि के समूह से द्व्यणुक आदि उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी विश्लेषण और संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। इसलिए मिलते हैं या अलग होते हैं, इस आधार पर पुद्गल कहलाते हैं।

(20. काल भी एक द्रव्य है)

71. कालस्यानेकप्रदेशत्वाभावेन अस्तिकायत्वाभावेऽपि द्रव्यत्वमस्ति। तल्लक्षणयोगात्। तदुक्तं–गुणपर्यायवद् द्रव्यम् (त. सू. 5/38) इति। द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः (त. सू. 5/39)। यथा जीवस्य ज्ञानत्वादिधर्मरूपाः, पुद्गलस्य रूपत्वादिसामान्यस्वभावाः। धर्माधर्माकाशकालानां यथासम्भवं गतिस्थित्यवगाहवर्तनाहेतुत्वादिसामान्यानि गुणाः।

तस्य द्रव्यस्योक्तरूपेण भवनं पर्यायः। उत्पादस्तद्भावः परिणामः पर्याय इति पर्यायाः। यथा जीवस्य घटादिज्ञानसुखक्लेशादयः। पुद्गलस्य मृत्पिण्डघटादयः। धर्मादीनां गत्यादिविशेषाः। अतएव षड् द्रव्याणीति प्रसिद्धिः।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस गद्यांश में काल को छठा द्रव्य सिद्ध किया गया है।

हिन्दी अनुवाद– काल के अनेक स्थानों में स्थित न रहने के कारण इसके अस्तिकाय होने का अभाव है। फिर भी इसमें द्रव्य के लक्षणों का योग होने से, इसमें द्रव्यत्व है, अर्थात् यह द्रव्य है। यह कहा है-वाचकाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'तत्वार्थसूत्र' के पंचम पाद के अड़तीसवें सूत्र में। गुण द्रव्य में रहते हैं, पर स्वयं निर्गुण अर्थात् गुणों से हीन होते हैं। यह वाचकाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'तत्वार्थसूत्र' के उन्तालीसवें सूत्र में कहा है। जिस प्रकार जीव के गुण ज्ञानवान् होना आदि धर्मों अर्थात् विशेषताओं के रूप में है। पुद्गल के गुण रूपत्व आदि सामान्य स्वभाव हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल के गुण यथासम्भव गति, स्थिति, अवगाह और वर्तना अर्थात् किसी विशेष अवस्था में रहना है। ये सामान्य रूप हैं।

उस द्रव्य का ऊपर बताये हुए रूप से रहना पर्याय कहा जाता है। द्रव्य के पर्याय उत्पत्ति, सत्ता तथा परिणाम हैं। जैसे जीव के पर्याय घड़े आदि का ज्ञान-सुख, क्लेश आदि हैं। पुद्गल के पर्याय मिट्टी का टुकड़ा, घड़ा आदि हैं। धर्म आदि के पर्याय गति आदि के विशेष हैं। इस प्रकार द्रव्य छः होते हैं, यह सिद्ध हो गया।

(21. सात तत्त्व–तीसरा मत)

72. केचन सप्त तत्त्वानीति वर्णयन्ति। तदाह–जीवाजीवास्रवबन्धसम्वरनिर्जरमोक्षास्तत्त्वानि (त. सू. 1/4) इति। तत्र जीवाजीवौ निरूपितौ। आस्रवो निरूप्यते–औदारिकादिकायादिचलनद्वारेण आत्मनश्चलनं योगपदवेदनीयमास्रवः। यथा सलिलावगाहि द्वारं जलाद्यास्रवणकारणत्वादास्रव इति निगद्यते, तथा योगप्रणाडिकया कर्मास्रवतीति स योग आस्रवः।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें जैन दर्शन के तीसरे मत के अनुसार सात तत्वों का वर्णन है।

हिन्दी अनुवाद– कुछ जैन मतानुयायी दार्शनिक सात पदार्थ हैं, ऐसा वर्णन करते हैं। वाचकाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'तत्वार्थ सूत्र' के प्रथम चरण के चौथे सूत्र में इसका उल्लेख किया है। इन सात में जीव और अजीव का निरूपण हो चुका है। आस्रव का निरूपण किया जा रहा है। इस दृश्यमान स्थूल शरीर सम्बन्धी कार्यों और तथा दूसरे साधनों के गति करने से आत्मा का गति करना आस्रव है। कुछ दार्शनिक इसका परिचय योग शब्द के द्वारा भी देते हैं। जिस प्रकार पानी में डूबे हुए किसी नली के छेद से पानी बाहर निकलता है, इस कारण नली का छेद आस्रव है, ऐसा कहा जाता है। उसी प्रकार योग रूप नली के द्वारा कर्मों का प्रवाह होता है, वह योग ही आस्रव है।

73. यथार्द्रं वस्त्रं समन्ताद्वातानीतं रेणुजातमुपादत्ते, तथा कषायजलार्द्रं आत्मा योगानीतं कर्म सर्वप्रदेशैर्गृह्णाति। यथा वा निष्टप्तायःपिण्डो जले क्षिप्तोऽम्भः समन्ताद् गृह्णाति, तथा कषायोष्णो जीवो योगानीतं कर्म समन्तादादत्ते। कषति = हिनस्ति आत्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः, क्रोधो मानो माया लोभश्च।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें आस्रव के अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं।

हिन्दी अनुवाद– जिस प्रकार गीला कपड़ा चारों ओर से वायु के द्वारा लाये गये धूल-कणों को पकड़ लेता है, उसी प्रकार कषायरूपी जल के द्वारा गीली आत्मा योग अथवा आस्रव के द्वारा लाये गये कर्म को सभी भागों से ग्रहण करती है। अथवा जिस प्रकार भलीभाँति तपाया हुआ लोहे का टुकड़ा पानी में फेंके जाने पर चारों ओर से जल ग्रहण करता है, उसी प्रकार कषाय से व्याकुल जीव आस्रव अर्थात् आत्मा की चंचलता द्वारा लाये हुए कर्मों को सभी ओर से स्वीकार करता है। कषाय की निरुक्ति अर्थात् शब्द रचनाएँ– जो आत्मा का कषण करे अर्थात् बुरी अवस्था में ले जाये, जो आत्मा का हनन करे, वह कषाय है। क्रोध, अहंकार, माया और लोभ कषाय हैं।

74. सः द्विविधः शुभाशुभभेदात्। अत्राहिंसादिः शुभः काययोगः सत्यंमितहितभाषणादिः शुभो वाग्योगः। अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुनामधेयपञ्चपरमेष्ठिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादिः। शुभो मनोयोगः। एतद्विपरीतस्त्वशुभः त्रिविधो योगः।

तदेतदास्रवभेदप्रभेदजातं, 'कायवाङ्मनःकर्मयोगः। स आस्रवः। शुभः पुण्यस्य। अशुभः पापस्य' (त. सू. 6/1-4) इत्यादिना सूत्रसन्दर्भेण ससंरम्भमभाणि।

अपरे त्वेवं मेनिरे–आस्रवयति पुरुषं विषयेष्विन्द्रियप्रवृत्तिरास्रवः। इन्द्रियद्वारा हि पौरुषं ज्योतिः विषयान्स्पृशद् रूपादिज्ञानरूपेण परिणमत इति।

NOTES

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें आस्रव के भेद और उनका कार्य बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद– उस आस्रव अर्थात् योग के दो भेद हैं– शुभ और अशुभ। अहिंसा आदि शुभ काययोग अर्थात् शुभ कायास्रव। सत्य, आवश्यकता के अनुसार सीमित और हितकारी बोलना शुभ वाग्योग है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु नाम वाले पाँच परमेष्ठियों में भक्ति भावना रखना, तपस्या में रुचि होना, श्रुत अर्थात् शास्त्र और विनय शुभ मनोयोग हैं। इसके विपरीत तो अशुभ मनोयोग है। वह तीन प्रकार का है।

सो इस प्रकार यह आस्रवों के भेदों और उपभेदों का समूह है। कायवाक् और मन ये शरीर के द्वारा होने वाले योग अर्थात् आस्रव अथवा योग पुण्य का और अशुभ पाप का योग है। 'तत्वार्थसूत्र' ग्रन्थ के छठे पाद के पहले सूत्र से चौथे सूत्र तक विस्तार से इन्हें कहा गया है।

जैन दर्शन के दूसरे आचार्य तो इस प्रकार मानते थे– जो पुरुष को विषयों में बहाकर ले जाये, इन्द्रियों की वह प्रवृत्ति आस्रव अथवा योग है। इन्द्रियों के द्वारा ही पुरुषों की ज्योति विषयों के स्पर्श करती हुई रूप आदि के ज्ञान के रूप में बदल जाती है।

(21. क. बन्ध का निरूपण)

75. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायवशाद्योगवशाच्चात्मा सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मबन्धयोग्यानामादानमुपश्लेषणं यत्करोति स बन्धः। तदुक्तं–सकषायत्वाज्जीवः कर्मभावयोग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः (त. सू. 8/2) इति।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में बन्ध का वर्णन है।

हिन्दी अनुवाद– मिथ्या दर्शन, अविरति अर्थात् आसक्ति, प्रमाद अर्थात् असावधानी और कषाय अर्थात् पाप के वश में होने से आत्मा अपने एकमात्र सूक्ष्म क्षेत्र में प्रवेश करने वाले, अनन्त स्थानों में निवास करने वाले तथा कर्मों के बन्धन में पड़ने योग्य पुद्गलों अर्थात् शरीरों का ग्रहण और आलिंगन जो करती है, वह बन्ध है। ऐसा कहा है 'तत्वार्थसूत्र' ग्रन्थ के आठवें पाद के दूसरे सूत्र में–कषाय अर्थात् पापयुक्त होने के कारण जीव कर्मों के परिणाम के अनुकूल पुद्गलों को स्वीकार करता है, ग्रहण करता है, यह बन्ध है।

(22. बन्धन के कारण)

76. तत्र कषायग्रहणं सर्वबन्धहेतूपलक्षणार्थम्। बन्धहेतून्पपाठ वाचकाचार्यः मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः (त. सू. 8/1) इति।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें बन्धन अथवा बन्ध के कारण बताये गये हैं।

हिन्दी अनुवाद– वहाँ अर्थात् पूर्ववर्ती गद्यांश में कषाय शब्द का प्रयोग बन्धन के सभी कारण का अर्थात् बोधक है। वाचकाचार्य ने बन्धन के कारणों का पाठ अपने ग्रन्थ 'तत्वार्थसूत्र' के आठवें पाद के पहले सूत्र में इस प्रकार किया है–झूठा विश्वास, आसक्ति, लापरवाही, पाप और आस्रव बन्धन के हेतु हैं।

77. मिथ्यादर्शनं द्विविधं–मिथ्याकर्मोदयात्परोपदेशानपेक्षं तत्त्वाश्रद्धानं नैसर्गिकमेकम्। अपरं परोपदेशजम्। पृथिव्यादिषट्कोपादानं षडिन्दियासंयमनं चाविरतिः। पञ्चसमितित्रिगुप्तिष्वनुत्साहः प्रमादः। कषायः क्रोधादिः। तत्र कषायान्ताः स्थित्यनुभवबन्धहेतवः प्रकृतिप्रदेशबन्धहेतुर्योग इति विभागः।

प्रसंग– यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस गद्यांश में बन्धन के कारण बताये गये हैं।

हिन्दी अनुवाद – मिथ्या दर्शन दो प्रकार का है। मिथ्या कर्मों का उदय होने पर दूसरों के उपदेश की अपेक्षा के बिना तत्वों पर स्वाभाविक रूप से श्रद्धा न रखना पहले प्रकार का मिथ्या दर्शन है। दूसरे प्रकार का मिथ्या दर्शन अन्य जनों के उपदेश से उत्पन्न होने वाला है। पृथिवी आदि छः पदार्थों को ग्रहण न करना और छः इन्द्रियों का संयम न करना अविरति है। पांच समितियों और तीन गुप्तियों के प्रति उत्साह का अभाव अर्थात् प्रयत्न न करना प्रमाद है। क्रोध आदि कषाय हैं। यहाँ मिथ्या दर्शन से लेकर कषाय तक चारों हेतु स्थिति और अनुभव के बन्धन के कारण हैं। योग अर्थात् आस्रव प्रकृति और प्रदेश के बन्धन का कारण है।

(22. क. बन्धन के भेद)

78. बन्धश्चतुर्विध इत्युक्तं, प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः (त.सू. 8/3) इति। यथा निम्बगुडादेस्तिक्तत्व मधुरत्वादिस्वभाव एवमावरणीयस्य ज्ञानदर्शनावरणत्वम् आदित्यप्रभाच्छादकाम्भोध रवत्प्रदीपप्रभातिरोधायककुम्भवच्च। सदसद्वेदनीयस्य सुखदुःखोत्पादकत्वमसिधारामधुलेहनवत्।

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में बन्धन के भेद बताये गये हैं।

हिन्दी अनुवाद – बन्धन चार प्रकार का होता है, ऐसा कहा गया है। प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभवबन्ध और प्रदेशबन्ध उसकी विधियाँ अर्थात् उसके भेद हैं, यह तत्वार्थ सूत्र के आठवें पाद के तीसरे सूत्र में बताया गया है। जिस प्रकार नीम, गुड़ आदि में तीखापन (यहाँ कड़वापन होना चाहिए।) और मीठापन आदि स्वभाव के रूप में है। इसी प्रकार आवरणीय कर्म का स्वभाव ज्ञान और दर्शन का आवरण करना है। यह सूर्य के प्रकाश को ढकने वाले बादल के समान और दीपक के प्रकाश को छिपाने वाले घड़े के समान है। सत् और असत् के रूप में जानने योग्य पदार्थ का सुख और दुःख को उत्पन्न करना तलवार की धार को और शहद को चाटने के समान है।

79. दर्शने मोहनीयस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानकारित्वं दुर्जनसङ्गवत्। चारित्रे मोहनीयस्यासंयमहेतुत्वं मद्यमदवत्। आयुषो देहबन्धनकर्तृकं जलवत्। नाम्नो विचित्रनामकारित्वं चित्रिकवत्। गोत्रस्योच्चनीचकारित्वं कुम्भकारवत्। दानादीनां विघ्ननिदानत्वमन्तरायस्य स्वभावः कोषाध्यक्षवत्।

सोऽयं प्रकृतिबन्धोऽष्टविधो द्रव्यकर्मावान्तरभेदमूलप्रकृतिवेदनीयः। तथावोचदुमास्वातिवाचकाचार्यः - आद्योज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः (त.सू.8/4) इति।

तद्भेदं च समगृहणात्पञ्च-नव-द्वयष्टाविंशति-चतुर्द्विचत्वारिंशद्-द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् (त. सू. 8/5) इति। एतच्च सर्वं विद्यानन्दादिभिर्विवृतमिति विस्तरभयान्न प्रस्तुयते।

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में बन्ध के भेदों तथा उपभेदों का वर्णन किया गया है।

हिन्दी अनुवाद – दर्शन में मोहनीय कर्म का स्वभाव तत्वार्थ में अश्रद्धा उत्पन्न करना है-दुर्जनों की संगति के समान चारित्र में मोहनीय कर्म का स्वभाव असंयम उत्पन्न करना है। ऐसा मदिरा का नशा होता है। आयुकर्म देह को बन्धनकारी होता है अर्थात् देह को बन्धन में डालता है। यह जल के समान होता है। नाम कर्म से उसी प्रकार अनेक नाम उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार चित्रकार भिन्न-भिन्न चित्र बनाता है। गोत्र कर्म

कुम्भकार के समान ऊँचे और नीचे वंश की भावना उत्पन्न करता है। अन्तराय कर्म का स्वभाव कोषाध्यक्ष अर्थात् खजांची के समान दान आदि कार्यों में बाधा डालना है।

NOTES

इस प्रकार यह प्रकृतिबन्ध आठ प्रकार का है। इसका दूसरा नाम मूलप्रकृति भी है। इसका आन्तरिक भेद आठ प्रकार का है। यह भेद द्रव्यों के धर्म और अधर्म नाम के कर्मों के आधार पर होता है। उमास्वाति वाचकाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'तत्वार्थसूत्र' के आठवें चरण के चौथे सूत्र के द्वारा इसे स्पष्ट किया है।

पहले अर्थात् प्रकृतिबन्ध में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय- ये आठ भेद हैं। तत्वार्थसूत्र के आठवें चरण के पाँचवें सूत्र में उनकी संख्या क्रमशः पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो तथा पाँच भेद है। इस सबका विस्तार विद्यानन्द आदि विद्वानों ने किया है। विस्तार के भय से उसे यहाँ पर प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

80. यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणामेतावन्तमनेहसं माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिस्तथा ज्ञानावरणादीनां मूलप्रकृतीनामादितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यः परा स्थितिः (त. सू. 8/14) इत्याद्युक्तकाला दुर्दान्तवत्स्वीयस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः।

यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन स्वकार्यकरणे सामर्थ्यविशेषोऽनुभावः तथा कर्मपुद्गलानां स्वकार्यकरणे सामर्थ्यविशेषोऽनुभावः। कर्मभावपरिणत-पुद्गलस्कन्धानामनन्तानन्तप्रदेशानामात्मप्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः।

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस गद्यांश में स्थितिबन्ध, अनुभवबन्ध और प्रदेशबन्ध का विवेचन किया गया है।

हिन्दी अनुवाद – जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध अपनी मधुरता के स्वभाव से इतने अर्थात् एक निश्चित काल तक च्युत नहीं होते अर्थात् एक निश्चित समय तक इन दूधों में मिठास रहती है, उसी प्रकार ज्ञान आवरणादि तीन मूल प्रकृतियों अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय में तथा अन्तराय इन चार कर्मों में 'तत्वार्थसूत्र' के आठवें पाद के चौदहवें सूत्र के अनुसार उत्कृष्ट स्थिति का परिणाम अर्थात् फल करोड़ों-करोड़ों तीस सागरों के समान परास्थिति है। इस सूत्र के अनुसार बताये गये समय तक मतवाले हाथी के समान अपने स्वभाव से पतित न होने वाली, कम न होने वाली स्थिति होती है।

जिस प्रकार बकरी, गाय, भैंस आदि के दूधों में तीव्र, मन्द आदि स्वभाव से अपना कार्य करने में विशेष सामर्थ्य अर्थात् शक्ति का अनुभव अर्थात् उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार कर्म पुद्गलों में अपना कार्य करने की विशेष शक्ति उत्पन्न होती है। कर्म के रूप में परिवर्तित पुद्गलों के द्व्यणुक आदि स्कन्धों के जो अन्तहीन स्थान हैं, उनमें अपने अवयवों का प्रवेश होना प्रदेशबन्ध है।

(23. संवर और निर्जरा नामक तत्त्व)

81. आस्रवनिरोधः संवरः। संवरः। येनात्मनि प्रविशत्मर्क प्रतिषिध्यते स गुप्तिसमित्यादिः संवरः। संचारकारणयोगादात्मनो पोपनं गुप्ति। सा त्रिविधा-कायवाङ्म्मनोनिग्रहभेदात्। प्राणिपीडापरिहोरेण सम्यगमनं समितिः। सेर्याभाषादिभिः पञ्चधा। प्रपञ्चितं च हेमचन्द्राचार्यैः-

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें संवर की परिभाषा और गुप्ति तथा समिति के भेद बताये गये हैं।

हिन्दी अनुवाद – आस्रव अर्थात् आत्मा का चलना रुक जाना संवर है। जिसके द्वारा आत्मा में प्रवेश करते हुए कर्मों को रोका जाता है, वह गुप्ति, समिति आदि से युक्त संवर है। आत्मा में पुद्गलों के गति करने के योग से आत्मा की रक्षा करना गुप्ति है। वह तीन प्रकार की है- काया, वाणी और मन को वश में करने के भेद से। प्राणि की पीड़ा के बचाव से अच्छी तरह चलना समिति है। वह ईर्या, भाषा आदि के भेद से पाँच प्रकार की है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसकी व्याख्या की है।

82. लोकातिवाहिते मार्गे चुम्बिते भास्वदंशुभिः।
जन्तुरक्षार्थमालोक्य गतिरीर्या मता सताम्॥32॥

प्रसंग– यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आह्त दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें हेमचन्द्राचार्य ने ईर्या की परिभाषा बतायी है।

हिन्दी अनुवाद– जिस पर जनसमूह अधिक मात्रा में चलता है और जो सूर्य की किरणों द्वारा चूमा गया है, ऐसे मार्ग पर जन्तुओं की रक्षा के निर्मित्त देखकर चलना सज्जनों के द्वारा ईर्या मानी गयी है।

83. अनवद्यमृतं सर्वजनीनं मितभाषणम्।
प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमितिरुच्यते॥33॥

प्रसंग – यह श्लोक आचार्य आमाधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें हेमचन्द्राचार्य ने समिति का लक्षण बताया है।

हिन्दी अनुवाद – अनिन्द्य, सत्य और सभी जनों के लिए हितकारी और संक्षिप्त भाषण वाली हो, जो वचन से संयमी जनों को प्रिय हो, वह भाषा समिति कहलाती है।

84. द्विचत्वारिंशता भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम्।
मुनिर्यदन्नमादत्ते सैषणासमितिर्मता ॥34॥

प्रसंग – यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें हेमचन्द्राचार्य ने एषण समिति का लक्षण बताया है।

हिन्दी अनुवाद – जो अन्न भिक्षा के बयालीस दोषों से नित्य ही दूषित न हो, ऐसे अन्न को मुनि ग्रहण करता है, इसे एषण समिति माना गया है।

85. आसनादीनि संवीक्ष्य प्रतिलङ्घ्य च यत्नता।
गृह्णीयन्निक्षिपेद् ध्यायेत्सादानसमितिः स्मृतः॥ 35 ॥

प्रसंग – यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस श्लोक में हेमचन्द्राचार्य ने आदान समिति का लक्षण बताया है।

हिन्दी अनुवाद – आसन आदि को भली भाँति देखकर यत्न से बैठकर, स्वीकार करे, उठाकर रखे और ध्यान करे, यह आदान समिति कही गयी है।

86. कफमूत्रमलप्रायैर्निर्जन्तुजगतीतले ।
यत्नाद्यदुत्सृजेत्साधुः सोत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥36॥

NOTES

प्रसंग – यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस श्लोक के द्वारा हेमचन्द्राचार्य ने उत्सर्ग समिति का लक्षण बताया है।

हिन्दी अनुवाद – जो साधु जीव-जन्तुओं से हीन पृथिवी पर सावधनी से कफ, मल, मूत्र आदि को त्यागता है, वह उत्सर्ग समिति होती है।

87. अतएव (इसलिए)

आस्रवः स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः।
(आस्रव स्रोत का द्वार है। उसे जो ढक देता है, वह संवर है)

इति निराहुः = इस प्रकार संवर शब्द का निर्वचन किया गया है

तदुक्तमभियुक्तैः– = तत् + उक्तम् + अभियुक्तैः = सो कहा है विद्वानों ने।

आस्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती सृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ।।37।।

प्रसंग – यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस श्लोक में आस्रव और संवर का अन्तर बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद – आस्रव संसार में आने का हेतु होता है और संवर मोक्ष का कारण होता है। इस प्रकार यह जैन धर्मावलम्बियों के मत का सार है। अन्य इसी का विस्तार है।

23 क. निर्जरा

88. अर्जितस्य कर्मणस्तपःप्रभृतिभिर्निर्जरणं निर्जराख्यं तत्त्वम्। चिरकालप्रवृत्तकषाकलापं पुण्यं सुखदुःखे च देहेन जरयति नाशयति। केशोल्लुञ्चनादिकं तप उच्यते। सा निर्जरा द्विविधा यथाकालौपक्रमिकभेदात्। तत्र प्रथमा यस्मिन्काले यत्कर्म फलप्रदत्वेनाभिमतं तस्मिन्नेव काले फलदानाद् भवन्ती निर्जरा कामादिपाकजेति च जेगीयते। यत्कर्म तपोबलात्स्वकामनयोदयावलिं प्रवेश्य प्रपद्यते सौपक्रमिकनिर्जरा। यदाह–

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें निर्जरा की परिभाषा और भेदों का वर्णन है।

हिन्दी अनुवाद – जो अर्जित या प्राप्त किया गया हो, उसे अपनी तपस्या, ध्यान और जप से समाप्त कर देना निर्जरा नाम का तत्व है। चिरकाल से होने वाले कर्मों के समूह को तथा पुण्य को सुख और दुःख को यह तत्व देह से वृद्ध बनाता है अथवा नष्ट करता है, केशों को नोंचना या उखाड़ना आदि तप कहलाता है। यथाकालिक और उपक्रम के भेद से वह निर्जरा दो प्रकार की होती है। उनमें पहली निर्जरा जिस समय में जो कर्म फल देने वाले के रूप में माना या समझा जाता है, उसी समय में फल देने के बाद उत्पन्न होने वाली निर्जरा यथाकाल निर्जरा है। यह कामनाओं की पूर्ति के बाद होती है। तपोबल के द्वारा अपनी इच्छा से कर्म को उदय अर्थात् उत्पन्न होने की अवस्था में विनाश किया जाता है, वह दशा औपश्लेषिक निर्जरा कहलाती है। यह कहा है।

व्याख्या – निर्जरा कर्मों को जला देती है, नष्ट कर देती है। वैसे सामान्य अर्थ में जरा का अर्थ वृद्धावस्था अथवा बुढ़ापा है, पर निर्जरा में जरा शब्द का यह अर्थ नहीं है। यह निर्जरा शब्द जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जैन दर्शन को ही नहीं, सभी दर्शनों की मान्यता यह है कि मनुष्य जीवन का चरम उद्देश्य मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण है। जब तक कर्म शेष रहते हैं, तब तक उनके फल के रूप में जन्म और मरण का चक्र चलता रहता है। निर्जरा के लिए कर्मों के विनाश की दो विधियाँ हैं, उन्हीं के आधार पर निर्जरा के दो भेद किये गये हैं।

89. संसारबीजभूतानां कर्मणां जरणादिह।
निर्जरा सम्मता द्वेधा सकामाकामनिर्जरा ॥38॥
स्मृता सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनाम् ॥39॥

प्रसंग – ये श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्) से लिये गये हैं। इनमें निर्जरा का वर्णन किया गया है।

हिन्दी अनुवाद – संसार में आवागमन अर्थात् जन्म-मरण का कारण बने हुए कर्मों के जलने अर्थात् नष्ट होने के आधार पर निर्जरा होती है। वह दो प्रकार की मानी गयी है-सकाम और अकाम। सकाम निर्जरा तपस्वी जनों की और अकाम निर्जरा अन्य शरीरधारियों की मानी गयी है।

(24. मोक्ष का विचार)

90. मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतूनां निरोधेऽभिनवकर्माभावान्निर्जराहेतुसन्निधानेनार्जितस्य कर्मणो निरसनादात्यन्तिककर्ममोक्षणं मोक्षः। तदाह-बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षणं मोक्षः (त.सू. 102) इति। तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् (त.सू. 10/5)।

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् 'आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस गद्यांश में मोक्ष को स्वरूप बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद – मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के कारणों का निरोध अर्थात् संवर होने पर नये कर्मों का अभाव हो जाने से निर्जरा रूपी कारण के समीप होने से पूर्व अर्जित कर्मों का नाश हो जाता है। इससे कर्मों से पूरी तरह छुटकारा मिल जाना मोक्ष है। यही कहा है- तत्वार्थसूत्र ग्रन्थ के दसवें पाद के दूसरे सूत्र में-बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा सभी प्रकार के कर्मों से पूरी तरह छुटकारा मिलना मोक्ष है। 'तत्वार्थसूत्र' ग्रन्थ के दसवें पाद के पाँचवें सूत्र में कहा गया है-इससे प्राणी वहाँ तक ऊपर चला जाता है, जहाँ तक लोकों का अन्त मिल जाता है।

91. यथा हस्तदण्डादिभ्रमिप्रेरितं कुलालचक्रमुपरतेऽपि तस्मिंस्तद्बलादेवासंस्कारक्षये भ्रमति, तथा भवस्थेनात्मनापवर्गप्राप्तये बहुशो यत्कृतं प्रणिधानं मुक्तस्य तदभावेऽपि पूर्वसंस्कारादालोकान्तं गमनमुपपद्यते। यथा वा मृत्तिकालेपकृतगौरवमलाबुद्रव्यं जलेऽधः पतति, पुनरपेतमृत्तिकाबन्धमूर्ध्वं गच्छति, तथा कर्मरहित आत्मा असङ्गत्वादूर्ध्वं गच्छति। बन्धच्छेदादेरण्डबीजवच्चोर्ध्वं गतिस्वभावाच्चाग्निशिखावत्।

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में आत्मा की ऊर्ध्व गति का वर्णन किया गया है।

हिन्दी अनुवाद – जिस प्रकार हाथ और डंडे द्वारा घुमाया गया कुम्हार का चाक घुमाने की क्रिया के शान्त हो जाने पर भी घुमाने की क्रिया के बल से ही संस्कार क्षीण न होने के कारण घूमता है, उसी प्रकार

संसार में स्थित आत्मा के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के लिए अनेक बार जो योग साधना की थी, मुक्त हो जाने पर उसके अभाव में भी पूर्ववर्ती संस्कार के कारण आत्मा लोक के ऊपर तक जाती है। अथवा मिट्टी का लेप करके भारी बनायी तूँबी पानी में नीचे गिरती है, फिर मिट्टी का लेप समाप्त हो जाने पर ऊपर चली आती है, उसी प्रकार कर्मों से रहित आत्मा आसक्तिहीन होने के कारण ऊपर जाती है। बन्धन का नाश होने से अरण्ड का बीज जिस प्रकार ऊपर जाता है और अग्नि की शिखा जिस प्रकार ऊपर जाती है, उसी प्रकार ऊपर जाने के स्वभाव के कारण आत्मा की ऊर्ध्व गति होती है।

92. अन्योन्यं प्रदेशानुप्रवेशे सत्यविभागेनावस्थानं बन्धः। परस्परप्राप्तिमात्रं सङ्गः। तदुक्तं, पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणामाच्च (त. सू. 10/6)। आविद्धकुलालचक्रवद्व्य-पगतलेपालाबुवदेरण्ड-बीजवदग्निशिखावच्च (त. सू. 10/7) इति। अत एव पठन्ति-

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इसमें आकाश तक पहुँची आत्मा के नीचे न आने की बात उदाहरणों के साथ कही गयी है।

हिन्दी अनुवाद – आत्मा और शरीर द्वारा एक-दूसरे के शरीर में प्रवेश करने पर अविभक्त होकर अर्थात् मिलकर रहना बन्ध है। एक-दूसरे को केवल प्राप्त करना संग है। आचार्य वाचक ने अपने ग्रन्थ 'तत्वार्थसूत्र' के दसवें पाद के छठे सूत्र में यही पढ़ा है- पूर्व के प्रयोग से, संग न होने से, बन्ध का छेद होने से तथा गति के परिणाम से आत्मा की गति ऊपर की ओर होती है। उन्होंने इसी ग्रन्थ के अगले सूत्र में कहा है- भ्रमण के संस्कार से युक्त कुम्हार के चाक के समान, मिट्टी का लेप छूट जाने वाली तुम्बी के समान, अंडी के बीज के समान और अग्निशिखा के समान आत्मा की गति होती है।

93. गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः।
अद्यापि न निवर्तन्ते त्वलोकाकाशमागताः॥ (प. न.)40॥

प्रसंग – यह श्लोक आचार्य पद्मनन्दी का है। इसे आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें योग साधना से मोक्ष और ऊर्ध्वगति प्राप्त करने वाले योगाभ्यासी मुनिजनों के विषय में बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद – जिस प्रकार चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह जा-जाकर पुनः लौट आते हैं, उस प्रकार लोक से ऊपर गये योगसाधक मुनि (उनकी आत्मा) आज भी वापस नहीं आती।

94. अन्ये तु गतसमस्तक्लेशतद्वासनस्यानावरणज्ञानस्य सुखैकतानस्यात्मन उपरिदेशावस्थाने मुक्तिरित्यास्थिषत। एवमुक्तानि सुखदुःखसाधनाभ्यां पुण्यपापाभ्यां सहितानि नव पदार्थान्केचनाङ्गीचक्रुः। तदुक्तं सिद्धान्ते जीवाजीवौ पुण्यपापयुतावास्रवः संवरो निर्जरणं बन्धो मोक्षश्च नव तत्त्वानीति। संग्रहे प्रवृत्ता वयमुपरताः स्मः।

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें अन्य दार्शनिकों द्वारा मान्य नौ पदार्थों का विवेचन है।

हिन्दी अनुवाद – अन्य दार्शनिकों ने तो कहा है कि सभी क्लेशों तथा उनकी वासनाओं के समाप्त हो जाने पर, ज्ञान के आवृत न होने पर अर्थात् ढके न होने पर, एकमात्र सुख से पूर्ण आत्मा का ऊपर जाना मुक्ति है।

अनेक वैज्ञानिक अब तक बताये गये सात तत्वों में सुख और दुःख के कारण बने हुए पाप और पुण्य को जोड़कर नौ पदार्थों को स्वीकार करते हैं। **'सिद्धान्त'** नाम के ग्रन्थ में कहा गया है कि पुण्य तथा पाप

से मिले हुए जीव और अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरण (निर्जरा), बन्ध और मोक्ष नौ तत्व हैं। तत्वों के संग्रह में लगे हुए हम अब शान्त हो रहे हैं।

(25. जैन न्यायशास्त्र-सप्तभङ्गीनय)

95. **अत्र सर्वत्र सप्तभङ्गिनयाख्यं न्यायमवतारयन्ति जैनाः। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः इति।**

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस गद्यांश में जैन दर्शन के 'सप्तभंगीनय' का परिचय दिया गया है।

हिन्दी अनुवाद – इस विषय में सभी जगह जैन दार्शनिक सप्तभंगी नाम के न्याय को प्रस्तुत करते हैं। (1) शायद है, (2) शायद नहीं है, (3) शायद है और नहीं है, (4) शायद कहने योग्य नहीं है, (5) शायद है और कहने योग्य नहीं है, (6) शायद नहीं है और कहने योग्य नहीं है, (7) शायद है और नहीं है तथा कहने योग्य नहीं है।

96. **सत्सर्वमनन्तवीर्यः प्रत्यपीपदत्-**
तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत्।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते ॥4॥

प्रसंग – यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस श्लोक में सप्तभंगीनय के दो रूप प्रस्तुत किये गये हैं।

हिन्दी अनुवाद – इस सम्पूर्ण न्याय का प्रतिपादन अनन्तवीर्य नाम के आचार्य ने किया है- किसी वस्तु की विवक्षा अर्थात् विधान करने की इच्छा होने पर 'शायद है' ऐसी गति होती है, प्रयोग होता है। वस्तु का निषेध कहने की इच्छा हो तो 'शायद नहीं है' ऐसा प्रयोग हो सकता है।

97. **क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगः समुदायभाक्।**
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः ॥42॥

प्रसंग – यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस श्लोक में सप्तभंगी न्याय के तीसरे और चौथे रूप प्रस्तुत किये गये हैं।

हिन्दी अनुवाद – यदि वस्तु का होना और न होना दोनों कहने की इच्छा हो तो दोनों के समुदाय का प्रयोग करें। जब दोनों को एक साथ कहने की इच्छा हो और विरोध के भय से ऐसा कहना सम्भव न हो तो 'किसी प्रकार कहने योग्य नहीं है' ऐसा कहें।

98. **आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भङ्ग इष्यते।**
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभङ्गसमुद्भवः॥43॥
समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भङ्ग उच्यते॥44॥

प्रसंग – ये दो श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिये गये हैं। इसमें सप्तभंगीनय के पाँचवें, छठे और सातवें रूप का कथन है।

हिन्दी अनुवाद – यदि प्रथम भंग अर्थात् 'स्यादस्ति = शायद है' को न कहने की इच्छा होने पर सप्तभंगीनय का पाँचवाँ रूप समझा जाता है। यदि द्वितीय भंग अर्थात् 'स्यान्नास्ति = शायद नहीं है' को न कहने की इच्छा होने पर सप्तभंगीनय का छठा रूप जन्म लेता है। समूह से अर्थात् पहले और दूसरे दोनों भंगों के रूप को अर्थात् 'स्यादस्ति च नास्ति च = शायद है और शायद नहीं भी' न कहने की इच्छा होती है, तब सप्तभंगीनय का सातवाँ रूप होता है।

99. स्याच्छन्दः खल्वयं निपातस्तिङन्तप्रतिरूपकोऽनेकान्तद्योतकः। यथोक्तम्-

वाक्योष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तिङन्तप्रतिरूपकः॥45॥

प्रसंग – यह गद्यवाक्य और श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिये गये हैं। इनमें 'स्यात्' शब्द का विवेचन किया गया है।

हिन्दी अनुवाद – 'स्यात्' शब्द निश्चय ही निपात अर्थात् अव्यय है जो तिङन्त अर्थात् क्रिया के रूप में है तथा अनिश्चय का द्योतक है। जैसा कि कहा गया है-

वाक्यों में अनेकान्त अर्थात् अनिश्चय को व्यक्त करने वाला होता है तो गम्य अर्थात् विधेय के प्रति विशेषण है। यह स्यात् निपात सार्थक होने के कारण क्रिया का रूप भी होता है।

100. यदि पुनरेकान्तद्योतकः स्याच्छब्दोऽयं स्यात्तदा स्यादस्तीति वाक्ये स्यात्पदमनर्थकं स्यात्। अनेकान्तद्योतकत्वे तु स्यादस्ति कथंचिदस्तीति स्यात्पदात्कथंचिदित्ययमर्थो लभ्यत इति नानर्थक्यम् तदाह-

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधेः।
सप्तभङ्गिनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत् ॥46॥

प्रसंग – यह गद्यांश और श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिये गये हैं। इनमें 'स्यात्' शब्द के अर्थ पर विचार किया गया है।

हिन्दी अनुवाद – यदि यह 'स्यात्' शब्द एकान्त अर्थात् निश्चय का ज्ञान कराने वाला है तो 'स्यादस्ति' इत्यादि वाक्य में 'स्यात्' शब्द का कोई अर्थ नहीं होगा। 'स्यादस्ति' का निश्चयात्मक अर्थ ग्रहण करने पर 'अस्ति' पद का ही अर्थ हो सकता है, स्यात् का नहीं। इस प्रकार स्यात् शब्द निरर्थक अर्थात् अर्थहीन हो जायेगा। अगर स्यात् शब्द को अनिश्चय का ज्ञान कराने वाला मानें, तब 'स्यादस्ति' का अर्थ हो जायेगा-किसी प्रकार। इसमें 'स्यात्' शब्द का अर्थ कथंचित् अर्थात् किसी प्रकार लेने पर स्यात् पद निरर्थक नहीं रहेगा। स्यात् पद का अर्थ 'कुछ' हो जाने पर इस शब्द का प्रयोग निरर्थक नहीं रहता है। इसलिए कहा भी गया है-

स्याद्वाद का सिद्धान्त सब प्रकार से एकान्तवाद को छोड़ देने पर 'किम्' शब्द से बना हुआ 'कथंचित्' शब्द है। इसमें चित् शब्द का प्रयोग करने पर किसी प्रकार का अर्थ होता है, तब इसे सप्तभंगी न्याय की आवश्यकता होती है। उस दशा में यह त्यागने और स्वीकार करने के अर्थ वाले सभी विशेषों वाला हो जाता है।

101 यदि वस्त्वस्त्येकान्ततः सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मनाऽस्तीति नोपादित्साजिहासाभ्यां क्वचित्कदाचित्केनचित्प्रवर्तेत निवर्तेत वा। प्राप्ताप्रापणीयत्वादहेयहानानुपपत्तेश्च। अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चित्क्वचित्केनचित्सत्त्वेन हानोपादाने प्रेक्षावतामुपपद्येते।

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में वस्तु का स्वरूप अनिश्चित होने का समर्थन किया गया है।

हिन्दी अनुवाद – यदि कोई वस्तु एकान्त अथवा निश्चित रूप से है अर्थात् अनेकान्त या अनिश्चित नहीं है। इस दशा में सब प्रकार से, सदा के लिए, सब जगह, सब लोगों के साथ है। इस दशा में ग्रहण या त्याग करने के लिए कभी अथवा कोई न प्रवृत्त होगा और न निवृत्त होगा। प्राप्त वस्तु के अप्राप्त करने योग्य न होने के कारण तथा जो वस्तु त्यागने योग्य नहीं है, उसका त्याग न होने के कारण। यदि अनेकान्त अथवा अनिश्चय पक्ष को स्वीकार करें तो किसी प्रकार, कहीं, किसी प्राणी के द्वारा त्याग तथा ग्रहण होना सम्भव है, ऐसा विद्वान समझ सकते हैं।

102. किं च वस्तुनः सत्वं स्वभावः, असत्वं वा इत्यादि प्रष्टव्यम्। न तावदस्तित्वं वस्तुनः स्वभाव इति समस्ति। घटोऽस्तीत्यनयोः पर्यायतया युगपत्प्रयोगायोगात्। नास्तीति प्रयोगविरोधाच्च। एवमन्यत्रापि योज्यम्। यथोक्तम्–

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस गद्यांश में वस्तु की सत्ता और असत्ता का विवेचन है।

हिन्दी अनुवाद – इसके अतिरिक्त यह पूछना चाहिए कि वस्तु का स्वभाव 'होना' है अथवा 'न होना' है। वस्तु का स्वभाव अस्तित्व अथवा सत्ता है, ऐसा तो नहीं कहना चाहिए। 'घड़ा' और 'है' इन दोनों के पर्याय अथवा समान अर्थ वाला होने के कारण एक साथ होना उचित नहीं है। अगर यह कहते हैं कि घड़ा नहीं है, यह प्रयोग का विरोध है। इसी प्रकार दूसरे स्थानों पर भी जोड़ लेना चाहिए।

103. घटोऽस्तीति न वक्तव्यं सन्नेव हि यतो घटः ।
नास्तीत्यपि न वक्तव्यं विरोधात् सदसत्त्वयोः ॥इत्यादि॥47॥

प्रसंग – यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित तथा डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इसमें सत्ता और सत्ता के निषेध –दोनों के कहने पर आपत्ति प्रस्तुत की गयी है।

हिन्दी अनुवाद – 'घड़ा है' यह नहीं कहना चाहिए, घट शब्द से ही सत् अर्थात् सत्ता का विरोध हो जाता है। 'घड़ा नहीं है' ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्यों इस वाक्य में सत् अर्थात् घड़े के और असत् अर्थात् घड़े की हीनता के एक साथ रहने में विरोध है।

104. तस्मादित्थं वक्तव्यम्–सदसत्सदसदनिर्वचनीयवादभेदेन प्रतिवादिनश्चतुर्विधाः। पुनरप्यनिर्वचनीयमतेन मिश्रितानि सदसदादिमतानीति त्रिविधाः। तान्प्रति किं वस्त्वस्तीत्यादि पर्यनुयोगे 'कथञ्चित्तदस्ति' इत्यादि प्रतिवचनसम्भवेन ते वादिनः सर्वे निर्विण्णाः सन्तस्तूष्णीमासत इति सम्पूर्णार्थविनिश्चायिनः स्याद्वादमङ्गीकुर्वतस्तत्र तत्र विजय इति सर्वमुपपन्नम्। यदवोचदाचार्यः स्याद्वादमञ्जर्याम्–

प्रसंग – यह गद्यांश आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से उद्धृत है। इस गद्यांश में जैन दार्शनिकों की सर्वत्र विजय का वर्णन है।

हिन्दी अनुवाद – इसलिए ऐसा कहना चाहिए कि सत्, असत्, सदसत् और अनिवर्चनीय वादों के भेद से प्रतिवादी अर्थात् विरोधी चार प्रकार के हैं। फिर भी अनिर्वचनीय मत के साथ-साथ सत्, असत् आदि मतों

NOTES

को मिला देने से तीन अन्य भेद हो जाते हैं। इन सातों विरोधियों के यह पूछने पर कि वस्तु क्या है, जब इस प्रकार उत्तर देना चाहिए-"किसी प्रकार वह अर्थात् वस्तु है।" यह उत्तर सम्भव है, इसलिए वे सभी वाद-विवाद करने वाले विरोधी शान्त हो जाते हैं और जो वस्तु के सभी पक्षों पर विचार करके 'स्याद्वाद' को स्वीकार करने वाले जैन दार्शनिक हैं, उनकी सभी जगह विजय होती है। यह पूर्ण रूप से सिद्ध हो गया। ऐसा हीं कहा है-आचार्य मल्लिषेण ने अपने ग्रन्थ 'स्यादवाद् मञ्जरी' में।

105. अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् ।
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः ॥48॥

प्रसंग – यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचिंत और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंगहः' के अंश 'जैन द्रर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस श्लोक में मल्लिषेण आचार्य का मत व्यक्त किया गया है।

हिन्दी अनुवाद – अस्ति नास्ति आदि सभी ज्ञानों का विषय अथवा आधार बना हुआ पदार्थ अनिश्चित है। न्याय का विषय अथवा बना हुआ पदार्थ या वस्तु एक ही देश से सम्बन्धित रहता है।

106. न्यायानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तौ श्रुतवर्त्मनि।
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वस्तु श्रुतमुच्यते ॥49॥

प्रसंग – यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। यह श्लोक आचार्य मल्लिषेण की रचना 'स्याद्वाद मंजरी' का है। इस श्लोक में स्याद्वाद की प्रशंसा की गयी है।

हिन्दी अनुवाद – वस्तु अथवा पदार्थ के एक ही पक्ष पर आधारित अनेक न्याय जब प्रमाण का विषय होना चाहते हों, तब सभी अर्थों का निश्चय करने वाला स्यात् पद से सम्बन्धित घट आदि पदार्थ प्रामाणिक कहा जाता है।

107. अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथार्हतः ॥50॥

प्रसंग – यह श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिया गया है। इस श्लोक के रचयिता हेमचन्द्र आचार्य हैं। यह श्लोक उनकी पुस्तक 'वीतराग स्तुति' द्वितीयद्वात्रिंशितिका (दूसरी बत्तीसी) का तीसवाँ श्लोक है। इसमें जैन धर्म आदि के आचार्य अर्हत् के सिद्धान्त को पक्षपात रहित बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद – जिस प्रकार जैन दर्शन के अतिरिक्त दूसरे दर्शनों के सिद्धान्त एक-दूसरे के सिद्धान्तों को पक्ष और प्रतिपक्ष बनाते हैं। इस कारण वे मत्सर भाव से भरे हुए है। अर्हत् मुनि का जो सिद्धान्त है, वह किसी का पक्षपात नहीं करता। इसका कारण उसके द्वारा किसी भी सिद्धान्त का पक्षपात न करना है। अर्हत् मुनि का सिद्धान्त बिना किसी भेदभाव के सभी न्यायों को स्वीकार करता है।

(26. जैनमत-संग्रह)

108. **जिनदत्तसूरिणा जैनं मतमित्थमुक्तम्-बलभोगोपभोगानामुभयोर्दानलाभयोः ।**
अन्तरायस्तथा निद्रा भीरज्ञानं जुगुप्सितम् ॥51॥
हिंसा रत्यरती रागद्वेषावविरतिः स्मरः ।
शोको मिथ्यात्वमेतेऽष्टादश दोषा न यस्य सः ॥52॥
जिनो देवो गुरुः सम्यक्तत्त्वज्ञानोपदेशकः ।
ज्ञानदर्शनचारित्राण्यपवर्गस्य वर्तनी ॥53॥

प्रसंग – ये श्लोक श्री माधवाचार्य द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिये गये हैं। इन श्लोकों के माध्यम से श्री माधवाचार्य ने जैन दर्शन के अनुसार अठारह दोष और मोक्ष के तीन साधन बताये हैं।

हिन्दी अनुवाद – जिनदत्त सूरि ने जैनमत का सारांश इस प्रकार कहा है। बल, भोग, उपभोग अर्थात् इन्द्रिय सुख, दान तथा लोभ दोनों के अनन्तराय ये पाँच निद्रा, भय, अज्ञान, घृणा, हिंसा, रति अर्थात् इच्छा, अरति अनिच्छा (ये सात), राग, द्वेष, अविरित अर्थात् वैराग्य का अभाव, कामवासना, शोक तथा मिथ्यात्व-ये अठारह दोष जिनके पास नहीं हैं अर्थात् जो इन दोषों से हीन है। वे देवतास्वरूप जिनदेव हमारे गुरु हैं और वे जितेन्द्रिय तथा तत्वज्ञान का भली-भाँति उपदेश करने वाले हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये अपवर्ग के मार्ग हैं।

109. **स्याद्वादस्य प्रमाणे द्वे प्रत्यक्षमनुमापि च।**
नित्यानित्यात्मकं सर्वं नव तत्त्वानि सप्त वा ॥54॥
जीवाजीवौ पुण्यपापे चास्त्रवः संवरोऽपि च।
बन्धो निर्जरणं मुक्तिरेषां व्याख्याऽधुनोच्यते॥55॥
चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः।
सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः॥56॥

प्रसंग – ये श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह:' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिये गये हैं। इनमें 18 तत्वों तथा पाप और पुण्य की चर्चा है।

हिन्दी अनुवाद – स्याद्वाद सिद्धान्त के द्वारा मान्य प्रमाण दो हैं-प्रत्यक्ष और अनुमान। नित्य और अनित्य के रूप में जो कुछ है, वह नौ अथवा सात तत्वों के रूप में है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, बन्ध , निर्जरा और मुक्ति की व्याख्या अब की जा रही है।

जीव का लक्षण चेतना है। अजीव उससे भिन्न होता है। अच्छे कर्मों से उत्पन्न होने वाले पुद्गल पुण्य हैं। इसके विपरीत पाप हैं।

110. **आस्त्रवः स्त्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः ।**
प्रवेशः कर्मणां बन्धो निर्जरस्तद्वियोजनम् ॥57॥
अष्टकर्मक्षयान्मोक्षोऽथान्तर्भावश्च कैश्चन ।
पुण्यस्य संवरे पापस्यास्त्रवे क्रियते पुनः ॥58॥
लब्धानन्तचतुष्कस्य लोकागूढस्य चात्मनः ।
क्षीणाष्टकर्मणो मुक्तिर्निर्व्यावृत्तिर्जिनोदिता ॥59॥

प्रसंग – ये श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिये गये हैं। इन श्लोकों में जैन दर्शन के द्वारा मान्य मुक्ति आत्मा को प्राप्त करने की बात कही गयी है।

हिन्दी अनुवाद – आस्त्रव पापरूपी स्त्रोत का द्वार है। जो उसे अर्थात् पाप के द्वार को ढक ले, वह संवर कहलाता है। कर्मों का प्रवेश करना बन्ध कहलाता है और कर्मों से छुड़ाना निर्जरा है।

आठ प्रकार के कर्मों का नाश होने से मोक्ष प्राप्त होता है। इसके बाद कुछ विद्वानों के द्वारा पुण्य का अन्तर्भाव संवर में और पाप का आस्त्रव में किया जाता है।

जिस आत्मा को चार अनन्त पदार्थ प्राप्त हो गये हैं तथा जो संसार के बन्धन में नहीं है। जिसके आठों प्रकार के कर्म क्षीण हो चुके हैं, उसकी जिनदेव ने ऐसी मुक्ति बतायी है, जहाँ से लौटना नहीं होता है।

NOTES

111. **सरोजहरणा भैक्षभुजो लुञ्चितमूर्धजाः ।**
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसङ्गा जैनसाधवः ॥60॥
लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगम्बराः ।
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीयाः स्युर्जिनर्षयः ॥61॥
भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः ।
प्राहुरेषामयं भेदो महाञ्श्वेताम्बरैः सह ॥62॥

प्रसंग – ये श्लोक आचार्य माधव द्वारा विरचित और डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रहः' के अंश 'जैन दर्शनम् (आर्हत दर्शनम्)' से लिये गये हैं। इन श्लोकों में श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन साधुओं का अन्तर बताया गया है।

हिन्दी अनुवाद – जो धूल झाड़ने के साधन झाड़ू के समान पिच्छिका हाथ में लेकर चलते हैं, भिक्षा के अन्न को खाते हैं, सिर के बालों को उखाड़ते हैं अर्थात् केश लौंच करते हैं। जो क्षमाशील और आसक्तिरहित हैं, वे श्वेताम्बर जैन साधु कहलाते हैं।

जो केशलौंच करते हैं, हाथ में पिच्छिका लेकर चलते हैं, करपात्री हैं अर्थात् हाथ ही जिनके पात्र हैं। जो भोजन देने वाले के घर पर ही ऊपर की ओर से भोजन करते हैं, वे जैन ऋषि होते हैं। केवल ज्ञान वाले, केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भोजन नहीं करते हैं। स्त्री मोक्ष को नहीं जाती, स्त्रियों की मुक्ति नहीं होती। स्त्री दिगम्बर नहीं रहती। इन दिगम्बरों का श्वेताम्बरों के साथ यही महान् भेद माना गया है।

(इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे आर्हतदर्शनम्।)

सारांशः

सभी धर्मों, मतों और सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित करते हुए सबमें एक परमेश्वर तत्त्व का दर्शन ही दर्शन है। संसार, जीवन-मृत्यु के बन्धन, सुख-दुःख आदि के मूल में रहने वाले अव्यक्त रहस्य को जानना दर्शन है। जीवन और दर्शन-शास्त्र में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। साथ ही जीवन को आनन्दमय बनाने का एक साधन भी दर्शनशास्त्र है। यह जीवन से सम्बद्ध ज्ञान-विज्ञान के बहुत से तत्त्वों को प्रकाशित करता है। जीवन की सर्वाङ्गीणता के निर्माण में सहायक जो सूत्र या तत्त्व हैं उनकी व्याख्या करना दर्शनशास्त्र का अभिप्रेय है। भारतीय-दर्शनों का विभिन्न शाखाओं एवं सम्प्रदायों में विकास हुआ है। इसके विकास के आधार पर दर्शनों की निश्चित संख्या बताना कठिन है। आस्तिक दर्शन वे हैं जो सीधे वेदों पर आधारित हैं यथा—मीमांसा व वेदान्त। जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए स्वविचार-सारणि पर आधारित हैं वे भी आस्तिक दर्शन हैं, यथा—सांख्य, योग वैशेषिक और न्यायदर्शन।

उपनिषद् पर आधारित वेदान्त-दर्शन वेद के उत्तरभाग ज्ञानकाण्ड का विवेचन करने वाला होने से उत्तरमीमांसा के नाम से भी जाना जाता है। सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक आचार्य महर्षि कपिल उपनिषत्कालीन आचार्य हैं। यह दर्शन न्याय और वैशेषिक से प्राचीन माना जाता है। सांख्य के विचार-सूत्र भी वैदिक हैं। योग-दर्शन के प्रवर्तक आचार्य पतञ्जलि हैं। उपनिषदों से सूत्र पकड़कर पतञ्जलि ने योगसूत्र लिखा। चौथी शताब्दी में व्यास ने इस पर व्यासभाष्य लिखा। वैशेषिक-दर्शन के सूत्रकार मुनि कणाद हैं। इनका अन्य नाम कणभुक्, कणभक्ष भी है। इनका दर्शन औलूक्य दर्शन के नाम से भी प्रसिद्ध है, इससे प्रतीत होता है कि ऋषि उलूक के ये पुत्र थे तथा औलूक्य नाम से भी प्रसिद्ध थे।

भारतीय दर्शन परम्परा में न्यायदर्शन का क्षेत्र बहुत व्यापक एवं प्रसिद्ध है। आज से पचास वर्ष पूर्व अन्य शास्त्रों का ज्ञाता यदि न्यायशास्त्र नहीं जानता था तो उसकी गणना प्रसिद्ध विद्वानों में नहीं की जाती थी। न्याय ने वैशेषिक सिद्धान्तों का संशोधित रूप प्रतिपादित किया है। अतः न्यायवैशेषिक समानतन्त्र है। न्यायशास्त्र का ज्ञाता वैशेषिक का भी ज्ञाता इसी आधार पर माना जाता। न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम कहे जाते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा किसी पदार्थ की परीक्षा का नाम ही न्याय है। न्यायदर्शन षोडश पदार्थों को स्वीकार करता है। यह प्रमाण प्रधान

शास्त्र है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता के रूप में महर्षि कणाद को स्मरण किया जाता है। सर्वदर्शनसङ्ग्रह में इसको औलूक्यदर्शन के नाम से विवेचित किया गया है। इसके वैशेषिक नामकरण का आधार 'विशेष' पदार्थ है।

सांख्य दर्शन एक अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। इसका वर्णन पुराणों, स्मृतियों आदि में मिलता है। इसकी श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कुछ कहना तो सूर्य को दीपक दिखाने के समान होगा। सांख्य शास्त्र कहता है कि यह ठीक है कि वैदिक कर्मकाण्ड से उस स्वर्ग की प्राप्ति होती है जहाँ किसी वस्तु की कमी न होने से दुःख नहीं होता। किन्तु एक तो वैदिक कर्मकाण्ड सबके लिए सुलभ नहीं है। इस प्रकार लौकिक एवं वैदिक किसी भी उपाय से दुःख से निजात पाते न देख सांख्यशास्त्र ने व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान के सिद्धान्त का आविष्कार किया है। सांख्य शास्त्र में ब्रह्माण्ड के निखिल तत्त्वों को मूलतः दो वर्गों में रखा गया है—प्रकृति एवं पुरुष। प्रकृति की दो अवस्थायें होती हैं—अव्यक्त और व्यक्त। पुरुष को ही ज्ञ कहते हैं। सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रमाण के कुल तीन ही प्रकार सम्भव हैं—दृष्ट, अनुमान एवं आप्तवचन। यहाँ दृष्ट का अर्थ प्रत्यक्ष एवं आप्तवचन का शब्द प्रमाण है। सांख्य सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य को कार्य कारण भाव के उक्त तीनों में से कोई भी वाद स्वीकार्य नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि इनको स्वीकार करने पर सांख्य सिद्धान्त के मूल तत्त्व प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति की सिद्धि नहीं हो पाती, जो अव्यक्त है।

नास्तिक दर्शन वे हैं जो वेदों की निन्दा करते हैं या वैदिक मतानुयायियों की निन्दा करते हैं तथा वेद को प्रामाणिक नहीं मानते हैं, यथा—चार्वाक, बौद्ध, जैन। जगत्कर्त्ता ईश्वर को न मानने के कारण चार्वाक दर्शन को नास्तिक दर्शन भी कहते हैं। इस दर्शन में परलोक तथा पुनर्जन्म को मान्य नहीं किया गया है। चार्वाक दर्शन पुनर्जन्म को अस्वीकार करता है, क्योंकि शरीर ही आत्मा है, तो इसके नष्ट हो जाने पर पुनर्जन्म कैसे संभव है। चार्वाक दर्शन में नेत्रों के सामने दिखने वाले इस संसार को छोड़कर अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह जगत् ही सत्य है। अपनी इसी धारणा के अनुसार मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण किया जाता है। काम और अर्थ ही पुरुषार्थ माने गए हैं। जिस प्रकार चार्वाक ने संसार को बनाने वाले किसी ईश्वर को स्वीकार नहीं किया है; उसी प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक भी किसी जगत् कर्त्ता या ईश्वर को नहीं मानते। चार्वाकों की भाँति आधुनिक वैज्ञानिक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करते हैं। चार्वाकदर्शन का पहला ही श्लोक परमेश्वर की सत्ता को विदीर्ण करता हुआ चार्वाक मत के संस्थापक बृहस्पति मुनि का स्मरण करता है, जिसके लिये केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। चार्वाक के मतानुसार चार महाभूतों के परस्पर सहयोग से शरीर का आकार और चैतन्य उत्पन्न होता है। इनके अनुसार आकाश की गणना महाभूतों में नहीं है, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता है। इन्द्रियसन्निकर्ष जन्य प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है। इस प्रकार शरीर के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। इस बात की पुष्टि कर चार्वाक ने आत्मा और परमात्मा का खण्डन कर दिया है। चार्वाक के मत में काँटों आदि से उत्पन्न दुःख ही नरक है। नरक की कोई अलग स्थिति नहीं है। दण्ड देने और कृपा करने में समर्थ राजा ही ईश्वर है। देह का नाश ही मोक्ष कहलाता है।

बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणों को मान्यता देता है, इसलिए बौद्ध दर्शन ने चार्वाक दर्शन के उन तर्कों का खण्डन किया है जो चार्वाक दर्शन में अनुमान के विरोध में दिये गये हैं। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार तदुत्पत्ति अर्थात् कार्य-कारण सम्बन्ध के निश्चय के द्वारा अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति का निश्चय होता है। बौद्ध दर्शन यह स्वीकार करता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु सागर के जल के समान अस्थिर और चलायमान है। संसार की वस्तु जड़ हो, चाहे चेतन, पर वह होती अनित्य ही है। गौतम बुद्ध के अनित्यवाद के सिद्धान्त को उनके अनुयायी जनों ने बाद में क्षणिकवाद में परिवर्तित कर दिया। क्षणिकवाद अनित्यवाद का ही विकसित रूप है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण का विचार महत्त्वपूर्ण है। क्षणिकवाद को स्वीकार कर लेने पर निर्वाण के विचार का भी खण्डन हो जाता है, निर्वाण का विचार भी खण्डित हो जाता है। बौद्ध दर्शन में चार प्रकार की भावना से परम पुरुषार्थ का वर्णन किया गया है। भावना का अर्थ दृष्टिकोण है। वे चार भावनाएँ अथवा दृष्टिकोण निम्नलिखित हैं -(1) माध्यमिक, (2) योगाचार, (3) सौत्रान्तिक, (4) वैभाषिक। शून्यवाद बौद्ध दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। कुछ विद्वान शून्यवाद का प्रवर्तक नागार्जुन को मानते हैं। नागार्जुन का जन्म दक्षिण भारत में

NOTES

हुआ था। इनके जन्म का समय ईसा की दूसरी शताब्दी है।

सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र मोक्ष का मार्ग है। जैन दर्शन का सम्पूर्ण आचारशास्त्र इन तीन रत्नों पर ही अवलम्बित है। ये तीनों एक साथ मिलकर मोक्ष के मार्ग का निर्माण करते हैं। जैन दर्शन के अनुसार जीव का लक्षण चेतना अथवा चैतन्य है। आचार्य पद्मनन्दी ने इसी चेतना अथवा चैतन्य को चित् कहा है। उन्हेंने इसे परम ज्योति भी बताया है। जैन दर्शन के अनुसार जीव अनन्त अर्थात् इसका अन्त नहीं होता। जीव में जो चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती हैं, उन्हें अनन्त चतुष्ट्य अर्थात् चार अनन्त कहा जाता है। ये चार अनन्त हैं- (1) अनन्त ज्ञान (2) अनन्त दर्शन, (3) अनन्त शक्ति और (4) अनन्त सुख। जैन दर्शन में जीवों की भव्यता पर विशेष विचार किया गया है। जीव अंधकार में भटकते हैं। जब तक वे आध्यात्मिकता का विकास करने के लिए स्वयं प्रयास नहीं करते, तब तक उन्हें सम्यक् दर्शन की स्थिति प्राप्त नहीं होती। जैन दर्शन के सप्तभंगीन्याय को 'स्याद्वाद' भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इसके सातों वचनों में 'स्यात्' अर्थात् 'शायद' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसकी सात श्रेणियाँ होती हैं। इस आधार पर इसे सप्तभंगीनय या न्याय कहा जाता है।

अभ्यास प्रश्नः

1. आस्तिक दर्शनों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
3. सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष का विवेचन कीजिए।
4. सांख्य दर्शन में बंधन एवं मोक्ष की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
5. चार्वाक दर्शन के प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बन्धी मत की समीक्षा कीजिए।
6. चार्वाक दर्शन के भूत विषयक विचारों की विवेचना कीजिए।
7. बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्यों की विवेचना कीजिए।
8. बौद्ध दर्शन के अष्टांगिक मार्ग की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
9. जैन दर्शन के अनुसार प्रमाणों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
10. जैन दर्शन में स्वीकृत तत्वों का विवेचन कीजिए।

●●

सुझाव पत्र (विद्यार्थियों के लिये)

नाम	–	कार्यक्रम का नाम	–
नामांकन नं.	–	कोर्स का नाम	–
फोन नं.–		सत्र	–
ई–मेल आईडी –			

प्रिय छात्र–छात्राओं,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव आंमत्रित है, कृपया आपको प्रदान की जाने वाली पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव –

....

....

....

....

....

....

....

....

....

छात्र का नाम एवं हस्ताक्षर

सुझाव पत्र (विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक के लिये)

नाम – पद –

विभाग/विषय – पता –

फोन नं.– सत्र –

ई–मेल आईडी –

प्रिय विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव प्रार्थनीय है, कृपया आप इस पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव –

....

....

....

....

....

....

....

....

....

धन्यवाद,

नाम एवं हस्ताक्षर